ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क ३२-आ

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति मे आयोजित]

त्रीणि छेदसूत्राणि

दशाश्रुतस्कन्ध □ बृहत्कल्प □ व्यवहारसूत्र

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, टिप्पण युक्त]

□

प्रेरणा

(स्व.) उपप्रवर्तक शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज

□

संयोजक तथा आद्य सम्पादक

(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

□

अनुवादक—विवेचक—सम्पादक

अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० 'कमल'

गीतार्थ श्री तिलोकमुनिजी म०

□

प्रकाशक

श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क ३२-आ

☐ निर्देशन
साध्वी श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रथम संस्करण
वीर निर्वाण सं० २५१७
विक्रम सं० २०४८
जनवरी १९९२ ई०

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन,
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यन्त्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य · 75/-

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

TREEṆI CHHEDSŪTRĀṆI

Dashashrutskandha ❑ Brihatkalpa ❑ Vyavhar Sutras

[Original Text with Variant Readings, Hindi Version, Notes and Annotations etc.]

❑

Inspiring Soul
(Late) Up-pravartaka Shasansevi Rev Swami Shri Brijlalji Maharaj

❑

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Shri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

❑

Translator-Annotator-Editor
Anuyoga Pravartaka Muni Shri Kanhaiyalalji 'Kamal'
Geetarth Shri Tilokmuniji

❑

Publishers
Shri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

Jinagam Granthmala Publication No. 32-B

☐ **Direction**
Sadhwi Shri Umravkunwar 'Archana'

☐ **Board of Editors**
Anuyogapravartaka Muni Shri Kanhaiyalalji 'Kamal'
Upacharya Shri Devendra Muni Shastri
Shri Ratan Muni

☐ **Promotor**
Muni Shri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

☐ **First Edition**
Vir-Nirvana Samvat 2517
Vikram Samvat 2048,
January 1992

☐ **Publisher**
Shri Agam Prakashan Samiti,
Shri Brij-Madhukar Smriti Bhawan,
Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305 901

☐ **Printer**
Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer

☐ **Price** . [illegible] 75/-

समर्पण

निरतिचार सयमसाधना मे
सतत सलग्न रहने वाले
अतीत, अनागत और वर्तमान
के सभी श्रुतधर स्थविरो के
करकमलो मे।

समर्पक
अनुयोगप्रवर्तक मुनि कन्हैयालाल 'कमल'
गीतार्थ तिलोकमुनि

प्रकाशकीय

"त्रीणि छेदसूत्राणि" शीर्षक के अन्तर्गत दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार ये तीन छेदसूत्र प्रकाशित हैं। पृष्ठ मर्यादा अधिक होने से निशीथसूत्र को पृथक् ग्रन्थाक के रूप मे प्रकाशित किया है।

इन चारो छेदसूत्रो का अनुवाद, विवेचन, सपादन आदि का कार्य मुख्य रूप से अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी म 'कमल' के सान्निध्य मे गीतार्थ मुनि श्री तिलोकमुनिजी ने बहुत परिश्रम, लगन और मनोयोगपूर्वक किया है। अतएव पाठकगण छेदसूत्रो सम्बन्धी अपनी जिज्ञासाओ के समाधान के लिए मुनि श्री तिलोकमुनिजी से सपर्क बनाये।

आगमबत्तीसी के अतिम वर्ग मे छेदसूत्रो का समावेश है। इनके प्रकाशन के साथ सभी आगमो का प्रकाशन कार्य सपन्न हो गया है। अतएव उपसहार के रूप मे समिति अपना निवेदन प्रस्तुत करती है—

श्रमणसघ के युवाचार्यश्री स्व श्रद्धेय मधुकरमुनिजी म सा जब अपने महामहिम गुरुदेवश्री जोरावर-मलजी म सा स आगमो का अध्ययन करते थे तब गुरुदेवश्री ने अनेक बार अपने उद्गार व्यक्त किये थे कि आगमो को उनकी टीकाओ का साराश लेकर सरल सुबोध भाषा, शैली मे उपलब्ध कराया जाये तो पठन-पाठन के लिये विशेष उपयोगी होगा।

गुरुदेवश्री के इन उद्गारो से युवाचार्यश्री जी को प्रेरणा मिली। अपने ज्येष्ठ गुरुभ्राता स्वामीजी श्री हजारीमलजी म, स्वामीजी श्री ब्रजलालजी म से चर्चा करते, योजना बनाते और जब अपनी ओर से योजना को पूर्ण रूप दे दिया तब विद्वद्वर्य मुनिराजो, विदुषी साध्वियो को भी अपने विचारो से अवगत कराया। सद्गृहस्थो से परामर्श किया। इस प्रकार सभी ओर से योजना का अनुमोदन हो गया तब वि स. २०३६ वैशाख शुक्ला १० श्रमणभगवान् महावीर के कैवल्यदिवस पर भगवान की देशना रूप आगमबत्तीसी के सपादन, प्रकाशन की प्रारम्भ करने की घोषणा कर दी गई और निर्धारित रीति-नीति के अनुसार कार्य प्रारम्भ हो गया। युवाचार्य चादर-प्रदान महोत्सव दिवस पर आचारागसूत्र को जिनागम ग्रन्थमाला ग्रन्थाक १ के रूप मे पाठको के अध्ययनार्थ प्रस्तुत किया।

यह प्रकाशन-परम्परा अबाधगति से चल रही थी कि दारुणप्रसग उपस्थित हो गया, अवसाद की गहरी घटाये घिर आई। योजनाकार युवाचार्यश्री दिवगत हो गये। यह मार्मिक आघात था। किन्तु साहस और स्व. युवाचार्यश्री के वरद आशीर्वादो का सबल लेकर समिति अपने कार्य मे तत्पर रही। इसी का सुफल है कि आगम-बत्तीसी के प्रकाशन के जिस महान् कार्य को प्रारम्भ किया था, वह यथाविधि सम्पन्न कर सकी है।

समिति अध्यात्मयोगिनी विदुषी महासती श्री उमरावकु वरजी म सा "अर्चना" की कृतज्ञ है। अपने मार्ग-दर्शन और युवाचार्यश्री के रिक्त स्थान की पूर्ति कर कार्य को पूर्ण करने की प्रेरणा दी। पद्मश्री मोहनमलजी

सा चोरडिया, श्री चिम्मनसिंहजी लोढा, श्री पुखराजजी शिशोदिया, श्री चांदमलजी विनायकिया, पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल आदि एवं अन्यान्य अज्ञात कर्मठ सहयोगीयों का जो अब हमारे बीच नहीं हैं, स्मरण कर श्रद्धांजलि समर्पित करती है।

अंत मे समिति अपने सहयोगी परिवार के प्रत्येक सदस्य को धन्यवाद देती है। इनके सहकार से जैन वाङ्मय की चतुर्दिक-चतुर्गुणित श्रीवृद्धि कर सकी है। हम तो इनके मार्गदर्शन मे सामान्य कार्यवाहक की भूमिका का निर्वाह कर रहे हैं।

रतनचन्द मोदी	**सायरमल चोरड़िया**	**अमरचन्द मोदी**
कार्यवाहक अध्यक्ष	महामन्त्री	मन्त्री

श्री आगमप्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार, ब्यावर-३०५९०१

सम्पादकीय

छेद-सूत्र : समीक्षात्मक विवेचन

आगमों की संख्या

स्थानकवासी जैन परपरा जिन आगमो को वीतराग-वाणी के रूप मे मानती है, उनकी सख्या ३२ है। वह इस प्रकार है—ग्यारह अग, बारह उपाग, चार मूल, चार छेद और एक आवश्यक। श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक परंपरा के अनुसार पैतालीस आगम हैं। अग, उपाग आदि की सख्या तो समान है। किन्तु प्रकीर्णको और छेदसूत्रो में निशीथ, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प व व्यवहारसूत्र के साथ महानिशीथ और पचकल्प को अधिक माना है।

अग, उपाग आदि आगमो मे धर्म, दर्शन, आचार, सस्कृति, सभ्यता, इतिहास, कला आदि साहित्य के सभी अगो का समावेश है। परन्तु मुख्य रूप से जैन दर्शन और धर्म के सिद्धान्तो और आचारो का विस्तार से वर्णन किया गया है। अग, उपांग, मूलवर्ग मे प्राय सैद्धान्तिक विचारो की मुख्यता है। आचारांग, उपासकदशाग और आवश्यक सूत्रों में आचार का विस्तार से वर्णन किया है। छेदसूत्र आचारशुद्धि के नियमोपनियमो के प्ररूपक हैं।

प्रस्तुत मे छेदसूत्रो सम्बधी कुछ सकेत करते हैं।

छेदसूत्र नाम क्यों ?

छेद शब्द जैन परम्परा के लिये नवीन नही है। चारित्र के पाच भेदो मे दूसरे का नाम छेदोपस्थापना-चारित्र है। कान, नाक आदि अवयवो का भेदन तो छेद शब्द का सामान्य अर्थ है, किन्तु धर्म-सम्बन्धी छेद का लक्षण इस प्रकार है—

वज्झाणुट्ठाणेणं जेण ण बाहिज्जए तये णियया।
समवइ य परिसुद्धं सो पुण धम्मम्मि छेउत्ति।

जिन बाह्यक्रियाओ से धर्म मे बाधा न आती हो और जिससे निर्मलता की वृद्धि हो, उसे छेद कहते हैं। अतएव छेदोपस्थापना का लक्षण यह हुआ—पुरानी सावद्य पर्याय को छोडकर अहिंसा आदि पाच प्रकार के यमरूप धर्म मे आत्मा को स्थापित करना छेदोपस्थापनासयम है। अथवा जहाँ हिंसा, चोरी इत्यादि के भेद पूर्वक सावद्य क्रियाओ का त्याग किया जाता है और व्रतभग हो जाने पर इसकी प्रायश्चित्त आदि से शुद्धि की जाती है, उसको छेदोपस्थापना सयम कहते हैं। यह निरतिचार और सातिचार के भेद मे दो प्रकार का है। निरतिचार छेदोपस्थापना मे पूर्व के सर्वसावद्यत्याग रूप सामायिक चारित्र के पृथक्-पृथक् अहिंसा आदि पच महाव्रत रूप भेद करके साधक को स्थापित किया जाता है। सातिचार छेदोपस्थापनाचारित्र में उपस्थापित (पुन स्थापित) करने के लिये आलोचना के साथ प्रायश्चित्त भी आवश्यक है। यह प्रायश्चित्तविधान स्खलनाओ की गभीरता को देखकर किया जाता है।

प्रायश्चित्त दस प्रकार के हैं। इनमे छेदप्रायश्चित्त सातवा है। आलोचनार्ह प्रायश्चित्त से छेदार्ह प्रायश्चित्त पर्यन्त सात प्रायश्चित्त होते हैं। ये वेषयुक्त श्रमण को दिये जाते हैं। अतिम तीन वेषमुक्त श्रमण को दिये जाते हैं।

वेषमुक्त श्रमण को दिये जाने वाले प्रायश्चित्तो मे छेदप्रायश्चित्त अंतिम प्रायश्चित्त है। इसके साथ पूर्व के छह प्रायश्चित्त ग्रहण कर लिये जाते हैं। मूलार्ह, अनवस्थाप्यार्ह और पारिञ्चिकार्ह प्रायश्चित्त वाले अल्प होते हैं। आलोचनार्ह से छेदार्ह पर्यन्त प्रायश्चित्त वाले अधिक होते हैं। इसलिये उनकी अधिकता से सहस्राम्रवन नाम के समान दशाश्रुतस्कन्ध (आचारदसा) बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ आगमो को छेदसूत्र कहा जाता है।

छेदसूत्रो का सामान्य वर्ण्य-विषय

उपर्युक्त कथन से यह ज्ञात हो जाता है कि साधनामय जीवन मे यदि साधक के द्वारा कोई दोष हो जाये तो इससे कैसे बचा जाये, उसका परिमार्जन कैसे किया जाये, यह छेदसूत्रो का सामान्य वर्ण्य-विषय है। इस दृष्टि से छेदसूत्रो के विषयो को चार भागो मे विभाजित किया जा सकता है—

१ उत्सर्गमार्ग, २ अपवादमार्ग, ३ दोषसेवन, ४ प्रायश्चित्तविधान।

१. जिन नियमो का पालन करना साधु-साध्वीवर्ग के लिये अनिवार्य है। बिना किसी हीनाधिकता, परिवर्तन के समान रूप से जिस समाचारी का पालन करना अवश्यभावी है और इसका प्रामाणिकता से पालन करना उत्सर्गमार्ग है। निर्दोष चारित्र की आराधना करना इस मार्ग की विशेषता है। इसके पालन करने से साधक मे अप्रमत्तता बनी रहती है तथा इस मार्ग का अनुसरण करने वाला साधक प्रशसनीय एव श्रद्धेय बनता है।

२. अपवाद का अर्थ है विशेषविधि। वह दो प्रकार की है—(१) निर्दोष विशेषविधि और (२) सदोष विशेषविधि। सामान्यविधि से विशेषविधि बलवान होती है। आपवादिक विधि सकारण होती है। उत्तरगुण-प्रत्याख्यान मे जो आगार रखे जाते हैं, वे सब निर्दोष अपवाद है। जिस क्रिया, प्रवृत्ति से आज्ञा का अतिक्रमण न होता हो, वह निर्दोष है, परन्तु प्रबलता के कारण मन न होते हुए भी विवश होकर जिस दोष का सेवन करना पडता है या किया जाये, वह सदोष अपवाद है। प्रायश्चित्त से उसकी शुद्धि हो जाती है। यह मार्ग साधक को आर्त-रौद्र ध्यान से बचाता है। यह मार्ग प्रशसनीय तो नही है किन्तु इतना निन्दनीय भी नही कि लोकापवाद का कारण बन जाये।

अनाचार तो किसी भी रूप मे अपवादविधि का अग नही बनाया या माना जा सकता है। स्वेच्छा और स्वच्छन्दता से स्वैराचार मे प्रवृत्त होना, मर्यादा का अतिक्रमण करते हुए अपने स्वार्थ, मान-अभिमान को सर्वोपरि स्थापित करना, सघ की अवहेलना करना, उद्दण्डता का प्रदर्शन करना, अनुशासन भग करना अनाचार है। यह अकल्पनीय है, किन्तु अनाचारी कल्पनीय बनाने की युक्ति-प्रयुक्तियो का सहारा लेता है।

ऐसा व्यक्ति, साधक किसी भी प्रकार की विधि से शुद्ध नही हो सकता है और न शुद्धि के योग्य पात्र है।

३, ४—दोष का अर्थ है उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का भग करना और उस भग के शुद्धिकरण के लिये की जाने वाली विधि, प्रायश्चित कहलाती है।

प्रबलकारण के होने पर अनिच्छा से, विस्मृति और प्रमादवश जो दोष सेवन हो जाता है, उसकी शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त से शुद्ध होना, यही छेदसूत्रो के वर्णन की सामान्य रूपरेखा है।

प्रायश्चित की अनिवार्यता

दोषशुद्धि के लिये प्रायश्चित्त का विधान है, उपर्युक्त कथन से यह ज्ञात हो जाता है। इसी सदर्भ मे यहाँ कुछ विशेष सकेत करते हैं।

अनगारधर्म के पाच आचारो के बीचोबीच चारित्राचार को स्थान देने का यह हेतु है कि ज्ञानाचार-दर्शनाचार तथा तपाचार-वीर्याचार की समन्वित साधना निर्विघ्न सम्पन्न हो, इसका एक मात्र साधन चारित्राचार है। चारित्राचार के आठ विभाग हैं—पाँच समिति, तीन गुप्ति। पाँच समितिया सयमी जीवन में निवृत्तिमूलक प्रवृत्तिरूपा हैं और तीन गुप्तिया तो निवृत्तिरूपा ही हैं। इनकी भूमिका पर अनगार की साधना में एक अपूर्व उल्लास, उत्साह के दर्शन होते हैं। किन्तु विषय-कषायवश, राग-द्वेषादि के कारण यदि समिति, गुप्ति और महाव्रतो की मर्यादाओ का अतिक्रम, व्यतिक्रम या अतिचार यदा-कदा हो जाये तो सुरक्षा के लिये प्रायश्चित्त प्राकार (परकोटा) रूप है। फलितार्थ यह है कि मूलगुणो, उत्तरगुणो मे प्रतिसेवना का घुन लग जाये तो उसके परिहार के लिये प्रायश्चित्त अनिवार्य है।

छेदप्रायश्चित्त की मुख्यता का कारण

प्रायश्चित्त के दस प्रकार हैं। इनमे प्रारभ के छह प्रायश्चित्त सामान्य दोषो की शुद्धि के लिये हैं और अतिम चार प्रायश्चित्त प्रबल दोषो की शुद्धि के लिये हैं। छेदार्ह प्रायश्चित्त मे अतिम चार प्रायश्चित्तो मे प्रथम प्रायश्चित्त है। व्याख्याकारो ने इसकी व्याख्या करते हुए आयुर्वेद का एक रूपक प्रस्तुत किया है। उसका भाव यह है—किसी व्यक्ति का अग-उपाग रोग या विष से इतना अधिक दूषित हो जाये कि उपचार से उसके स्वस्थ होने की सभावना ही न रहे तो शल्यक्रिया से उस अग-उपाग का छेदन करना उचित है, पर रोग या विष को शरीर मे व्याप्त नही होने देना चाहिये। क्योकि ऐसा न करने पर अकालमृत्यु अवश्यभावी है। किन्तु अगछेदन के पूर्व वैद्य का कर्तव्य है कि रुग्ण व्यक्ति और उसके निकट सबधियो को समझाये कि अग-उपाग रोग से इतना दूषित हो गया है कि अब औषधोपचार से स्वस्थ होने की सभावना नही है। जीवन की सुरक्षा और वेदना की मुक्ति चाहे तो शल्यक्रिया से अग-उपाग का छेदन करवा लें। यद्यपि शल्यक्रिया से अग-उपाग का छेदन करते समय तीव्र वेदना होगी पर होगी थोडी देर, किन्तु शेष जीवन वर्तमान जैसी वेदना से मुक्त रहेगा।

इस प्रकार समझाने पर वह रुग्ण व्यक्ति और उसके अभिभावक अग-छेदन के लिये सहमत हो जायें तो चिकित्सक का कर्तव्य है कि अग-उपाग का छेदन कर शरीर और जीवन को व्याधि से बचावे।

इस रूपक की तरह आचार्य आदि अनगार को समझायें कि दोष प्रतिसेवना से आपके उत्तरगुण इतने अधिक दूषित हो गये है कि अब उनकी शुद्धि आलोचनादि सामान्य प्रायश्चित्तो से सभव नही है। अब आप चाहे तो प्रतिसेवनाकाल के दिनो का छेदन कर शेष सयमी जीवन को सुरक्षित किया जाये। अन्यथा न समाधिमरण होगा और न भवभ्रमण से मुक्ति होगी। इस प्रकार समझाने पर वह अनगार यदि प्रतिसेवना का परित्याग कर छेदप्रायश्चित्त स्वीकार करे तो आचार्य उसे छेदप्रायश्चित्त देकर शुद्ध करें।

यहाँ यह विशेष जानना चाहिये कि छेदप्रायश्चित्त से केवल उत्तरगुणो मे लगे दोषो की शुद्धि होती है। मूलगुणो मे लगे दोषो की शुद्धि मूलार्ह आदि तीन प्रायश्चित्तो से होती है।

छेदसूत्रो की वर्णनशैली

छेदसूत्रो मे तीन प्रकार के चारित्राचार प्रतिपादित हैं—(१) हेयाचार, (२) ज्ञेयाचार, (३) उपादेयाचार। इनका विस्तृत विचार करने पर यह रूप फलित होता है—

(१) विधिकल्प, (२) निषेधकल्प, (३) विधिनिषेधकल्प, (४) प्रायश्चित्तकल्प, (५) प्रकीर्णक। इनमें से प्रायश्चित्तकल्प के अतिरिक्त अन्य विधि-कल्पादिक के चार विभाग होंगे—

(१) निर्ग्रन्थो के विधिकल्प,
(२) निर्ग्रन्थियो के विधिकल्प,
(३) निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो के विधिकल्प,
(४) सामान्य विधिकल्प ।

इसी प्रकार निषेधकल्प आदि भी समझना चाहिये । जिन सूत्रो मे 'कप्पई' शब्द का प्रयोग है, वे विधिकल्प के सूत्र हैं । जिनमे 'नो कप्पई' शब्द प्रयोग है, वे निषेधकल्प के सूत्र हैं । जिनमे 'कप्पई' और 'नो कप्पई' दोनो का प्रयोग है वे विधि-निषेधकल्प के सूत्र हैं और जिनमे 'कप्पई' और 'नोकप्पई' दोनो का प्रयोग नहीं है वे विधानसूत्र हैं । प्रायश्चित्तविधान के लिये सूत्रो मे यथास्थान स्पष्ट उल्लेख है ।

छेदसूत्रो मे सामान्य से विधि-निषेधकल्पो का उल्लेख करने के बाद निर्ग्रन्थो के लिये विधिकल्प और निषेधकल्प का स्पष्ट सकेत किया गया है । इसी प्रकार निर्ग्रन्थी के विधि-निषेधकल्प का कथन है । दोनो के लिये क्या और कौन विधि-निषेधकल्प रूप है और प्रतिसेवना होने पर किसका कितना प्रायश्चित्त विधान है, उसकी यहाँ विस्तृत सूची देना सभव नही है । ग्रन्थावलोकन से पाठकगण स्वय ज्ञात कर ले ।

प्रायश्चित्तविधान के दाता-आदाता की योग्यता

दोष के परिमार्जन के लिये प्रायश्चित्त विधान है । इसके लेने और देने वाले की पात्रता के सम्बन्ध मे छेदसूत्रो मे विस्तृत वर्णन है । जिसके सक्षिप्त सार का यहा कुछ सकेत करते है ।

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार दोष सेवन के कारण हैं । किन्तु जो वक्रता और जडता के कारण दोषो की आलोचना सहजभाव से नहीं करते हैं, वे तो कभी भी शुद्धि के पात्र नही बन सकते हैं । यदि कोई माया-पूर्वक आलोचना करता है तब भी उसकी आलोचना फलप्रद नही होती है । उसकी मनोभूमिका आलोचना करने के लिये तत्पर नही होती तो प्रायश्चित्त करना आकाशकुसुमवत् है । उक्त कथन का साराश यह हुआ कि आलोचक ऋजु, छलकपट से रहित मनस्थितिवाला होना चाहिये । उसके अतर् मे पश्चात्ताप की भावना हो, तभी दोषपरिमार्जन के लिये तत्पर हो सकेगा ।

इसी प्रकार आलोचना करने वाले की आलोचना सुनने वाला और उसकी शुद्धि मे सहायक होने का अधिकारी वही हो सकेगा जो प्रायश्चित्तविधान का मर्मज्ञ हो, तटस्थ हो, दूसरे के भावो का वेत्ता हो, परिस्थिति का परिज्ञान करने मे सक्षम हो, स्वय निर्दोष हो, पक्षपात रहित हो, आदेय वचन वाला हो । ऐसा वरिष्ठ साधक दोषी को निर्दोष बना सकता है । सघ को अनुशासित एव लोकापवाद, भ्रात धारणाओ का शमन कर सकता है ।

इस सक्षिप्त भूमिका के आधार पर अब इस ग्रन्थ मे सकलित—१ दशाश्रुतस्कन्ध, २ बृहत्कल्प और ३ व्यवहार, इन तीन छेदसूत्रो का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं ।

(१) दशाश्रुतस्कन्ध अथवा आचारदशा

समवायाग, उत्तराध्ययन और आवश्यकसूत्र मे कल्प और व्यवहारसूत्र के पूर्व आयारदसा (आचारदशा) या नाम कहा गया है । अत छेदसूत्रो मे यह प्रथम छेदसूत्र है । स्थानागसूत्र के दसवें स्थान मे इसके दस अध्ययनो का उल्लेख होने से 'दशाश्रुतस्कन्ध' यह नाम अधिक प्रचलित हो गया है । दस अध्ययनो के नाम इस प्रकार हैं—१. असमाधिस्थान, २, सबलदोष, ३. आशातना, ४ गणिसम्पदा, ५. चित्तसमाधिस्थान, ६. उपासकप्रतिमा, ७. भिक्षुप्रतिमा, ८ पर्युषणाकल्प ९ मोहनीयस्थान और १०. आयतिस्थान । इन दस अध्ययनो मे असमाधिस्थान,

चित्तसमाधिस्थान, मोहनीयस्थान और आयतिस्थान में जिन तत्त्वो का संकलन किया गया है, वे वस्तुत: योगविद्या से सबद्ध हैं। योगशास्त्र से उनकी तुलना की जाये तो ज्ञात होगा कि चित्त को एकाग्र तथा समाहित करने के लिए आचारदशा के दस अध्ययनों में ये चार अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उपासकप्रतिमा और भिक्षुप्रतिमा श्रावक व श्रमण की कठोरतम साधना के उच्चतम नियमो का परिज्ञान कराते हैं। पर्युषणाकल्प मे पर्युषण कब करना चाहिये, कैसे मनाना चाहिये" ? कब मनाना चाहिये, इस विषय पर विस्तार से विचार किया गया है। सबलदोष और आशातना इन दो दशाओ मे साधुजीवन के दैनिक नियमो का विवेचन किया गया है और कहा गया है कि इन नियमो का परिपालन होना ही चाहिये। इनमे जो त्याज्य हैं, उनका दृढ़ता से त्याग करना चाहिये और जो उपादेय हैं, उनका पालन करना चाहिये। चतुर्थ दशागणिसपदा मे आचार्यपद पर विराजित व्यक्ति के व्यक्तित्व, प्रभाव तथा उसके शारीरिक प्रभाव का अत्यन्त उपयोगी वर्णन किया गया है। आचार्यपद की लिप्सा मे सलग्न व्यक्तियों को आचार्यपद ग्रहण करने के पूर्व इनका अध्ययन करना आवश्यक है। इस प्रकार यह दशाश्रुतस्कन्ध (आचारदशा) सूत्र श्रमणजीवन मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

प्रकारान्तर से दशाश्रुतस्कन्ध की दशाओ के प्रतिपाद्य का उल्लेख इस रूप मे भी हो सकता है—

प्रथम तीन दशाओ और अतिम दो दशाओ मे साधक के हेयाचार का प्रतिपादन है।

चौथी दशा मे अगीतार्थ अनगार के ज्ञेयाचार का और गीतार्थ अनगार के लिये उपादेयाचार का कथन है।

पाचवी दशा मे उपादेयाचार का निरूपण है।

छठी दशा मे अनगार के लिये ज्ञेयाचार और सागार (श्रमणोपासक) के लिये उपादेयाचार का कथन है।

सातवी दशा मे अनगार के लिये उपादेयाचार और सागार के लिये ज्ञेयाचार का कथन किया है।

आठवी दशा मे अनगार के लिये कुछ ज्ञेयाचार, कुछ हेयाचार और कुछ उपादेयाचार है।

इस प्रकार यह आचारदशा—दशाश्रुतस्कध अनगार और सागार दोनो के लिये उपयोगी है। कल्प, व्यवहार आदि छेदसूत्रो मे भी हेय, ज्ञेय और उपादेय आचार का कथन किया गया है।

(२) बृहत्कल्पसूत्र

कल्प शब्द अनेक अर्थों का बोधक है, इस शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य मे उपलब्ध होता है। वेद के छह अग हैं—उनमे एक वह अग है जिसमे यज्ञ आदि कर्मकाण्डो का विधान है, वह अग कल्प कहलाता है।

कालमान के लिये भी कल्प शब्द का प्रयोग मिलता है। चौदह मन्वन्तरो का कालमान कल्प शब्द से जाना जाता है। उसमे चार अरब, बत्तीस करोड वर्ष बीत जाते हैं। इतने लम्बे काल की सज्ञा को कल्प कहा है।

सदृश अर्थ मे भी कल्प शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे कि श्रमणकल्प, ऋषिकल्प इत्यादि।

कल्प शब्द उस वृक्ष के लिए भी प्रयुक्त होता है जो वृक्ष मनोवाछित फल देने वाला है, वह कल्पवृक्ष कहलाता है।

राज्यमर्यादा के लिए भी कल्प शब्द का प्रयोग किया जाता है। बारहवे देवलोक तक राजनीति की मर्यादा है। इसी कारण उन देवलोको को 'कल्प देवलोक' कहा जाता है। मर्यादा वैधानिकरीति से जो भी कोई जीवन चलाता है, वह अवश्य ही सुख और सम्पत्ति से समृद्ध बन जाता है। प्रस्तुत शास्त्र का नाम जिस कल्प शब्द से चरितार्थ किया है, वह उपर्युक्त अर्थों से बिल्कुल भिन्न है।

प्रस्तुत प्रसग मे कल्प शब्द का अर्थ धर्म-मर्यादा है। साधु आचार ही धर्म-मर्यादा है। जिस शास्त्र मे धर्म-मर्यादा का वर्णन हो वह कल्प है, नाम विषयानुरूप ही है। जिस शास्त्र का जैसा विषय हो वैसा नाम रखना यथार्थ नाम कहलाता है। साधुधर्म के आन्तरिक और बाह्य-आचार का निर्देश एवं मर्यादा बताने वाला शास्त्र कल्प कहलाता है।

जिस सूत्र मे भगवान् महावीर, पार्श्वनाथ, अरिष्टनेमि और ऋषभदेव का जीवनवृत्त है, उस शास्त्र के अतिम प्रकरण मे साधु समाचारी का वर्णन है। वह पर्युषणाकल्प होने से लघुकल्प है। उसकी अपेक्षा से जिसमे साधु-मर्यादा का वर्णन विस्तृत हो, वह बृहत्कल्प कहलाता है। इसमे सामायिक, छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धि इन तीनो चारित्रो के विधिविधानो का सामान्य रूप से वर्णन है। बृहत्कल्प शास्त्र मे जो भी वर्णन है उन सबका पालन करना उक्त चारित्रशीलो के लिये अवश्यभावी है। विविध सूत्रो द्वारा साधु साध्वी की विविध मर्यादाओ का जिसमें वर्णन किया गया है, उसे बृहत्कल्पसूत्र कहते है। प्राकृत भाषा मे विहक्कप्पसुत्त रूप बनता है।

प्रस्तुत "कप्पसुत्त" (कल्पसूत्र) और "कप्पसुय" (कल्पश्रुत) एक हैं या भिन्न हैं? यह आशका अप्रासगिक है, क्योकि "कप्पसुत्त" कालिक आगम है।

आचारदशा अर्थात् दशाश्रुतस्कन्ध का आठवाँ अध्ययन "पर्युषणाकल्प" है, इसमे केवल वर्षावास की समाचारी है। कुछ शताब्दियो पहले इस 'पर्युषणाकल्प" को तीर्थंकरो के जीवनचरित्र तथा स्थविरावली से सयुक्त कर दिया गया था। यह शनै-शनै कल्पसूत्र के नाम से जनसाधारण मे प्रसिद्ध हो गया। इस कल्पसूत्र से प्रस्तुत कल्पसूत्र का नाम भिन्न दिखाने के लिए प्रस्तुत कल्पसूत्र का नाम बृहत्कल्पसूत्र दिया गया है। वास्तव मे बृहत्कल्पसूत्र नाम के आगम का किसी आगम मे उल्लेख नही है। नन्दीसूत्र मे इसका नाम "कप्पो" है।

कप्पसुय के दो विभाग हैं "चुल्लकप्पसुय" और "महाकप्पसुय"। इसी प्रकार "कप्पियाकप्पिय" भी उत्कालिक आगम है।[1] ये सब प्रायश्चित्त-विधायक आगम हैं, पर ये विच्छिन्न हो गये हैं ऐसा जैनसाहित्य के इतिहासज्ञो का अभिमत है।

कल्प वर्गीकरण

प्रस्तुत "कल्पसुत्त" का मूल पाठ गद्य मे है और ४७३ अनुष्टुप श्लोक प्रमाण है। इसमे ८१ विधि-निषेधकल्प हैं। ये सभी कल्प पाच समिति और पाच महाव्रतो से सम्बन्धित हैं। अत इनका वर्गीकरण यहाँ किया गया है। जिन सूत्रो का एक से अधिक समितियो या एक से अधिक महाव्रतो से सम्बन्ध है, उनका स्थान समिति और महाव्रत के सयुक्त विधि-निषेध और महाव्रतकल्प शीर्षक के अन्तर्गत है।

उत्तराध्ययन अ० २४ के अनुसार ईर्यासमिति का विषय बहुत व्यापक है, इसलिए जो सूत्र सामान्यतया ज्ञान, दर्शन या चारित्र आदि से सम्बन्धित प्रतीत हुए हैं उनको "ईर्यासमिति के विधि-निषेधकल्प" शीर्षक के नीचे स्थान दिया है। वर्गीकरणदर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

(१) **ईर्यासमिति के विधि-निषेध कल्प**—१. चारसूत्र, २ अध्वगमनसूत्र, ३ आर्यक्षेत्रसूत्र, ४ महानदीसूत्र, ५. वैराज्य—विरुद्धराज्यसूत्र, ६ अन्तगृहस्था, ७ वाचनासूत्र, ८ सज्ञाप्यसूत्र, ९ गणान्तरोपसम्पत्सूत्र, १० कल्पस्थितिसूत्र।

---

१ अभिधान राजेन्द्र भाग तृतीय पृष्ठ २३९ पर "कप्पसुय" शब्द का विवेचन।

(२) **ईर्यासमिति और परिष्ठापनिकासमिति के संयुक्त विधि-निषेधकल्प**—११ विचारभूमि-विहारभूमिसूत्र।

(३) **भाषा-समिति के विधि-निषेधकल्प**—१२. वचनसूत्र, १३. प्रस्तारसूत्र, १४ अन्तरगृहस्थानादिसूत्र,

(४) **एषणासमिति के विधि-निषेधकल्प [आहारैषणा]**—१५. प्रलम्बसूत्र, १६ रात्रि भक्तसूत्र, १७. सबलिसूत्र, १८ सागारिक-पारिहारिकसूत्र, १९ आहृतिका-निहृतिकासूत्र, २० अंशिकासूत्र, २१.काल-क्षेत्रातिक्रान्तसूत्र, २२ कल्पस्थिताकल्पस्थितसूत्र, २३ संस्तृत-निर्विचिकित्ससूत्र, २४ उद्गारसूत्र, २५. आहारविधिसूत्र, २६. परिवासितसूत्र, २७ पुलाकभक्तसूत्र, २८. क्षेत्रावग्रहप्रमाणसूत्र, २९ रोधक (सेना) सूत्र **(पानैषणा)** ३०. पानकविधिसूत्र, ३१ अनेषणीयसूत्र, ३२ मोकसूत्र, **(वस्त्रैषणा)** ३३ चिलिमिलिका सूत्र, ३४. रात्रिवस्त्रादिग्रहणसूत्र, ३५ हृताहृतासूत्र, ३६. उपधिसूत्र, ३७. वस्त्रसूत्र, ३८. निश्रासूत्र, ३९ त्रिकृत्स्न-चतु कृत्स्नसूत्र, ४० समवसरणसूत्र, ४१ यथारत्नाधिक वस्त्रपरिभाजकसूत्र, **(वस्त्र-पात्रैषणा)** ४२ अवग्रहसूत्र, **(पात्रैषणा)** ४३ घटीमात्रकसूत्र, **(रजोहरणैषणा)** ४४ रजोहरणसूत्र, **(चर्मैषणा)** ४५ चर्मसूत्र, **(शय्या-संस्तारकैषणा)** ४६. शय्या-सस्तारकसूत्र, ४७ यथारत्नाधिक शय्या-सस्तारक-परिभाजनसूत्र, **(स्थानैषणा)** ४८. अवग्रहसूत्र, **(उपाश्रयैषणा)**[1] ४९. आपणगृह-रथ्यामुखसूत्र, ५० चित्रकर्मसूत्र, ५१ सागारिक निश्रासूत्र, ५२ सागारिक उपाश्रयसूत्र, ५३. प्रतिबद्धशय्यासूत्र, ५४ गाथापतिकुलमध्यवाससूत्र, ५५. उपाश्रयसूत्र, ५६ उपाश्रयविधिसूत्र, **(वसतिनिवास)** ५७. मासकल्पसूत्र, ५८ वगडासूत्र, **महाव्रतों के अनधिकारी** ५९. प्रव्राजनासूत्र **(महाव्रत प्ररूपण)** ६०. महाव्रतसूत्र, **प्रथम महाव्रत के विधिनिषेधकल्प** ६१. अधिकरणसूत्र, ६२. व्यवशमनसूत्र, **प्रथम और तृतीय महाव्रत के विधिनिषेधकल्प** ६३. आवस्थाप्यसूत्र, **प्रथम-चतुर्थ महाव्रत के विधिनिषेधकल्प** ६४ दकतीरसूत्र, ६५ अनुद्घातिकसूत्र, **चतुर्थमहाव्रत के विधिनिषेधकल्प** ६६. उपाश्रय-प्रवेशसूत्र, ६७ अपावृतद्वार उपाश्रयसूत्र, ६८. अवग्रहानन्तक-अवग्रहपट्टकसूत्र, ६९. ब्रह्मापायसूत्र, ७० ब्रह्मरक्षासूत्र, ७१. पाराञ्चिकसूत्र, ७२. कण्टकादि-उद्धरणसूत्र, ७३. दुर्गसूत्र, ७४ क्षिप्तचित्तादिसूत्र, **तपकल्प**[2] ७५. कृतिकर्मसूत्र ७६. ग्लानसूत्र, ७७ पारिहारिकसूत्र ७८. व्यवहारसूत्र, **मरणोत्तरविधि** ७९. विष्वग्भवनसूत्र, **महाव्रत और समिति के संयुक्तकल्प** ८० परिमन्थसूत्र

इस वर्गीकरण से प्रत्येक विज्ञपाठक इस आगम की उपादेयता समझ सकते हैं। श्रामण्य जीवन के लिए ये विधि-निषेधकल्प कितने महत्त्वपूर्ण हैं। इनके स्वाध्याय एव चिन्तन-मनन से ही पचाचार का यथार्थ पालन सम्भव है। यह आगमज्ञो का अभिमत है तथा इन विधि-निषेधकल्पो के ज्ञाता ही कल्प विपरीत आचरण के निवारण करने मे समर्थ हो सकेंगे, यह स्वत सिद्ध है।

(३) व्यवहारसूत्र--

प्रस्तुत व्यवहारसूत्र तृतीय छेदसूत्र है[3]। इसके दस उद्देशक है। दसवे उद्देशक के अतिम (पाचवें) सूत्र मे पाँच व्यवहारो के नाम हैं[4]। इस सूत्र का नामकरण भी पाँच व्यवहारो को प्रमुख मानकर ही किया गया है।

१. उपाश्रय विधि-निषेध-कल्प के जितने सूत्र हैं वे प्राय चतुर्थ महाव्रत के विधि-निषेध-कल्प भी हैं।

२ विनय वैयावृत्य और प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तपो का विधान करने वाले ये सूत्र हैं।

३ प्रथम छेदसूत्र दशा, (आयारदशा दशाश्रुतस्कन्ध), द्वितीय छेदसूत्र कल्प (बृहत्कल्प) और तृतीय छेदसूत्र व्यवहार। देखिए सम० २६ सूत्र—२। अथवा उत्त० अ० ३१, गा० १७।

४. भाष्यकार का मन्तव्य है—व्यवहारसूत्र के दसवें उद्देशक का पाँचवा सूत्र ही अन्तिम सूत्र है। पुरुषप्रकार से दसविधवैयावृत्य पर्यन्त जितने सूत्र हैं, वे सब परिवर्धित हैं या चूलिकारूप है।

व्यवहार-शब्दरचना

वि+अव+हृ+घञ् । 'वि' और 'अव' ये दो उपसर्ग हैं । हृञ्—हरणे धातु है । 'हृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर हार बनता है । वि+अव+हार—इन तीनो से व्यवहार शब्द की रचना हुई है । 'वि'—विविधता या विधि का सूचक है । 'अव'—सदेह का सूचक है । 'हार'—हरण क्रिया का सूचक है । फलितार्थ यह है कि विवाद विषयक नाना प्रकार के सशयो का जिससे हरण होता है वह 'व्यवहार' है[1] । यह व्यवहार शब्द का विशेषार्थ है ।

व्यवहारसूत्र के प्रमुख विषय

१. व्यवहार, २ व्यवहारी और ३ व्यवहर्तव्य—ये तीन इस सूत्र के प्रमुख विषय हैं ।

दसवें उद्देशक के अन्तिम सूत्र मे प्रतिपादित पाच व्यवहार करण (साधन) हैं, गण की शुद्धि करने वाले गीतार्थ (आचार्यादि) व्यवहारी (व्यवहार क्रिया प्रवर्तय) कर्ता हैं[2], और श्रमण-श्रमणियां व्यवहर्तव्य (व्यवहार करने योग्य) हैं । अर्थात् इनकी अतिचार शुद्धिरूप क्रिया का सम्पादन व्यवहारज्ञ व्यवहार द्वारा करता है ।

जिस प्रकार कुम्भकार (कर्ता), चक्र, दण्ड मृत्तिका सूत्र आदि करणो द्वारा कुम्भ (कर्म) का सम्पादन करता है—इसी प्रकार व्यवहारज्ञ व्यवहारो द्वारा व्यवहर्तव्यो (गण) की अतिचार शुद्धि का सम्पादन करता है[3] ।

व्यवहार-व्याख्या

व्यवहार की प्रमुख व्याख्याये दो हैं । एक लौकिक व्याख्या और दूसरी लोकोत्तर व्याख्या ।

लौकिक व्याख्या दो प्रकार की है—१ सामान्य और २ विशेष । सामान्य व्याख्या है—दूसरे के साथ किया जाने वाला आचरण अथवा रुपये-पैसो का लेन-देन[4] ।

विशेष व्याख्या है—अभियोग की समस्त प्रक्रिया अर्थात् न्याय । इस विशिष्ट व्याख्या से सम्बन्धित कुछ शब्द प्रचलित हैं । जिनका प्रयोग वैदिक परम्परा की श्रुतियो एव स्मृतियो मे चिरन्तन काल से चला आ रहा है[5] । यथा—

१. **व्यवहारशास्त्र**—(दण्डसहिता) जिसमे राज्य-शासन द्वारा किसी विशेष विषय मे सामूहिक रूप से बनाये गये नियमो के निर्णय और नियमो का भग करने पर दिये जाने वाले दण्डो का विधान व विवेचन होता है ।

---

१. 'वि' नानार्थे 'ऽव' सदेहे, 'हरण' हार उच्यते ।
नाना सदेहहरणाद्, व्यवहार इति स्थिति ॥—**कात्यायन ।**
नाना विवाद विषय सशयो ह्रियतेऽनेन इति व्यवहार ।

२. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, त जहा—
गणसोहिकरे नाम एगे नो माणकरे । —**व्यव० पुरुषप्रकार सूत्र**

३ गाहा—ववहारी खलु कत्ता, ववहारो होई करणभूतो उ ।
ववहरियव्व कज्ज, कुभादि तियस्स जह सिद्धी ॥ —**व्य० भाष्यपीठिका गाथा २**

४. न कश्चित् कस्यचिन्मित्र, न कश्चित् कस्यचिद् रिपु ।
व्यवहारेण जायन्ते, मित्राणि रिपवस्तथा ॥ —**हितो० मि० ७२**

५. परस्पर मनुष्याणा, स्वार्थविप्रतिपत्तिषु ।
वाक्यानयायाद् व्यवस्थान, व्यवहार उदाहृत ॥ —**मिताक्षरा ।**

२. **व्यवहारज्ञ**—(न्यायाधीश) जो व्यवहारशास्त्र का ज्ञाता होता है वही किसी अभियोग आदि पर विवेकपूर्वक विचार करने वाला एव दण्डनिर्णायक होता है।

लोकोत्तर व्याख्या भी दो प्रकार की है—१ सामान्य और २ विशेष। सामान्य व्याख्या है—एक गण का दूसरे गण के साथ किया जाने वाला आचरण। अथवा एक श्रमण का दूसरे श्रमण के साथ, एक आचार्य, उपाध्याय आदि का दूसरे आचार्य, उपाध्याय आदि के साथ किया जाने वाला आचरण।

विशेष व्याख्या है—सर्वज्ञोक्त विधि से तप प्रभृति अनुष्ठानो का "वपन" याने बोना और उससे अतिचार-जन्य पाप का हरण करना 'व्यवहार है'[1]।

'विवाप' शब्द के स्थान मे 'व्यव' आदेश करके 'हार' शब्द के साथ सयुक्त करने पर व्यवहार शब्द की सृष्टि होती है—यह भाष्यकार का निर्देश है[2]।

व्यवहार के भेद-प्रभेद

व्यवहार दो प्रकार का है—१ विधि व्यवहार और २ अविधि व्यवहार। अविधि व्यवहार मोक्ष-विरोधी है, इसलिए इस सूत्र का विषय नही है, अपितु विधि व्यवहार ही इसका विषय है[3]।

व्यवहार चार प्रकार के हैं—१ नामव्यवहार २ स्थापनाव्यवहार ३ द्रव्यव्यवहार और ४ भावव्यवहार।

१ नामव्यवहार—किसी व्यक्ति विशेष का 'व्यवहार' नाम होना।

२ स्थापनाव्यवहार—व्यवहार नाम वाले व्यक्ति की सत् या असत् प्रतिकृति।

३ द्रव्यव्यवहार—के दो भेद है—आगम से और नोआगम से।

आगम से—अनुपयुक्त (उपयोगरहित) व्यवहार पद का ज्ञाता।

नोआगम से—द्रव्यव्यवहार तीन प्रकार का है—१ ज्ञशरीर २ भव्यशरीर और ३ तद्व्यतिरिक्त।

ज्ञशरीर—व्यवहार पद के ज्ञाता का मृतशरीर।

भव्यशरीर—व्यवहार पद के ज्ञाता का भावीशरीर।

तद्व्यतिरिक्त द्रव्यव्यवहार—व्यवहार श्रुत या पुस्तक। यह तीन प्रकार का है—१ लौकिक, २ लोकोत्तर और कुप्रावचनिक।

लौकिक द्रव्यव्यवहार का विकासक्रम

मानव का विकास भोगभूमि मे प्रारम्भ हुआ था। उस आदिकाल मे भी पुरुष पति रूप मे और स्त्री पत्नी रूप में ही रहते थे, किन्तु दोनो मे काम-वासना अत्यन्त सीमित थी। सारे जीवन मे उनके केवल दो सन्तानें (एक साथ) होती थी। उनमे भी एक बालक और एक बालिका ही। "हम दो हमारे दो" उनके सासारिक जीवन का यही सूत्र था। वे भाई-बहिन ही युवावस्था मे पति-पत्नी रूप मे रहने लगते थे।

---

१ व्यव० भाष्य० पीठिका गा० ४।

२ व्यव० भाष्य० पीठिका गा० ४।

३ व्यव० भाष्य० पीठिका गाथा-६।

उनके जीवन-निर्वाह के साधन थे कल्पवृक्ष। सोना-बैठना उनकी छाया मे, खाना फल, पीना वृक्षो का मदजल। पहनते थे वल्कल और सुनते थे वृक्षवाद्य प्रतिपल। न वे काम-धन्धा करते थे, न उन्हे किसी प्रकार की कोई चिन्ता थी, अत वे दीर्घजीवी एव अत्यन्त सुखी थे। न वे करते थे धर्म, न वे करते थे पापकर्म, न था कोई वक्ता, न था कोई श्रोता, न थे वे उद्दण्ड, न उन्हे कोई देता था दण्ड, न था कोई शासक, न थे वे शासित। ऐसा था युगलजन-जीवन।

कालचक्र चल रहा था। भोगभूमि कर्मभूमि मे परिणत होने लगी थी। जीवन-यापन के साधन कल्पवृक्ष विलीन होने लगे थे। खाने-पीने और सोने-बैठने की समस्याये सताने लगी थी। क्या खाये-पीयें? कहाँ रहे, कहाँ सोये? ऊपर आकाश था, नीचे धरती थी। सर्दी, गर्मी और वर्षा से बचे तो कैसे बचे? —इत्यादि अनेक चिन्ताओ ने मानव को घेर लिया था। खाने-पीने के लिए छीना-झपटी चलने लगी। अकाल मृत्युएँ होने लगी और जोडे (पति-पत्नी) का जीवन बेजोड होने लगा।

प्रथम सुषम-सुषमाकाल और द्वितीय सुषमाकाल समाप्त हो गया था। तृतीय सुषमा-दुषमाकाल के दो विभाग भी समाप्त हो गये थे। तृतीय विभाग का दुश्चक्र चल रहा था। वह था सक्रमण-काल।

सुख, शान्ति एव व्यवस्था के लिए सर्वप्रथम प्रथम पाच कुलकरो ने अपराधियो को 'हत्'- -इस वाग्दण्ड से प्रताडित किया, पर कुछ समय बाद यह दण्ड प्रभावहीन हो गया। दण्ड की दमन नीति का यह प्रथम सूत्र था। मानव हृदय मे हिंसा के प्रत्यारोपण का युग यही से प्रारम्भ हुआ।

द्वितीय पाच कुलकरो ने आततायियो को **"मत"** इस वाग्दण्ड से प्रताडित कर प्रभावित किया किन्तु यह दण्ड भी समय के सोपान पार करता हुआ प्रभावहीन हो गया।

तृतीय पाच कुलकरो ने अशान्ति फैलाने वालो को "धिक्" इस वाग्दण्ड से शासित कर निग्रह किया। यद्यपि दण्डनीय के ये तीनो दण्ड वाग्दण्ड मात्र थे, पर हिसा के पर्यायवाची दण्ड ने मानव को कोमल न बनाकर क्रूर बनाया, दयालु न बनाकर दुष्ट बनाया। प्रथम कुलकर का नाम यद्यपि "सुमति" था। मानव की सुख-समृद्धि के लिए उसे "शमन" का उपयोग करना था पर काल के कुटिल कुचक्रो से प्रभावित होकर उसने भी "दमन" का दुश्चक्र चलाया।

अन्तिम कुलकर श्री ऋषभदेव थे। धिक्कार की दण्डनीति भी असफल होने लगी तो भगवान् ऋषभदेव (आदिनाथ) के श्रीमुख से कर्म त्रिपदी "१ असि, २ मसि, ३ कृषि" प्रस्फुरित हुई। मानव के सामाजिक जीवन का सूर्योदय हुआ। मानव समाज दो वर्गों मे विभक्त हो गया। एक वर्ग शासको का और एक वर्ग शासितो का। अल्प-सख्यक शासक वर्ग बहुसख्यक शासित वर्ग पर अनुशासन करने लगा।

भगवान् आदिनाथ के सुपुत्र भरत चक्रवर्ती बने। पूर्वजो से विरासत मे मिली दमननीति का प्रयोग वे अपने भाइयो पर भी करने लगे। उपशमरस के आदिस्रोत भ० आदिनाथ (ऋषभदेव) ने बाहुबली आदि को शाश्वत (आध्यात्मिक) साम्राज्य के लिए प्रोत्साहित किया तो वे मान गये। क्योकि उस युग के मानव 'ऋजुजड'प्रकृति के थे।

अहिंसा की अमोघ अमीधारा से भाइयो के हृदय मे प्रज्वलित राज्यलिप्सा की लोभाग्नि सर्वथा शान्त हो गई।

भ० अजितनाथ से लेकर भ० पार्श्वनाथ पर्यन्त 'ऋजुप्राज्ञ' मानवो का युग रहा। ग्यारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव और नौ प्रतिवासुदेवो के शासन मे दण्डनीति का इतना दमनचक्र चला कि सौम्य शमननीति को लोग प्राय भूल गये। दाम—प्रलोभन, दण्ड और भेद —इन तीन नीतियो का ही सर्व साधारण मे अधिकाधिक प्रचार-प्रसार होता रहा।

अब आया "वक्रजड" मानवो का युग। मानव के हृदयपटल पर वक्रता और जडता का साम्राज्य छा गया। सामाजिक व्यवस्था के लिए दण्ड (दमन) अनिवार्य मान लिया गया। अग-भग और प्राणदण्ड सामान्य हो गये। दण्डसहिताये बनी, दण्ड-यन्त्र बन। दण्डन्यायालय और दण्डविज्ञान भी विकसित हुआ। आग्नेयास्त्र आदि अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रो ने अतीत मे और वर्तमान मे अणुबम आदि अनेक अस्त्रो द्वारा नृशस दण्ड से दमन का प्रयोग होता रहा है।

पौराणिक साहित्य मे एक दण्डपाणि (यमराज) का वर्णन है पर आज तो यत्र-तत्र-सर्वत्र अनेकानेक दण्डपाणि ही चलते फिरते दिखाई देते है। यह लौकिक द्रव्यव्यवहार है।

लोकोत्तर द्रव्यव्यवहार—आचार्यादि की उपेक्षा करनेवाले स्वच्छन्द श्रमणो का अन्य स्वच्छन्द श्रमणो के साथ अशनादि आदान-प्रदान का पारस्परिक व्यवहार।

लोकोत्तर भावव्यवहार— १ यह दो प्रकार का है १ आगम से और २ नोआगम से। आगम से—उपयोगयुक्त व्यवहार पद के अर्थ का ज्ञाता[1]। नोआगम से पाच प्रकार के व्यवहार है—

१ आगम, २ श्रुत, ३ आज्ञा, ४ धारणा, ५ जीत।

१ जहाँ आगम हो वहाँ आगम से व्यवहार की प्रस्थापना करे।

२ जहाँ आगम न हो श्रुत हो, वहाँ श्रुत से व्यवहार की प्रस्थापना करे।

३ जहाँ श्रुत न हो, आज्ञा हो, वहाँ आज्ञा से व्यवहार की प्रस्थापना करे।

४ जहाँ आज्ञा न हो, धारणा हो, वहाँ धारणा से व्यवहार की प्रस्थापना करे।

५ जहाँ धारणा न हो, जीत हो, वहाँ जीत से व्यवहार की प्रस्थापना करे।

इन पाचो से व्यवहार की प्रस्थापना करे - १ आगम, २ श्रुत, ३ आज्ञा, ४ धारणा और ५ जीत से। इनमे से जहा-जहाँ जो हो वहाँ-वहाँ उसी से व्यवहार की प्रस्थापना करे।

प्र० भते ! आगमबलिक श्रमण निर्ग्रन्थो ने (इन पाच व्यवहारो के सम्बन्ध मे) क्या कहा है ?

उ०- - (आयुष्मन श्रमणो) इन पाचो व्यवहारो मे मे जब-जब जिस-जिस विषय मे जो व्यवहार हो तब-तब उस उस विषय मे अनिश्रितोपाश्रित - (मध्यस्थ) रहकर सम्यक् व्यवहार करता हुआ श्रमण—निर्ग्रन्थ आज्ञा का आराधक होता है[2]।

---

१ आगमतो व्यवहारपदार्थज्ञाता तत्र चोपयुक्त 'उपयोगो भाव निक्षेप' इति वचनात्।

—व्यव० भा० पीठिका गाथा ६

२ ठाण-५ उ० २ सू० ४२१/तथा भग० श० ८ उ० ८ सू० ८, ९।

आगमव्यवहार

केवलज्ञानियो, मन पर्यवज्ञानियो और अवधिज्ञानियो द्वारा आचरित या प्ररूपित विधि-निषध आगम-व्यवहार है।

नव पूर्व, दश पूर्व और चौदह पूर्वधारियो द्वारा आचरित या प्ररूपित विधि-निषेध भी आगमव्यवहार ही है।[1]

श्रुतव्यवहार

आठ पूर्व पूर्ण और नवम पूर्व अपूर्णधारी द्वारा आचरित या प्रतिपादित विधि-निषेध भी श्रुतव्यवहार है। दशा (आयारदशा-दशाश्रुतस्कन्ध), कल्प (बृहत्कल्प), व्यवहार, आचारप्रकल्प (निशीथ) आदि छेदश्रुत (शास्त्र) द्वारा निर्दिष्ट विधि-निषेध भी श्रुतव्यवहार है।

आज्ञाव्यवहार

दो गीतार्थ श्रमण एक दूसरे से अलग दूर देशो मे विहार कर रहे हो और निकट भविष्य मे मिलने की सम्भावना न हो। उनमे से किसी एक को कल्पिका प्रतिसेवना का प्रायश्चित्त लेना हो तो अपने अतिचार दोष कहकर गीतार्थ शिष्य को भेजे। यदि गीतार्थ शिष्य न हो तो धारणाकुशल अगीतार्थ शिष्य को साकेतिक भाषा मे अपने अतिचार कहकर दूरस्थ गीतार्थ मुनि के पास भेजे और उस शिष्य के द्वारा कही गई आलोचना सुनकर वह गीतार्थ मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, सहनन, धैर्य, बल आदि का विचार कर स्वय वहाँ आवे और प्रायश्चित्त दे। अथवा गीतार्थ शिष्य को समझाकर भेजे। यदि गीतार्थ शिष्य न हो तो आलोचना का सन्देश लाने वाले के साथ ही साकेतिक भाषाओ मे अतिचार-शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का सदेश भेजे—यह आज्ञाव्यवहार है।[2]

धारणाव्यवहार

किसी गीतार्थ श्रमण ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा मे जिस अतिचार का जो प्रायश्चित्त दिया है, उसकी धारणा करके जो श्रमण उसी प्रकार के अतिचार सेवन करने वाले को धारणानुसार प्रायश्चित्त

---

१ आगमव्यवहार की कल्पना से तीन भेद किये जा सकते है—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य।

१ केवलज्ञानियो द्वारा आचरित या प्ररूपित विधि-निषेधपूर्ण उत्कृष्ट आगमव्यवहार है, क्योकि केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

२ मन पर्यवज्ञान और अवधिज्ञान यद्यपि विकल (देश) प्रत्यक्ष है फिर भी ये दोनो ज्ञान आत्म-सापेक्ष है, इसलिये मनःपर्यवज्ञानियो या अवधिज्ञानियो द्वारा आचरित या प्ररूपित विधि-निषेध (मध्यम) आगमव्यवहार है।

३ चौदह पूर्व, दश पूर्व और नव पूर्व (सम्पूर्ण) यद्यपि विशिष्ट श्रुत है, फिर भी परोक्ष है, अत इनके धारक द्वारा प्ररूपित या आचरित विधि-निषेध भी आगमव्यवहार है, किन्तु यह जघन्य आगमव्यवहार है।

२ सो ववहार विहण्णू, अणुमज्जित्ता सुत्तोवएसेण।
सीसस्स देइ अप्प, तस्स इम देहि पच्छित्त ॥

—व्यव० भा० उ० १० गा० ६६१।

देता है, वह धारणाव्यवहार है। अथवा —वैयावृत्य अर्थात् सेवाकार्यों से जिस श्रमण ने गण का उपकार किया है वह यदि छेदश्रुत न सीख सके तो गुरु महाराज उसे कतिपय प्रायश्चित्त पदो की धारणा कराते है—यह भी धारणाव्यवहार है।

जीतव्यवहार

स्थिति, कल्प, मर्यादा और व्यवस्था—ये 'जीत' के पर्यायवाची है। गीतार्थ द्वारा प्रवर्तित शुद्ध व्यवहार जीतव्यवहार है।

श्रुतोक्त प्रायश्चित्त से हीन या अधिक किन्तु परम्परा मे आचरित प्रायश्चित्त देना जीतव्यवहार है।

सूत्रोक्त कारणो के अतिरिक्त कारण उपस्थित होने पर जो अतिचार लगे है उनका प्रवर्तित प्रायश्चित्त अनेक गीतार्थों द्वारा आचरित हो तो वह भी जीतव्यवहार है।

अनेक गीतार्थों द्वारा निर्धारित एव सर्वसम्मत विधि-निषेध भी जीतव्यवहार है।[1]

व्यवहारपंचक के क्रमभंग का प्रायश्चित्त

आगमव्यवहार के होते हुये यदि कोई श्रुतव्यवहार का प्रयोग करता है तो चार गुरु के प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

इसी प्रकार श्रुतव्यवहार के होते हुये आज्ञाव्यवहार का प्रयोगकर्ता, आज्ञाव्यवहार के होते हुये धारणा-व्यवहार का प्रयोगकर्ता तथा धारणाव्यवहार के होते हुये जीतव्यवहार का प्रयोगकर्ता चार गुरु के प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

व्यवहारपचक का प्रयोग पूर्वानुपूर्वीक्रम से अर्थात् अनुक्रम से ही हो सकता है किन्तु पश्चानुपूर्वीक्रम मे अर्थात् विपरीतक्रम से प्रयोग करना सर्वथा निषिद्ध है।

आगमव्यवहारी आगमव्यवहार से ही व्यवहार करते है, अन्य श्रुतादि व्यवहारो से नही—क्योंकि जिस समय सूर्य का प्रकाश हो उस समय दीपक के प्रकाश की आवश्यकता नही रहती।

---

१ कि पुण गुणोवएसो, ववहारस्स उ चिउ पमत्थम्म।
एसो भे परिकहिओ, दुवालसगस्स णवणीय॥
—व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ७२४।

ज जीत मावज्ज, न तेण जीएण होइ ववहारो।
ज जीयममावज्ज, तेण उ जीएण ववहारो॥
—व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ७१५।

ज जस्स पच्छित्त, आयरियपरपराए अविरुद्ध।
जोगा य बहु विगप्पा, एसो खलु जीतकप्पो॥ —व्यव० भाष्य पीठिका गाथा १२।

ज जीयमसोहिकर, पासत्थ-पमत्त-सजयाईण्ण।
जइ वि महाजणाइन्न, न तेण जीएण ववहारो॥
ज जीय सोहिकर, सवेगपरायणेन दत्तेण।
एगेण वि आइण्ण, तेण उ जीएण ववहारो॥ —व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ७२०, ७२१।

जीतव्यवहार तीर्थ (जहाँ तक चतुर्विध संघ रहता है वहाँ तक) पर्यन्त रहता है। अन्य व्यवहार विच्छिन्न हो जाते है।[1]

कुप्रावचनिकव्यवहार

अनाज मे, रस मे, फल मे और फूल मे होने वाले जीवो की हिंसा हो जावे तो घी चाटने से शुद्धि हो जाती है।[2]

कपास, रेशम, ऊन, एकखुर और दोखुर वाले पशु, पक्षी, सुगन्धित पदार्थ, औषधियों और रज्जु आदि की चोरी करे तो तीन दिन दूध पीने से शुद्धि हो जाती है।[3]

ऋग्वेद धारण करने वाला विप्र तीनो लोक को मारे या कही भी भोजन करे तो उसे किसी प्रकार का पाप नही लगता है।[4]

ग्रीष्मऋतु मे पचाग्नि तप करना, वर्षाऋतु मे वर्षा बरसते समय बिना छाया के बैठना और शरद्ऋतु मे गीले वस्त्र पहने रहना—इस प्रकार क्रमश तप बढाना चाहिये।[5]

व्यवहारी

व्यवहारज्ञ, व्यवहारी, व्यवहर्ता—ये समानार्थक है।

जो प्रियधर्मी हो, दृढधर्मी हो, वैराग्यवान हो, पापभीरु हो, सूत्रार्थ का ज्ञाता हो और राग-द्वेषरहित (पक्षपातरहित) हो वह व्यवहारी होता है।[6]

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अतिचारसेवी पुरुष और प्रतिसेवना का चिन्तन करके यदि किसी को अतिचार के अनुरूप आगमविहित प्रायश्चित्त देता है तो व्यवहारज्ञ (प्रायश्चित्तदाता) आराधक होता है।

---

१ गाहा—सुत्तमणागयविसय, खेत्त काल च पप्प ववहारो।
होहिति न आइल्ला, जा तित्थ ताव जीतो उ ॥ —व्यव० १० भाष्य गाथा ५५।

२ अन्नाद्यजाना सत्त्वाना, रसजाना च सर्वश।
फलपुष्पोद्भवाना च, घृतप्राशो विशोधनम् ॥ —मनु० अ० ११/१४३।

३ कार्पासकीटजीर्णाना, द्विशफैकशफस्य च।
पक्षिगन्धौषधीना च, रज्ज्वाश्चैव त्र्यह पय ॥ —मनु० अ० ११/१६।

४ हत्वा लोकानपीमास्त्रीन्, नश्यन्नपि यतस्तत।
ऋग्वेद धारयन्विप्रो, नैन प्राप्नोति किञ्चन ॥ —मनु० अ० ११/२६१।

५ ग्रीष्मे पञ्चतपास्तुस्याद्वर्षा स्वभ्रावकाशिक।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते, क्रमशो वर्धयस्तप ॥ —मनु० अ० ६/२३।

६ क—पियधम्मा दढधम्मा, सविग्गा चेव वज्जभीरू अ।
सुत्तत्थ तदुभयविऊ, अणिस्सिय ववहारकारी य ॥ —व्य० भाष्य पीठिका गाथा १४।

ख—१ आचारवान्, २ आधारवान्, ३ व्यवहारवान्, ४ अपव्रीडक, ५ प्रकारी, ६ अपरिस्रावी, ७ निर्यापक, ८ अपायदर्शी, ९ प्रियधर्मी, १० दृढधर्मी। ठाण० १०, सू० ७३३।

ग—व्यव० उ० १० भाष्य गाथा २४३। २४५। २४६। २४७। २९८। ३००।

द्रव्य, क्षेत्र आदि का चिन्तन किये बिना राग-द्वेषपूर्वक हीनाधिक प्रायश्चित्त देता है वह व्यवहारज्ञ (प्रायश्चित्तदाता) विराधक होता है।[1]

व्यवहर्तव्य

व्यवहर्तव्य/व्यवहार करने योग्य निर्ग्रन्थ हैं। ये अनेक प्रकार के है।

निर्ग्रन्थ चार प्रकार के हैं—

१ एकरात्निक[2] होता है किन्तु भारीकर्मा होता है, अत वह धर्म का अनाराधक होता है।

२ एकरात्निक होता है और हलुकर्मा होता है, अत वह धर्म का आराधक होता है।

३ एक अवमरात्निक[3] होता है और भारीकर्मा होता है, अत वह धर्म का अनाराधक होता है।

४ एक अवमरात्निक होता है किन्तु हलुकर्मा होता है, अत वह धर्म का आराधक होता हैं।

इसी प्रकार निर्ग्रन्थियाँ भी चार प्रकार की होती है।[4]

निर्ग्रन्थ पाच प्रकार के हैं—

१ पुलाक—जिसका सयमी जीवन भूसे के समान साररहित होता है। यद्यपि तत्त्व मे श्रद्धा रखता है, क्रियानुष्ठान भी करता है, किन्तु तपानुष्ठान से प्राप्त लब्धि का उपयोग भी करता है और ज्ञानातिचार लगे—ऐसा बर्तन-व्यवहार रखता है।

२ बकुश—ये दो प्रकार के होते है—उपकरणबकुश और शरीरबकुश।

जा उपकरणो को एव शरीर को सजाने मे लगा रहता है और ऋद्धि तथा यश का इच्छुक रहता है। छेदप्रायश्चित्त योग्य अतिचारो का सेवन करता है।

३ कुशील—यह दो प्रकार का है—१ प्रतिसेवनाकुशील और २ कषायकुशील।

प्रतिसेवनाकुशील—जो पिण्डशुद्धि आदि उत्तरगुणो मे अतिचार लगाते हैं।

कषायकुशील—जो यदा कदा सज्वलन कषाय के उदय से स्वभावदशा मे स्थिर नही रह पाता।

४ निर्ग्रन्थ—उपशान्तमोह निर्ग्रन्थ।

५ स्नातक—सयोगीकेवली और अयोगीकेवली।

इन पाच निर्ग्रन्थो के अनेक भेद-प्रभेद है। ये सब व्यवहार्य है।

जब तक प्रथम सहनन और चौदह पूर्व का ज्ञान रहा तब तक पूर्वोक्त दस प्रायश्चित्त दिये जाते थे। इनके

---

१ गाहा—जो सुयमहिज्जइ, बहु सुत्तत्थ च निउण विजाणाइ।
कप्पे ववहारमि य, सो उ पमाण सुयहराण ॥
कप्पस्स य निज्जुत्ति ववहारस्स व परमनिउणस्स।
जो अत्थतो वियाणइ, ववहारी सो अणुण्णातो ॥ —व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ६०५, ६०७

२ जो दीक्षापर्याय मे बडा हो।

३ जो दीक्षापर्याय मे छोटा हो।

४ ठाण० ४, उ० ३, सूत्र ३२०।

विच्छिन्न होने पर अनवस्थाप्य और पाराञ्चिक प्रायश्चित्त भी विच्छिन्न हो गये—अर्थात् ये दोनों प्रायश्चित्त अब नही दिये जाते हैं। शेष आठ प्रायश्चित्त तीर्थ (चतुर्विधसंघ) पर्यन्त दिये जायेंगे।

पुलाक को व्युत्सर्गपर्यन्त छह प्रायश्चित्त दिए जाते थे।

प्रतिसेवकबकुश और प्रतिसेवनाकुशील को दसों प्रायश्चित्त दिये जाते है। स्थविरो को अनवस्थाप्य और पाराञ्चिक प्रायश्चित्त नही दिये जाते, शेष आठ प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

निर्ग्रन्थ को केवल दो प्रायश्चित्त दिये जा सकते है—१ आलोचना, २ विवेक।

स्नातक केवल एक प्रायश्चित्त लेता है—विवेक। उन्हे कोई प्रायश्चित्त देता नही है।[1]

१ सामायिकचारित्र वाले को छेद और मूल रहित आठ प्रायश्चित्त दिये जाते है।

२ छेदोपस्थापनीयचारित्र वाले को दसो प्रायश्चित्त दिये जाते है।

३ परिहारविशुद्धिचारित्र वाले को मूलपर्यन्त आठ प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

४ सूक्ष्मसंपरायचारित्र वाले को तथा ५ यथाख्यातचारित्र वाले को केवल दो प्रायश्चित्त दिये जाते है—१ आलोचना और २ विवेक। ये सब व्यवहार्य है।[2]

व्यवहार के प्रयोग

व्यवहारज्ञ जब उक्त व्यवहारपंचक मे से किसी एक व्यवहार का किसी एक व्यवहर्तव्य (व्यवहार करने योग्य श्रमण या श्रमणी) के साथ प्रयोग करता है तो विधि के निषेधक को या निषेध के विधायक को प्रायश्चित्त देता है तब व्यवहार शब्द प्रायश्चित्त रूप तप का पर्यायवाची हो जाता है। अत यहाँ प्रायश्चित्त रूप तप का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

१ गुरुक, २ लघुक, ३ लघुस्वक।

गुरुक के तीन भेद

१ गुरुक, २ गुरुतरक और ३ यथागुरुक।

---

१ गाहा—आलोयणपडिक्कमणे, मीस-विवेगे तहेव विउस्सग्गे।
एए छ पच्छित्ता, पुलागनियठाय बोधव्वा॥
बउसपडिसेवगाण, पायच्छित्ता हवंति सव्वे वि।
थेरे कप्पे, जिणकप्पे अट्ठहा होंति॥
आलोयणा विवेगो य, नियंठस्स दुवे भवे।
विवेगो य सिणायस्स, एमेया पडिवत्तितो॥ —व्यव० १० भाष्य गाथा ३५७, ५८, ५९

२ सामाइयसजयाण, पायच्छित्ता, छेद-मूलरहियट्ठा।
थेराण जिणाण पुण, मूलत अट्ठहा होइ॥
परिहारविसुद्धीए, मूल ता अट्ठाति पच्छित्ता।
थेराण जिणाण पुण, जव्विह छेयादिवज्ज वा॥
आलोयणा-विवेगो य तइय तु न विज्जती।
सुहुमेय सपराए, अहक्खाए तहेव य॥ —व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ३६१-६२-६३-६४।

लघु के तीन भेद

१ लघुक, २ लघुतरक और ३ यथालघुक ।

लघुस्वक के तीन भेद

१ लघुस्वक, २ लघुस्वतरक और ३ यथालघुस्वक ।

गुरु प्रायश्चित्त महा प्रायश्चित्त होता है उसकी अनुद्घातिक सज्ञा है। इस प्रायश्चित्त के जितने दिन निश्चित हैं और जितना तप निर्धारित है वह तप उतने ही दिनो मे पूरा होता है। यह तप दर्पिकाप्रतिसेवना वालो को ही दिया जाता है।

गुरुक व्यवहार : प्रायश्चित्त तप

१ गुरु प्रायश्चित्त—एक मास पर्यन्त अट्ठम[1] तेला (तीन दिन उपवास)

२ गुरुतर प्रायश्चित्त— चार मास पर्यन्त दशम[2]—चोला (चार दिन का उपवास)

३. गुरुतर प्रायश्चित्त—छह मास पर्यन्त द्वादशम[3]—पचोला (पाँच दिन का उपवास)।

लघुक व्यवहार/प्रायश्चित्त तप

१ लघु प्रायश्चित्त —तीस दिन पर्यन्त छट्ठ—बेला[4] (दो उपवास)

२ लघुतर प्रायश्चित्त—पचीस दिन पर्यन्त चउत्थ[5]—उपवास ।

३ यथालघु प्रायश्चित्त—बीस दिन पर्यन्त—आचाम्ल ।[6]

१ लघुस्वक प्रायश्चित्त—पन्द्रह दिन पर्यन्त एक स्थानक[7]—(एगलठाणो)

२ लघुस्वतरक प्रायश्चित्त—दस दिन पर्यन्त—पूर्वार्ध[8] (दो पोरसी)

३ यथालघुस्वक प्रायश्चित्त—पाँच दिन पर्यन्त—निर्विकृतिक[9] (विकृतिरहित आहार) ।[10]

---

१ एक मास मे आठ अट्ठम होते है—इनमे चौबीस दिन तपश्चर्या के और आठ दिन पारणा के। अन्तिम पारणे का दिन यदि छोड दें तो एक मास (इकतीस दिन) गुरु प्रायश्चित्त का होता है।

२ एक मास मे छह दसम होते है—इनमे चौबीस दिन तपश्चर्या के और छह दिन पारणे के—इस प्रकार एक मास (तीस दिन) गुरु प्रायश्चित्त का होता है।

३ एक मास मे पाँच द्वादशम होते हैं—इनमे पचीस दिन तपश्चर्या के और पाँच दिन पारणे के इस प्रकार एक मास (तीस दिन) गुरु प्रायश्चित्त का होता है।

४ तीस दिन मे दस छट्ठ होते हैं—इनमे बीस दिन तपश्चर्या के और दस दिन पारणे के होते हैं।

५ पचीस दिन मे तेरह उपवास होते हैं—इनमे तेरह दिन तपश्चर्या के और बारह दिन पारणे के। अन्तिम पारणे का दिन यहाँ नही गिना है।

६ बीस दिन मे दस आचाम्ल होते हैं—इनमे दस दिन तपश्चर्या के और दस दिन पारणे के होते हैं।

७ पन्द्रह दिन एक स्थानक निरन्तर किये जाते हैं।

८. दस दिन पूर्वार्ध निरन्तर किये जाते हैं।

९ पाँच दिन निर्विकृतिक आहार निरन्तर किया जाता है।

१० बृह० उद्दे० ५ भाष्य गाथा ६०३९-६०४४।

गुरु प्रायश्चित तप के तीन विभाग—

१. जघन्य, २ मध्यम और ३ उत्कृष्ट।

१ जघन्य गुरु प्रायश्चित्त—एक मासिक और द्वैमासिक।

२. मध्यम गुरु प्रायश्चित्त—त्रैमासिक और चातुर्मासिक।

३ उत्कृष्ट गुरु प्रायश्चित्त—पाँचमासिक और षाण्मासिक।

जघन्य गुरु प्रायश्चित्त तप है—एक मास या दो मास पर्यन्त निरन्तर अट्ठम तप करना।

मध्यम गुरु प्रायश्चित्त तप है—तीन मास या चार मास पर्यन्त निरन्तर दशम तप करना।

उत्कृष्ट गुरु प्रायश्चित्त तप है—पाँच मास या छह मास पर्यन्त निरन्तर द्वादशम तप करना।

इसी प्रकार लघु प्रायश्चित्त तप के और लघुस्वक तप के भी तीन-तीन विभाग हैं। तथा तप की आराधना भी पूर्वोक्त मास क्रम से ही की जाती है।

उत्कृष्ट गुरु प्रायश्चित्त के तीन विभाग—

१ उत्कृष्ट-उत्कृष्ट, २ उत्कृष्ट-मध्यम, ३. उत्कृष्ट-जघन्य।

१ उत्कृष्ट-उत्कृष्ट गुरु प्रायश्चित—पाँच मास या छह मास पर्यन्त निरन्तर द्वादशम तप करना।

२ उत्कृष्ट-मध्यम गुरु प्रायश्चित्त—तीन मास या चार मास पर्यन्त निरन्तर द्वादशम तप करना।

३ उत्कृष्ट-जघन्य गुरु प्रायश्चित्त—एक मास या दो मास पर्यन्त निरन्तर द्वादशम तप करना।

इसी प्रकार मध्यम गुरु प्रायश्चित्त के तीन विभाग और जघन्य गुरु प्रायश्चित्त के भी तीन विभाग हैं। तपाराधना भी पूर्वोक्त क्रम से ही की जाती है।

उत्कृष्ट लघु प्रायश्चित्त, मध्यम लघु प्रायश्चित्त, जघन्य लघु प्रायश्चित्त के तीन, तीन विभाग तथा उत्कृष्ट लघुस्वक प्रायश्चित्त, मध्यम लघुस्वक प्रायश्चित्त और जघन्य लघुस्वक प्रायश्चित्त के भी तीन, तीन विभाग हैं। तपाराधना भी पूर्वोक्त मासक्रम से है। विशेष जानने के लिये व्यवहार भाष्य का अध्ययन करना चाहिये।

व्यवहार (प्रायश्चित्त) की उपादेयता

प्र०—भगवन्! प्रायश्चित्त से जीव को क्या लाभ होता है?

उ०—प्रायश्चित्त से पापकर्म की विशुद्धि होती है और चारित्र निरतिचार होता है। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त करने पर मार्ग (सम्यग्दर्शन) और मार्गफल (ज्ञान) की विशुद्धि होती है। आचार और आचारफल (मुक्तिमार्ग) की शुद्धि होती है।[1]

---

१ (क) उत्त० अ० २९

(ख) पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं तु भण्णए तेण।
पाएण वा विचित्तं, विसोहए तेण पच्छित्तं॥
—व्यव भाष्य पीठिका, गाथा ३५

(ग) प्राय पाप समुद्दिष्ट, चित्त तस्य विशोधनम्।
यदा प्रायस्य तपस चित्तम् निश्चय इति स्मृतौ।

(घ) प्रायस्य पापस्य चित्त विशोधनम प्रायश्चित्तम्।

प्रायश्चित्त के भेद-प्रभेद

१ ज्ञान-प्रायश्चित्त—ज्ञान के अतिचारो की शुद्धि के लिये आलोचना आदि प्रायश्चित्त करना।[1]

२ दर्शन-प्रायश्चित्त—दर्शन के अतिचारो की शुद्धि के लिये आलोचना आदि प्रायश्चित्त करना।[2]

३ चारित्र प्रायश्चित्त—चारित्र के अतिचारो की शुद्धि के लिये आलोचना आदि प्रायश्चित्त करना।[3]

४ वियत्त किच्चपायच्छित्ते—इस चतुर्थ प्रायश्चित्त के दो पाठान्तर हैं—

१ वियत्तकिच्चपायच्छित्ते—व्यक्तकृत्य प्रायश्चित्त।

२. चियत्तकिच्चपायच्छित्ते—त्यक्तकृत्य प्रायश्चित्त।

क—व्यक्तकृत्य प्रायश्चित्त के दो अर्थ हैं—(१) व्यक्त—अर्थात् आचार्य—उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त कृत्य पाप का परिहारक होता है। तात्पर्य यह है कि आचार्य यदा-कदा किसी को प्रायश्चित्त देते हैं तो वे अतिचारसेवी के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि देखकर देते है। आचार्य द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का उल्लेख दशा-कल्प-व्यवहार आदि मे हो या न हो फिर भी उस प्रायश्चित्त से आत्मशुद्धि अवश्य होती है।

ख—व्यक्त अर्थात् स्पष्ट छेद सूत्र निर्दिष्ट प्रायश्चित्त कृत्य। भिन्न भिन्न अतिचारो के भिन्न-भिन्न (आलोचनादि कृत्य) प्रायश्चित्त।

क—त्यक्त कृत्यप्रायश्चित्त—जो कृत्य त्यक्त हैं उनका प्रायश्चित्त।

ख—चियत्त—का एक अर्थ 'प्रीतिकर' भी होता है।[4] आचार्य के प्रीतिकर कृत्य वैयावृत्य आदि भी प्रायश्चित्त रूप हैं।

दस प्रकार के प्रायश्चित्त—

(१) आलोचना योग्य—जिन अतिचारो की शुद्धि आलोचना से हो सकती है ऐसे अतिचारो की आलोचना

(ङ) जिस प्रकार लौकिक व्यवहार में सामाजिक या राजनैतिक अपराधियो को दण्ड देने का विधान है—इसी प्रकार मूलगुण या उत्तरगुण सम्बन्धी (१) अतिक्रम, (२) व्यतिक्रम, (३) अतिचार और (४) अनाचार-सेवियो को प्रायश्चित्त देने का विधान है।

सामान्यतया दण्ड और प्रायश्चित्त समान प्रतीत होते हैं, किन्तु दण्ड क्रूर होता है और प्रायश्चित्त अपेक्षाकृत कोमल होता है। दण्ड अनिच्छापूर्वक स्वीकार किया जाता है और प्रायश्चित्त स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया जाता है। दण्ड से वासनाओं का दमन होता है और प्रायश्चित्त से शमन होता है।

१ ज्ञान के चौदह अतिचार।

२ दर्शन के पाँच अतिचार।

३ चारित्र के एकसौ छह (१०६) अतिचार—
पाँच महाव्रत से पच्चीस अतिचार। रात्रिभोजन त्याग के दो अतिचार। इर्यासमिति के चार अतिचार। भाषासमिति के दो अतिचार। एषणा समिति के सेंतालीस अतिचार। आदान निक्षेपणा समिति के दो अतिचार। परिष्ठापना समिति के दस अतिचार। तीन गुप्ति के ९ अतिचार। सलेखना के ५ अतिचार

४. 'चियत्त' का 'प्रीतिकर' अर्थसूचक संस्कृत रूपान्तर मिलता नही है।

—अर्धमागधीकोश भाग २ चियत्तशब्द पृ० ६२८

करना आलोचना योग्य प्रायश्चित्त है। एषणा समिति और परिष्ठापना समिति के अतिचार प्राय आलोचना योग्य हैं।

(२) प्रतिक्रमणयोग्य—जिन अतिचारो की शुद्धि प्रतिक्रमण से हो सकती है, ऐसे अतिचारो का प्रतिक्रमण करना—प्रतिक्रमण योग्य है। समितियो एव गुप्तियो के अतिचार प्राय प्रतिक्रमण योग्य हैं।

(३) उभययोग्य—जिन अतिचारो की शुद्धि आलोचना और प्रतिक्रमण—दोनो से ही हो सकती है—ऐसे अतिचारो की आलोचना तथा उनका प्रतिक्रमण करना—उभय योग्य प्रायश्चित्त है। एकेन्द्रियादि जीवो का अभिघान करने से यावत् स्थानान्तरण करने से जो अतिचार होते हैं—वे उभय प्रायश्चि योग्यत्त है।

(४) विवेकयोग्य—जिन अतिचारो की शुद्धि विवेक अर्थात् परित्याग से होती है—ऐसे अतिचारो का परित्याग करना विवेक (त्याग) योग्य प्रायश्चित्त है। आधाकर्म आहार यदि आ जाय तो उसका परित्याग करना ही विवेकयोग्य प्रायश्चित्त है।

(५) व्युत्सर्ग योग्य—जिन अतिचारो की शुद्धि कायिक क्रियाओ का अवरोध करके ध्येय मे उपयोग स्थिर करने से होती है ऐसे अतिचार व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त योग्य हैं। नदी पार करने के बाद किया जाने वाला कायोत्सर्ग व्युत्सर्ग योग्य प्रायश्चित्त है।

(६) तपयोग्य—जिन अतिचारो की शुद्धि तप से ही हो सकती है—ऐसे अतिचार तप प्रायश्चित्त योग्य हैं। निशीथसूत्र निर्दिष्ट अतिचार प्राय तप (गुरुमास, लघुमास) प्रायश्चित्त योग्य हैं।

(७) छेदयोग्य—जिन अतिचारो की शुद्धि दीक्षा छेद से हो सकती है वे अतिचार छेद प्रायश्चित्त योग्य हैं। पाँच महाव्रतों के कतिपय अतिचार छेद प्रायश्चित्त योग्य है।[1]

(८) मूलयोग्य—जिन अतिचारो की शुद्धि महाव्रतो के पुन आरोपण करने से ही हो सकती है, ऐसे अनाचार मूल प्रायश्चित्त के योग्य होते हैं। एक या एक से अधिक महाव्रतो का होने वाला मूल प्रायश्चित्त योग्य है।[2]

(९) अनवस्थाप्ययोग्य—जिन अनाचारो की शुद्धि व्रत एव वेष रहित करने पर ही हो सकती है—ऐसे अनाचार अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त योग्य होते है।[3]

---

१ अकारण अपवाद मार्ग सेवन मे आसक्त, एक अतिचार का अनेक बार आचरणकर्ता, तथा एक साथ अनेक अतिचार सेवनकर्ता छेद प्रायश्चित्त योग्य होता है।

जिस प्रकार शेष अग की रक्षा के लिये व्याधिविकृत अग का छेदन अत्यावश्यक है—इसी प्रकार शेष व्रत पर्याय की रक्षा के लिये दूषित व्रत पर्याय का छेदन भी अत्यावश्यक है।

२ एक बार या अनेक बार पचेन्द्रिय प्राणियो का वध करने वाला, शील भग करने वाला, सक्लिष्ट सकल्पपूर्वक मृषावाद बोलने वाला, अदत्तादान करने वाला, परिग्रह रखने वाला, पर-लिंग (परिव्राजकादि का वेष) धारण करने वाला तथा गृहस्थलिंग धारण करने वाला मूल प्रायश्चित्त योग्य होता है।

३ अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त योग्य तीन है—

१ साधर्मिक की चोरी करने वाला,

२ अन्यधर्मियो की चोरी करने वाला,

३ दण्ड, लाठी या मुक्के आदि से प्रहार करने वाला।

—ठाण० ३, उ० ४ सू० २०१

(१०) पाराचिक योग्य—जिन अनाचारो की शुद्धि गृहस्थ का वेष धारण कराने पर और बहुत लम्बे समय तक निर्धारित तप का अनुष्ठान कराने पर ही हो सकती है ऐसे अनाचार पाराचिकप्रायश्चित्त योग्य होते हैं।[१] इस प्रायश्चित्त वाला व्यक्ति उपाश्रय, ग्राम और देश से बहिष्कृत किया जाता है।

प्रायश्चित्त के प्रमुख कारण

१ अतिक्रम—दोषसेवन का सकल्प।

२ व्यतिक्रम—दोषसेवन के साधनो का सग्रह करना।

३ अतिचार—दोषसेवन प्रारम्भ करना।

४ अनाचार—दोषसेवन कर लेना।

अतिक्रम के तीन भेद—

१ ज्ञान का अतिक्रम, २ दर्शन का अतिक्रम, ३ चारित्र का अतिक्रम।

इसी प्रकार ज्ञान का व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार हैं। दर्शन और चारित्र के भी तीन-तीन भेद हैं।

ज्ञान का अतिक्रम तीन प्रकार का है—

१ जघन्य, २. मध्यम, ३ उत्कृष्ट। इसी प्रकार ज्ञान का व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार हैं। दर्शन और चारित्र के भी तीन-तीन भेद है।

ज्ञानादि का अतिक्रम हो गया हो तो गुरु के समक्ष आलोचना करना, प्रतिक्रमण करना तथा निन्दा, गर्हा आदि करके शुद्धि करना, पुन दोषसेवन न करने का दृढ सकल्प करना तथा प्रायश्चित्त रूप तप करना। इसी प्रकार के ज्ञान के व्यतिक्रमादि तथा दर्शन-चारित्र के अतिक्रमादि की शुद्धि करनी चाहिए।[२]

---

१ ठाण० ६, सू० ४८९। ठाण० ८, सू० ६०५। ठाण० ९, सू० ६८८। ठाण० १०, सू० ७३३।
पाराचिक प्रायश्चित्त योग्य पांच हैं—
१ जो कुल (गच्छ) मे रहकर परस्पर कलह कराता हो।
२ जो गण मे रहकर परस्पर कलह कराता हो।
३ जो हिंसाप्रेक्षी हो,
४ जो छिद्रप्रेमी हो,
५ प्रश्नशास्त्र का बारम्बार प्रयोग करता हो। —ठाण ५, उ०१ सू० ३९८।
पाराचिक प्रायश्चित्त योग्य तीन है—
१ दुष्ट पाराचिक
२ प्रमत्त पाराचिक
३ अन्योऽन्य मैथुनसेवी पाराचिक।
अनवस्थाप्य और पाराचिक प्रायश्चित्त के सम्बन्ध मे विशेष जानने के लिये व्यवहारभाष्य देखना चाहिये।

२ (क) ठाण ३ उ०४ सू० १९५।
(ख) अस्वाध्यायकाल मे स्वाध्याय करने का सकल्प करना ज्ञान का अतिक्रम है। पुस्तक लेने जाना—ज्ञान का व्यतिक्रम है। स्वाध्याय प्रारम्भ करना ज्ञान का अतिचार है। पूर्ण स्वाध्याय करना ज्ञान का अनाचार है। इसी प्रकार दर्शन तथा चारित्र के अतिक्रमादि समझने चाहिए।

प्रतिसेवना के दस प्रकार

१. दर्पप्रतिसेवना—अहंकारपूर्वक अकृत्य सेवन ।

२ प्रमादप्रतिसेवना—निद्रादि पाँच प्रकार के प्रमादवश अकृत्य सेवन ।

३ अनाभोग प्रतिसेवना—विस्मृतिपूर्वक अनिच्छा से अकृत्य सेवन ।

४ आतुरप्रतिसेवना—रुग्णावस्था मे अकृत्य सेवन ।

५ आपत्तिप्रतिसेवना—दुर्भिक्षादि कारणो से अकृत्य सेवन ।

६ शकित प्रतिसेवना—आशका से अकृत्य सेवन ।

७ सहसाकार प्रतिसेवना—अकस्मात् या बलात्कार से अकृत्य सेवन ।

८. भयप्रतिसेवना—भय से अकृत्य सेवन ।

९ प्रद्वेषप्रतिसेवना—द्वेषभाव से अकृत्य सेवन ।

१० विमर्शप्रतिसेवना—शिष्य की परीक्षा के निमित्त अकृत्य सेवन ।

ये प्रतिसेवनाये सक्षेप मे दो प्रकार की हैं—दर्पिका और कल्पिका ।

राग-द्वेष पूर्वक जो अकृत्य सेवन किया जाता है वह दर्पिका प्रतिसेवना है । इस प्रतिसेवना से प्रतिसेवक विराधक होता है ।

राग-द्वेष रहित परिणामो से जो प्रतिसेवना हो जाती है या की जाती है वह कल्पिका प्रतिसेवना है । इसका प्रतिसेवक आराधक होता है ।[१]

आठ प्रकार के ज्ञानातिचार—

१ कालातिचार—अकाल मे स्वाध्याय करना ।

२ विनयातिचार—श्रुत का अध्ययन करते समय जाति और कुल मद से गुरु का विनय न करना ।

३ बहुमानातिचार—श्रुत और गुरु का सन्मान न करना ।

४ उपधानातिचार—श्रुत की वाचना लेते समय आचाम्लादि तप न करना ।

५. निह्नवनाभिधानातिचार—गुरु का नाम छिपाना ।

६ व्यजनातिचार—हीनाधिक अक्षरो का उच्चारण करना ।

७ अर्थातिचार—प्रसग सगत अर्थ न करना । अर्थात विपरीत अर्थ करना ।

८ उभयातिचार—ह्रस्व की जगह दीर्घ उच्चारण करना, दीर्घ की जगह ह्रस्व उच्चारण करना । उदात्त के स्थान मे अनुदात्त का और अनुदात्त के स्थान मे उदात्त का उच्चारण करना ।

अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार ये तीन सज्वलन कषाय के उदय से होते है[२]—इनकी शुद्धि आलोचनार्ह से लेकर तपोऽर्हपर्यन्त प्रायश्चित्तो मे होती है ।

छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पाराचिक प्रायश्चित्त योग्य अतिचार और अनाचार शेष बारह कषायो (अनन्तानुबन्धी ४, अप्रत्याख्यानी ४, प्रत्याख्यानी ४) के उदय से होते हैं ।

---

१ गाहा— रागद्दोसाणुगया, तु दप्पिया कप्पिया तु तदभावा ।
आराधणा उ कप्पे, विराधणा होति दप्पेण ॥

—बृह० उ० ४ भाष्य गाथा ४९४३ ।

२ सव्वे वि अइयारा सजलणाण उदयओ होंति ॥

—अभि० कोष—'अइयार' शब्द ।

प्रकट और प्रच्छन्न दोष सेवन

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार—इन चार प्रकार के दोषो का सेवन करने वाले श्रमण-श्रमणिया चार प्रकार के हैं—

१ कुछ श्रमण-श्रमणियाँ इन उक्त दोषो का सेवन प्रकट करते हैं अर्थात् प्रच्छन्न नही करते हैं।

२ कुछ श्रमण-श्रमणियाँ इन उक्त दोषो का सेवन प्रच्छन्न करते है अर्थात् प्रकट नही करते है।

३. कुछ श्रमण-श्रमणियाँ इन उक्त दोषो का सेवन प्रकट भी करते हैं और प्रच्छन्न भी करते हैं।

४ कुछ श्रमण-श्रमणियाँ इन उक्त दोषो का सेवन न प्रकट करते हैं और न प्रच्छन्न करते हैं।[1]

प्रथम भग वाले—श्रमण-श्रमणियाँ अनुशासन मे नही रहने वाले अविनीत, स्वच्छन्द, प्रपची एव निर्लज्ज होते है और वे पापभीरू नही होते हैं अतः दोषो का सेवन प्रकट करते है।

द्वितीय भग वाले—श्रमण-श्रमणियाँ दो प्रकार के होते है—अत दोष का सेवन प्रकट करते है। यथा—

प्रशस्त भावना वाले—श्रमण-श्रमणियाँ यदि यदा-कदा उक्त दोषो का सेवन करते हैं तो प्रच्छन्न करते हैं, क्योकि वे स्वय परिस्थितिवश आत्मिक दुर्बलता के कारण दोषो का सेवन करते हैं इसलिए ऐसा सोचते हैं कि मुझे दोष-सेवन करते हुये देखकर अन्य श्रमण-श्रमणियाँ दोष-सेवन न करें अत वे दोषो का सेवन प्रच्छन्न करते है।

अप्रशस्त भावना वाले—मायावी] श्रमण-श्रमणियाँ लोक-लज्जा के भय से या श्रद्धालुजनो की श्रद्धा मेरे पर बनी रहे इस सकल्प से उक्त दोषो का सेवन प्रकट नही करते है अपितु छिपकर करते है।

तृतीय भंग वाले—श्रमण-श्रमणियाँ वचक प्रकृति के होते है वे सामान्य दोषो का सेवन तो प्रकट करते है किन्तु सशक्त (प्रबल) दोषो का सेवन प्रच्छन्न करते हैं।

यदि उन्हे कोई सामान्य दोष सेवन करते हुये देखता है तो वे कहते है—'सामान्य दोष तो इस पचमकाल मे सभी को लगते है। अत इन दोषो से बचना असम्भव है।'

चतुर्थ भग वाले—श्रमण-श्रमणियाँ सच्चे वैराग्य वाले होते हैं, मुमुक्षु और स्वाध्यायशील भी होते हैं अत वे उक्त दोषो का सेवन न प्रकट करते है, न प्रच्छन्न करते हैं।

प्रथम तीन भग वाले श्रमण-श्रमणियो द्वारा सेवित दोषो की शुद्धि के लिए ही व्यवहारसूत्र निर्दिष्ट प्रायश्चित्त-विधान है। अतिम चतुर्थ भग वाले श्रमण-श्रमणियाँ निरतिचार चारित्र के पालक होते है अत. उनके लिए किसी भी प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान नही है।

व्यवहारशुद्धि कठिन भी, सरल भी

प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव आदिनाथ के धर्मशासन मे श्रमण-श्रमणियाँ प्राय ऋजु-सरल होते थे पर जड (अल्पबौद्धिक विकास वाले) होते थे। अत. वे सूत्र सिद्धान्त निर्दिष्ट समाचारी का परिपूर्ण ज्ञान तथा परिपूर्ण पालन नही कर पाते थे। उनकी व्यवहार शुद्धि दु साध्य होने का एकमात्र यही कारण था।

---

१ ठाण—४, उ १, सू २७२

बावीस तीर्थंकरो (भगवान् अजितनाथ से भ० पार्श्वनाथ पर्यन्त) के श्रमण-श्रमणी प्राय: ऋजु-प्राज्ञ (सरल और प्रबुद्ध) होते थे। वे सूत्र सिद्धान्त प्रतिपादित समाचारी का परिपूर्ण ज्ञान तथा परिपूर्ण पालन करने में सदा प्रयत्नशील रहते थे अत उनकी व्यवहार शुद्धि अति सरल थी।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर की परम्परा के श्रमण-श्रमणी प्राय वक्रजड हैं। दशा, कल्प, व्यवहार आदि मे विशद श्रुत समाचारी के होते हुये भी प्रत्येक गच्छ भिन्न-भिन्न समाचारी की प्ररूपणा करता है। पर्युषण-पर्व तथा सवत्सरी पर्व जैसे महान धार्मिक पर्वों की आराधना, पक्खी, चौमासी आलोचना भी विभिन्न दिनो मे की जाती है। वक्रता और जडता के कारण मूलगुण तथा उत्तरगुणो मे लगने वाले अतिचारो की आलोचना भी वे सरल हृदय से नही करते अत उनकी व्यवहार शुद्धि अति कठिन है।[1]

आलोचना और आलोचक

आलोचना—अज्ञान, अहकार, प्रमाद या परिस्थितिवश जो उत्सर्ग मार्ग से स्खलन अर्थात् अतिचार होता है—उसे गुरु के समक्ष प्रकट करना आलोचना है और आलोचक वह है जो पूर्वोक्त कारणो मे लगे हुये अतिचारो को गुरु के समक्ष प्रकट करता है।

यदि आलोचक मायावी हो और मायापूर्वक आलोचना करता हो तो उसकी आलोचना का उसे अच्छा फल नही मिलता है।

यदि आलोचक मायावी नही है और मायारहित आलोचना करता है तो उसकी आलोचना का उसे अच्छा फल मिलता है।

व्यवहारशुद्धि के लिये तथा निश्चय (आत्म) शुद्धि के लिये लगे हुये अतिचारो की आलोचना करना अनिवार्य है किन्तु साधको के विभिन्न वर्ग हैं। उनमे एक वर्ग ऐसा है जो अतिचारो की आलोचना करता ही नही है।

उनका कहना है—हमने अतिचार (अकृत्य) सेवन किये है, करते हैं और करते रहेंगे। क्योकि देश, काल और शारीरिक-मानसिक स्थितियाँ ऐसी है कि हमारा सयमी जीवन निरतिचार रहे—ऐसा हमे सभव नही लगता है अत: आलोचना से क्या लाभ है यह तो हस्तिस्नान जैसी प्रक्रिया है। अतिचार लगे आलोचना की और फिर अतिचार लगे—यह चक्र चलता ही रहता है।

उनका यह चिन्तन अविवेकपूर्ण है—क्योकि वस्त्र पहने है, पहनते है और पहनते रहेंगे तो पहने गये वस्त्र मलिन हुये हैं, होते हैं और होते रहेगे—'फिर वस्त्र शुद्धि मे क्या लाभ है!'—यह कहना कहाँ तक उचित है?

जब तक वस्त्र पहनना है तब तक उन्हे शुद्ध रखना भी एक कर्तव्य है—क्योकि वस्त्रशुद्धि के भी कई लाभ हैं—प्रतिदिन शुद्ध किये जाने वाले वस्त्र अति मलिन नही होते हैं और स्वच्छ वस्त्रो से स्वास्थ्य भी समृद्ध रहता है।

इसी प्रकार जब तक योगो के व्यापार हैं और कषाय तीव्र या मन्द है तब तक अतिचार जन्य कर्ममल लगना निश्चित है।

---

१. गाहा—पुरिमाण दुव्विसोज्झो उ, चरिमाण दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाण तु, सुविसोज्झो सुपालओ॥
—उत्त अ २३, गाथा -२७।

प्रतिदिन अतिचारों की आलोचना करते रहने से आत्मा कर्ममल से अतिमलिन नहीं होता है और भाव-आरोग्य रहता है। ज्यो ज्यों योगो का व्यापार अवरुद्ध होता है और कषाय मन्दतम होते जाते हैं, त्यो त्यो अतिचारों का लगना अल्प होता जाता है।

द्वितीय वर्ग ऐसा है जो अयश-अकीर्ति, अवर्ण (निन्दा) या अवज्ञा के भय से अथवा यश-कीर्ति या पूजा-सत्कार कम हो जाने के भय से अतिचारों की आलोचना ही नहीं करते।

तृतीय वर्ग ऐसा है जो आलोचना तो करता है पर मायापूर्वक करता है। वह सोचता है मैं यदि आलोचना नही करूँगा तो मेरा वर्तमान जीवन गर्हित हो जायगा और भावी जीवन भी विकृत हो जायगा। अथवा आलोचना करूँगा तो मेरा वर्तमान एव भावी जीवन प्रशस्त हो जायगा अथवा आलोचना कर लूँगा तो ज्ञान दर्शन एव चारित्र की प्राप्ति हो जायगी।

मायावी आलोचक को दुगुना प्रायश्चित्त देने का विधान प्रारम्भ के सूत्रो मे है।

चौथा वर्ग ऐसा है जो मायारहित आलोचना करता है, वह १. जातिसम्पन्न, २ कुलसम्पन्न, ३. विनयसम्पन्न, ४ ज्ञानसम्पन्न, ५ दर्शनसम्पन्न, ६ चारित्रसम्पन्न, ७. क्षमाशील, ८ निग्रहशील, ९, अमायी, १० अपश्चात्तापी। ऐसे साधकों का यह वर्ग है। इनका व्यवहार और निश्चय दोनो शुद्ध होते हैं।

आलोचक गीतार्थ हो या अगीतार्थ, उन्हे आलोचना सदा गीतार्थ के सामने ही करनी चाहिये। गीतार्थ के अभाव में किन के सामने करना चाहिये।[1] उनका एक क्रम है—जो छेदसूत्रों के स्वाध्याय से जाना जा सकता है।

व्यवहारसूत्र का सम्पादन क्यों

सयमी आत्माओं के जीवन का चरम लक्ष्य है—"निश्चयशुद्धि" अर्थात् आत्मा की (कर्म-मल से) सर्वथा मुक्ति और इसके लिये व्यवहारसूत्र प्रतिपादित व्यवहारशुद्धि अनिवार्य है।

जिसप्रकार शारीरिक स्वास्थ्यलाभ के लिये उदरशुद्धि आवश्यक है और उदरशुद्धि के लिये आहारशुद्धि अत्यावश्यक है—इसी प्रकार आध्यात्मिक 'आरोग्यलाभ के लिए निश्चयशुद्धि आवश्यक है और निश्चयशुद्धि के लिये व्यवहारशुद्धि आवश्यक है। क्योकि व्यवहारशुद्धि के बिना निश्चयशुद्धि सर्वथा असभव है।

सासारिक जीवन मे व्यवहारशुद्धि वाले (रुपये-पैसो के देने लेने मे प्रामाणिक) के साथ ही लेन-देन का व्यवहार किया जाता है। आध्यात्मिक जीवन मे भी व्यवहारशुद्ध साधक के साथ ही कृतिकर्मादि (वन्दन-पूजनादि) व्यवहार किये जाते हैं।

---

१ गाहा—आयरियपायमूल, गतूण सइ परक्कमे।
ताहे सव्वेण अत्तसोही, कायव्वा एस उवएसो ॥
जह सकुसलो वि वेज्जो, अन्नस्स कहेइ अत्तणो वाहि।
वेज्जस्स य सो सोउतो, पडिकम्म समारभते ॥
आयातेण वि एव, पायच्छित्तविहिमप्पणो निउण।
तह वि य पागडतरय, आलोएदव्वय होइ ॥
जह बालो जप्पतो, कज्जमकज्ज च उज्जुय भणइ।
तं तह आलोइज्जा मायामय विप्पमुक्को उ ॥ —व्यव० उ० १० भाष्य गाथा ४६०-४७१।

व्यवहारसूत्र प्रतिपादित पाच व्यवहारो से सयमी आत्माओं का व्यवहारपक्ष शुद्ध (अतिचारजन्य पाप-मल-रहित) होता है ।

ग्रन्थ मे प्रकाशित छेदसूत्रो के लिये कतिपय विचार व्यक्त किये हैं । इस लेखन मे मेरे द्वारा पूर्व मे सम्पादित आयारदसा, कप्पसुत्त छेदसूत्रो मे पण्डितरत्न मुनि श्री विजयमुनिजी शास्त्री के "आचारदशा एक अनुशीलन" और उपाध्याय मुनि श्री फूलचन्दजी 'श्रमण के "बृहत्कल्पसूत्र की उत्थानिका" के आवश्यक लेखाशो का समावेश किया है । एतदर्थ मुनिद्वय का सधन्यवाद आभार मानता हूँ ।

विस्तृत विवेचन आदि लिखने का कार्य श्री तिलोकमुनिजी म ने किया है । अतएव पाठकगण अपनी जिज्ञासाओ के समाधान के लिये मुनिश्री से सपर्क करने की कृपा करे ।

—मुनि कन्हैयालाल "कमल"

प्रस्तावना

त्रीणि छेदसूत्राणि : एक समीक्षात्मक अध्ययन

वैदिक परम्परा मे जो स्थान वेद का है, बौद्ध परम्परा मे जो स्थान त्रिपिटक का है, ईसाई धर्म मे जो स्थान बाईबिल का है, इस्लाम धर्म मे जो स्थान कुरान का है, वही स्थान जैनपरम्परा मे आगम-साहित्य का है।

वेद तथा बौद्ध और जैन आगम-साहित्य मे महत्त्वपूर्ण भेद यह रहा है कि वैदिक परम्परा के ऋषियो ने शब्दो की सुरक्षा पर अधिक बल दिया जबकि जैन और बौद्ध परम्परा मे अर्थ पर अधिक बल दिया गया है। यही कारण है कि वेदो के शब्द प्राय सुरक्षित रहे हैं और अर्थ की दृष्टि से वे एक मत स्थिर नही कर सके हैं। जैन और बौद्ध परम्परा मे इससे बिल्कुल ही विपरीत रहा है। वहाँ अर्थ की सुरक्षा पर अधिक बल दिया गया है, शब्दो की अपेक्षा अर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। यही कारण है कि आगमो के पाठभेद मिलते हैं, पर उनमे प्राय अर्थभेद नही है।

वेद के शब्दो मे मन्त्रो का आरोपण किया गया है जिससे शब्द तो सुरक्षित रहे, पर उसके अर्थ नष्ट हो गए। जैन आगम-साहित्य मे मन्त्र-शक्ति का आरोप न होने से अर्थ पूर्ण रूप से सुरक्षित रहा है।

वेद किसी एक ऋषि विशेष के विचारो का प्रतिनिधित्व नही करते, जब कि जैन गणिपिटक एव बौद्ध त्रिपिटक क्रमश भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध की वाणी का प्रतिनिधित्व करते है। जैन आगमो के अर्थ के प्ररूपक तीर्थकर रहे है और सूत्र के रचयिता गणधर है।

जैन और वैदिक परम्परा की सस्कृति पृथक्-पृथक् रही है। जैनसस्कृति अध्यात्म प्रधान है। जैन आगमो मे अध्यात्म का स्वर प्रधान रूप से झकृत रहा है, वेदो मे लौकिकता का स्वर मुखरित रहा है। यहाँ पर यह बात भी विस्मरण नही होनी चाहिए कि आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व अणु-विज्ञान, जीव-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान आदि के सम्बन्ध मे जो बाते जैन आगमो मे बताई गई है, उन्हे पढकर आज का वैज्ञानिक भी विस्मित है। जैन आगम-साहित्य का इन अनेक दृष्टियो से भी महत्त्व रहा है।

कुछ समय पूर्व पाश्चात्य और पौर्वात्य विज्ञो की यह धारणा थी कि वेद ही आगम और त्रिपिटक के मूल स्रोत है, पर मोहनजोदडो और हडप्पा की खुदाई मे प्राप्त ध्वसावशेषो ने विज्ञो की धारणा मे आमूलचूल परिवर्तन कर दिया है कि आर्यों के आगमन से पूर्व भारत मे जो सस्कृति थी वह पूर्ण रूप से विकसित थी और वह श्रमण-सस्कृति थी।

निष्पक्ष विचारको ने यह सत्य-तथ्य एक मत से स्वीकार किया है कि श्रमणसस्कृति के प्रभाव से ही वैदिक परम्परा ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतो को स्वीकार किया है। आज जो वैदिक

परम्परा मे ग्रहिंसादि का वर्णन है वह जैनसस्कृति की देन है।[1]

आगम शब्द के ग्रनेक अर्थ हैं। उस पर मैने विस्तार से चर्चा की है।

ग्राचाराङ्ग मे जानने के ग्रर्थ मे ग्रागम शब्द का प्रयोग हुग्रा है। "आगमेत्ता-आणवेज्जा"[2] जानकर ग्राज्ञा करे। लाघवं आगममाणे[3] लघुता को जानने वाला। व्यवहारभाष्य[4] मे सघदासगणी ने ग्रागम-व्यवहार का वर्णन करते हुए उसके प्रत्यक्ष ग्रौर परोक्ष ये दो भेद किये हैं। प्रत्यक्ष मे ग्रवधि, मनःपर्यव ग्रौर केवल ज्ञान है ग्रौर परोक्ष मे चतुर्दश पूर्व ग्रौर उनसे न्यून श्रुतज्ञान का समावेश है। इससे भी स्पष्ट है कि जो ज्ञान है वह ग्रागम है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकरो के द्वारा दिया गया उपदेश भी ज्ञान होने के कारण ग्रागम है।

भगवती[5], ग्रनुयोगद्वार[6] ग्रौर स्थानाङ्ग[7] मे ग्रागम शब्द शास्त्र के ग्रर्थ मे प्रयुक्त हुग्रा है। वहाँ पर प्रमाण के चार भेद किये गये है—प्रत्यक्ष, ग्रनुमान, उपमान ग्रौर ग्रागम। ग्रागम के भी लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किए गए हैं। लौकिक ग्रागम भारत, रामायण ग्रादि है ग्रौर लोकोत्तर ग्रागम ग्राचार, सूत्रकृत ग्रादि हैं।[8]

लोकोत्तर ग्रागम के सुत्तागम, ग्रत्थागम ग्रौर तदुभयागम ये तीन भेद भी किए गए हैं।[9] एक अन्य दृष्टि से आगम के तीन प्रकार ग्रौर मिलते हैं—ग्रात्मागम, ग्रनन्तरागम ग्रौर परम्परागम।[10] ग्रागम के ग्रर्थरूप और सूत्ररूप ये दो प्रकार है। तीर्थंकर प्रभु ग्रर्थरूप ग्रागम का उपदेश करते हैं ग्रत ग्रर्थरूप ग्रागम तीर्थंकरों का ग्रात्मागम कहलाता है, क्योकि वह ग्रर्थागम उनका स्वय का है, दूसरो से उन्होने नही लिया है, किन्तु वही ग्रर्थागम गणधरों ने तीर्थंकरो से प्राप्त किया है। गणधर ग्रौर तीर्थंकर के बीच किसी तीसरे व्यक्ति का व्यवधान नही है एतदर्थ गणधरों के लिए वह ग्रर्थागम ग्रनन्तरागम कहलाता है, किन्तु उस ग्रर्थागम के आधार से स्वय गणधर सूत्ररूप रचना करते हैं।[11] इसलिए सूत्रागम गणधरो के लिए ग्रात्मागम कहलाता है। गणधरो के साक्षात् शिष्यो को गणधरो से सूत्रागम सीधा ही प्राप्त होता है, उनके मध्य मे कोई भी व्यवधान नही होता। इसलिए उन शिष्यो के लिए सूत्रागम ग्रनन्तरागम है, किन्तु अर्थागम तो परम्परागम ही है। क्योंकि वह उन्होंने ग्रपने धर्मगुरु गणधरो से प्राप्त किया है। किन्तु यह गणधरो को भी ग्रात्मागम नही था। उन्होने तीर्थंकरो से प्राप्त किया था। गणधरो के प्रशिष्य और

---

१ सस्कृति के चार ग्रध्याय पृ १२५ —रामधारीसिह "दिनकर"

२ ग्राचाराग १।५।४ ज्ञात्वा ग्राज्ञापयेत्

३ आचाराग १।६।३ लाघव आगमयम् अवबुध्यमान:

४ व्यवहारभाष्य गा २०१

५ भगवती ५।३।१९२

६ अनुयोगद्वार

७ स्थानाङ्ग ३३८, २२८,

८. ग्रनुयोगद्वार ४९-५० पृ ६८, पुण्यविजयजी सम्पादित, महावीर विद्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित

९ ग्रहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते, त जहा—सुत्तागमे य अत्थागमे य तदुभयागमे य।

—अनुयोगद्वारसूत्र ४७०, पृ. १७९

१० ग्रहवा ग्रागमे तिविहे पण्णत्ते, त जहा—ग्रत्तागमे, ग्रणतरागमे परपरागमे य।

—ग्रनुयोगद्वारसूत्र ४७०, पृ १७९

११. (क) श्रीचन्द्रीया सग्रहणी गा ११२

(ख) ग्रावश्यकनिर्युक्ति गा ९२

उनकी परम्परा मे होने वाले अन्य शिष्य और प्रशिष्यो के लिए सूत्र और अर्थ परम्परागम है।[१२]

श्रमण भगवान् महावीर के पावन प्रवचनों का सूत्र रूप में सकलन-आकलन गणधरो ने किया, वह अंग-साहित्य के नाम से विश्रुत हुआ। उसके आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, भगवती, ज्ञाता, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाक और दृष्टिवाद ये बारह विभाग हैं। दृष्टिवाद का एक विभाग पूर्व साहित्य है।

आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार गणधरों ने अर्हद्भाषित मातृकापदो के आधार से चतुर्दश शास्त्रों का निर्माण किया, जिसमे सम्पूर्ण श्रुत की अवतारणा की गई।[१३] ये चतुर्दश शास्त्र चतुर्दश पूर्व के नाम से विश्रुत हुए। इन पूर्वों की विश्लेषण-पद्धति अत्यधिक क्लिष्ट थी अत जो महान् प्रतिभासम्पन्न साधक थे उन्ही के लिए वह पूर्व साहित्य ग्राह्य था। जो साधारण प्रतिभासम्पन्न साधक थे उनके लिए एव स्त्रियो के उपकारार्थ द्वादशांगी की रचना की गई।

आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने लिखा है कि दृष्टिवाद का अध्ययन-पठन स्त्रियों के लिए वर्ज्य था। क्योकि स्त्रिया तुच्छ स्वभाव की होती हैं, उन्हें शीघ्र ही गर्व आता है। उनकी इन्द्रियां चंचल होती हैं। उनकी मेधा-शक्ति पुरुषो की अपेक्षा दुर्बल होती है एतदर्थ उत्थान-समुत्थान प्रभृति अतिशय या चमत्कार युक्त अध्ययन और दृष्टिवाद का ज्ञान उनके लिए नही है।[१४]

मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने प्रस्तुत विषय का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि स्त्रियों को यदि किसी तरह दृष्टिवाद का अध्ययन करा दिया जाए तो तुच्छ प्रकृति के कारण "मैं दृष्टिवाद की अध्येता हू" इस प्रकार मन मे अहकार आकर पुरुष के परिभव-तिरस्कार प्रभृति मे प्रवृत्त हो जाये जिससे उसकी दुर्गति हो सकती है एतदर्थ दया के अवतार महान् परोपकारी तीर्थंकरो ने उत्थान, समुत्थान आदि अतिशय चमत्कार युक्त अध्ययन एव दृष्टिवाद के अध्ययन का स्त्रियो के लिए निषेध किया।[१५] बृहत्कल्पनिर्युक्ति में भी यही बात आई है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने और मलधारी हेमचन्द्र ने स्त्रियो की प्रवृत्ति की विकृति व मेधा की दुर्बलता के सम्बन्ध में जो लिखा है वह पूर्ण संगत नही लगता है। वे बातें पुरुष मे भी सम्भव हैं। अनेक स्त्रिया पुरुषों से भी अधिक प्रतिभासम्पन्न व गम्भीर होती हैं। यह शास्त्र में आये हुए वर्णनो मे भी स्पष्ट है।

---

१२ तित्थगराण अत्थस्स अत्तागमे, गणहराण सुत्तस्स अत्तागमे, अत्थस्स अणतरागमे, गणहरसीसाण सुत्तस्स अणतरागमे अत्थस्स परपरागमे तेण पर सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे णो अणतरागमे, परम्परागमे

—अनुयोगद्वार ४७०, पृ० १७९

१३ धम्मोवाओ पवयणमहवा पुव्वाई देसया तस्स।
सव्वंजिणा ण गणहरा, चोद्दसपुव्वा उ ते तस्स॥
सामाइयाइयावा वयजीवनिकाय भावणा पढम।
एसो धम्मोवादो जिणेहिं सव्वेहिं उवइट्ठो॥

—आवश्यकनिर्युक्ति गा० २९२-२९३

१४ तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला धिईए य।
इति आइसेसज्झयणा भूयावाओ य नो त्थीण॥

१५ इह विचित्रा जगति प्राणिन तत्र ये दुर्मेधस ते पूर्वाणि नाध्येतुमीशते, पूर्वाणामतिगम्भीरार्थत्वात् तेषां च दुर्मेधत्वात् स्त्रीणा पूर्वाध्ययनानाधिकार एव तासा तुच्छत्वादि दोषबहुलत्वात्।

—विशेषावश्यकभाष्य गाथा ५५ की व्याख्या पृ० ४८
प्रकाशक—आगमोदय समिति बम्बई

जब स्त्री अध्यात्म-साधना का सर्वोच्चपद तीर्थंकर नामकर्म का अनुबन्ध कर सकती है, केवलज्ञान प्राप्त कर सकती है तब दृष्टिवाद के अध्ययनार्थ जिन दुर्बलताओ की ओर सकेत किया गया है और जिन दुर्बलताओ के कारण स्त्रियो को दृष्टिवाद की अधिकारिणी नही माना गया है उन पर विज्ञो को तटस्थ दृष्टि से गम्भीर चिन्तन करना चाहिए।

मेरी दृष्टि से पूर्व-साहित्य का ज्ञान लब्ध्यात्मक था। उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए केवल अध्ययन और पढ़ना ही पर्याप्त नही था, कुछ विशिष्ट साधनाए भी साधक को अनिवार्य रूप से करनी पडती थी। उन साधनाओ के लिए उस साधक को कुछ समय तक एकान्त-शान्त स्थान मे एकाकी भी रहना आवश्यक होता था। स्त्रियो का शारीरिक सस्थान इस प्रकार का नही है कि वे एकान्त मे एकाकी रह कर दीर्घ साधना कर सकें। इस दृष्टि से स्त्रियो के लिए दृष्टिवाद का अध्ययन निषेध किया गया हो। यह अधिक तर्कसगत व युक्ति-युक्त है। मेरी दृष्टि से यही कारण स्त्रियो के आहारकशरीर की अनुपलब्धि आदि का भी है।

गणधरो द्वारा सकलित अग ग्रन्थो के आधार से अन्य स्थविरो ने बाद मे ग्रन्थो की रचना की, वे अग-बाह्य कहलाये। अग और अगबाह्य ये आगम ग्रन्थ ही भगवान् महावीर के शासन के आधारभूत स्तम्भ है। जैन आचार की कुञ्जी हैं, जैन विचार की अद्वितीय निधि है, जैनसस्कृति की गरिमा है और जैन साहित्य की महिमा हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि अगबाह्य ग्रन्थों को आगम मे सम्मिलित करने की प्रक्रिया श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ मे एक समान नही रही है। दिगम्बर परपरा मे अगबाह्य आगमो की सख्या बहुत ही स्वल्प है किन्तु श्वेताम्बरो मे यह परम्परा लम्बे समय तक चलती रही जिससे अगबाह्य ग्रन्थो की सख्या अधिक है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है कि आवश्यक के विविध अध्ययन, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और निशीथ आदि दोनो ही परम्पराओ मे समान रूप से मान्य रहे हैं।

श्वेताम्बर विद्वानो की यह मान्यता है कि आगम-साहित्य का मौलिक स्वरूप बहुत बडे परिमाण मे लुप्त हो गया है पर पूर्ण नहीं, अब भी वह शेष है। अगो और अगबाह्य आगमो की जो तीन बार सकलना हुई उसमे उसके मौलिक रूप मे कुछ अवश्य ही परिवर्तन हुआ है। उत्तरवर्ती घटनाओ और विचारणाओ का समावेश भी किया गया है। जैसे स्थानाग मे सात निह्नव और नवगणो का वर्णन। प्रश्नव्याकरण मे जिस विषय का सकेत किया गया है वह वर्तमान मे उपलब्ध नही है, तथापि आगमो का अधिकाश भाग मौलिक है, सर्वथा मौलिक है। भाषा व रचना शैली की दृष्टि से बहुत ही प्राचीन है। वर्तमान भाषाशास्त्री आचाराग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को और सूत्रकृताग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को ढाई हजार वर्ष प्राचीन बतलाते हैं। स्थानाग, भगवती उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, निशीथ और कल्प को भी वे प्राचीन मानते हैं। इसमे किसी भी प्रकार का सन्देह नही है कि आगम का मूल आज भी सुरक्षित है।

दिगम्बर परम्परा की दृष्टि मे अग साहित्य लुप्त हो चुका है। अत उन्होंने नवीन ग्रन्थो का सृजन किया और उन्हे आगमो की तरह प्रमाणभूत माना। श्वेताम्बरो के आगम-साहित्य को दिगम्बर परम्परा प्रमाणभूत नही मानती है तो दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो को श्वेताम्बर परम्परा मान्य नही करती है, पर जब मैं तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करता हू तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि दोनो ही परम्पराओ के आगम ग्रन्थो मे मौलिक दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नही है। दोनो के आगम ग्रन्थो मे तत्त्वविचार, जीवविचार, कर्मविचार, लोकविचार, ज्ञानविचार समान है। दार्शनिक दृष्टि से कोई अन्तर नही है। आचार परम्परा की दृष्टि से भी चिन्तन करे तो वस्त्र के उपयोग के सम्बन्ध मे कुछ मतभेद होने पर भी विशेष अन्तर नही रहा। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे नग्नत्व पर अत्यधिक बल दिया गया, किन्तु व्यवहार मे नग्न मुनियो की सख्या बहुत ही कम रही और दिगम्बर भट्टारक आदि की सख्या

उनसे बहुत अधिक रही। श्वेताम्बर आगम साहित्य मे जिनकल्प को स्थविरकल्प से अधिक महत्त्व दिया गया किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से आर्य जम्बू के पश्चात् जिनकल्प का निषेध कर दिया गया।

दिगम्बर परम्परा मे स्त्री के निर्वाण का निषेध किया है किन्तु दिगम्बर परम्परा मान्य षट्खण्डागम मे मनुष्य-स्त्रिया सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत और सयत गुणस्थानो में नियम से पर्याप्तक होती हैं।[१६] इसमे "सजद" शब्द को सम्पादको ने टिप्पण मे दिया है, जिसका साराश यह है कि मनुष्य-स्त्री को "सयत" गुणस्थान न हो सकता है और सयत गुणस्थान होने पर स्त्री मोक्ष मे जा सकती है। प्रस्तुत प्रश्न को लेकर दिगम्बर समाज मे प्रबल विरोध का वातावरण समुत्पन्न हुआ तब ग्रन्थ के सम्पादक प हीरालालजी जैन आदि ने पुन उसका स्पष्टीकरण "षट्खण्डागम के तृतीय भाग की प्रस्तावना" मे किया किन्तु जब विज्ञो ने मूडबिद्री (कर्णाटक) मे षट्खण्डागम की मूल प्रति देखी तो उसमे भी "सजद" शब्द मिला है।

वट्टकेरस्वामी विरचित मूलाचार मे आर्यिकाओ के आचार का विश्लेषण करते हुए कहा है जो साधु अथवा आर्यिका इस प्रकार आचरण करते है वे जगत् मे पूजा, यश व सुख को पाकर मोक्ष को पाते है।[१७] इसमे भी आर्यिकाओ के मोक्ष मे जाने का उल्लेख है।

किन्तु बाद मे टीकाकारो ने अपनी टीकाओ मे स्त्री निर्वाण का निषेध किया है। आचार के जितने भी नियम है उनमे महत्त्वपूर्ण नियम उद्दिष्ट त्याग का है, जिसका दोनो ही परम्पराओ मे समान रूप से महत्त्व रहा है।

श्वेताम्बर आगम-साहित्य मे और उसके व्याख्या साहित्य मे आचार सम्बन्धी अपवाद मार्ग का विशेष वर्णन मिलता है किन्तु दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे अपवाद का वर्णन नही है, पर गहराई से चिन्तन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि दिगम्बर परम्परा मे भी अपवाद रहे होगे, यदि प्रारम्भ से ही अपवाद नही होते तो अगबाह्य सूची मे निशीथ का नाम कैसे आता? श्वेताम्बर परम्परा मे अपवादो को सूत्रबद्ध करके भी उसका अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के लिए निषिद्ध कर दिया गया। विशेष योग्यता वाला श्रमण ही उसके पढने का अधिकारी माना गया। श्वेताम्बर श्रमणो की सख्या प्रारम्भ से ही अत्यधिक रही जिससे समाज की सुव्यवस्था हेतु छेदसूत्रो का निर्माण हुआ। छेदसूत्रो मे श्रमणाचार के निगूढ रहस्य और सूक्ष्म क्रिया-कलाप को समझाया गया है। श्रमण के जीवन मे अनेकानेक अनुकूल और प्रतिकूल प्रसग समुपस्थित होते है, ऐसी विषम परिस्थिति मे किस प्रकार निर्णय लेना चाहिए यह बात छेदसूत्रो मे बताई गई है। आचार सम्बन्धी जैसा नियम और उपनियमो का वर्णन जैन परम्परा मे छेदसूत्रो मे उपलब्ध होता है वैसा ही वर्णन बौद्ध परम्परा मे विनयपिटक मे मिलता है और वैदिक परम्परा मे के कल्पसूत्र, श्रोतसूत्र और गृहसूत्रो मे मिलता है। दिगम्बर परम्परा मे भी छेत्रसूत्र बने थे पर आज वे उपलब्ध नही हैं।

छेदसूत्र का नामोल्लेख नन्दीसूत्र मे नही हुआ है। "छेद सूत्र" का सबसे प्रथम प्रयोग आवश्यकनिर्युक्ति

---

१६ सम्मामिच्छाइट्ठि असजदसम्माइट्ठि सजदासजद (अत्र सजद इति पाठशेष प्रतिभाति) ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ।
—षट्खण्डागम, भाग १ सूत्र ९३ पृ ३३२, प्रका —सेठ लक्ष्मीचद शिताबराय जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय अमरावती (बरार) सन् १९३९

१७ एव विधाणचरिय चरित जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं कित्ति सुह च लद्धूण सिज्झति ॥ —मूलाचार ४/१९६, पृ १६८

मे हुआ है।[१८] उसके पश्चात् विशेषावश्यकभाष्य[१९] और निशीथभाष्य[२०] आदि मे भी यह शब्द व्यवहृत हुआ है। तात्पर्य यह है कि हम आवश्यकनिर्युक्ति को यदि ज्योतिर्विद वराहमिहिर के भ्राता द्वितीय भद्रबाहु की कृति मानते हैं तो वे विक्रम की छठी शताब्दी मे हुए हैं।[२१] उन्होने इसका प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि "छेदसुत्त" शब्द का प्रयोग "मूलसुत्त" से पहले हुआ है।

अमुक आगमो को "छेदसूत्र" यह अभिधा क्यो दी गई ? इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन ग्रन्थो मे सीधा और स्पष्ट प्राप्त नही है। हाँ यह स्पष्ट है कि जिन सूत्रो को "छेदसुत्त" कहा गया है वे प्रायश्चित्तसूत्र हैं।

स्थानाङ्ग मे श्रमणो के लिए पाच चारित्रो का उल्लेख है—

(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापनीय, (३) परिहारविशुद्धि, (४) सूक्ष्मसपराय, (५) यथाख्यात।[२२] इनमें से वर्तमान मे तीन अन्तिम चारित्र विच्छिन्न हो गये हैं। सामायिक चारित्र स्वल्पकालीन होता है, छेदोपस्थापनिक चारित्र ही जीवन पर्यन्त रहता है। प्रायश्चित्त का सम्बन्ध भी इसी चारित्र से है। सभवत इसी चारित्र को लक्ष्य मे रखकर प्रायश्चित्तसूत्रो को छेदसूत्र की सज्ञा दी गई हो।

मलयगिरि की आवश्यकवृत्ति[२३] मे छेदसूत्रो के लिए पद-विभाग, समाचारी शब्द का प्रयोग हुआ है। पद-विभाग और छेद ये दोनो शब्द रखे गये हो। क्योकि छेदसूत्रो मे एक सूत्र का दूसरे सूत्र से सम्बन्ध नही है। सभी सूत्र स्वतत्र हैं। उनकी व्याख्या भी छेद-दृष्टि से या विभाग-दृष्टि से की जाती है।

दशाश्रुतस्कन्ध, निशीथ, व्यवहार और बृहत्कल्प ये सूत्र नौवे प्रत्याख्यान पूर्व मे उद्धृत किये गये हैं,[२४] उससे छिन्न अर्थात् पृथक् करने से उन्हें छेदसूत्र की सज्ञा दी गई हो, यह भी सम्भव है।[२५]

छेदसूत्रो को उत्तम श्रुत माना गया है। भाष्यकार भी इस कथन का समर्थन करते हैं।[२६] चूर्णिकार जिनदास महत्तर स्वय यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि छेदसूत्र उत्तम क्यो हैं ? फिर स्वय ही उसका समाधान देते हैं कि छेदसूत्र मे प्रायश्चित्तविधि का निरूपण है, उससे चारित्र की विशुद्धि होती है, एतदर्थ यह श्रुत उत्तम माना

---

१८ ज च महाकप्पसुय, जाणि असेसाणि छेअसुत्ताणि। चरणकरणाणुओगो त्ति कालियत्थे उवगयाणि ॥

—आवश्यकनिर्युक्ति ७७७

१९ वही —विशेषावश्यकभाष्य २२६५

२० (क) छेदसुत्तणिसीहादी, अत्थो य गतो य छेदसुत्तादी।
मतनिमित्तोसहिपाहुडे, म गाहेंति अण्णातत्थ ॥ —निशीथभाष्य ५९४७

(ख) केनोनिकल लिटरेचर पृ. ३६ भी देखिए।

२१ जैनागमधर और प्राकृत वाङ्मय —लेखक पुण्यविजयजी, —मुनि हजारीमल स्मृतिग्रन्थ, पृ ७१८

२२ (क) स्थानागसूत्र ५, उद्देशक २, सूत्र ४२८

(ख) विशेषावश्यकभाष्य गा १२६०-१२७०

२३ पदविभाग, समाचारी छेदसूत्राणि। —आवश्यकनिर्युक्ति ६६५, मलयगिरिवृत्ति

२४ कतर सुत्त ? दसाउकप्पो ववहारो य। कतरातो उद्धृत ? उच्यते पच्चक्खाण-पुव्वाओ।

—दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि, पत्र २

२५ निशीथ १९।१७

२६ छेयसुयमुत्तमसुय। —निशीथभाष्य, ६१४८

गया है।[1] श्रमण-जीवन की साधना का सर्वाङ्गीण विवेचन छेदसूत्रो में ही उपलब्ध होता है। साधक की क्या मर्यादा है, उसका क्या कर्त्तव्य है ? इत्यादि प्रश्नो पर उनमे चिन्तन किया गया है। जीवन मे से असयम के अंश को काटकर पृथक् करना, साधना मे से दोषजन्य मलिनता को निकालकर साफ करना, भूलो से बचने के लिए पूर्ण सावधान रहना, भूल हो जाने पर प्रायश्चित्त ग्रहण कर उसका परिमार्जन करना, यह सब छेदसूत्रो का कार्य है।

समाचारीशतक मे समयसुन्दरगणी ने छेदसूत्रो की सख्या छह बतलाई है[2]—

(१) महानिशीथ, (२) दशाश्रुतस्कध, (३) व्यवहार, (४) बृहत्कल्प, (५) निशीथ, (६) जीतकल्प।

जीतकल्प को छोडकर शेष पाच सूत्रो के नाम नन्दीसूत्र मे भी आये हैं।[3] जीतकल्प जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की कृति है, एतदर्थ उसे आगम की कोटि मे स्थान नही दिया जा सकता। महानिशीथ का जो वर्तमान सस्करण है, वह आचार्य हरिभद्र (वि ८ वी शताब्दी) के द्वारा पुनरुद्धार किया हुआ है। उसका मूल सस्करण तो उसके पूर्व ही दीमको ने उदरस्थ कर लिया गया था। अत वर्तमान मे उपलब्ध महानिशीथ भी आगम की कोटि मे नही आता। इस प्रकार मौलिक छेदसूत्र चार ही हैं—(१) दशाश्रुतस्कन्ध, (२) व्यवहार, (३) बृहत्कल्प और (४) निशीथ।

निर्यूहित आगम

जैन आगमो की रचनाए दो प्रकार से हुई है—(१) कृत, (२) निर्यूहित। जिन आगमो का निर्माण स्वतत्र रूप मे हुआ है वे आगम कृत कहलाते हैं। जैसे गणधरो के द्वारा द्वादशागी की रचना की गई है और भिन्न-भिन्न स्थविरो के द्वारा उपाग साहित्य का निर्माण किया गया है, वे सब कृत आगम है। निर्यूहित आगम ये माने गये हैं[4]—

(१) आचारचूला (२) दशवैकालिक
(३) निशीथ (४) दशाश्रुतस्कन्ध
(५) बृहत्कल्प (६) व्यवहार
(७) उत्तराध्ययन का परीषह अध्ययन।

आचारचूला यह चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु के द्वारा निर्यूहण की गई है, यह बात आज अन्वेषणा के द्वारा स्पष्ट हो चुकी है। आचाराग से आचारचूला की रचना-शैली सर्वथा पृथक् है। उसकी रचना आचारांग के बाद हुई है। आचाराग-निर्युक्तिकार ने उसको स्थविरकृत माना है।[5] स्थविर का अर्थ चूर्णिकार ने गणधर किया है[6]

---

१ छेयसुय कम्हा उत्तमसुत्त ? भण्णामि —जम्हा एत्थ सपायच्छित्तो विधी भण्णति, जम्हा एतेणच्चरणविशुद्ध करेति, तम्हा त उत्तमसुत्त। —निशीथभाष्य ६१८४ की चूर्णि

२ समाचारीशतक, आगम—स्थापनाधिकार।

३ कालिय अणेगविह पण्णत्त, त जहा—दसाओ, कप्पो, ववहारो, निसीह, महानिसीह। —नन्दीसूत्र ७७

४ आगमयुग का जैनदर्शन, पृ० २१-२२, प० दलसुखभाई मालवणिया
—प्रकाशक सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

५ थरेहिऽणुग्गहट्ठा, सीसहिअ होउ पागउत्थ च।
आयाराओ अत्थो, आयारगेसु पविभत्तो ॥ —आचारागनिर्युक्ति गा० २८७

६ थेरे गणधरा। —आचारागचूर्णि, पृ० ३२६

और वृत्तिकार ने चतुर्दशपूर्वी किया है[1] किन्तु उनमे स्थविर का नाम नही आया है। विज्ञो का अभिमत है कि यहाँ पर स्थविर शब्द का प्रयोग चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु के लिए ही हुआ है।

आचाराग के गम्भीर अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए "आचारचूला" का निर्माण हुआ है। निर्युक्तिकार ने पाचो चूलाओ के निर्यूहणस्थलो का सकेत किया है।[2]

दशवैकालिक चतुर्दशपूर्वी शय्यंभव के द्वारा विभिन्न पूर्वो से निर्यूहण किया गया है। जैसे—चतुर्थ अध्ययन आत्मप्रवाद पूर्व से, पचम अध्ययन कर्मप्रवाद पूर्व से, सप्तम अध्ययन सत्यप्रवाद पूर्व से और शेष अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु से उद्धृत किये गये हैं।[3]

द्वितीय अभिमतानुसार दशवैकालिक गणिपिटक द्वादशागी से उद्धृत है।[4]

निशीथ का निर्यूहण प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व से हुआ है। प्रत्याख्यान पूर्व के बीस वस्तु अर्थात् अर्थाधिकार हैं। तृतीय वस्तु का नाम आचार है। उसके भी बीस प्राभृतच्छेद अर्थात् उपविभाग हैं। बीसवे प्राभृतच्छेद से निशीथ का निर्यूहण किया गया है।[5]

पचकल्पचूर्णि के अनुसार निशीथ के निर्यूहक भद्रबाहुस्वामी है।[6] इस मत का समर्थन आगमप्रभावक मुनिश्री पुण्यविजयजी ने भी किया है।[7]

---

१ "स्थविरै" श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भि ।

२ बिइअस्स य पचमए, अट्ठमगस्स बिइयमि उद्देसे ।
भणिओ पिडो सिज्जा, वत्थ पाउग्गहो चेव ॥
पचमगस्स चउत्थे इरिया, वण्णिज्जई समासेण ।
छट्ठस्स य पचमए, भासज्जाय वियाणाहि ॥
सत्तिक्कगाणि सत्तवि, निज्जूढाइ महापरिन्नाओ ।
सत्थपरिन्ना भावण, निज्जूढाओ धुयविमुत्ती ॥
आयारपकप्पो पुण, पच्चक्खाणस्स तइयवत्थूओ ।
आयारनामधिज्जा, वीसइमा पाहुडच्छेया ॥
—आचारागनिर्युक्ति गा० २८८-२९१

३ आयप्पवाय पुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नती ।
कम्मप्पवाय पुव्वा पिडस्स उ एसणा तिविधा ॥
सच्चप्पवाय पुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ । —दशवैकालिकनिर्युक्ति गा० १६-१७

४ बीओऽवि अ आएसो, गणिपिडगाओ दुवालसगाओ ।
एअ किर णिज्जूढ मणगस्स अणुग्गहट्ठाए ॥ —दशवैकालिकनिर्युक्ति गा १८

५ णिसीह णवमा पुव्वा पच्चक्खाणस्स ततियवत्थूओ ।
आयार नामधेज्जा, वीसतिमा पाहुडच्छेदा ॥ —निशीथभाष्य ६५००

६ तेण भगवता आयारपकप्प-दसा-कप्प-ववहारा य नवमपुव्वनीसदभूता निज्जूढा ।
—पचकल्पचूर्णि, पत्र १ (लिखित)

७ बृहत्कल्पसूत्र, भाग ६, प्रस्तावना पृ ३

दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार, ये तीनो आगम चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहुस्वामी के द्वारा प्रत्याख्यान-पूर्व से निर्यूढ हैं।[1]

दशाश्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति के मन्तव्यानुसार वर्तमान मे उपलब्ध दशाश्रुतस्कध अगप्रविष्ट आगमो मे जो दशाए प्राप्त हैं उनसे लघु हैं। इनका निर्यूहण शिष्यो के अनुग्रहार्थ स्थविरो ने किया था। चूर्णि[2] के अनुसार स्थविर का नाम भद्रबाहु है।[3]

उत्तराध्ययन का दूसरा अध्ययन भी अग-प्रभव माना जाता है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु के मतानुसार वह कर्मप्रवादपूर्व के सत्रहवे प्राभृत से उद्धृत है।[4]

इनके अतिरिक्त आगमेतर साहित्य मे विशेषत कर्मसाहित्य का बहुत-सा भाग पूर्वोद्धृत माना जाता है।

निर्यूहित कृतियो के सम्बन्ध मे यह स्पष्टीकरण करना आवश्यक है कि उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर है, सूत्र के रचयिता गणधर हैं और जो सक्षेप मे उसका वर्तमान रूप उपलब्ध है उसके कर्ता वही हैं जिन पर जिनका नाम अकित या प्रसिद्ध है। जैसे दशवैकालिक के शय्यभव, कल्प, व्यवहार, निशीथ और दशाश्रुतस्कध के रचयिता भद्रबाहु है।

जैन अग-साहित्य की सख्या के सम्बन्ध मे श्वेताम्बर और दिगम्बर[5] सभी एकमत हैं। सभी अगो को बारह स्वीकार करते है। परन्तु अगबाह्य आगमो की सख्या के सम्बन्ध मे यह बात नही है, उनके विभिन्न मत है। यही कारण है कि आगमो की सख्या कितने ही ८४ मानते हैं, कोई-कोई ४५ मानते है और कितने ही ३२ मानते हैं।

नन्दीसूत्र मे आगमो की जो सूची दी गई है, वे सभी आगम वर्तमान मे उपलब्ध नही हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज मूल आगमो के साथ कुछ निर्युक्तियो को मिलाकर ४५ आगम मानता है और कोई ८४ मानते हैं। स्थानकवासी और तेरापथी परम्परा बत्तीस को ही प्रमाणभूत मानती है। दिगम्बर समाज की मान्यता है कि सभी आगम विच्छिन्न हो गये है।

---

१ वदामि भद्दबाहु, पाईण चरिय सयलसुयणाणिं। सो सुत्तस्स कारगमिस (ण) दसासु कप्पे य ववहारे।

—दशाश्रुतस्कध निर्युक्ति गा १, पत्र १

२ डहरीओ उ इमाओ, अज्झयणेसु महईओ अगेसु।
छसु नायादीएसु, वत्थविभूसावसाणमिव ॥
डहरीओ उ इमाओ, निज्जूढाओ अणुग्गहट्ठाए।
थरेहि तु दसाओ, जो दसा जाणओ जीवो ॥

—दशाश्रुतस्कधनिर्युक्ति ५-६

३ दशाश्रुतस्कधचूर्णि।

४ कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडमि ज सुत्त।
सणय सोदाहरण त चेव इहपि णायव्व ॥

—उत्तराध्ययननिर्युक्ति गा ६९

५ (क) तत्त्वार्थसूत्र १-२०, श्रुतसागरीय वृत्ति।
(ख) षट्खण्डागम (धवला टीका) खण्ड १, पृ ६ बारह अगविज्झा।

दशाश्रुतस्कन्ध

दशाश्रुतस्कध छेदसूत्र है। छेदसूत्र के दो कार्य है—दोषो से बचाना और प्रमादवश लगे हुए दोषो की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान करना। इसमे दोषो से बचने का विधान है। ठाणाग मे इसका अपरनाम आचारदशा प्राप्त होता है। दशाश्रुतस्कध मे दश अध्ययन है, इसलिए इसका नाम दशाश्रुतस्कध है। दशाश्रुतस्कध का १८३० अनुष्टुप श्लोक प्रमाण उपलब्ध पाठ है। २१६ गद्यसूत्र है। ५२ पद्यसूत्र है।

प्रथम उद्देशक मे २० असमाधिस्थानो का वर्णन है। जिस सत्कार्य के करने से चित्त मे शाति हो, आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्षमार्ग मे रहे, वह समाधि है और जिस कार्य से चित्त मे अप्रशस्त एव अशात भाव हो, ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि मोक्षमार्ग से आत्मा भ्रष्ट हो, वह असमाधि है। असमाधि के बीस प्रकार है। जैसे—जल्दी-जल्दी चलना, बिना पूजे रात्रि मे चलना, बिना उपयोग सब दैहिक कार्य करना, गुरुजनो का अपमान, निन्दा आदि करना। इन कार्यों के आचरण से स्वय व अन्य जीवो को असमाधिभाव उत्पन्न होता है। साधक की आत्मा दूषित होती है। उसका पवित्र चारित्र मलिन होता है। अत उसे असमाधिस्थान कहा है।[1]

द्वितीय उद्देशक मे २१ शबल दोषो का वर्णन किया गया है, जिन कार्यों के करने मे चारित्र की निर्मलता नष्ट हो जाती है। चारित्र मलक्लिन्न होने से वह कर्बुर हो जाता है। इसलिए उन्हे शबलदोष कहते है।[2] "शबल कर्बुर चित्रम्" शबल का अर्थ चित्रवर्णा है। हस्तमैथुन, स्त्री-स्पर्श आदि, रात्रि मे भोजन लेना और करना, आधाकर्मी, औद्देशिक आहार का लेना, प्रत्याख्यानभग, मायास्थान का सेवन करना आदि-आदि ये शबल दोष है। उत्तरगुणो मे अतिक्रमादि चार दोषो का एव मूलगुणो मे अनाचार के अतिरिक्त तीन दोषो का सेवन करने से चारित्र शबल होता है।

तीसरे उद्देशक मे ३३ प्रकार की आशातनाओ का वर्णन है। जैनाचार्यों ने आशातना शब्द की निरुक्ति अत्यन्त सुन्दर की है। सम्यग्दर्शनादि आध्यात्मिक गुणो की प्राप्ति को आय कहते है और शातना का अर्थ खण्डन है। सद्गुरुदेव आदि महान् पुरुषो का अपमान करने मे सम्यग्दर्शनादि सद्गुणो की आशातना-खण्डना होती है।[3]

शिष्य का गुरु के आगे, समश्रेणी मे, अत्यन्त समीप मे गमन करना, खडा होना, बैठना आदि, गुरु, से पूर्व किसी से सम्भाषण करना, गुरु के वचनो की जानकर अवहेलना करना, भिक्षा से लौटने पर आलोचना न करना, आदि-आदि आशातना के तेतीस प्रकार हैं।

चतुर्थ उद्देशक मे ८ प्रकार की गणिसम्पदाओ का वर्णन है। श्रमणो के समुदाय को गण कहते है। गण का अधिपति गणी होता है। गणिसम्पदा के आठ प्रकार है—आचारसम्पदा, श्रुतसम्पदा, शरीरसम्पदा, वचनसम्पदा, वाचनासम्पदा, मतिसम्पदा, प्रयोगमतिसम्पदा और सग्रहपरिज्ञानसम्पदा।

आचारसम्पदा के सयम मे ध्रुवयोगयुक्त होना, अहकाररहित होना, अनियतवृत्ति होना, वृद्धस्वभावी (अचचलस्वभावी)—ये चार प्रकार है।

---

१ समाधान समाधि —चेतस स्वास्थ्य, मोक्षमार्गेऽवस्थितिरित्यर्थ न समाधिरसमाधिस्तस्य स्थानानि—आश्रया भेदा पर्याया असमाधि-स्थानानि। —आचार्य हरिभद्र

२ शबल—कर्बुर चारित्र यै क्रियाविशेषैर्भवति ते शबलास्तद्योगात्साधवो पि। —अभयदेवकृत समवायागटीका

३ आय —सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणस्तस्य शातना-खण्डना निरुक्तादाशातना।

—आचार्य अभयदेवकृत समवायांगटीका

श्रुतसम्पदा के बहुश्रुतता, परिचितश्रुतता, विचित्रश्रुतता, घोषविशुद्धिकारकता—ये चार प्रकार हैं।

शरीरसम्पदा के शरीर की लम्बाई व चौडाई का सम्यक् अनुपात, अलज्जास्पद शरीर, स्थिर सगठन, प्रतिपूर्ण इन्द्रियता—ये चार भेद हैं।

वचनसम्पदा के आदेयवचन—ग्रहण करने योग्य वाणी, मधुर वचन, अनिश्रित—प्रतिबन्धरहित, असदिग्ध वचन—ये चार प्रकार है।

वाचनासम्पदा के विचारपूर्वक वाच्यविषय का उद्देश्य निर्देश करना, विचारपूर्वक वाचन करना, उपयुक्त विषय का ही विवेचन करना, अर्थ का सुनिश्चित रूप से निरूपण करना—ये चार भेद है।

मतिसम्पदा के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये चार प्रकार है।

अवग्रह मतिसम्पदा के क्षिप्रग्रहण, बहुग्रहण, बहुविधग्रहण, ध्रुवग्रहण, अनिश्रितग्रहण और असदिग्धग्रहण—ये छह भेद है। इसी प्रकार ईहा और अवाय के भी छह-छह प्रकार है। धारणा मतिसम्पदा के बहुधारण, बहुविधधारण, पुरातनधारण, दुर्द्धरधारण, अनिश्रितधारण और असदिग्धधारण—ये छह प्रकार हैं।

प्रयोगमतिसम्पदा के स्वय की शक्ति के अनुसार वाद-विवाद करना, परिषद् को देखकर वाद-विवाद करना, क्षेत्र को देखकर वाद-विवाद करना, काल को देखकर वाद-विवाद करना—ये चार प्रकार हैं।

सग्रहपरिज्ञासम्पदा के वर्षाकाल मे सभी मुनियो के निवास के लिए योग्यस्थान की परीक्षा करना, सभी श्रमणो के लिए प्रातिहारिक पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक की व्यवस्था करना, नियमित समय पर प्रत्येक कार्य करना, अपने मे ज्येष्ठ श्रमणो का सत्कार-सम्मान करना—ये भेद हैं।

गणिसम्पदाओ के वर्णन के पश्चात् तत्सम्बन्धी चतुर्विध विनय-प्रतिपत्ति पर चिंतन करते हुए आचारविनय, श्रुतविनय, विक्षेपणाविनय और दोषनिर्घातविनय बताये है। यह चतुर्विध विनयप्रतिपत्ति है जो गुरुसम्बन्धी विनय-प्रतिपत्ति कहलाती है। इसी प्रकार शिष्य सम्बन्धी विनय प्रतिपत्ति भी उपकरणोत्पादनता, सहायता, वर्णसज्वलनता (गुणानुवादिता), भारप्रत्यवरोहणता है। इन प्रत्येक के पुन चार-चार प्रकार हैं। इस प्रकार प्रस्तुत उद्देशक मे कुल ३२ प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति का विश्लेषण है।

पाचवें उद्देशक मे दश प्रकार की चित्तसमाधि का वर्णन है। धर्मभावना, स्वप्नदर्शन, जातिस्मरणज्ञान, देवदर्शन, अवधिज्ञान, अवधिदर्शन, मन पर्यवज्ञान, केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलमरण (निर्वाण) इन दश स्थानो के वर्णन के साथ मोहनीयकर्म की विशिष्टता पर प्रकाश डाला है।

छठे उद्देशक मे ग्यारह प्रकार की उपासक प्रतिमाओ का वर्णन है। प्रतिमाओ के वर्णन के पूर्व मिथ्यादृष्टि के स्वभाव का चित्रण करते हुए बताया है कि वह न्याय का या अन्याय का किंचिन्मात्र भी बिना ख्याल किये दड प्रदान करता है। जैसे सम्पत्तिहरण, मु डन, तर्जन, ताडन, अदुकबन्धन (साकल से बाधना), निगडबन्धन, काष्ठबन्धन, चारकबन्धन (कारागृह मे डालना), निगडयुगल सकुटन (अगो को मोडकर बाधना), हस्त, पाद, कर्ण, नासिका, अोष्ठ, शीर्ष, मुख, वेद आदि का छेदन करना, हृदय-उत्पाटन, नयनादि उत्पाटन, उल्लबन (वृक्षादि पर लटकाना), घर्षण, घोलन, शूलायन (शूली पर लटकाना), शूलाभेदन, क्षारवर्तन (जख्मो आदि पर नमकादि छिडकना), दर्भवर्तन (घासादि से पीडा पहुँचाना), सिंहपु छन, वृषभपु छन, दावाग्निदग्धन, भक्तपाननिरोध प्रभृति दड देकर आनन्द का अनुभव करता है। किन्तु सम्यग्दृष्टि आस्तिक होता है व उपासक बन एकादश प्रतिमाओ की साधना करता है। इन ग्यारह उपासक प्रतिमाओ का वर्णन उपासकदशाग में भी आ चुका है।

प्रतिमाधारक श्रावक प्रतिमा की पूर्ति के पश्चात् संयम ग्रहण कर लेता है ऐसा कुछ आचार्यों का अभिमत है। कार्तिक सेठ ने १०० बार प्रतिमा ग्रहण की थी ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।

सातवें उद्देशक मे श्रमण की प्रतिमाओ का वर्णन है। ये भिक्षुप्रतिमाए १२ हैं।

प्रथम प्रतिमाधारी भिक्षु को एक दत्ति अन्न की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है। श्रमण के पात्र मे दाता द्वारा दिये जाने वाले अन्न और जल की धारा जब तक अखण्ड बनी रहती है, उसे दत्ति कहते हैं। जहाँ एक व्यक्ति के लिए भोजन बना हो वहाँ से लेना कल्पता है। जहाँ दो, तीन या अधिक व्यक्तियो के लिए बना हो वहाँ से नही ले सकता। इसका समय एक मास का है। दूसरी प्रतिमा भी एक मास की है। उसमे दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की ली जाती है। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाचवी, छठी और सातवी प्रतिमाओं मे क्रमशः तीन, चार, पाच, छह और सात दत्ति अन्न की और उतनी ही दत्ति पानी की ग्रहण की जाती हैं। प्रत्येक प्रतिमा का समय एक-एक मास है। केवल दत्तियो की वृद्धि के कारण ही त्रिमासिक से सातमासिक क्रमशः कहलाती हैं।

आठवीं प्रतिमा सात दिन-रात की होती है। इसमे एकान्तर चौविहार उपवास करना होता है। गाँव के बाहर आकाश की ओर मुह करके सीधा देखना, एक करवट से लेटना और विषद्यासन (पैरो को बराबर करके) बैठना, उपसर्ग आने पर शान्तचित्त से सहन करना होता है।

नौवी प्रतिमा भी सात रात्रि की होती हैं। इसमे चौविहार बेले-बेले पारणा किया जाता है। गाव के बाहर एकान्त स्थान मे दण्डासन, लगुडासन या उत्कट्कासन करके ध्यान किया जाता है।

दसवी प्रतिमा भी सात रात्रि की होती है। इसमे चौविहार तेले-तेले पारणा किया जाता है। गाव के बाहर गोदोहासन, वीरासन और आम्रकुब्जासन से ध्यान किया जाता है।

ग्यारहवी प्रतिमा एक अहोरात्रि की होती है। आठ प्रहर तक इसकी साधना की जाती है। चौविहार बेला इसमे किया जाता है। नगर के बाहर दोनो हाथो को घुटनो की ओर लम्बा करके दण्ड की तरह खडे रहकर कायोत्सर्ग किया जाता है।

बारहवी प्रतिमा केवल एक रात्रि की है। इसका आराधन तेले से किया जाता है। गाव के बाहर श्मशान मे खडे होकर मस्तक को थोडा झुकाकर किसी एक पुद्गल पर दृष्टि रखकर निर्निमेष नेत्रो से निश्चितता पूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है। उपसर्ग आने पर समभाव से सहन किया जाता है।

इन प्रतिमाओ मे स्थित श्रमण के लिए अनेक विधान भी किये हैं। जैसे—कोई व्यक्ति प्रतिमाधारी निर्ग्रन्थ है तो उसे भिक्षाकाल को तीन विभाग मे विभाजित करके भिक्षा लेनी चाहिये—आदि, मध्य और चरम। आदि भाग मे भिक्षा के लिए जाने पर मध्य और चरम भाग मे नही जाना चाहिये। मासिकी प्रतिमा मे स्थित श्रमण जहाँ कोई जानता हो वहाँ एक रात रह सकता है। जहाँ उसे कोई भी नही जानता वहाँ वह दो रात रह सकता है। इससे अधिक रहने पर उतने ही दिन का छेद अथवा तप प्रायश्चित्त लगता है। इसी प्रकार और भी कठोर अनुशासन का विधान लगाया जा सकता है। जैसे कोई उपाश्रय मे आग लगा दे तो भी उसे नही जाना चाहिए। यदि कोई पकडकर उसे बाहर खीचने का प्रयत्न करे तो उसे हठ न करते हुए सावधानीपूर्वक बाहर निकल जाना चाहिए। इसी तरह सामने यदि मदोन्मत्त हाथी, घोडा, बैल, कुत्ता, व्याघ्र आदि आ जाए तो भी उसे उनसे डरकर एक कदम भी पीछे नही हटना चाहिये। शीतलता तथा उष्णता के परीषह को धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये।

आठवें उद्देशक (दशा) मे पर्यु षणा कल्प का वर्णन है। पर्यु षण शब्द "परि" उपसर्ग पूर्वक वस् धातु से

"अन:" प्रत्यय लगकर बना है। इसका अर्थ है, आत्ममज्जन, आत्मरमण या आत्मस्थ होना। पर्युषणकल्प का दूसरा अर्थ है एक स्थान पर निवास करना। वह सालबन या निरावलबन रूप दो प्रकार का है। सालबन का अर्थ है सकारण और निरावलबन का अर्थ है कारणरहित। निरावलबन के जघन्य और उत्कृष्ट दो भेद हैं।

पर्युषणा के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार हैं—(१) परियाय वत्थवणा, (२) पज्जोसमणा, (३) पागइया, (४) परिवसना, (५) पज्जुसणा, (६) वासावास, (७) पढमसमोसरण, (८) ठवणा और (९) जेट्ठोग्गह।

ये सभी नाम एकार्थक हैं, तथापि व्युत्पत्ति-भेद के आधार पर किंचित् अर्थभेद भी है और यह अर्थभेद पर्युषणा से सम्बन्धित विविध परम्पराओ एव उस नियत काल मे की जाने वाली क्रियाओ का महत्त्वपूर्ण निदर्शन कराता है। इन अर्थों से कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी व्यक्त होते हैं। पर्युषणा काल के आधार से कालगणना करके दीक्षापर्याय की ज्येष्ठता व कनिष्ठता गिनी जाती है। पर्युषणाकाल एक प्रकार का वर्षमान गिना जाता है। अत पर्युषणा को दीक्षापर्याय की अवस्था का कारण माना है। वर्षावास मे भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सम्बन्धी कुछ विशेष क्रियाओं का आचरण किया जाता है अत पर्युषणा का दूसरा नाम पज्जोसमणा है।

तीसरा, गृहस्थ आदि के लिए समानभावेन आराधनीय होने से यह "पागइया" यानि प्राकृतिक कहलाता है।

इस नियत अवधि मे साधक आत्मा के अधिक निकट रहने का प्रयत्न करता है अत वह परिवसना भी कहा जाता है। पर्युषणा का अर्थ सेवा भी है। इस काल मे साधक आत्मा के ज्ञानदर्शनादि गुणो की सेवा उपासना करता है अत उसे पज्जुसणा कहते हैं।

इस कल्प मे श्रमण एक स्थान पर चार मास तक निवास करता है अतएव इसे वासावास—वर्षावास कहा गया है।

कोई विशेष कारण न हो तो प्रावृट्‌(वर्षा) काल मे ही चातुर्मास करने योग्य क्षेत्र मे प्रवेश किया जाता है अत इसे प्रथमसमवसरण कहते हैं।

ऋतुबद्धकाल की अपेक्षा से इसकी मर्यादाए भिन्न-भिन्न होती हैं। अतएव यह ठवणा (स्थापना) है।

ऋतुबद्धकाल मे एक-एक मास का क्षेत्रावग्रह होता है किन्तु वर्षाकाल मे चार मास का होता है अतएव इसे जेट्ठोग्गह (ज्येष्ठावग्रह) कहा है।

अगर साधु आषाढी पूर्णिमा तक नियत स्थान पर आ पहुचा हो और वर्षावास की घोषणा कर दी हो तो श्रावण कृष्णा पचमी से ही वर्षावास प्रारम्भ हो जाता है। उपर्युक्त क्षेत्र न मिलने पर श्रावण कृष्णा दशमी को, फिर भी योग्य क्षेत्र की प्राप्ति न हो तो श्रावण कृष्णा पचदशमी—अमावस्या को वर्षावास प्रारम्भ करना चाहिए। इतने पर भी योग्य क्षेत्र न मिले तो पाच-पाच दिन बढाते हुए अन्तत भाद्रपद शुक्ला पचमी तक तो वर्षावास प्रारम्भ कर देना अनिवार्य माना गया है। इस समय तक भी उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त न हो तो वृक्ष के नीचे ही पर्युषणाकल्प करना चाहिए। पर इस तिथि का किसी भी परिस्थिति मे उल्लघन नही करना चाहिए।

वर्तमान मे जो पर्युषणा कल्पसूत्र है, वह दशाश्रुतस्कन्ध का ही आठवा अध्ययन है। दशाश्रुतस्कन्ध की प्राचीनतम प्रतिया, जो चौदहवी शताब्दी से पूर्व की हैं, उनमे आठवें अध्ययन मे पूर्ण कल्पसूत्र आया है। जो यह स्पष्ट प्रमाणित करता है कि कल्पसूत्र स्वतन्त्र रचना नही किन्तु दशाश्रुतस्कन्ध का ही आठवा अध्ययन है।

दूसरी बात दशाश्रुतस्कन्ध पर जो द्वितीय भद्रबाहु की नियुक्ति है, जिनका समय विक्रम की छठी शताब्दी है, उसमें और उस नियुक्ति के आधार से निर्मित प्रचलित है, उसके पदो की व्याख्या मिलती है। मुनि श्री पुण्यविजयजी का अभिमत है कि दशाश्रुतस्कन्ध की चूर्णि लगभग सोलह सौ वर्ष पुरानी है।

कल्पसूत्र के पहले सूत्र में "तेण कालेण तेण समएण समणो भगव महावीरे ··· "और अतिम सूत्र मे भुज्जो भुज्जो उवदसेइ" पाठ है। वही पाठ दशाश्रुतस्कन्ध के आठवे उद्देशक [दशा] मे है। यहा पर शेष पाठ को "जाव" शब्द के अन्तर्गत सक्षेप कर दिया है। वर्तमान मे जो पाठ उपलब्ध है उसमे केवल पचकल्याणक का ही निरूपण है, जिसका पर्युषणाकल्प के साथ कोई सम्बन्ध नही है। अत स्पष्ट है कि पर्युषणाकल्प इस अध्ययन मे पूर्ण कल्पसूत्र था। कल्पसूत्र और दशाश्रुतस्कन्ध इन दोनो के रचयिता भद्रबाहु हैं। इसलिए दोनो एक ही रचनाकार की रचना होने से यह कहा जा सकता है कि कल्पसूत्र दशाश्रुतस्कन्ध का आठवा अध्ययन ही है। वृत्ति, चूर्णि, पृथ्वीचदटिप्पण और अन्य कल्पसूत्र की टीकाओ से यह स्पष्ट प्रमाणित है।

नौवें उद्देशक मे ३० महामोहनीय स्थानो का वर्णन है। आत्मा को आवृत करने वाले पुद्गल कर्म कहलाते हैं। मोहनीयकर्म उन सब मे प्रमुख है। मोहनीयकर्मबध के कारणो की कोई मर्यादा नही है, तथापि शास्त्रकार ने मोहनीय कर्मबध के हेतुभूत कारणो के तीस भेदो का उल्लेख किया है। उनमे दुरध्यवसाय की तीव्रता और क्रूरता इतनी मात्रा मे होती है कि कभी कभी महामोहनीयकर्म का बन्ध हो जाता है जिससे आत्मा ७० कोटा-कोटि सागरोपम तक ससार मे परिभ्रमण करता है। आचार्य हरिभद्र तथा जिनदासगणी महत्तर केवल मोहनीय शब्द का प्रयोग करते हैं। उत्तराध्ययन, समवायाग और दशाश्रुतस्कन्ध मे भी मोहनीयस्थान कहा है।[1] किन्तु भेदो के उल्लेख मे "महामोह पकुव्वइ" शब्द का प्रयोग हुआ है। वे स्थान जैसे कि त्रस जीवो को पानी मे डुबाकर मारना, उनको श्वास आदि रोक कर मारना, मस्तक पर गीला चमडा आदि बाँधकर मारना, गुप्तरीति से अनाचार का सेवन करना, मिथ्या कलक लगाना, बालब्रह्मचारी न होते हुए भी बालब्रह्मचारी कहलाना, केवलज्ञानी की निन्दा करना, बहुश्रुत न होते हुए भी बहुश्रुत कहलाना, जादू-टोना आदि करना, कामोत्पादक विकथाओ का बार-बार प्रयोग करना आदि हैं।

दशवे उद्देशक [दशा] का नाम "आयतिस्थान" है। इसमे विभिन्न निदानो का वर्णन है। निदान का अर्थ है—मोह के प्रभाव से कामादि इच्छाओ की उत्पत्ति के कारण होने वाला इच्छापूर्तिमूलक सकल्प। जब मानव के अन्तर्मानस मे मोह के प्रबल प्रभाव से वासनाए उदभूत होती है तब वह उनकी पूर्ति के लिए दृढ सकल्प करता है। यह सकल्पविशेष ही निदान है। निदान के कारण मानव की इच्छाए भविष्य मे भी निरन्तर बनी रहती है जिससे वह जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त नही हो पाता। भविष्यकालीन जन्म-मरण की दृष्टि से प्रस्तुत उद्देशक का नाम आयतिस्थान रखा गया है। आयति का अर्थ जन्म या जाति है। निदान का कारण होने से आयतिस्थान माना गया है। दूसरे शब्दो मे कहे तो आयति मे से "ति" पृथक् कर लेने पर "आय" अवशिष्ट रहता है। आय का अर्थ लाभ है। जिस निदान से जन्म-मरण का लाभ होता है उसका नाम आयति है।

इस दशा मे वर्णन है कि भगवान् महावीर राजगृह पधारे। राजा श्रेणिक व महारानी चेलना भगवान् के वन्दन हेतु पहुँचे। राजा श्रेणिक के दिव्य व भव्य रूप और महान् समृद्धि को निहार कर श्रमण सोचने लगे—श्रेणिक तो साक्षात् देवतुल्य प्रतीत हो रहा है। यदि हमारे तप, नियम और सयम आदि का फल हो तो हम भी

---

१ तीस मोह-ठणाइ-अभिक्खण-अभिक्खण आयारेमाणे वा समायारेमाणे वा मोहणिज्जताए कम्म पकरेई।

—दशाश्रुतस्कन्ध, पृ ३२१—उपा आत्मारामजी महाराज

इस जैसे बने। महारानी चेलना के सुन्दर सलौने रूप व ऐश्वर्य को देखकर श्रमणियो के अन्तर्मानस मे यह सकल्प हुआ कि हमारी साधना का फल हो तो हम आगामी जन्म मे चेलना जैसी बने। अन्तर्यामी महावीर ने उनके सकल्प को जान लिया और श्रमण-श्रमणियो से पूछा कि क्या तुम्हारे मन मे इस प्रकार का सकल्प हुआ है ? उन्होने स्वीकृति सूचक उत्तर दिया--"हा, भगवन् ! यह बात सत्य है।" भगवान् ने कहा --"निर्ग्रन्थ-प्रवचन सर्वोत्तम है, परिपूर्ण है, सम्पूर्ण कर्मों को क्षीण करने वाला है। जो श्रमण या श्रमणिया इस प्रकार धर्म से विमुख होकर ऐश्वर्य आदि को देखकर लुभा जाते है और निदान करते है वे यदि बिना प्रायश्चित्त किए आयु पूर्ण करते है तो देवलोक मे उत्पन्न होते हैं और वहा से वे मानवलोक मे पुन जन्म लेते है। निदान के कारण उन्हे केवली धर्म की प्राप्ति नही होती। वे सदा सासारिक विषयो मे ही मुग्ध बने रहते है।" शास्त्रकार ने ९ प्रकार के निदानो का वर्णन कर यह बताया कि निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सब कर्मों से मुक्ति दिलाने वाला एकमात्र साधन है। अत निदान नही करना चाहिए और किया हो तो आलोचना --प्रायश्चित्त करके मुक्त हो जाना चाहिए।

उपसहार

इस प्रकार प्रस्तुत आगम मे भगवान् महावीर की जीवनी विस्तार से आठवी दशा मे मिलती है। चित्त-समाधि एव धर्मचिन्ता का सुन्दर वर्णन है। उपासकप्रतिमाओ व भिक्षुप्रतिमाओ के भेद-प्रभेदो का भी वर्णन है।

बृहत्कल्प

बृहत्कल्प का छेदसूत्रो मे गौरवपूर्ण स्थान है। अन्य छेदसूत्रो की तरह इस सूत्र मे भी श्रमणो के आचार-विषयक विधि-निषेध, उत्सर्ग-अपवाद, तप, प्रायश्चित्त आदि पर चिन्तन किया गया है। इसमे छह उद्देशक है, ८१ अधिकार है, ४७३ श्लोकप्रमाण उपलब्ध मूलपाठ है। २०६ सूत्रसख्या है।

प्रथम उद्देशक मे ५० सूत्र है। पहले के पाच सूत्र तालप्रलब विषयक है। निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो के लिए ताल एव प्रलब ग्रहण करने का निषेध है। इसमे अखण्ड एव अपक्व तालफल व तालमूल ग्रहण नही करना चाहिए किन्तु विदारित, पक्व ताल प्रलब लेना कल्प्य है, ऐमा प्रतिपादित किया गया है, आदि-आदि।

मासकल्प विषयक नियम मे श्रमणो के ऋतुबद्धकाल--हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु के ८ महिनो मे एक स्थान पर रहने के अधिकतम समय का विधान किया है। श्रमणो को सपरिक्षेप अर्थात् सप्राचीर एव प्राचीर से बाहर निम्नोक्त १६ प्रकार के स्थानो मे वर्षाऋतु के अतिरिक्त अन्य समय मे एक माथ एक माम से अधिक ठहरना नही कल्पता।

१. ग्राम [जहा राज्य की ओर से १८ प्रकार के कर लिये जाते हो]

२. नगर [जहा १८ प्रकार के कर न लिए जाते हो]

३ खेट [जिमके चारो ओर मिट्टी की दीवार हो]

४. कर्बट [जहा कम लोग रहते हो]

५ मडम्ब [जिसके बाद ढाई कोस तक कोई गाँव न हो]

६. पत्तन [जहां सब वस्तुएं उपलब्ध हो]

७. आकर [जहा सब वस्तुए उपलब्ध हो]

८ द्रोणमुख [जहाँ जल और स्थल को मिलाने वाला मार्ग हो, जहां समुद्री माल आकर उतरता हो]

९. निगम [जहा व्यापारियो की वसति हो]

१० राजधानी [जहा राजा के रहने के महल आदि हो]

११. आश्रम [जहा तपस्वी आदि रहते हो]

१२. निवेश सन्निवेश [जहा सार्थवाह आकर उतरते हो]

१३ सम्बाध-सबाह [जहा कृषक रहते हो अथवा अन्य गाव के लोग अपने गाव से धन आदि की रक्षा के निमित्त पर्वत, गुफा आदि मे आकर ठहरे हुए हो]

१४ घोष [जहा गाय आदि चराने वाले गूजर लोग-ग्वाले रहते हों]

१५ अशिका [गाव का अर्ध, तृतीय अथवा चतुर्थ भाग]

१६ पुटभेदन [जहा पर गाव के व्यापारी अपनी चीजे बेचने आते हो]

नगर की प्राचीर के अन्दर और बाहर एक-एक मास तक रह सकते है। अन्दर रहत समय भिक्षा अन्दर से लेनी चाहिए और बाहर रहते समय बाहर से। श्रमणिया दो मास अन्दर और दो मास बाहर रह सकती है। जिस प्राचीर का एक ही द्वार हो वहा निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को एक साथ रहने का निषेध किया है, पर अनेक द्वार हो तो रह सकते हैं।

जिस उपाश्रय के चारो ओर अनेक दुकानें हो, अनेक द्वार हो वहा साध्वियो को नही रहना चाहिए किन्तु साधु यतनापूर्वक रह सकता है। जो स्थान पूर्ण रूप से खुला हो, द्वार न हो वहा पर साध्वियो को रहना नही कल्पता। यदि अपवादरूप मे उपाश्रय-स्थान न मिले तो परदा लगाकर रह सकती है। निर्ग्रन्थो के लिए खुले स्थान पर भी रहना कल्पता है। निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को कपडे की मच्छरदानी [चिलिमिलिका] रखने व उपयोग करने की अनुमति प्रदान की गई है।

निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियो को जलाशय के सन्निकट खडे रहना, बैठना, लेटना, सोना, खाना-पीना, स्वाध्याय आदि करना नही कल्पता।

जहा पर विकारोत्पादक चित्र हो वहा पर श्रमण-श्रमणियो को रहना नही कल्पता।

मकान मालिक की बिना अनुमति के रहना नही कल्पता। जिस मकान के मध्य मे होकर रास्ता हो-- जहा गृहस्थ रहते हो, वहा श्रमण-श्रमणियो को नही रहना चाहिए।

किसी श्रमण का आचार्य, उपाध्याय, श्रमण या श्रमणी से परस्पर कलह हो गया हो, परस्पर क्षमायाचना करनी चाहिए। जो शात होता है वह आराधक है। श्रमणधर्म का सार उपशम है—"उवसमसारं सामण्ण"।

वर्षावास मे विहार का निषेध है किन्तु हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु मे विहार का विधान है। जो प्रतिकूल क्षेत्र हो वहाँ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को बार-बार विचरना निषिद्ध है। क्योकि सयम की विराधना होने की सम्भावना है। इसलिए प्रायश्चित्त का विधान है।

गृहस्थ के यहा भिक्षा के लिए या शौचादि के लिए श्रमण बाहर जाय उस समय यदि कोई गृहस्थ वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि देना चाहे तो आचार्य की अनुमति प्राप्त होने पर उसे लेना रखना चाहिए। वैसे ही श्रमणी के लिए प्रवर्तिनी की आज्ञा आवश्यक है।

श्रमण-श्रमणियो के लिए रात्रि के समय या असमय मे आहारादि ग्रहण करने का निषेध किया गया है। इसी तरह वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण ग्रहण का निषेध है। अपवादरूप मे यदि तस्कर श्रमण-श्रमणियो के वस्त्र चुराकर ले गया हो और वे पुन प्राप्त हो गये हो तो रात्रि मे ले सकते है। यदि वे वस्त्र तस्करो ने पहने हो, स्वच्छ किये हो, रगे हो या धूपादि सुगन्धित पदार्थों से वासित किये हो तो भी ग्रहण कर सकते हैं।

निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियो को रात्रि के समय या विकाल मे विहार का निषेध किया गया है। यदि उच्चार-भूमि आदि के लिए अपवाद रूप मे जाना ही पडे तो अकेला न जाय किन्तु साधुओ को साथ लेकर जाय।

निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियो के विहार क्षेत्र की मर्यादा पर चिन्तन किया गया है। पूर्व मे अगदेश एव मगधदेश तक, दक्षिण मे कौसाम्बी तक, पश्चिम मे स्थूणा तक व उत्तर मे कुणाला तक—ये आर्यक्षेत्र है। आर्यक्षेत्र मे विचरने से ज्ञान-दर्शन की वृद्धि होती है। यदि अनार्यक्षेत्र मे जाने पर रत्नत्रय की हानि की सम्भावना न हो तो जा सकते है।

द्वितीय उद्देशक मे उपाश्रय विषयक १२ सूत्रो मे बताया है कि जिस उपाश्रय मे शाली, व्रीहि, मूग, उडद आदि बिखरे पडे हो वहा पर श्रमण-श्रमणियो को किंचित् समय भी न रहना चाहिए किन्तु एक स्थान पर ढेर रूप मे पडे हुए हो तो वहा हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु मे रहना कल्पता है। यदि कोष्ठागार आदि मे सुरक्षित रखे हुए हो तो वर्षावास मे भी रहना कल्पता है।

जिस स्थान पर सुराविकट, सौवीरविकट आदि रखे हो वहाँ किंचित् समय भी साधु-साध्वियो को नही रहना चाहिए।[1] यदि कारणवशात् अन्वेषणा करने पर भी अन्य स्थान उपलब्ध न हो तो श्रमण दो रात्रि रह सकता है, अधिक नही। अधिक रहने पर छेद या परिहार का प्रायश्चित्त आता है।[2]

इसी तरह शीतोदकविकटकुभ, उष्णोदकविकटकुभ, ज्योति, दीपक आदि से युक्त उपाश्रय मे नही रहना चाहिए।

इसी तरह एक या अनेक मकान के अधिपति से आहारादि नही लेना चाहिए। यदि एक मुख्य हो तो उसके अतिरिक्त शेष के यहा से ले सकते है। यहा पर शय्यातर मुख्य है जिसकी आज्ञा ग्रहण की है। शय्यातर के विविध पहलुओ पर चिन्तन किया गया है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को जागिक, भाँगिक, सानक, पोतक और तिरिटपट्टक ये पाँच[3] प्रकार से वस्त्र लेना

---

१ सुराविकट पिष्टनिष्पन्नम् सौवीरविकट तु पिष्टवर्जैर्गुडादिद्रव्यैर्निष्पन्नम।

—क्षेमकीर्तिकृत वृत्ति, पृष्ठ १०९५२

२ "छेदो वा" पचरात्रिन्दिवादि "परिहारो वा" मासलघुकादिस्तपोविशेषो भवतीति सूत्रार्थ। —वही

३ जगमा त्रसा तदवयवनिष्पन्न जागमिकम्, भगा अतसी तन्मय भागिकम्, सनसूत्रमय सानकम्, पोतक कार्पासिकम् तिरीट वृक्षविशेषस्तस्य य. पट्टो वल्कल क्षणस्तन्निष्पन्न तिरीटपट्टक ना पचमम्।

—उ० २, सू० २४

कल्पता है और औणिक, औष्ट्रिक, सानक, वच्चकचिप्पक, मु जचिप्पक ये पाच प्रकार के[1] रजोहरण रखना कल्पता है।

तृतीय उद्देशक मे निर्ग्रन्थो को निर्ग्रन्थियो के उपाश्रय मे बैठना, सोना, खाना, पीना, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग करना नही कल्पता। इसी प्रकार निर्ग्रन्थियो को निर्ग्रन्थो के उपाश्रय आदि मे बैठना, खाना, पीना आदि नही कल्पता। आगे के चार सूत्रो मे चर्म विषयक, उपभोग आदि के सम्बन्ध मे कल्पाकल्प की चर्चा है।

वस्त्र के सम्बन्ध मे कहा है कि वे रगीन न हो, किन्तु श्वेत होने चाहिए। कौनसी-कौनसी वस्तुए धारण करना या न करना—इसका विधान किया गया है। दीक्षा लेते समय वस्त्रो की मर्यादा का भी वर्णन किया गया है। वर्षावास मे वस्त्र लेने का निषेध है किन्तु हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु मे आवश्यकता होने पर वस्त्र लेने मे बाधा नही है और वस्त्र के विभाजन का इस सम्बन्ध मे भी चिन्तन किया है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को प्रातिहारिक वस्तुए उसके मालिक को बिना दिये अन्यत्र विहार करना नही कल्पता। यदि किसी वस्तु को कोई चुरा ले तो उसकी अन्वेषणा करनी चाहिये और मिलने पर शय्यातर को दे देनी चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो उसकी आज्ञा होने पर उपयोग कर सकता है।

चतुर्थ उद्देशक मे अब्रह्मसेवन तथा रात्रि-भोजन आदि व्रतो के सम्बन्ध मे दोष लगने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

पडक, नपु सक एव वातिक प्रव्रज्या के लिए अयोग्य है। यहा तक कि उनके साथ सभोग [एक साथ भोजन-पानादि] करना भी निषिद्ध है।

अविनीत, रसलोलुपी व क्रोधी को शास्त्र पढाना अनुचित है। दुष्ट, मूढ और दुर्विदग्ध ये तीन प्रव्रज्या और उपदेश के अनधिकारी है।

निर्ग्रन्थी रुग्ण अवस्था मे या अन्य किसी कारण से अपने पिता, भाई, पुत्र आदि का सहारा लेकर उठती या बैठती हो और साधु के सहारे की इच्छा करे तो चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। इसी तरह निग्रन्थ माता, पत्नी, पुत्री आदि का सहारा लेते हुए तथा साध्वी के सहारे की इच्छा करे तो उसे भी चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है। इसमे चतुर्थ व्रत के खडन की सम्भावना होने से प्रायश्चित्त का विधान किया है।

निर्ग्रन्थ व निर्ग्रन्थियो को कालातिक्रान्त, क्षेत्रातिक्रान्त अशनादि ग्रहण करना नही कल्पता। प्रथम पौरुषी का लाया हुआ आहार चतुर्थ पौरुषी तक रखना नही कल्पता। यदि भूल से रह जाय तो परठ देना चाहिए। उपयोग करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। यदि भूल से अनेषणीय, स्निग्ध अशनादि भिक्षा मे आ गया हो तो अनुपस्थापित श्रमण—जिनमे महाव्रतो की स्थापना नही की है उन्हे दे देना चाहिए। यदि वह न हो तो निर्दोष स्थान पर परठ देना चाहिए।

आचेलक्य आदि कल्प मे स्थित श्रमणो के लिए निर्मित आहारादि अकल्पस्थित श्रमणो के लिए कल्पनीय है। जो आहारादि अकल्पस्थित श्रमणो के लिए निर्मित हो वह कल्पस्थित श्रमणो के लिए अकल्प्य होता है। यहा पर कल्पस्थित का तात्पर्य है "पचयामधर्मप्रतिपन्न" और अकल्पस्थित धर्म का अर्थ है 'चातुर्यामधर्मप्रतिपन्न"।

---

१ "औणिक" ऊरणिकानामूर्णाभिर्निवृ त्तम्, "औष्ट्रिक" उष्ट्ररोमभिर्निवृ त्तम्, "सानक" सनवृक्षवल्कादू जातम् "वाचक" तृणविशेषस्तस्य "चिप्पक." कुट्टित त्वग्रूपः तेन निष्पन्न वच्चकचिप्पकम् "मु ज" शरस्तम्बस्तस्य चिप्पकाद् जात मु जचिप्पक नाम पचममिति।
—उ० २, सू० २५

किसी निर्ग्रन्थ को ज्ञान आदि के कारण अन्य गण मे उपसम्पदा लेनी हो तो आचार्य की अनुमति आवश्यक है। इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक आदि को भी यदि अन्य गण मे उपसम्पदा लेनी हो तो अपने समुदाय की योग्य व्यवस्था करके ही अन्य गण मे सम्मिलित होना चाहिए।

सध्या के समय या रात्रि मे कोई श्रमण या श्रमणी कालधर्म को प्राप्त हो जाय तो दूसरे श्रमण-श्रमणियो को उस मृत शरीर को रात्रि भर सावधानी से रखना चाहिए। प्रात गृहस्थ के घर से बास आदि लाकर मृतक को उससे बाधकर दूर जगल मे निर्दोष भूमि पर प्रस्थापित कर देना चाहिए और पुन. बास आदि गृहस्थ को दे देना चाहिए।

श्रमण ने किसी गृहस्थ के साथ यदि कलह किया हो तो उसे शात किये बिना भिक्षाचर्या करना नही कल्पता।

परिहारविशुद्धचारित्र ग्रहण करने की इच्छा वाले श्रमण को विधि समझाने हेतु पारणे के दिन स्वय आचार्य, उपाध्याय उसके पास जाकर आहार दिलाते है और स्वस्थान पर आकर परिहारविशुद्धचारित्र का पालन करने की विधि बतलाते है।

श्रमण-श्रमणियो को गगा, यमुना, सरयू, कोशिका, मही इन पाच महानदियो मे से महीने मे एक से अधिक बार एक नदी पार नही करनी चाहिए। ऐरावती आदि छिछली नदिया महीने मे दो-तीन बार पार की जा सकती है।

श्रमण-श्रमणियो को घास की ऐसी निर्दोष झोपडी मे, जहा पर अच्छी तरह से खडा नही रहा जा सके, हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु मे रहना वर्ज्य है। यदि निर्दोष तृणादि से बनी हुई दो हाथ से कम ऊची झोपडी है तो वर्षाऋतु मे वहा नही रह सकते। यदि दो हाथ से अधिक ऊची है तो वहा वर्षाऋतु मे रह सकते है।

पचम उद्देशक मे बताया है कि यदि कोई देव स्त्री का रूप बनाकर साधु का हाथ पकडे और वह साधु उसके कोमल स्पर्श को सुखरूप माने तो उसे मैथुन प्रतिसेवन दोष लगता है और उसे चातुर्मासिक गुरु-प्रायश्चित्त आता है। इसी प्रकार साध्वी को भी उसके विपरीत पुरुष स्पर्श का अनुभव होता है और उसे सुखरूप माने तो चातुर्मासिक गुरु-प्रायश्चित्त आता है।

कोई श्रमण बिना क्लेश को शांत किए अन्य गण मे जाकर मिल जाय और उस गण के आचार्य को ज्ञात हो जाय कि यह श्रमण वहा से कलह करके आया है तो उसे पाँच रातदिन का छेद देना चाहिए और उसे शान्त कर अपने गण मे पुन भेज देना चाहिए।

सशक्त या अशक्त श्रमण सूर्योदय हो चुका है या अभी अस्त नही हुआ है ऐसा समझकर यदि आहारादि करता है और फिर यदि उसे यह ज्ञात हो जाय कि अभी तो सूर्योदय हुआ ही नही है या अस्त हो गया है तो उसे आहारादि तत्क्षण त्याग देना चाहिए। उसे रात्रिभोजन का दोष नही लगता। सूर्योदय और सूर्यास्त के प्रति शकाशील होकर आहारादि करने वाले को रात्रिभोजन का दोष लगता है। श्रमण-श्रमणियो को रात्रि मे डकारादि के द्वारा मुह मे अन्न आदि आ जाय तो उसे बाहर थूक देना चाहिए।

यदि आहारादि मे द्वीन्द्रियादि जीव गिर जाय तो यतनापूर्वक निकाल कर आहारादि करना चाहिए। यदि निकलने की स्थिति मे न हो तो एकान्त निर्दोष स्थान मे परिस्थापन कर दे। आहारादि लेते समय सचित्त पानी की बूदे आहारादि मे गिर जाए और वह आहार गरम हो तो उसे खाने मे किचित् मात्र भी दोष नही है।

क्योंकि उसमे पड़ी हुई बूँदें अचित्त हो जाती हैं। यदि आहार शीतल है तो न स्वयं खाना चाहिए और न दूसरो को खिलाना चाहिए अपितु एकान्त स्थान पर परिस्थापन कर देना चाहिए।

निर्ग्रन्थी को एकाकी रहना, नग्न रहना, पात्ररहित रहना, ग्रामादि के बाहर आतापना लेना, उत्कटुकासन, वीरासन, दण्डासन, लगुडशायी आदि आसन पर बैठकर कायोत्सर्ग करना वर्ज्य है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को परस्पर मोक (पेशाब या थूक) का आचमन करना अकल्प्य है किन्तु रोगादि कारणो से ग्रहण किया जा सकता है।

परिहारकल्प मे स्थित भिक्षु को स्थविर आदि के आदेश से अन्यत्र जाना पडे तो शीघ्र आना चाहिए और कार्य करके पुन लौट आना चाहिए। यदि चारित्र मे किसी प्रकार का दोष लगे तो प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध कर लेना चाहिए।

छठे उद्देशक मे यह बताया है कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को अलीक (झूठ) वचन, हीलितवचन, खिसितवचन, परुषवचन, गार्हस्थिकवचन, व्यवशमितोदीरणवचन (शात हुए कलह को उभारनेवाला वचन), ये छह प्रकार के वचन नही बोलना चाहिए।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, अविरति-अब्रह्म, नपुसक, दास आदि का आरोप लगाने वाले को प्रायश्चित्त आता है।

निर्ग्रन्थ के पैर मे काटा लग गया हो और वह निकालने मे असमर्थ हो तो उसे अपवादरूप मे निर्ग्रन्थी निकाल सकती है। इसी प्रकार नदी आदि मे डूबने, गिरने, फिसलने आदि का प्रसग आये तो साधु साध्वी का हाथ पकडकर बचाये। इसी प्रकार विक्षिप्तचित्त निर्ग्रन्थी को अपने हाथ से पकडकर उसके स्थान पर पहुचा दे, वैसे ही विक्षित साधु को भी साध्वी हाथ पकडकर पहुचा सकती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि ये आपवादिक सूत्र है। इसमे विकारभावना नही किन्तु परस्पर के सयम की सुरक्षा की भावना है।

साधु की मर्यादा का नाम कल्पस्थिति है। यह छह प्रकार की है—सामायिक—सयतकल्पस्थिति, छेदोपस्थापनीय सयतकल्पस्थिति, निर्विशमानकल्पस्थिति, निर्विष्टकायिककल्पस्थिति, जिनकल्पस्थिति और स्थविरकल्पस्थिति।

इस प्रकार बृहत्कल्प मे श्रमण-श्रमणियो के जीवन और व्यवहार से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यो पर प्रकाश डाला है। यही इस शास्त्र की विशेषता है।

व्यवहारसूत्र

बृहत्कल्प और व्यवहार ये दोनो एक दूसरे के पूरक है। व्यवहार भी छेदसूत्र है जो चरणानुयोगमय है। इसमे दश उद्देशक है। ३७३ अनुष्टुप श्लोक प्रमाण उपलब्ध मूल पाठ है। २६७ सूत्र सख्या है।

प्रथम उद्देशक मे मासिक प्रायश्चित्त के योग्य दोष का सेवन कर उस दोष की आचार्य आदि के पास कपटरहित आलोचना करने वाले श्रमण को एकमासिक प्रायश्चित्त आता है जबकि कपटसहित करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है। द्विमासिक प्रायश्चित्त के योग्य दोष की साधक निष्कपट आलोचना करता है तो उसे द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है और कपटसहित करने से तीन मास का। इस प्रकार तीन, चार, पाच और छह मास के

प्रायश्चित्त का विधान है। अधिक से अधिक छह मास के प्रायश्चित्त का विधान है। जिसने अनेक दोषो का सेवन किया हो उसे क्रमश: आलोचना करनी चाहिए और फिर सभी का साथ मे प्रायश्चित्त लेना चाहिए। प्रायश्चित्त करते हुए भी यदि पुन दोष लग जाय तो उसका पुन. प्रायश्चित्त करना चाहिए।

प्रायश्चित्त का सेवन करने वाले श्रमण को स्थविर आदि की अनुज्ञा लेकर ही अन्य साधुओ के साथ उठना-बैठना चाहिए। आज्ञा की अवहेलना कर किसी के साथ यदि वह बैठता है तो उतने दिन की उसकी दीक्षापर्याय कम होती है जिसे आगमिक भाषा मे छेद कहा गया है। परिहारकल्प का परित्याग कर स्थविर आदि की सेवा के लिए दूसरे स्थान पर जा सकता है।

कोई श्रमण गण का परित्याग कर एकाकी विचरण करता है और यदि वह अपने को शुद्ध आचार के पालन करने मे असमर्थ अनुभव करता है तो उसे आलोचना कर छेद या नवीन दीक्षा ग्रहण करवानी चाहिए। जो नियम सामान्य रूप से एकलविहारी श्रमण के लिए है वही नियम एकलविहारी गणावच्छेदक, आचार्य व शिथिलाचारी श्रमण के लिए है।

आलोचना आचार्य, उपाध्याय के समक्ष कर प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना चाहिए। यदि वे अनुपस्थित हो तो अपने सभोगी, साधर्मिक, बहुश्रुत आदि के समक्ष आलोचना करनी चाहिए। यदि वे पास मे न हो तो अन्य समुदाय के सभोगी, बहुश्रुत आदि श्रमण जहाँ हो वहाँ जाकर आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। यदि वह भी न हो तो सारूपिक (सदोषी) किन्तु बहुश्रुत साधु हो तो वहाँ जाकर प्रायश्चित्त लेना चाहिए। यदि वह भी न हो तो बहुश्रुत श्रमणोपासक के पास और उसका भी अभाव हो तो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के पास जाकर प्रायश्चित्त करना चाहिए। इन सबके अभाव मे गांव या नगर के बाहर जाकर पूर्व या उत्तर दिशा के सम्मुख खडे होकर दोनो हाथ जोडकर अपने अपराध की आलोचना करे।

द्वितीय उद्देशक मे कहा है कि एक समान समाचारी वाले दो साधर्मिक साथ मे हो और उनमे से किसी एक ने दोष का सेवन किया हो तो दूसरे के सन्मुख प्रायश्चित्त लेना चाहिए। प्रायश्चित्त करने वाले की सेवा आदि का भार दूसरे श्रमण पर रहता है। यदि दोनो ने दोषस्थान का सेवन किया हो तो परस्पर आलोचना कर प्रायश्चित्त लेकर सेवा करनी चाहिए। अनेक श्रमणो मे से किसी एक श्रमण ने अपराध किया हो तो एक को ही प्रायश्चित्त दे। यदि सभी ने अपराध किया है तो एक के अतिरिक्त शेष सभी प्रायश्चित्त लेकर शुद्धिकरण करे और उनका प्रायश्चित्त पूर्ण होने पर उसे भी प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करे।

परिहारकल्पस्थित श्रमण कदाचित् रुग्ण हो जाय तो उसे गच्छ से बाहर निकालना नही कल्पता। जब तक वह स्वस्थ न हो जाय तब तक वैयावृत्य करवाना गणावच्छेदक का कर्त्तव्य है और स्वस्थ होने पर उसने सदोषावस्था मे सेवा करवाई अत. उसे प्रायश्चित्त लेना चाहिए। इसी तरह अनवस्थाप्य एव पाराचिक प्रायश्चित्त करने वाले को भी रुग्णावस्था मे गच्छ से बाहर नही करना चाहिए।

विक्षिप्तचित्त को भी गच्छ से बाहर निकालना नही कल्पता और जब तक उसका चित्त स्थिर न हो जाय तब तक उसकी पूर्ण सेवा करनी चाहिए तथा स्वस्थ होने पर नाममात्र का प्रायश्चित्त देना चाहिए। इसी प्रकार दीप्तचित्त (जिसका चित्त अभिमान से उद्दीप्त हो गया है), उन्मादप्राप्त, उपसर्गप्राप्त, साधिकरण, सप्रायश्चित्त आदि को गच्छ से बाहर निकालना नही कल्पता।

नौवा अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त करने वाले साधु को गृहस्थलिंग धारण कराये बिना सयम मे पुन स्थापित

नही करना चाहिए, क्योकि उसका अपराध इतना महान् होता है कि बिना वैसा किये उसका पूरा प्रायश्चित्त नही हो पाता और न अन्य श्रमणो के अन्तर्मानस मे उस प्रकार के अपराध के प्रति भय ही उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार दसवें पारचिक प्रायश्चित्त वाले श्रमण को भी गृहस्थ का वेष पहनाने के पश्चात् पुन सयम मे स्थापित करना चाहिए। यह अधिकार प्रायश्चित्तदाता के हाथ मे है कि उसे गृहस्थ का वेष न पहनाकर अन्य प्रकार का वेष भी पहना सकता है।

पारिहारिक और अपारिहारिक श्रमण एक साथ आहार करें, यह उचित नही है। पारिहारिक श्रमणो के साथ बिना तप पूर्ण हुए अपारिहारिक श्रमणो को आहारादि नही करना चाहिए, क्योकि जो तपस्वी है उनका तप पूर्ण होने के पश्चात् एक मास के तप पर पाच दिन और छह महीने के तप पर एक महीना व्यतीत हो जाने के पूर्व उनके साथ कोई आहार नही कर सकता, क्योकि उन दिनो मे उनके लिए विशेष प्रकार के आहार की आवश्यकता होती है जो दूसरो के लिए आवश्यक नही।

तृतीय उद्देशक मे बताया है कि किसी श्रमण के मानस मे अपना स्वतत्र गच्छ बनाकर परिभ्रमण करने की इच्छा हो पर वह आचारांग आदि का परिज्ञाता नही हो तो शिष्य आदि परिवारसहित होने पर भी पृथक् गण बनाकर स्वच्छन्दी होना योग्य नही। यदि वह आचाराग आदि का ज्ञाता है तो स्थविर से अनुमति लेकर विचर सकता है। स्थविर की बिना अनुमति के विचरने वाले को जितने दिन इस प्रकार विचरा हो उतने ही दिन का छेद या पारिहारिक प्रायश्चित्त का भागी होना पडता है।

उपाध्याय वही बन सकता है जो कम मे कम तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाला है, निर्ग्रन्थ के आचार मे निष्णात है, सयम मे प्रवीण है, आचाराग आदि प्रवचनशास्त्रो मे पारगत है, प्रायश्चित्त देने मे पूर्ण समर्थ है, सघ के लिए क्षेत्र आदि का निर्णय करने मे दक्ष है, चारित्रवान है, बहुश्रुत है आदि।

आचार्य वह बन सकता है जो श्रमण के आचार मे कुशल, प्रवचन मे पटु, दशाश्रुतस्कन्ध-कल्प-बृहत्कल्प-व्यवहार का ज्ञाता है और कम से कम पाच वर्ष का दीक्षित है।

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तिनी, स्थविर, गणी, गणावच्छेदक पद उसे दिया जा सकता है जो श्रमण के आचार मे कुशल, प्रवचनदक्ष, असक्लिष्टमना व स्थानाग-समवायाग का ज्ञाता है।

अपवाद मे एक दिन की दीक्षापर्याय वाले साधु को भी आचार्य, उपाध्याय के पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। उस प्रकार का साधु प्रतीतिकारी, धैर्यशील, विश्वसनीय, समभावी, प्रमोदकारी, अनुमत, बहुमत व उच्च कुलोत्पन्न एव गुणसपन्न होना आवश्यक है।

आचार्य अथवा उपाध्याय की आज्ञा से ही सयम का पालन करना चाहिए। अब्रह्म का सेवन करने वाला आचार्य आदि पदवी के अयोग्य है। यदि गच्छ का परित्याग कर उसने वैसा कार्य किया है तो पुन दीक्षा धारण कर तीन वर्ष बीतने पर यदि उसका मन स्थिर हो, विकार शात हो, कषाय आदि का अभाव हो तो आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

चतुर्थ उद्देशक मे कहा है कि आचार्य अथवा उपाध्याय के साथ हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे कम से कम एक अन्य साधु होना चाहिए और गणावच्छेदक के साथ दो। वर्षाऋतु मे आचार्य और उपाध्याय के साथ दो व गणावच्छेदक के साथ तीन साधुओ का होना आवश्यक है।

आचार्य की महत्ता पर प्रकाश डालकर यह बताया गया है कि उनके अभाव मे किस प्रकार रहना चाहिए ?

आचार्य, उपाध्याय यदि अधिक रुग्ण हो और जीवन की आशा कम हो तो अन्य सभी श्रमणो को बुलाकर आचार्य कहे कि मेरी आयु पूर्ण होने पर अमुक साधु को अमुक पदवी प्रदान करना। उनकी मृत्यु के पश्चात् यदि वह साधु योग्य प्रतीत न हो तो अन्य को भी प्रतिष्ठित किया जा सकता है और योग्य हो तो उसे ही प्रतिष्ठित करना चाहिए। अन्य योग्य श्रमण आचाराग आदि पढ़कर दक्ष न हो जाय तब तक आचार्य आदि की सम्मति से अस्थायी रूप से साधु को किसी भी पद पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है और योग्य पदाधिकारी प्राप्त होने पर पूर्वव्यक्ति को अपने पद से पृथक् हो जाना चाहिए। यदि वह वैसा नही करता है तो प्रायश्चित्त का भागी होता है।

दो श्रमण साथ मे विचरण करते हो तो उन्हे योग्यतानुसार छोटा और बड़ा होकर रहना चाहिए और एक-दूसरे का सम्मान करना चाहिए। इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय को भी।

पाचवे उद्देशक मे प्रवर्तिनी को कम से कम दो अन्य साध्वियो के साथ शीतोष्णकाल मे ग्रामानुग्राम विचरण करना चाहिए और गणावच्छेदिका के साथ तीन अन्य साध्विया होनी चाहिए। वर्षाऋतु मे प्रवर्तिनी के साथ तीन और गणावच्छेदिका के साथ चार साध्विया होनी चाहिए।

प्रवर्तिनी आदि की मृत्यु और पदाधिकारी की नियुक्ति के सम्बन्ध मे जैसा श्रमणो के लिए कहा गया है वैसा ही श्रमणियो के लिए भी समझना चाहिए।

वैयावृत्य के लिए सामान्य विधान यह है कि श्रमण, श्रमणी से और श्रमणी, श्रमण से वैयावृत्य न करावे किन्तु अपवादरूप मे परस्पर सेवा-शुश्रूषा कर सकते है।

सर्पदश आदि कोई विशिष्ट परिस्थिति पैदा हो जाय तो अपवादरूप मे गृहस्थ से भी सेवा करवाई जा सकती है। यह विधान स्थविरकल्पियो के लिए है। जिनकल्पियो के लिए सेवा का विधान नही है। यदि वे सेवा करवाते है तो पारिहारिक तपरूप प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

छठे उद्देशक मे बताया है कि अपने स्वजनो के यहा बिना स्थविरो की अनुमति प्राप्त किए नही जाना चाहिए। जो श्रमण-श्रमणी अल्पश्रुत व अल्प-आगमी हैं उन्हे एकाकी अपने सम्बन्धियो के यहा नही जाना चाहिए। यदि जाना है तो बहुश्रुत व बहुआगमधारी श्रमण-श्रमणी के साथ जाना चाहिए। श्रमण के पहुचने के पूर्व जो वस्तु पक कर तैयार हो चुकी है वह ग्राह्य है और जो तैयार नही हुई है वह अग्राह्य है।

आचार्य, उपाध्याय यदि बाहर से उपाश्रय मे आवे तो उनके पांव पोछकर साफ करना चाहिए। उनके लघुनीत आदि को यतनापूर्वक भूमि पर परठना चाहिए। यथाशक्ति उनकी वैयावृत्य करनी चाहिए। उपाश्रय में उनके साथ रहना चाहिए। उपाश्रय के बाहर जावे तब उनके साथ जाना चाहिए। गणावच्छेदक उपाश्रय मे रहे तब साथ रहना चाहिए और उपाश्रय से बाहर जाए तो साथ जाना चाहिए।

श्रमण-श्रमणियो को आचाराग आदि आगमो के ज्ञाता श्रमण-श्रमणियो के साथ रहन कल्पता है और बिना ज्ञाता के साथ रहने पर प्रायश्चित्त का भागी बनना पड़ता है।

किसी विशेष कारण से अन्य गच्छ से निकलकर आने वाले श्रमण-श्रमणी यदि निर्दोष हैं, आचारनिष्ठ है, सबलदोष से रहित हैं, क्रोधादि से असस्पृष्ट हैं, अपने दोषो की आलोचना कर शुद्धि करते हैं, तो उनके साथ समानता का व्यवहार करना कल्पता है, नही तो नही।

सातवें उद्देशक मे यह विधान है कि साधु स्त्री को और साध्वी पुरुष को दीक्षा न दे। यदि किसी ऐसे स्थान में किसी स्त्री को वैराग्य भावना जाग्रत हुई हो जहा सन्निकट मे साध्वी न हो तो वह इस शर्त पर दीक्षा देता है कि वह यथाशीघ्र किसी साध्वी को सुपुर्द कर देगा। इसी तरह साध्वी भी पुरुष को दीक्षा दे सकती है।

जहा पर तस्कर, बदमाश या दुष्ट व्यक्तियो का प्राधान्य हो वहा श्रमणियो को विचरना नही कल्पता, क्योकि वहा पर वस्त्रादि के अपहरण व व्रतभग आदि का भय रहता है। श्रमणो के लिए कोई बाधा नही है।

किसी श्रमण का किसी ऐसे श्रमण से वैर-विरोध हो गया है जो विकट दिशा (चोरादि का निवास हो ऐसा स्थान) मे है तो वहाँ जाकर उससे क्षमायाचना करनी चाहिए, किन्तु स्वस्थान पर रहकर नही। किन्तु श्रमणी अपने स्थान से भी क्षमायाचना कर सकती है।

साधु-साध्वियो को आचार्य, उपाध्याय के नियन्त्रण के बिना स्वच्छन्द रूप से परिभ्रमण करना नहीं कल्पता।

आठवे उद्देशक मे इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि साधु एक हाथ मे उठाने योग्य छोटे-मोटे शय्या सस्तारक, तीन दिन मे जितना मार्ग तय कर सके उतनी दूर से लाना कल्पता है। किसी वृद्ध निर्ग्रन्थ के लिए आवश्यकता पडने पर पाँच दिन मे जितना चल सके उतनी दूरी से लाना कल्पता है। स्थविर के लिए निम्न उपकरण कल्पनीय है—दण्ड, भाण्ड, छत्र, मात्रिका, लाष्ठिक (पीठ के पीछे रखने के लिए तकिया या पाटा), भिसी (स्वाध्यायादि के लिए बैठने का पाटा), चेल (वस्त्र), चेल-चिलिमिलिका (वस्त्र का पर्दा), चर्म, चर्मकोश (चमडे की थैली), चर्म-पलिछ (लपेटने के लिए चमडे का टुकडा)। इन उपकरणो मे से जो साथ मे रखने के योग्य न हो उन्हे उपाश्रय के समीप किसी गृहस्थ के यहा रखकर समय-समय पर उनका उपयोग किया जा सकता है।

किसी स्थान पर अनेक श्रमण रहते हो, उनमे से कोई श्रमण किसी गृहस्थ के यहा पर कोई उपकरण भूल गया हो और अन्य श्रमण वहा पर गया हो तो गृहस्थ श्रमण से कहे कि यह उपकरण आपके समुदाय के सत का है तो सत उस उपकरण को लेकर स्वस्थान पर आये और जिसका उपकरण हो उसे दे दे। यदि वह उपकरण किसी सत का न हो तो न स्वय उसका उपयोग करे और न दूसरो को उपयोग के लिए दे किन्तु निर्दोष स्थान पर उसका परित्याग कर दे। यदि श्रमण वहा से विहार कर गया हो तो उसकी अन्वेषणा कर स्वय उसे उसके पास पहुचावे। यदि उसका सही पता न लगे तो एकान्त स्थान पर प्रस्थापित कर दे।

आहार की चर्चा करते हुए बताया है कि आठ ग्रास का आहार करने वाला अल्प-आहारी, बारह ग्रास का आहार करने वाला अपार्धावमौदरिक, सोलह ग्रास का आहार करने वाला द्विभागप्राप्त, चौबीस ग्रास का आहार करने वाला प्राप्तावमौदरिक, बत्तीस ग्रास का आहार करने वाला प्रमाणोपेताहारी एव बत्तीस ग्रास से एक ही ग्रास कम खाने वाला अवमौदरिक कहलाता है।

नौवे उद्देशक मे बताया है कि शय्यातर का आहारादि पर स्वामित्व हो या उसका कुछ अधिकार हो तो वह आहार श्रमण-श्रमणियो के लिए ग्राह्य नही है। इसमे भिक्षुप्रतिमाओ का भी उल्लेख है जिसकी चर्चा हम दशाश्रुतस्कन्ध के वर्णन मे कर चुके है।

दसवे उद्देशक मे यवमध्यचन्द्रप्रतिमा या वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जो यव (जौ) के कण समान मध्य मे मोटी और दोनो ओर पतली हो वह यवमध्यचन्द्रप्रतिमा है। जो वज्र के समान मध्य मे पतली और दोनो ओर मोटी हो वह वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा है। यवमध्यचन्द्रप्रतिमा का धारक

श्रमण एक मास पर्यन्त अपने शरीर के ममत्व को त्याग कर देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करता है और शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ति आहार की और एक दत्ति पानी की, द्वितीया को दो दत्ति आहार की और दो दत्ति पानी की ग्रहण करता है। इस प्रकार क्रमश एक-एक दत्ति बढाता हुआ पूर्णिमा को १५ दत्ति आहार की और १५ दत्ति पानी की ग्रहण करता है। कृष्णपक्ष मे क्रमश एक दत्ति कम करता जाता है और अमावस्या के दिन उपवास करता है। इसे यवमध्यचन्द्रप्रतिमा कहते हैं।

वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा मे कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को १५ दत्ति आहार की और १५ दति पानी की ग्रहण की जाती है। उसे प्रतिदिन कम करते हुए यावत् अमावस्या को एक दत्ति आहार की और एक दत्ति पानी की ग्रहण की जाती है। शुक्लपक्ष मे क्रमश एक-एक दत्ति बढाते हुए पूर्णिमा को उपवास किया जाता है। इस प्रकार ३० दिन की प्रत्येक प्रतिमा के प्रारम्भ के २९ दिन दत्ति के अनुसार आहार और अन्तिम दिन उपवास किया जाता है।

व्यवहार के आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीतव्यवहार, ये पाच प्रकार है। इनमे आगम का स्थान प्रथम है और फिर क्रमश इनकी चर्चा विस्तार से भाष्य मे है।

स्थविर के जातिस्थविर, सूत्रस्थविर और प्रव्रज्यास्थविर, ये तीन भेद है। ६० वर्ष की आयु वाला श्रमण जातिस्थविर या वय स्थविर कहलाता है। ठाणाग, समवायाग का ज्ञाता सूत्रस्थविर और दीक्षा धारण करने के २० वर्ष पश्चात् की दीक्षा वाले निर्ग्रन्थ प्रव्रज्यास्थविर कहलाते है।

शैक्ष भूमिया तीन प्रकार की है—सप्त-रात्रिदिनी चातुर्मासिकी और षण्मासिकी। आठ वर्ष से कम उम्र वाले बालक-बालिकाओ को दीक्षा देना नही कल्पता। जिनकी उम्र लघु है वे आचारागसूत्र के पढने के अधिकारी नही है। कम से कम तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाले साधु को आचाराग पढाना कल्प्य है। चार वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को सूत्रकृताग, पाँच वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प (बृहत्कल्प) और व्यवहार, आठ वर्ष की दीक्षा वाले को स्थानाग और समवायाग, दस वर्ष की दीक्षा वाले को व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ग्यारह वर्ष की दीक्षा वाले को लघुविमान-प्रविभक्ति, महाविमान-प्रविभक्ति, अगचूलिका, बगचूलिका और विवाह-चूलिका, बारह वर्ष की दीक्षा वाले को अणोरुपपातिक, गरुलोपपातिक, धरणोपपातिक, वैश्रमणोपपातिक और वैलधरोपपातिक, तेरह वर्ष की दीक्षा वाले को उपस्थानश्रुत, दवन्द्रोपपात और नागपरियापनिका (नागपरियावणिआ), चौदह वर्ष की दीक्षा वाले को स्वप्नभावना, पन्द्रह वर्ष की दीक्षा वाले को चारणभावना, सोलह वर्ष की दीक्षा वाले को वेदनीशतक, सत्रह वर्ष की दीक्षा वाले को आशीविषभावना, अठारह वर्ष की दीक्षा वाले को दृष्टिविषभावना, उन्नीस वर्ष की दीक्षा वाले वाले को दृष्टिवाद और बीस वर्ष की दीक्षा वाले को सब प्रकार के शास्त्र पढाना कल्प्य है।

वैयावृत्य (सेवा) दस प्रकार की कही गई है—१ आचार्य की वैयावृत्य, २ उपाध्याय की वैयावृत्य, उसी प्रकार, ३ स्थविर की, ४ तपस्वी की, ५ शैक्ष-छात्र की, ६ ग्लान-रुग्ण की, ७ साधर्मिक की, ८ कुल की, ९ गण की और १० सघ की वैयावृत्य।

उपर्युक्त दस प्रकार की वैयावृत्य से महानिर्जरा होती है।

उपसहार

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र की अनेक विशेषताए है। इसमे स्वाध्याय पर विशेष रूप से बल दिया गया है।

साथ ही अयोग्यकाल मे स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है। अनध्यायकाल की विवेचना की गई है। श्रमण-श्रमणियो के बीच अध्ययन की सीमाए निर्धारित की गई हैं। आहार का कवलाहारी, अल्पाहारी और ऊनोदरी का वर्णन है। आचार्य, उपाध्याय के लिए विहार के नियम प्रतिपादित किये गये हैं। आलोचना और प्रायश्चित्त की विधियो का इसमे विस्तृत विवेचन है। साध्वियो के निवास, अध्ययन, वैयावृत्य तथा सघ-व्यवस्था के नियमोपनियम का विवेचन है। इसके रचयिता श्रुतकेवली भद्रबाहु माने जाते हैं।

व्याख्यासाहित्य

आगम साहित्य के गुरु गम्भीर रहस्यो के उद्घाटन के लिये विविधव्याख्यासाहित्य का निर्माण हुआ है। उस विराट आगम व्याख्यासाहित्य को हम पाच भागो मे विभक्त कर सकते हैं—

(१) निर्युक्तिया (निज्जुत्ति)।
(२) भाष्य (भास)।
(३) चूर्णिया (चुण्णि)।
(४) सस्कृत टीकाए।
(५) लोकभाषा मे लिखित व्याख्यासाहित्य।

सर्वप्रथम प्राकृत भाषा मे जो पद्यबद्ध टीकाए लिखी गई वे निर्युक्तियो के नाम से विश्रुत है। निर्युक्तियो मे मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद पर व्याख्या न कर मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या की गई है। उसकी शैली निक्षेपपद्धति की है। जो न्यायशास्त्र मे अत्यधित प्रिय रही। निक्षेपपद्धति मे किसी एक पद के सम्भावित अनेक अर्थ करने के पश्चात् उनमे से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ ग्रहण किया जाता है। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् शारपेण्टियर ने निर्युक्ति की परिभाषा इस प्रकार की है—"निर्युक्तियाँ अपने प्रधान भाग के केवल इण्डेक्स का काम करती हैं। वे सभी विस्तार युक्त घटनावलियो का सक्षेप मे उल्लेख करती है।"

निर्युक्तिकार भद्रबाहु माने जाते हैं। वे कौन थे इस सम्बन्ध मे हमने अन्य प्रस्तावनाओ मे विस्तार से लिखा है। भद्रबाहु की दस निर्युक्तिया प्राप्त है। उसमे दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति भी एक है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति

प्रथम श्रुतकेवली भद्रबाहु को नमस्कार किया गया है फिर दश अध्ययनो के अधिकारो का वर्णन है। प्रथम असमाधिस्थान मे द्रव्य और भाव समाधि के सम्बन्ध मे चिन्तन कर स्थान के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, अद्धा, ऊर्ध्व, चर्या, वसति, सयम, प्रग्रह, योध, अचल, गणन, सस्थान (सघाण) और भाव इन पन्द्रह निक्षेपो का वर्णन है।

द्वितीय अध्ययन मे शबल का नाम आदि चार निक्षेप से विचार किया है। तृतीय अध्ययन मे आशातना का विश्लेषण है। चतुर्थ अध्ययन मे "गणि" और "सम्पदा" पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन करते हुए कहा गया है कि गणि और गुणी ये दोनो एकार्थक है। आचार ही प्रथम गणिस्थान है। सम्पदा के द्रव्य और भाव ये दो भेद है। शरीर द्रव्यसम्पदा है और आचार भावसम्पदा है। पचम अध्ययन मे चित्तसमाधि का निक्षेप की दृष्टि से विचार किया गया है। समाधि के चार प्रकार है। जब चित्त राग-द्वेष से मुक्त होता है, प्रशस्तध्यान मे तल्लीन होता है तब भावसमाधि होती है। षष्ठ अध्ययन मे उपासक और प्रतिमा पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है। उपासक के द्रव्योपासक, तदर्थोपासक, मोहोपासक और भावोपासक ये चार प्रकार है। भावोपासक वही हो सकता है जिसका जीवन सम्यग्दर्शन के आलोक से जगमगा रहा हो। यहा पर श्रमणोपासक की एकादश

प्रतिमाओं का निरूपण है। सप्तम अध्ययन मे श्रमणप्रतिमाओ पर चिन्तन करते हुए भावश्रमणप्रतिमा के समाधि-प्रतिमा, उपधानप्रतिमा, विवेकप्रतिमा, प्रतिसलीनप्रतिमा और विवेकप्रतिमा ये पाँच प्रकार बताये है। अष्टम अध्ययन मे पर्यु षणाकल्प पर चिन्तन कर परिवसना, पर्यु षणा, पर्यु पशमना, वर्षावास, प्रथम-समवसरण, स्थापना और ज्येष्ठ ग्रह को पर्यायवाची बताया है। श्रमण वर्षावास मे एक स्थान पर स्थित रहता है और आठ माह तक वह परिभ्रमण करता है। नवम अध्ययन मे मोहनीयस्थान पर विचार कर उसके पाप, वर्ज्य, वैर, पक, पनक, क्षोभ, असात, सग, शल्य, अतर, निरति, धूर्त्य ये मोह के पर्यायवाची बताए गये है। दशम अध्ययन मे जन्म-मरण के मूल कारणों पर चिन्तन कर उससे मुक्त होने का उपाय बताया गया है।

निर्यु क्तिसाहित्य के पश्चात् भाष्यसाहित्य का निर्माण हुआ, किन्तु दशाश्रुतस्कन्ध पर कोई भी भाष्य नहीं लिखा गया। भाष्यसाहित्य के पश्चात् चूर्णिसाहित्य का निर्माण हुआ। यह गद्यात्मक व्याख्यासाहित्य है। इसमे शुद्ध प्राकृत और सस्कृत मिश्रित प्राकृत मे व्याख्या लिखी गई है। चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर का नाम चूर्णिसाहित्य मे विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि का मूल आधार दशाश्रुतस्कन्धनिर्यु क्ति है। इस चूर्णि मे प्रथम मगलाचरण किया गया है। उसके पश्चात् दस अध्ययनो के अधिकारो का विवेचन किया गया है। जो सरल और सुगम है। मूलपाठ मे और चूर्णिसम्मत पाठ मे कुछ अन्तर है। यह चूर्णि मुख्य रूप से प्राकृत भाषा मे है। यत्र-तत्र सस्कृत शब्दो व वाक्यो के प्रयोग भी दिखाई देते हैं।

चूर्णि के पश्चात् सस्कृत टीकाओं का युग आया। उस युग मे अनेक आगमो पर सस्कृत भाषा मे टीकाए लिखी गई। ब्रह्ममुनि (ब्रह्मर्षि) ने दशाश्रुतस्कन्ध पर एक टीका लिखी है तथा आचार्य घासीलालजी म ने दशा-श्रुतस्कन्ध पर सस्कृत मे व्याख्या लिखी और आचार्य सम्राट आत्मारामजी म ने दशाश्रुतस्कन्ध पर हिन्दी मे टीका लिखी। और आचार्य अमोलकऋषिजी म ने सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद लिखा।

मणिविजयजी गणि ग्रन्थमाला भावनगर से दशाश्रुतस्कन्ध मूल निर्यु क्ति चूर्णि सहित वि स २०११ मे प्रकाशित हुआ।

सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद हैदराबाद से वीर स २४४५ को अमोलकऋषिजी कृत हिन्दी अनुवाद दशाश्रुतस्कन्ध का प्रकाशित हुआ।

जैन शास्त्रमाला कार्यालय सैदमिट्ठा बाजार लाहौर से आचार्य आत्मारामजी म कृत सन् १९३६ में हिन्दी टीका प्रकाशित हुई।

सस्कृत व्याख्या व हिन्दी अनुवाद के साथ जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट से सन् १९६० मे घासीलालजी म का दशाश्रुतस्कन्ध प्रकाशित हुआ।

आगम अनुयोग प्रकाशन साण्डेराव से आयार-दशा के नाम से मूलस्पर्शी अनुवाद सन् १९८१ मे प्रकाशित हुआ। यत्र-तत्र उसमे विशेषार्थ भी दिया गया है।

प्रस्तुत सम्पादन—आगम साहित्य के मर्मज्ञ महामनीषी मुनि श्री कन्हैयालालजी म. "कमल" ने किया है। यह सम्पादन सुन्दर ही नही, अति सुन्दर है। आगम के रहस्य का तथा श्रमणाचार के विविध उलझे हुए प्रश्नो का उन्होने प्राचीन व्याख्या साहित्य के आधार से तटस्थ चिन्तनपरक समाधान प्रस्तुत किया है। स्वल्प शब्दो मे

विषय को स्पष्ट करना सम्पादक मुनिजी की विशेषता है। इस सम्पादन मे उनका गम्भीर पाण्डित्य यत्र-तत्र मुखरित हुआ है।

बृहत्कल्प का व्याख्यासाहित्य

बृहत्कल्पनिर्युक्ति—दशाश्रुतस्कन्ध की तरह बृहत्कल्पनिर्युक्ति लिखी गई है। उसमे सर्वप्रथम तीर्थंकरो को नमस्कार कर ज्ञान के विविध भेदो पर चिन्तन कर इस बात पर प्रकाश डाला है कि ज्ञान और मगल मे कथचित् अभेद है। अनुयोग पर नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, वचन और भाव इन सात निक्षेपो से चिन्तन किया है। जो पश्चाद्भूत योग है वह अनुयोग है अथवा जो स्तोक रूप योग है वह अनुयोग है। कल्प के उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार अनुयोगद्वार हैं। कल्प और व्यवहार का अध्ययन चिन्तन करने वाला मेधावी सन्त बहुश्रुत, चिरप्रव्रजित, कल्पिक, अचचल, अवस्थित, अपरिश्रावी, विज्ञ प्राप्तानुज्ञात और भावपरिणामक होता है।

इसमे ताल-प्रलम्ब का विस्तार से वर्णन है, और उसके ग्रहण करने पर प्रायश्चित्त का भी विधान है। ग्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, सबाध, घोष, अशिका, आदि पदो पर भी निक्षेपदृष्टि से चिन्तन किया है। जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक पर भी प्रकाश डाला है। आर्य पद पर विचार करते हुए नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, जाति, कुल, कर्म, भाषा, शिल्प, ज्ञान, दर्शन, चारित्र इन बारह निक्षेपो से चिन्तन किया है। आर्यक्षेत्र मे विचरण करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की अभिवृद्धि होती है। अनार्य क्षेत्रो मे विचरण करने से अनेक दोषो के लगने की सम्भावना रहती है। स्कन्दकाचार्य के दृष्टान्त को देकर इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। साथ ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि हेतु अनार्य क्षेत्र मे विचरण करने का आदेश दिया है और उसके लिए राजा सम्प्रति का दृष्टान्त भी दिया गया है।

श्रमण और श्रमणियो के आचार, विचार, आहार, विहार का सक्षेप मे बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है। सर्वत्र निक्षेपपद्धति से व्याख्यान किया गया है। यह निर्युक्ति स्वतन्त्र न रहकर बृहत्कल्पभाष्य मे मिश्रित हो गई है।

बृहत्कल्प-लघुभाष्य—बृहत्कल्प लघुभाष्य सघदासगणी की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमे बृहत्कल्पसूत्र के पदो का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। लघुभाष्य होने पर भी इसकी गाथा सख्या ६४९० है। यह छह उद्देश्यो मे विभक्त है। भाष्य के प्रारम्भ मे एक सविस्तृत पीठिका दी गई है। जिसकी गाथा सख्या ८०५ है। इस भाष्य मे भारत की महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक सामग्री का सकलन-आकलन हुआ है। इस सास्कृतिक सामग्री के कुछ अश को लेकर डॉ मोतीचन्द ने अपनी पुस्तक "सार्थवाह" मे "यात्री और सार्थवाह" का सुन्दर आकलन किया है। प्राचीन भारतीय सस्कृतिक और सभ्यता का अध्ययन करने के लिए इसकी सामग्री विशेष उपयोगी है। जैन श्रमणो के आचार का हृदयग्राही, सूक्ष्म, तार्किक विवेचन इस भाष्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

पीठिका मे मगलवाद, ज्ञानपचक मे श्रुतज्ञान के प्रसग पर विचार करते हुए सम्यक्त्वप्राप्ति का क्रम और औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, वेदक और क्षायिक सम्यक्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। अनुयोग का स्वरूप बताकर निक्षेप आदि बारह प्रकार के द्वारो से उस पर चिन्तन किया है। कल्पव्यवहार पर विविध दृष्टियो से चिन्तन करते हुए यत्र-तत्र विषय को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्तो का भी उपयोग हुआ है।

पहले उद्देशक की व्याख्या मे ताल-वृक्ष से सम्बन्धित विविध प्रकार के दोष और प्रायश्चित्त, ताल-प्रलम्ब के ग्रहण सम्बन्धी अपवाद, श्रमण-श्रमणियो को देशान्तर जाने के कारण और उसकी विधि, श्रमणो की अस्वस्थता के विधि-विधान, वैद्यो के आठ प्रकार बताये हैं। दुष्काल प्रभृति विशेष परिस्थिति मे श्रमण-श्रमणियो के एक दूसरे

के अवगृहीत क्षेत्र मे रहने की विधि, उसके १४४ भग और तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्त आदि का वर्णन है। ग्राम, नगर, खेड, कर्बटक, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, सबाध, अशिका, पुटभेदन, शकर प्रभृति पदो पर विवेचन किया है। नक्षत्रमास, चन्द्रमास, ऋतुमास, आदित्यमास और अभिवर्धितमास का वर्णन है। जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक की क्रियाए, समवसरण, तीर्थंकर, गणधर, आहारकशरीरी, अनुत्तरदेव, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की शुभ और अशुभ कर्मप्रकृतिया, तीर्थंकर की भाषा का विभिन्न भाषाओ मे परिणमन, आपणगृह, रथ्यामुख, शृङ्गाटक, चतुष्क, चत्वर, अन्तरापण आदि पदो पर प्रकाश डाला गया है और उन स्थानो पर बने हुए उपाश्रयो मे रहने वाली श्रमणियो को जिन दोषों के लगने की सम्भावना है उनकी चर्चा की गई है।

भाष्यकार ने द्रव्य ग्राम के बारह प्रकार बताये है—

(१) उत्तानकमल्लक, (२) अवाङ्मुखमल्लक, (३) सम्पुटमल्लक, (४) उत्तानकखण्डमल्लक, (५) अवाङ्मुखखण्डमल्लक, (६) सम्पुटखण्डमल्लक, (७) भिति, (८) पडालि, (९) वलभि, (१०) अक्षाटक, (११) रुचक, (१२) काश्यपक।

तीर्थंकर, गणधर और केवली के समय ही जिनकल्पिक मुनि होते हैं। जिनकल्पिक मुनि की समाचारी का वर्णन सत्ताईस द्वारो से किया है— (१) श्रुत, (२) सहनन, (३) उपसर्ग, (४) आतक, (५) वेदना, (६) कतिजन, (७) स्थडिल, (८) वसति, (९) कियाच्चिर, (१०) उच्चार, (११) प्रस्रवण, (१२) अवकाश, (१३) तृणफलक, (१४) सरक्षणता, (१५) सस्थापनता, (१६) प्राभृतिका, (१७) अग्नि, (१८) दीप, (१९) अवधान, (२०) वत्स्यक्ष, (२१) भिक्षाचर्या, (२२) पानक, (२३) लेपालेप, (२४) लेप, (२५) आचाम्ल (२६) प्रतिमा, (२७) मासकल्प। जिनकल्पिक की स्थिति पर चिन्तन करते हुए—क्षेत्र, काल, चारित्र, तीर्थ, पर्याय, आगम, वेद, कल्प, लिंग, लेश्या, ध्यान, गणना, अभिग्रह, प्रव्राजना, मुण्डापना, प्रायश्चित्त, कारण, निष्प्रतिकर्म और भक्त इन द्वारो से प्रकाश डाला है। इसके पश्चात परिहारविशुद्धिक और यथालन्दिक कल्प का स्वरूप बताया है।

स्थविरकल्पिक की प्रव्रज्या, शिक्षा, अर्थग्रहण, अनियतवास और निष्पत्ति ये सभी जिनकल्पिक के समान है।

श्रमणो के विहार पर प्रकाश डालते हुए विहार का समय, विहार करने से पहले गच्छ के निवास एव निर्वाह योग्य या अयोग्य क्षेत्र, प्रत्युपेक्षको का निर्वाचन, क्षेत्र की प्रतिलेखना के लिए किस प्रकार गमनागमन करना चाहिए, विहार मार्ग एव स्थडिल भूमि, जल, विश्रामस्थान, भिक्षा, वसति, उपद्रव आदि की परीक्षा, प्रतिलेखनीय क्षेत्र मे प्रवेश करने की विधि, भिक्षा से वहाँ के मानवो के अन्तर्मानस की परीक्षा, भिक्षा, औषध आदि की प्राप्ति मे सरलता व कठिनता का परिज्ञान, विहार करने से पूर्व वसति के अधिपति की अनुमति, विहार करने से पूर्व शुभ शकुन देखना आदि का वर्णन है।

स्थविरकल्पिको की समाचारी मे इन बातो पर प्रकाश डाला है—

१. **प्रतिलेखना**—वस्त्र आदि की प्रतिलेखना का समय, प्रतिलेखना के दोष और उनका प्रायश्चित्।
२ **निष्क्रमण**— उपाश्रय से बाहर निकलने का समय।
३ **प्राभृतिका**—गृहस्थ के लिए जो मकान तैयार किया है, उसमे रहना चाहिए या नही रहना चाहिए। तत्सम्बन्धी विधि व प्रायश्चित्त।

४ भिक्षा—भिक्षा के लेने का समय और भिक्षा सम्बन्धी आवश्यक वस्तुएं।

५. कल्पकरण—पात्र को स्वच्छ करने की विधि, लेपकृत और अलेपकृत पात्र, पात्र-लेप से लाभ।

६ गच्छशतिकादि—आधाकर्मिक, स्वगृहयतिमिश्र, स्वगृहपाषण्डमिश्र, यावदर्थिकमिश्र, क्रीतकृत, पूतिकार्मिक और आत्मार्थकृत तथा उनके अवान्तर भेद।

७ अनुयान—रथयात्रा का वर्णन और उस सम्बन्धी दोष।

८ पुर कर्म—भिक्षा लेने से पूर्व सचित्त जल से हाथ आदि साफ करने से लगने वाले दोष।

९ ग्लान—ग्लान-रुग्ण श्रमण की सेवा से होने वाली निर्जरा, उसके लिए पथ्य की गवेषणा, चिकित्सा के लिए वैद्य के पास ले जाने की विधि, वैद्य से वार्तालाप करने का तरीका, रुग्ण श्रमण को उपाश्रय, गली आदि मे छोडकर चले जाने वाले आचार्य को लगने वाले दोष और उनके प्रायश्चित्त का विधान।

१० गच्छप्रतिबद्ध यथालंदिक—वाचना आदि कारणो से गच्छ से सम्बन्ध रखने वाले यथालदिक कल्पधारियो के साथ वन्दन आदि व्यवहार तथा मासकल्प की मर्यादा।

११. उपरिदोष—वर्षाऋतु के अतिरिक्त समय मे एक क्षेत्र मे एक मास से अधिक रहने से लगने वाले दोष।

१२ अपवाद—एक क्षेत्र मे एक मास से अधिक रहने के आपवादिक कारण, श्रमण-श्रमणियो की भिक्षाचर्या की विधि पर भी प्रकाश डाला है। साथ ही यह भी बताया है कि यदि ग्राम, नगर आदि दुर्ग के अन्दर और बाहर दो भागो मे विभक्त हो तो अन्दर और बाहर मिलाकर दो मास तक रह सकते है।

श्रमणियो के आचारसम्बन्धी विधि-विधानो पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि निर्ग्रन्थी के मासकल्प की मर्यादा, विहार-विधि, समुदाय का प्रमुख और उसके गुण, उसके द्वारा क्षेत्र की प्रतिलेखना, बौद्ध श्रावको द्वारा भडौच मे श्रमणियो का अपहरण, श्रमणियो के योग्य क्षत्र, वसति, विधर्मी से उपद्रव की रक्षा, भिक्षाहेतु जाने वाली श्रमणियो की सख्या, वर्षावास के अतिरिक्त श्रमणी को एक स्थान पर अधिक से अधिक कितना रहना, उसका विधान है।

स्थविरकल्प और जिनकल्प इन दोनो अवस्थाओ मे कौनसी अवस्था प्रमुख है, इस पर चिन्तन करते हुए भाष्यकार ने निष्पादक और निष्पन्न इन दोनो दृष्टियो से दोनो की प्रमुखता स्वीकार की है। सूत्र अर्थ आदि दृष्टियो से स्थविरकल्प जिनकल्प का निष्पादक है। जिनकल्प ज्ञान-दर्शन-चारित्र प्रभृति दृष्टियो से निष्पन्न है। विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से गुहासिंह, दो महिलाएँ और दो वर्गो के उदाहरण प्रस्तुत किये है।

एक प्राचीर और एक द्वार वाले ग्राम-नगर आदि मे निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को नही रहना चाहिए, इस सम्बन्ध मे विस्तार से विवेचन किया है। श्रमण-श्रमणियो को किस स्थान मे रहना चाहिए, इस पर विविध दृष्टियो से चिन्तन किया गया है।

व्यवशमन प्रकृत सूत्र मे इस बात पर चिन्तन किया है कि श्रमणा मे परस्पर वैमनस्य हो जाये तो उपशमन धारण करके क्लेश को शान्त करना चाहिए। जो उपशमन धारण करता है वह आराधक है, जो नही करता है वह विराधक है। आचार्य को श्रमण-श्रमणियो मे क्लेश होने पर उसकी उपशान्ति हेतु उपेक्षा करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। परस्पर के झगडे को शान्त करने की विधि प्रतिपादित की गई है।

चार प्रकृत सूत्र में बताया है कि श्रमण-श्रमणियो को वर्षाऋतु में एक गाव से दूसरे गांव नही जाना चाहिए। यदि गमन करता है तो उसे प्रायश्चित्त आता है। यदि आपवादिक कारणो से विहार करने का प्रसग उपस्थित हो तो उसे यतना से गमन करना चाहिए।

अवग्रहसूत्र मे बताया है कि भिक्षा या शौचादि भूमि के लिए जाते हुए श्रमण को गृहपति वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि ग्रहण करने की प्रार्थना करे तो उसे लेकर आचार्य आदि को प्रदान करे और उनकी आज्ञा प्राप्त होने पर उसका उपयोग करे।

रात्रिभक्त प्रकृत सूत्र में बताया है कि रात्रि या विकाल मे अशन पान आदि ग्रहण करना नही चाहिए और न वस्त्र आदि को ग्रहण करना चाहिए। रात्रि और विकाल मे अध्वगमन का भी निषेध किया गया है। अध्व के दो भेद है—पन्थ और मार्ग। जिसके बीच मे ग्राम, नगर आदि कुछ भी न आए वह पन्थ है और जिसके बीच ग्राम नगर आये वह मार्ग है। सार्थ के भडी, बहिलक, भारवह, औदरिक, कार्पटिक ये पाच प्रकार हैं। आठ प्रकार के सार्थवाह और आठ प्रकार के सार्थ-व्यवस्थापको का उल्लेख है। विहार के लिए आर्यक्षेत्र ही विशेष रूप से उपयुक्त है। आर्य पद पर नाम आदि बारह निक्षेपो से विचार किया है। आर्य जातिया अम्बष्ठ, कलिन्द, वैदेह, विदक, हरित, तन्तुण ये छह है और आर्य कुल भी उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय, ज्ञात-कौरव और इक्ष्वाकु यह छह प्रकार के है। आगे उपाश्रय सम्बन्धी विवेचन मे उपाश्रय के व्याघातो पर विस्तार से प्रकाश डाला है। जिसमे शालि व्रीहि आदि सचित्त धान्य कण बिखरे हुए हो उस बीजाकीर्ण स्थान पर श्रमण को नही रहना चाहिए और न सुराविकट कुम्भ, शीतोदकविकटकुम्भ, ज्योति, दीपक, पिण्ड, दुग्ध, दही, नवनीत आदि पदार्थों से युक्त स्थान पर ही रहना चाहिए। सागारिक के आहारदि के त्याग की विधि, अन्य स्थान से आई हुई भोजनसामग्री के दान की विधि, सागारिक का पिण्डग्रहण, विशिष्ट व्यक्तियो के निमित्त बनाये हुए भक्त, उपकरण आदि का ग्रहण, रजोहरण ग्रहण करने की विधि बताई है। पाच प्रकार के वस्त्र—(१) जागिक, (२) भांगिक, (३) सानक, (४) पोतक, (५) तिरीटपट्टक, पाच प्रकार के रजोहरण—(१) औणिक, (२) औष्ट्रिक, (३) सानक, (४) वक्चकचिप्पक, (५) मु जचिप्पक—इनके स्वरूप और ग्रहण करने की विधि बताई गई है।

तृतीय उद्देशक मे निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो के परस्पर उपाश्रय मे प्रवेश करने की विधि बताई है। कृत्स्न और अकृत्स्न, भिन्न और अभिन्न वस्त्रादि ग्रहण, नवदीक्षित श्रमण-श्रमणियो की उपधि पर चिन्तन किया है। उपधिग्रहण की विधि, वन्दन आदि का विधान किया है। वस्त्र फाडने मे होने वाली हिंसा-अहिंसा पर चिन्तन करते हुए द्रव्यहिसा और भावहिंसा पर विचार किया है। हिंसा मे जितनी अधिक राग आदि की तीव्रता होगी उतना ही तीव्र कर्मबन्धन होगा। हिंसक मे ज्ञान और अज्ञान के कारण कर्मबध, अधिकरण की विविधता से कर्मबध मे वैविध्य आदि पर चिन्तन किया गया है।

चतुर्थ उद्देशक मे हस्तकर्म आदि के प्रायश्चित्त का विधान है। मैथुनभाव रागादि से कभी भी रहित नही हो सकता। अत उसका अपवाद नही है। पण्डक आदि को प्रव्रज्या देने का निषेध किया है।

पचम उद्देशक मे गच्छ सम्बन्धी, शास्त्र स्मरण और तद्विषयक व्याघात, क्लेशयुक्त मन से गच्छ मे रहने से अथवा स्वगच्छ का परित्याग कर अन्य गच्छ मे चले जाने से लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त, नि शक और सशक रात्रिभोजन, उद्गार-वमन आदि विषयक दोष और उसका प्रायश्चित्त, आहार आदि के लिए प्रयत्न आदि पर प्रकाश डाला गया है। श्रमणियो के लिए विशेष रूप से विधि-विधान बताये गये हैं।

षष्ठ उद्देशक मे निर्दोष वचनो का प्रयोग और मिथ्या वचनो का अप्रयोग, प्राणातिपात आदि के प्रायश्चित्त, कण्टक के उद्धरण, विपर्यासजन्य दोष, प्रायश्चित्त अपवाद का वर्णन है। श्रमण-श्रमणियो को विषम

मार्ग से नही जाना चाहिए। जो निर्ग्रन्थी विक्षिप्तचित्त हो गई है उसके कारणो को समझकर उसके देख-रेख की व्यवस्था और चिकित्सा आदि के विधि-निषेधो का विवेचन किया गया है। श्रमणो के लिए छह प्रकार के परिमन्थु व्याघात माने गये हैं—(१) कौत्कुचित (२) मौखरिक (३) चक्षुर्लोल (४) तितिणिक (५) इच्छालोम (६) भिज्जानिदानकरण—इनका स्वरूप, दोष और अपवाद आदि पर चिन्तन किया है।

कल्पस्थिति प्रकृत मे छह प्रकार की कल्पस्थितियो पर विचार किया है—(१) सामायिककल्पस्थिति, (२) छेदोपस्थानीयकल्पस्थिति, (३) निर्विशमानकल्पस्थिति, (४) निर्विष्टकायिककल्पस्थिति, (५) जिनकल्प-स्थिति, (६) स्थविरकल्पस्थिति। छेदोपस्थापनीयकल्पस्थिति के आचेलक्य, औद्देशिक आदि दस कल्प हैं। उसके अधिकारी और अनधिकारी पर भी चिन्तन किया गया है।

प्रस्तुत भाष्य मे यत्र-तत्र सुभाषित बिखरे पडे है, यथा—हे मानवो ! सदा-सर्वदा जाग्रत रहो, जाग्रत मानव की बुद्धि का विकास होता है, जो जागता है वह सदा धन्य है।

> "जागरह नरा णिच्च,
> जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धि।
> सो सुवति ण सो धण्ण,
> जो जग्गति सो सया धण्णो ॥

शील और लज्जा ही नारी का भूषण है। हार आदि आभूषणो से नारी का शरीर विभूषित नही हो सकता। उसका भूषण तो शील और लज्जा ही है। सभा मे सस्कार रहित असाधुवादिनी वाणी प्रशस्त नही कही जा सकती।

इस प्रकार प्रस्तुत भाष्य मे श्रमणो के आचार-विचार का तार्किक दृष्टि से बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है। उस युग की सामाजिक सास्कृतिक धार्मिक राजनीतिक स्थितियो पर भी खासा अच्छा प्रकाश पडता है। अनेक स्थलो पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुन्दर विश्लेषण हुआ है। जैन साहित्य के इतिहास मे ही नही, अपितु भारतीय साहित्य मे इस ग्रन्थरत्न का अपूर्व और अनूठा स्थान है।

बृहत्कल्पचूर्णि

इस चूर्णि का आधार मूलसूत्र व लघुभाष्य है। दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि का और बृहत्कल्पचूर्णि का प्रारम्भिक अश प्राय मिलता-जुलता है। भाषाविज्ञो का मन्तव्य है कि बृहत्कल्पचूर्णि से दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि प्राचीन है। यह सम्भव है कि ये दोनो ही चूर्णिया एक ही आचार्य की हो।

प्रस्तुत चूर्णि मे पीठिका और छह उद्देशक है। प्रारम्भ मे ज्ञान के स्वरूप पर चिन्तन किया गया है। अभिधान और अभिधेय को कथचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न बताते हुए वृक्ष शब्द के छह भाषाओ मे पर्याय दिये हैं। जिसे सस्कृत मे वृक्ष कहते है वही प्राकृत मे रुक्ख, मगध मे ओदण, लाट मे कूर, दमिल-तमिल मे चोर और आन्ध्र मे इडाकु कहा जाता है।

चूर्णि मे तत्त्वार्थाधिगम, विशेषावश्यकभाष्य, कर्मप्रकृति, महाकल्प, गोविन्दनिर्युक्ति आदि ग्रन्थो का उल्लेख किया है। भाषा सस्कृतमिश्रित प्राकृत है। चूर्णि मे प्रारम्भ से अन्त तक लेखक के नाम का निर्देश नही हुआ है।

बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति

प्रस्तुत वृत्ति भद्रबाहु स्वामी विरचित बृहत्कल्पनिर्युक्ति एव सघदासगणी विरचित लघुभाष्य पर है। आचार्य मलयगिरि पीठिका की भाष्य गाथा ६०६ पर्यन्त ही अपनी वृत्ति लिख सके। आगे उन्होने वृत्ति नही लिखी है। आगे की वृत्ति आचार्य क्षेमकीर्ति ने पूर्ण की है। जैसा कि स्वय क्षेमकीर्ति ने भी स्वीकार किया है।[1]

वृत्ति के आरम्भ मे वृत्तिकार ने जिनेश्वर देव को प्रणाम कर सद्‌गुरुदेव का स्मरण किया है तथा भाष्यकार और चूर्णिकार के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त की है। वृत्तिकार ने बृहत्कल्प एव व्यवहारसूत्र के निर्माताओ के सम्बन्ध मे लिखा है कि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु स्वामी ने श्रमणो के अनुग्रहार्थ कल्प और व्यवहार की रचना की जिससे कि प्रायश्चित्त का व्यवच्छेद न हो। उन्होने सूत्र के गम्भीर रहस्यो को स्पष्ट करने के लिये निर्युक्ति की ही रचना की है और जिनमे प्रतिभा की तेजस्विता का अभाव है उन अल्पबुद्धि वाले व्यक्तियो के लिए भाष्यकार ने भाष्य का निर्माण किया है। वह निर्युक्ति और भाष्य सूत्र के अर्थ को प्रकट करने वाले होने से दोनों एक ग्रन्थ रूप हो गये। वृत्ति मे प्राकृत गाथाओ का उद्धरण के रूप मे प्रयोग हुआ है और विषय को सुबोध बनाने की दृष्टि से प्राकृत कथाएँ उद्‌धृत की गई हैं। प्रस्तुत मलयगिरि वृत्ति का ग्रन्थमान ४६०० श्लोक प्रमाण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य मलयगिरि शास्त्रो के गम्भीर ज्ञाता थे। विभिन्न दर्शनशास्त्रो का जैसा और जितना गम्भीर विवेचन एव विश्लेषण उनकी टीकाओ मे उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र कही पर भी उपलब्ध नही है। वे अपने युग के महान् तत्त्वचिन्तक, प्रसिद्ध टीकाकार और महान् व्याख्याता थे। आगमो के गुरुगम्भीर रहस्यो को तर्कपूर्ण शैली मे प्रस्तुत करने की उनकी क्षमता अद्‌भुत थी, अनूठी थी।

सौभाग्यसागर ने बृहत्कल्प पर सस्कृत भाषा मे एक टीका लिखी।

बृहत्कल्पनिर्युक्ति, लघुभाष्य तथा मलयगिरि, क्षेमकीर्ति कृत टीका सहित सन् १९३३ से १९४१ तक श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर सौराष्ट्र से प्रकाशित हुई। प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन चतुरविजयजी और पुण्य-विजयजी ने किया। सम्पादन कला की दृष्टि से यह सम्पादन उत्कृष्ट कहा जा सकता है।

बृहत्कल्प एक अज्ञात टीकाकार की टीका सहित सम्यक्‌ज्ञान प्रचारक मण्डल जोधपुर से प्रकाशित हुआ। सन् १९२३ मे जर्मन टिप्पणी आदि के साथ W Schubring Lepizig 1905 मूल मात्र नागरीलिपि मे- पूना, १९२३।

सन् १९१५ मे डॉ जीवराज घेलाभाई दोशी ने गुजराती अनुवाद सहित अहमदाबाद से प्रकाशित किया, और आचार्य अमोलकऋषिजी म ने हिन्दी अनुवाद सहित सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी हैदराबाद से प्रकाशित किया। ई सन् १९७७ मे आगम अनुयोग प्रकाशन साण्डेराव से "कप्पसुत्त" के नाम से मूलानुस्पर्शी अनुवाद और विशेष अर्थ के साथ प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत सम्पादन—प्रस्तुत आगम के सम्पादक आगम अनुयोग प्रवर्त्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी म 'कमल' हैं। जिनका शब्दानुलक्षी अनुवाद और सम्पादन मन को लुभाने वाला है। प्राचीन व्याख्या साहित्य के आधार पर अनेक निगूढ़ रहस्यो को सम्पादक मुनिवर ने स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

व्यवहारसूत्र व्याख्यासाहित्य

व्यवहार श्रमण जीवन की साधना का एक जीवन्त भाष्य है। व्यवहारनिर्युक्ति मे उत्सर्ग और अपवाद

---

१ श्री मलयगिरी प्रभवो, या कर्त्तुमुपाक्रमन्त मतिमन्त ।
सा कल्पशास्त्र टीका मयाऽनुसन्धीयतेऽल्पधिया ॥ —बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति, पृ १७७

का विवेचन है। इस निर्युक्ति पर भाष्य भी है। जो अधिक विस्तृत है। बृहत्कल्प और व्यवहार की निर्युक्ति परस्पर शैली भाव-भाषा की दृष्टि से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। दोनो मे साधना के तथ्य व सिद्धान्त प्राय समान हैं। यह निर्युक्ति भाष्य मे विलीन हो गई है।

व्यवहारभाष्य

हम पूर्व मे ही बता चुके हैं कि व्यवहारभाष्य के रचयिता का नाम अभी तक ज्ञात नही हो सका है। बृहत्कल्पभाष्य के समान ही इस भाष्य मे भी निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो के आचार-विचार पर प्रकाश डाला है।

सर्वप्रथम पीठिका मे व्यवहार, व्यवहारी एव व्यवहर्तव्य के स्वरूप की चर्चा की गई है। व्यवहार मे दोष लगने की दृष्टि से प्रायश्चित्त का अर्थ, भेद, निमित्त, अध्ययन विशेष, तदर्हपर्षद आदि का विवेचन किया गया है और विषय को स्पष्ट करने के लिये अनेक दृष्टान्त भी दिये गये है। इसके पश्चात् भिक्षु, मासपरिहार, स्थानप्रतिसेवना, आलोचना आदि पदो पर निक्षेप दृष्टि मे चिन्तन किया है। आधाकर्म मे सम्बन्धित अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार के लिए पृथक्-पृथक् प्रायश्चित्त का विधान है। मूलगुण और उत्तरगुण इन दोनो की विशुद्धि प्रायश्चित्त से होती है। अतिक्रम के लिए मासगुरु और काललघु, अतिचार के लिए तपोगुरु और कालगुरु और अनाचार के लिये चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का विधान है।

पिण्डविशुद्धि समिति भावना तप प्रतिमा और अभिग्रह ये सभी उत्तरगुण मे है। इनके क्रमश बयालीस, आठ, पच्चीस, बारह, बारह और चार भेद होते है। प्रायश्चित्त करने वाले पुरुष के निर्गत और वर्तमान ये दो प्रकार है। जो तपोर्ह प्रायश्चित्त से अतिक्रान्त हो गये है वे निर्गत है और जो विद्यमान है वे वर्तमान है। उनके भी भेद-प्रभेद किये गये हैं।

प्रायश्चित्त के योग्य पुरुष चार प्रकार के होते है--

१. **उभयतर**—जो सयम तप की साधना करता हुआ भी दूसरो की सेवा कर सकता है।
२. **आत्मतर**—जो केवल तप ही कर सकता है।
३. **परतर**—जो केवल सेवा ही कर सकता है।
४ **अन्यतर**—जो तप और सेवा दोनो मे से किसी एक समय मे एक का ही सेवन कर सकता है।

आलोचना आलोचनार्ह और आलोचक के बिना नही होती। आलोचनार्ह स्वय आचारवान, आधारवान, व्यवहारवान, अपव्रीडक, प्रकुर्वी, निर्यापक, अपायदर्शी और अपरिश्रावी, इन गुणो से युक्त होता है। आलोचक भी जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानमम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चरणसम्पन्न, क्षान्त, दान्त, अमायी और अपश्चात्तापी इन दस गुणो से युक्त होता है। साथ ही आलोचना के दोष, तद्विषयभूत द्रव्य आदि, प्रायश्चित्त देने की विधि आदि पर भी भाष्यकार ने चिन्तन किया है।

परिहारतप के वर्णन मे सेवा का विश्लेषण किया गया है और सुभद्रा और मृगावती के उदाहरण भी दिये गये है। आरोपणा के प्रस्थापनिका, स्थापिता, कृत्स्ना, अकृत्स्ना और हाडहडा ये पांच प्रकार बताये है तथा इन पर विस्तार से चर्चा की है।

शिथिलता के कारण गच्छ का परित्याग कर पुन गच्छ मे सम्मिलित होने के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चित्तो का वर्णन है। पार्श्वस्थ, यथाच्छन्द, कुशील, अवसन्न और ससक्त के स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

श्रमणो के विहार की चर्चा करते हुए एकाकी विहार का निषेध किया है और उनको लगने वाले दोषों का निरूपण किया है।

विविध प्रकार के तपस्वी व व्याधियो से ससक्त श्रमण की सेवा का विधान करते हुए क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त की सेवा करने की मनोवैज्ञानिक पद्धति पर प्रकाश डाला है। क्षिप्तचित्त के राग, भय और अपमान तीन कारण है। दीप्तचित्त का कारण सम्मान है। सम्मान होने पर उसमे मद पैदा होता है। शत्रुओ को पराजित करने के कारण वह मद से उन्मत्त होकर दीप्तचित्त हो जाता है। क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त मे मुख्य अन्तर यह है कि क्षिप्तचित्त प्राय मौन रहता है और दीप्तचित्त बिना प्रयोजन के भी बोलता रहता है।

भाष्यकार ने गणावच्छेदक, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर, प्रवर्तिनी आदि पदवियो को धारण करने वाले की योग्यताओ पर विचार किया है। जो ग्यारह अगो के ज्ञाता हैं, नवम पूर्व के ज्ञाता हैं, कृतयोगी हैं, बहुश्रुत है, बहुत आगमो के परिज्ञाता है, सूत्रार्थ विशारद है, धीर है, श्रुतनिघर्ष हैं, महाजन हैं वे विशिष्ट व्यक्ति ही आचार्य आदि विशिष्ट पदवियो को धारण कर सकते हैं।

श्रमणो के विहार सम्बन्धी नियमोपनियमो पर विचार करते हुए कहा है कि आचार्य, उपाध्याय आदि पदवीदारो को कम से कम कितने सन्तो के साथ रहना चाहिए, आदि विविध विधि—विधानो का निरूपण है। आचार्य, उपाध्याय के पाच अतिशय होते हैं, जिनका श्रमणो को विशेष लक्ष्य रखना चाहिए—

१ उनके बाहर जाने पर पैरो को साफ करना।
२ उनके उच्चार-प्रस्रवण को निर्दोष स्थान पर परठना।
३ उनकी इच्छानुसार वैयावृत्य करना।
४ उनके साथ उपाश्रय के भीतर रहना।
५ उनके साथ उपाश्रय के बाहर जाना।

श्रमण किसी महिला को दीक्षा दे सकता है और दीक्षा के बाद उसे साध्वी को सौंप देना चाहिए। साध्वी किसी भी पुरुष को दीक्षा नही दे सकती। उसे योग्य श्रमण के पास दीक्षा के लिए प्रेषित करना चाहिए। श्रमणी एक सघ मे दीक्षा ग्रहण कर दूसरे सघ मे शिष्या बनना चाहे तो उसे दीक्षा नही देनी चाहिए। उसे जहाँ पर रहना हो वही पर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए, किन्तु श्रमण के लिए ऐसा नियम नही है। तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाला उपाध्याय और ५ वर्ष की दीक्षापर्याय वाला आचार्य बन सकता है।

वर्षावास के लिए ऐसा स्थान श्रेष्ठ बताया है, जहाँ पर अधिक कीचड न हो, द्वीन्द्रियादि जीवो की बहुलता न हो, प्रासुक भूमि हो, रहने योग्य दो तीन बस्तिया हो, गोरस की प्रचुरता हो, बहुत लोग रहते हो, कोई वैद्य हो, औषधिया सरलता से प्राप्त होती हो, धान्य की प्रचुरता हो, राजा सम्यक् प्रकार से प्रजा का पालन करता हो, पाखण्डी साधु कम रहते हो, भिक्षा सुगम हो और स्वाध्याय मे किसी भी प्रकार का विघ्न न हो। जहाँ पर कुत्ते अधिक हो वहाँ पर श्रमण को विहार नही करना चाहिए।

भाष्य मे दीक्षा ग्रहण करने वाले के गुण-दोष पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि कुछ व्यक्ति अपने देश-स्वभाव से ही दोषयुक्त होते है। आध्र मे उत्पन्न व्यक्ति क्रूर होता है। महाराष्ट्र में उत्पन्न हुआ व्यक्ति वाचाल होता है और कोशल मे उत्पन्न हुआ व्यक्ति स्वभाव से ही दुष्ट होता है। इस प्रकार का न होना बहुत ही कम व्यक्तियों मे सम्भव है।

आगे भाष्य मे शयनादि के निमित्त सामग्री एकत्रित करने और पुन लौटाने की विधि बतलाई है। आहार की मर्यादा पर प्रकाश डालते हुए कहा है—आठ कौर खाने वाला श्रमण अल्पाहारी, बारह, सोलह, चौबीस, इकतीस और बत्तीस ग्रास ग्रहण करने वाला श्रमण क्रमश अपार्धाहारी, अर्धाहारी, प्राप्तावमौदर्य और प्रमाणाहारी है।

नवम उद्देशक मे शय्यातर के ज्ञातिक, स्वजन, मित्र प्रभृति आगन्तुक व्यक्तियो से सम्बन्धित आहार को लेने और न लेने के सम्बन्ध मे विचार कर श्रमणो की विविध प्रतिमाओ पर प्रकाश डाला है।

दशम उद्देशक मे यवमध्यप्रतिमा और वज्रमध्यप्रतिमा पर विशेष रूप से चिन्तन किया है। साथ ही पाच प्रकार के व्यवहार, बालदीक्षा की विधि, दस प्रकार की वैयावृत्य आदि विषयो की व्याख्या की गई है।

आर्य रक्षित, आर्य कालक, राजा सातवाहन, प्रद्योत, मुरुण्ड, चाणक्य, चिलातपुत्र, अवन्ति, सुकुमाल, रोहिणेय, आर्य समुद्र, आर्य मगु आदि की कथाए आई हैं। प्रस्तुत भाष्य अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है।

व्यवहार पर एक चूर्णि भी लिखी गई थी। चूर्णि के पश्चात् व्यवहार पर आचार्य मलयगिरि ने वृत्ति लिखी। वृत्ति मे आचार्य मलयगिरि का गम्भीर पाण्डित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। विषय की गहनता, भाषा की प्राजलता, शैली का लालित्य और विश्लेषण की स्पष्टता प्रेक्षणीय है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे प्राक्कथन के रूप मे पीठिका है। जिसमे कल्प, व्यवहार, दोष, प्रायश्चित्त प्रभृति विषयो पर चिन्तन किया है। वृत्तिकार ने प्रारम्भ मे अर्हत् अरिष्टनेमि को, अपने सद्गुरुवर्य तथा व्यवहारसूत्र के चूर्णिकार आदि को भक्तिभावना से विभोर होकर नमन किया है।

वृत्तिकार ने बृहत्कल्प और व्यवहार इन दोनो आगमो के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा कि कल्पाध्ययन मे प्रायश्चित्त का निरूपण है किन्तु उसमे प्रायश्चित्त देने की विधि नही है, जबकि व्यवहार मे प्रायश्चित्त देने की और आलोचना करने की ये दोनो प्रकार की विधिया है। यह बृहत्कल्प से व्यवहार की विशेषता है। व्यवहार, व्यवहारी और व्यवहर्तव्य तीनो का विश्लेषण करते हुए लिखा है—व्यवहारी कर्तारूप है, व्यवहार कारणरूप है और व्यवहर्तव्य कार्यरूप है। कारणरूपी व्यवहार आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत रूप से पाच प्रकार का है। चूर्णिकार ने पाचो प्रकार के व्यवहार को करण कहा है। भाष्यकार ने सूत्र, अर्थ, जीतकल्प, मार्ग, न्याय, एप्सितव्य, आचरित और व्यवहार इनको एकार्थक माना है।

जो स्वयं व्यवहार के मर्म को जानता हो, अन्य व्यक्तियो को व्यवहार के स्वरूप को समझाने की क्षमता रखता हो वह गीतार्थ है। जो गीतार्थ है उसके लिए व्यवहार का उपयोग है। प्रायश्चित्त प्रदाता और प्रायश्चित्त सग्रहण करने वाला दोनो गीतार्थ होने चाहिए। प्रायश्चित्त के प्रतिसेवना, सयोजना, आरोपणा और परिकु चना, ये चार अर्थ है। प्रतिसेवना रूप प्रायश्चित्त के दस भेद हैं।

(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमणा, (३) तदुभय, (४) विवेक (५) उत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद, (८) मूल, (९) अनवस्थाप्य और (१०) पाराचिक।

इन दसो प्रायश्चित्तों के सम्बन्ध मे विशेष रूप से विवेचन किया गया है। यदि हम इन प्रायश्चित्त के प्रकारो की तुलना विनयपिटक[1] मे आयी हुई प्रायश्चित्तविधि के साथ करें तो आश्चर्यजनक समानता मिलेगी। प्रायश्चित्त प्रदान करने वाला अधिकारी या आचार्य बहुश्रुत व गम्भीर हो, यह आवश्यक है। प्रत्येक के सामने

---

१ विनयपिटक निदान

आलोचना का निषेध किया गया है। आलोचना और प्रायश्चित्त दोनो ही योग्य व्यक्ति के समक्ष होने चाहिए, जिससे कि वह गोपनीय रह सके।

बौद्धपरम्परा मे साधुसमुदाय के सामने प्रायश्चित्त ग्रहण का विधान है। विनयपिटक मे लिखा है—प्रत्येक महीने की कृष्ण चतुर्दशी और पूर्णमासी को सभी भिक्षु उपोसथागार मे एकत्रित हो तथागत बुद्ध ने अपना उत्तराधिकारी सघ को बताया है। अत किसी प्राज्ञ भिक्षु को सभा के प्रमुख पद पर नियुक्त कर पातिमोक्ख का वाचन किया जाता है और प्रत्येक प्रकरण के उपसहार मे यह जिज्ञासा व्यक्त की जाती है कि उपस्थित सभी भिक्षु उक्त बातो मे शुद्ध है ? यदि कोई भिक्षु तत्सम्बन्धी अपने दोष की आलोचना करना चाहता है तो सघ उस पर चिन्तन करता है और उसकी शुद्धि करवता है। द्वितीय और तृतीय बार भी उसी प्रश्न को दुहराया जाता है। सभी की स्वीकृति होने पर एक-एक प्रकरण आगे पढ़े जाते है। इसी तरह भिक्षुणिया भिक्खुनी पातिमोक्ख का वाचन करती हैं। यह सत्य है कि दोनों ही परम्पराओ की प्रायश्चित्त विधिया पृथक्-पृथक् है। पर दोनो मे मनोवैज्ञानिकता है। दोनो ही परम्पराओ मे प्रायश्चित्त करने वाले साधक के हृदय की पवित्रता, विचारो की सरलता अपेक्षित मानी है।

प्रथम उद्देशक मे प्रतिसेवना के मूलप्रतिसेवना और उत्तरप्रतिसेवना ये दो प्रकार बताये हैं। मूलगुण-अतिचारप्रतिसेवना प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह रूप पाच प्रकार की है। उत्तरगुणातिचार प्रतिसेवना दस प्रकार की है। उत्तरगुण अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, नियन्त्रित, साकार, अनाकार, परिमाणकृत, निरवशेष, साकेतिक और अद्धा प्रत्याख्यान के रूप मे है। ऊपर शब्दो मे उत्तरगुणो के पिण्डविशुद्धि, पाच समिति, बाह्य तप, आभ्यान्तर तप, भिक्षुप्रतिमा और अभिग्रह इस तरह दस प्रकार है। मूलगुणातिचार-प्रतिसेवना और उत्तरगुणातिचारप्रतिसेवना इनके भी दर्प्य और कल्प्य ये दो प्रकार है। बिना कारण प्रतिसेवना दर्पिका है और कारण युक्त प्रतिसेवना कल्पिका है। वृत्तिकार ने विषय को स्पष्ट करने के लिए स्थान-स्थान पर विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत वृत्ति का ग्रन्थमान ३४६२५ श्लोक प्रमाण है।

वृत्ति के पश्चात् जनभाषा मे सरल और सुबोध शैली मे आगमो के शब्दार्थ करने वाली सक्षिप्त टीकाए लिखी गई है, जिनकी भाषा प्राचीन गुजराती-राजस्थानी मिश्रित है। यह बालावबोध व टब्बा के नाम से विश्रुत है। स्थानकवासी परम्परा के धर्मसिह मुनि ने व्यवहारसूत्र पर भी टब्बा लिखा है, पर अभी तक वह अप्रकाशित ही है। आचार्य अमोलकऋषिजी महाराज द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद साहित व्यवहारसूत्र प्रकाशित हुआ है। जीवराज घेलाभाई दोशी ने 'गुजराती मे अनुवाद भी प्रकाशित किया है। शुब्रिंग लिपजिंग ने जर्मन टिप्पणी के साथ सन् १९१८ मे लिखा। जिसको जैन साहित्य समिति पूना से १९२३ मे प्रकाशित किया है।

पूज्य घासीलालजी म ने छेदसूत्रो का प्रकाशन केवल सस्कृत टीका के साथ करवाया है।

आगम अनुयोग प्रकाशन साण्डेराव से सन् १९८० मे व्यवहारसूत्र प्रकाशित हुआ। जिसका सम्पादन आगम-मर्मज्ञ मुनि श्री कन्हैयालालजी म "कमल" ने किया।

प्रस्तुत सम्पादन—मुनि श्री कन्हैयालालजी म "कमल" ने पहले आयार-दसा, कप्पसुत्त और वहारसुत्त इन तीनो छेदसूत्रो का सम्पादन और प्रकाशन किया था। उसी पर और अधिक विस्तार से प्रस्तुत तीन आगमो का सम्पादन कर प्रकाशन हो रहा है। इसके पूर्व निशीथ का प्रकाशन हो चुका है। चारो छेदसूत्रो पर मूल, अर्थ और विवेचन युक्त यह प्रकाशन अपने आप मे गौरवपूर्ण है। इन तीन आगमो के प्रकाशन के साथ ही

प्रस्तुत आगममाला से स्थानकवासी परम्परा मान्य बत्तीस आगमो का प्रकाशन कार्य भी सम्पन्न हो रहा है। स्वर्गीय श्रद्धेय युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म. की कमनीय कल्पना को अनेक सम्पादक मुनियो, महासतियो और विद्वानो के कारण मूर्त्त रूप मिल गया है। यह परम आह्लाद का विषय है। छेदसूत्रो मे श्रमणो की आचार-सहिता का विस्तार से निरूपण हुआ है। छेदसूत्रो मे उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का निरूपण है। मैं बहुत ही विस्तार से इन पर लिखने का सोच रहा था, पर श्रमणसघीय व्यवस्था का दायित्व आ जाने से उस कार्य मे अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण और अत्यधिक भीड भरा वातावरण होने के कारण नही लिख सका। इसका मुझे स्वय को विचार है। बहुत ही सक्षिप्त मे परिचयात्मक प्रस्तावना लिखी है। आशा है, सुज्ञ पाठक आगम मे रहे हुए मर्म को समझेंगे। महामहित राष्ट्रसन्त आचार्यसम्राट श्री आनन्दऋषिजी म और परमश्रद्धेय पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म की असीम कृपा के फलस्वरूप ही मैं साहित्य के क्षेत्र मे कुछ कार्य कर सका हूँ और स्वर्गीय युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म की प्रेरणा से आगम साहित्य पर प्रस्तावनाए लिखकर उनकी प्रेरणा को मूर्त्तरूप दे सका हूँ, इसका मन मे सन्तोष है। आशा ही नही अपितु पूर्ण विश्वास है कि सुज्ञ पाठकगण आगमो की स्वाध्याय कर अपने जीवन को धन्य बनायेंगे।

—उपाचार्य देवेन्द्रमुनि

कोट, पीपाडसिटी
दिनाक २२-१०-९१

विषय सूची

दशाश्रुतस्कन्ध [१-१२४]

आठवीं दशा

नवमी दशा

दसवीं दशा

बृहत्कल्पसूत्र [१२५-२५८]

प्रथम उद्देशक

द्वितीय उद्देशक

तृतीय उद्देशक

चौथा उद्देशक

पांचवा उद्देशक

छट्ठा उद्देशक

व्यवहारसूत्र [२५९-४५८]

प्रथम उद्देशक

दूसरा उद्देशक

तीसरा उद्देशक

चौथा उद्देशक

पांचवां उद्देशक

छट्ठा उद्देशक

सातवां उद्देशक

आठवां उद्देशक

नवम उद्देशक

दसवां उद्देशक

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

अध्यक्ष	श्री सागरमलजी बेताला	इन्दौर
कार्यवाहक अध्यक्ष	श्री रतनचन्दजी मोदी	ब्यावर
उपाध्यक्ष	श्री धनराजजी विनायकिया	ब्यावर
	श्री पारसमलजी चोरडिया	मद्रास
	श्री हुक्मीचन्दजी पारख	जोधपुर
	श्री दुलीचन्दजी चोरडिया	मद्रास
	श्री जसराजजी सा. पारख	दुर्ग
महामन्त्री	श्री जी सायरमलजी चोरडिया	मद्रास
मन्त्री	श्री अमरचन्दजी मोदी	ब्यावर
	श्री ज्ञानराजजी मूथा	पाली
सहमंत्री	श्री ज्ञानचन्दजी विनायकिया	ब्यावर
कोषाध्यक्ष	श्री जवरीलालजी शिशोदिया	ब्यावर
	श्री आर प्रसन्नचन्द्रजी चोरडिया	मद्रास
परामर्शदाता	श्री माणकचन्दजी सचेती	जोधपुर
कार्यकारिणी सदस्य	श्री एस. सायरमलजी चोरडिया	मद्रास
	श्री मोतीचन्दजी चोरडिया	मद्रास
	श्री मूलचन्दजी सुराणा	नागौर
	श्री तेजराजजी भण्डारी	जोधपुर
	श्री भवरलालजी गोठी	मद्रास
	श्री प्रकाशचन्दजी चोपडा	ब्यावर
	श्री जतनराजजी मेहता	मेडतासिटी
	श्री भवरलालजी श्रीश्रीमाल	दुर्ग
	श्री चन्दनमलजी चोरडिया	मद्रास
	श्री सुमेरमलजी मेड़तिया	जोधपुर
	श्री आसूलालजी बोहरा	जोधपुर

दसासुयक्खंधो

दशाश्रुतस्कन्ध

दशाश्रुतस्कन्ध

प्रथम दशा

बीस असमाधिस्थान

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—

इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिट्ठाणा पण्णत्ता।

प०—कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिट्ठाणा पण्णत्ता ?

उ०—इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—

(१) दवदवचारी यावि भवइ, (२) अप्पमज्जियचारी यावि भवइ, (३) दुप्पमज्जियचारी यावि भवइ, (४) अतिरित्त—सेज्जासणिए यावि भवइ, (५) राइणिअ-परिभासी यावि भवइ, (६) थेरोवघाइए यावि भवइ, (७) भूओवघाइए यावि भवइ, (८) संजलणे यावि भवइ, (९) कोहणे यावि भवइ, (१०) पिट्ठिमंसिए यावि भवइ, (११) अभिक्खणं-अभिक्खणं ओहारइत्ता भवइ, (१२) णवाणं अहिगरणाणं अणुप्पण्णाणं उप्पाइत्ता भवइ, (१३) पोराणाणं अहिगरणाणं खामिअ-विउसवियाण पुणो उदीरेत्ता भवइ, (१४) अकाले सज्झायकारए यावि भवइ, (१५) ससरक्खपाणि-पाए यावि भवइ, (१६) सद्दकरे यावि भवइ, (१७) झंझकरे यावि भवइ, (१८) कलहकरे यावि भवइ, (१९) सूरप्पमाण-भोई यावि भवइ, (२०) एसणाए असमिए यावि भवइ।[1] एते खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिट्ठाणा पण्णत्ता—त्ति बेमि ॥

हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है—उन निर्वाणप्राप्त भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—इस आर्हत् प्रवचन मे निश्चय से स्थविर भगवन्तो ने बीस असमाधिस्थान कहे हैं।

प्रश्न—स्थविर भगवन्तो ने वे कौन से बीस असमाधिस्थान कहे हैं ?

उत्तर—स्थविर भगवन्तो ने बीस असमाधिस्थान इस प्रकार कहे हैं। यथा—

(१) अतिशीघ्र चलना। (२) प्रमार्जन करे बिना (अधकार मे) चलना। (३) उपेक्षाभाव से प्रमार्जन करना। (४) अतिरिक्त शय्या—आसन रखना। (५) रत्नाधिक के सामने परिभाषण करना। (६) स्थविरो का उपघात करना। (७) पृथ्वी आदि का घात करना। (८) क्रोध भाव मे जलना। (९) क्रोध करना। (१०) पीठ पीछे निन्दा करना। (११) बार-बार निश्चयात्मक भाषा बोलना। (१२) नवीन अनुत्पन्न कलहो को उत्पन्न करना। (१३) क्षमापना द्वारा उपशान्त पुराने क्लेश को फिर से उभारना। (१४) अकाल मे स्वाध्याय करना। (१५) सचित्त रज से युक्त हाथ-

१ सम. सम २० सु. १

पाव आदि का प्रमार्जन न करना। (१६) अनावश्यक बोलना या वाक्-युद्ध करना (जोर-जोर से बोलना)। (१७) सघ में भेद उत्पन्न करने वाला वचन बोलना। (१८) कलह करना—झगडा करना। (१९) सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक कुछ न कुछ खाते रहना। (२०) एषणासमिति से असमिति होना अर्थात् अनेषणीय भक्त-पानादि ग्रहण करना।

स्थविर भगवन्तो ने ये बीस असमाधिस्थान कहे है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—श्रमण-समाचारी कथित विधि-निषेधो के अनुसार सयम का आचरण न करना अथवा जिन-जिन प्रवृत्तियो से आत्मविराधना तथा सयमविराधना होती है, वे सभी प्रवृत्तिया करना संयमी जीवन मे असमाधि-स्थान कहलाती है।

इस व्याख्या के अनुसार असमाधि-स्थानो की सख्या निर्धारित करना यद्यपि कठिन है, फिर भी सामान्य जानकारी के लिए स्थविर भगवन्तो ने इस पहली दशा मे बीस असमाधि-स्थान कहे हैं।

(१) शीघ्र चलना—उद्विग्नमन (अशान्त-चित्त) वाला भिक्षु यदि शीघ्र गति से गमन करता है तो उसका किसी से टकराना, पत्थर आदि से ठोकर लगना, पैर मे काटा, काच आदि का चुभना आदि अनेक प्रकार की शारीरिक क्षतिया होना सभव है। इसके अतिरिक्त कीडी आदि अनेक प्रकार के छोटे-मोटे जीवो का पैरो तले दब जाना सभव है।

दशवै अ. ५, उ १ मे भी कहा गया है कि **"चरेमंदमणुब्विग्गो"** अर्थात् किसी भी प्रकार की उतावल न करते हुए भिक्षु मदगति से गमन करे तथा दशवै अ ५, उ २ मे भी कहा है— **"दवदवस्स न गच्छेज्जा"** अर्थात् भिक्षु दबादब—शीघ्र न चले। अत अतिशीघ्र गति से विना देखे चलना पहला असमाधिस्थान है।

(२) अप्रमार्जन—जहाँ अधेरा हो तथा मार्ग मे कीडिया आदि छोटे-मोटे जीव अधिक सख्या मे हो, वहाँ दिन में भी विना प्रमार्जन किये चलने से जीवो की हिंसा (विराधना) होती है। जिससे भिक्षु के सयम की क्षति होती है।

अत्यन्त आवश्यक कार्यों से रात्रि मे गमनागमन करना चाहे तो विना प्रमार्जन किए चलने से त्रसजीवो की विराधना होती है, क्योकि कई कीडे-मकोडे रात्रि मे इधर-उधर चलते-फिरते रहते है और अधकार के कारण दृष्टिगोचर नही होते है। अत विना प्रमार्जन किये चलना दूसरा असमाधि-स्थान है।

(३) दुष्प्रमार्जन करना—जितनी भूमि का प्रमार्जन किया है, उसके अतिरिक्त भूमि पर विना विवेक के इधर-उधर पैर रखने से जीवो की हिंसा होना सभव है। अत प्रमार्जन की हुई भूमि पर ही पैर रखकर चलना उचित है।

प्रमार्जन विवेक से करना आवश्यक है, उपेक्षाभाव से प्रमार्जन करना दुष्प्रमार्जन कहा जाता है। यह तीसरा असमाधिस्थान है।

(४) आवश्यकता से अधिक शय्या-संस्तारक रखना—श्रमणसमाचारी मे वस्त्र-पात्र आदि उपकरण सीमित रखने का विधान है। फिर भी भिक्षु आवश्यकता से अधिक शय्या-सस्तारकादि रखता है तो उनका प्रतिदिन उपयोग न करने पर और प्रतिलेखन, प्रमार्जन न करने पर उनमे

जीवोत्पत्ति होने की सभावना रहती है। उन जीवो के सघर्षण, समर्दन से सयम की क्षति होती है। अत. आवश्यकता से अधिक शय्या-सस्तारक रखना चौथा असमाधिस्थान है।

(५) **रत्नाधिक के सामने बोलना**—दीक्षापर्याय मे ज्येष्ठ भिक्षुओ के समक्ष अविनयपूर्वक बोलना अनुचित है। दशवै. अ. ८ तथा अ ९ मे रत्नाधिक भिक्षु के विनय करने का विधान है तथा नि उ १० मे रत्नाधिक भिक्षु की किसी प्रकार से आशातना करने पर गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान है। अत· रत्नाधिक के समक्ष भाषण करना पाचवा असमाधिस्थान है।

(६) **स्थविरों का उपघात करना**—वृद्ध (स्थविर) भिक्षु दीक्षा-पर्याय मे चाहे छोटे हो या बडे हो, उनकी चित्तसमाधि का पूर्ण ध्यान रखना अत्यावश्यक है। उनका हृदय से सम्मान करना और सेवा की समुचित व्यवस्था करना सभी श्रमणो का परम कर्तव्य है। उनका मन अशान्त रहे, इस प्रकार का व्यवहार करना छठा असमाधिस्थान है।

(७) **छह काय के जीवों का हनन करना**—श्रमण के लिए किसी भी त्रस-स्थावर प्राणी को त्रस्त करने की प्रवृत्ति करना सर्वथा निषिद्ध है, क्योकि वह छह काय का प्रतिपालक होता है। अत पृथ्वीकाय आदि स्थावर और त्रस प्राणियो की हिंसा करना सातवा असमाधिस्थान है।

(८-९) **क्रोध से जलना और कटु वचन बोलना**—किसी के प्रति क्रोध से सतप्त रहना तथा कठोर वचन बोलकर क्रोध प्रकट करना, ये दोनो ही समाधि भंग करने वाले है। अत मन मे क्रोध करना और कटु वचन कहकर क्रोध व्यक्त करना आठवा एव नौवा असमाधिस्थान है।

(१०) **पीठ पीछे किसी की निन्दा करना**—यह अठारह पापो मे से पन्द्रहवा पापस्थान है। सूयगडाग श्रु १, अ २, उ २ मे परनिन्दा को पाप कार्य बताते हुए कहा है कि "जो दूसरो की निन्दा करता है या अपकीर्ति करता है, वह ससार मे परिभ्रमण करता है।"

एक कवि ने कहा है—

निंदक एक हु मत मिलो, पापी मिलो हजार।
इक निंदक के शीश पर, लख पापी को भार ॥

निन्दा करने वाला स्वय भी कर्मबध करता है तथा दूसरो को भी असमाधि उत्पन्न करके कर्मबध करने का निमित्त बनता है। दशवै अ १० मे कहा है—

'न परं वइज्जासि अयं कुसीले, जेण च कुप्पिज्ज न तं वइज्जा।'

अर्थात्—यह कुशील (दुराचारी) है, इत्यादि वचन बोलना तथा दूसरे को क्रोध की उत्पत्ति हो, ऐसे वचन बोलना भिक्षु को उचित नही है। यह दसवा असमाधिस्थान है।

११. **बार-बार निश्चयात्मक भाषा बोलना**—भिक्षु को जब तक किसी विषय की पूर्ण जानकारी नही हो, तब तक निश्चयात्मक भाषा बोलने का दशवै अ ७ मे निषेध किया है तथा जिस विषय मे पूर्ण निश्चय हो जाए, उसका निश्चित शब्दो मे कथन किया जा सकता है।

निश्चयात्मक भाषा के अनुसार परिस्थिति न होने पर जिनशासन की निन्दा होती है, बोलने वाले का अवर्णवाद होता है, कई बार सघ मे विकट परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, अनेक प्रकार के अनर्थ होने की सभावना रहती है। अत भिक्षु का निश्चयात्मक भाषा बोलना ग्यारहवा असमाधिस्थान है।

१२. नया कलह उत्पन्न करना—विना विवेक के बोलने से कलह उत्पन्न हो जाते हैं। द्रौपदी के एक अविवेक भरे वचन से महाभारत का घोर सग्राम हुआ। अत कलह उत्पन्न होने वाली भाषा का प्रयोग करना बारहवा असमाधिस्थान है।

१३. पुराने कलह को पुनः उभारना—विना विवेक के कई बार ऐसी भाषा का प्रयोग हो जाता है जिससे उपशात कलह पुन उत्तेजित हो जाता है। भिक्षु को ऐसी भाषा का प्रयोग करना उचित नही है। उपशान्त कलह को पुन उत्तेजित करना तेरहवा असमाधिस्थान है।

१४. अकाल मे स्वाध्याय करना—सूर्योदय और सूर्यास्त का समय तथा मध्याह्न और मध्य-रात्रि का एक-एक मुहूर्त का समय स्वाध्याय के लिए अकाल कहा गया है। कालिक सूत्रो के स्वाध्याय के लिए दूसरा और तीसरा प्रहर अस्वाध्याय काल कहा गया है। इसके सिवाय औदारिक सबधी १०, आकाश संबधी १० और महोत्सव सबधी १० अस्वाध्याय भी अकाल हैं। भगवदाज्ञा का उल्लघन तथा अन्य दैवी उपद्रव होने की सभावना रहने से अकाल मे स्वाध्याय करना चौदहवा असमाधि-स्थान है।

१५. सचित्त रज-युक्त हाथ-पैर आदि का प्रमार्जन न करना—भिक्षु भिक्षा के लिए जाए या विहार करे, उस समय उसके हाथ-पैर आदि पर यदि कभी सचित्त रज लग जाए तो उसका प्रमार्जन किए बिना बैठना, शयन करना, आहारादि करना असमाधि का हेतु है। क्योकि अयतना असमाधि का और यतना समाधि का हेतु है।

जिनकल्पी अपनी चर्या के अनुसार जब तक हाथ-पैर आदि पर सचित्त रज रहती है, तब तक बैठना, शयन करना, आहार करना आदि नही करते हैं।

एक वैकल्पिक अर्थ यह भी है—जिस गृहस्थ के हाथ-पैर आदि सचित्त रज से लिप्त हो तो उसके हाथ से आहारादि लेना यह पन्द्रहवा असमाधिस्थान है।

१६. बहुभाषी होना—बहुत ज्यादा बोलना कलह-उत्पत्ति का कारण हो सकता है। वैसे तो मौन रहना सबसे अच्छा है, मौन भी एक प्रकार का तप है, किन्तु मौन न रह सके तो अनावश्यक भाषण करना तो सर्वथा अनुचित है। यह सोलहवा असमाधिस्थान है।

१७. सघ में मतभेद उत्पन्न करना—समाज मे मतभेद उत्पन्न करने वाली युक्तियो का प्रयोग करना, यह सत्रहवा असमाधिस्थान है।

१८. कलह करना—प्राय असत्य भाषण से कलह उत्पन्न होता है, किन्तु कभी-कभी सत्य भाषण से भी कलह हो जाता है। सत्य एव मृदु भाषा कल्याणकारी होती है। अत अप्रिय, कटुक, कठोर, कलहकारी भाषा का प्रयोग करना उचित नही है। यह अठारहवा असमाधिस्थान है।

१९. सूर्योदय से सूर्यास्त तक कुछ न कुछ खाते रहना—भोजन के समय भोजन कर लेना और बाद मे भी सारा दिन कुछ न कुछ खाते रहने से शरीर तो अस्वस्थ होता ही है, साथ ही रसास्वादन की आसक्ति बढ जाती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति करने वाले भिक्षु को उत्तरा अ. १७ में पाप-श्रमण कहा है।

सयमनिर्वाह के लिए श्रमण सीमित पदार्थों का ही सेवन करे। शास्त्रो मे छह कारण आहार करने के कहे है और सामान्य नियम तो यह है कि दिन मे एक बार ही भिक्षु आहार ग्रहण करे। बार-बार कुछ न कुछ खाते रहना उन्नीसवा असमाधिस्थान है।

२०. **अनेषणीय भक्त-पान आदि ग्रहण करना**—आहार-वस्त्रादि आवश्यक पदार्थ ग्रहण करते समय उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषो को टालकर गवेषणा न करने से सयम दूषित होता है। निर्युक्ति आदि व्याख्याग्रन्थो मे एषणा के ४५ दोष कहे है। उनके अतिरिक्त आगमो मे अनेक दोष वर्णित है। ठाणाग के चौथे ठाणे में शुद्ध गवेषणा करने वाले को अनुत्पन्न अतिशय ज्ञान की उपलब्धि होना कहा गया है। भक्त-पान ग्रहण करते समय गवेषणा न करने से सयम मे शिथिलता आती है। यह बीसवा असमाधिस्थान है।

इन २० असमाधिस्थानो का त्याग करके भिक्षु को समाधिस्थानो का ही सेवन करना चाहिये, जिससे सयम मे समाधि-प्राप्ति हो सके।

।। प्रथम दशा समाप्त ।।

दूसरी दशा

इक्कीस शबल दोष

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—

इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं एगवीसं सबला पण्णत्ता ।

प०—कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं एगवीस सबला पण्णत्ता ?

उ०—इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं एगवीस सबला पण्णत्ता, तं जहा—

१. हत्थकम्म करेमाणे सबले, २. मेहुणं पडिसेवमाणे सबले, ३. राइ-भोअणं भुंजमाणे सबले, ४. आहाकम्म भुंजमाणे सबले, ५. रायपिंड भुंजमाणे सबले, ६. उद्देसियं वा, कीयं वा, पामिच्चं वा, आच्छिज्जं वा, अणिसिट्ठ वा, अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं वा भुंजमाणे सबले, ७. अभिक्खण-अभिक्खणं पडियाइक्खित्ताणं भुंजमाणे सबले, ८. अंतो छण्हं मासाणं गणाओ गणं सकममाणे सबले, ९. अंतो मासस्स तओ दगलेवे करेमाणे सबले, १०. अतो मासस्स तओ माइट्ठाणे करेमाणे सबले, ११. सागारियपिंडं भुजमाणे सबले, १२. आउट्टियाए पाणाइवाय करेमाणे सबले, १३. आउट्टियाए मुसावायं वयमाणे सबले, १४. आउट्टियाए अदिण्णादाण गिण्हमाणे सबले, १५. आउट्टियाए अणतर-हिआए पुढवीए ठाण वा, सेज्जं वा, निसीहिय वा चेएमाणे सबले, १६. आउट्टियाए ससणिद्धाए पुढवीए, ससरक्खाए पुढवीए ठाणं वा, सेज्जं वा, णिसीहियं वा चेएमाणे सबले, १७. आउट्टियाए चित्तमताए सिलाए, चित्तमताए लेलुए, कोलावासंसि वा दारुए जीवपइट्ठिए, स-अडे, स-पाणे, स-बीए, स-हरिए, स-उस्से, स-उदगे, स-उत्तिगे पणग-दग मट्टीए, मक्कडा-संताणए ठाण वा, सिज्जं वा, निसीहियं वा चेएमाणे सबले, १८. आउट्टियाए मूलभोयण वा, कंद-भोयण वा, खध-भोयण वा, तया-भोयणं वा, पवाल-भोयण वा, पत्त-भोयणं वा, पुप्फ-भोयणं वा, फल-भोयण वा, बीय-भोयण वा, हरिय-भोयणं वा भुंजमाणे सबले, १९. अतो संवच्छरस्स दस दग-लेवे करेमाणे सबले, २०. अतो संवच्छरस्स दस माइ-ट्ठाणाइं करेमाणे सबले, २१. आउट्टियाए सीओदग वग्घारिय-हत्थेण वा मत्तेण वा, दव्वीए वा, भायणेण वा असणं वा, पाण वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिगाहित्ता भुंजमाणे सबले ।[1]

एते खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं एगवीसं सबला पण्णत्ता—त्ति बेमि ।।

हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है उन निर्वाणप्राप्त भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—इस आर्हत् प्रवचन मे स्थविर भगवन्तो ने इक्कीस शबल दोष कहे हैं ।

प्रश्न—स्थविर भगवन्तो ने वे इक्कीस शबल दोष कौन से कहे हैं ?

---

१. सम सम २१ सु १

उत्तर—स्थविर भगवन्तो ने वे इक्कीस शबल दोष इस प्रकार कहे हैं, जैसे—

१. हस्तकर्म करने वाला शबल दोषयुक्त है। २. मैथुन प्रतिसेवन करने वाला शबल दोषयुक्त है। ३. रात्रिभोजन करने वाला शबल दोषयुक्त है। ४ आधाकर्मिक आहार खाने वाला शबल दोषयुक्त है। ५ राजपिंड को खाने वाला शबल दोषयुक्त है। ६. साधु के उद्देश्य से निर्मित, साधु के लिए मूल्य से खरीदा हुआ, उधार लाया हुआ, निर्बल से छीनकर लाया हुआ, बिना आज्ञा के लाया हुआ अथवा साधु के स्थान पर लाकर के दिया हुआ आहार खाने वाला शबल दोषयुक्त है। ७ पुन·-पुन प्रत्याख्यान करके आहार खाने वाला शबल दोषयुक्त है। ८ छह माह के भीतर ही एक गण से दूसरे गण मे जाने वाला शबल दोषयुक्त है। ९. एक मास के भीतर तीन बार (नदी आदि को पार करते हुए) उदक-लेप (जल सस्पर्श) लगाने वाला शबल दोषयुक्त है। १० एक मास के भीतर तीन बार माया करने वाला शबल दोषयुक्त है। ११. शय्यातर के आहारादि को खाने वाला शबल दोष-युक्त है। १२ जान-बूझ कर जीव हिंसा करने वाला शबल दोषयुक्त है। १३ जान-बूझ कर असत्य बोलने वाला शबल दोषयुक्त है। १४. जान-बूझकर अदत्त वस्तु को ग्रहण करने वाला शबल दोष-युक्त है। १५. जान-बूझ कर सचित्त पृथ्वी के निकट की भूमि पर कायोत्सर्ग, शयन या आसन करने वाला शबल दोषयुक्त है। १६ जान-बूझ कर सचित्त जल से स्निग्ध पृथ्वी पर और सचित्त रज से युक्त पृथ्वी पर स्थान, शयन या आसन करने वाला शबल दोषयुक्त है। १७ जान-बूझ कर सचित्त शिला पर, सचित्त पत्थर के ढेले पर, दीमक लगे हुए जीवयुक्त काष्ठ पर तथा अण्डो युक्त, द्वीन्द्रियादि जीवयुक्त, बीजयुक्त, हरित तृणादि से युक्त, ओसयुक्त, जलयुक्त, पिपीलिका (कीडी) नगरयुक्त, पनक (शेवाल) युक्त, गीली मिट्टी पर तथा मकड़ी के जालेयुक्त स्थान पर स्थान, शयन और आसन करने वाला शबल दोष-युक्त है। १८ जान-बूझ करके १ मूल २ कन्द ३ स्कन्ध ४ छाल ५ कोपल ६ पत्र ७ पुष्प ८ फल ९ बीज और १० हरी वनस्पति का भोजन करने वाला शबल दोषयुक्त है। १९ एक वर्ष के भीतर दस बार उदक-लेप लगाने वाला शबल दोषयुक्त है। २० एक वर्ष के भीतर दस बार मायास्थान सेवन करने वाला शबल दोषयुक्त है। २१ जान-बूझ करके शीतल-सचित्त जल से गीले हाथ, पात्र, चम्मच या भाजन से अशन, पान, खादिम या स्वादिम को ग्रहण कर खाने वाला शबल दोषयुक्त है।

स्थविर भगवन्तो ने ये इक्कीस शबल दोष कहे है। ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—पहली दशा मे सयम के सामान्य दोष—बीस असमाधिस्थानो का कथन है। इस दूसरी दशा मे इक्कीस प्रबल दोषो का कथन है। ये 'शबल' दोष सयम के मूल महाव्रतो को क्षति पहुँचाने वाले हैं, अत· इनके सेवन से आत्मा कर्मबद्ध होकर दुर्गति को प्राप्त करती है। इन दोषो के प्रायश्चित्त भी प्राय: अनुद्घातिक (गुरु) मासिक या चौमासिक होते है।

१. हस्तकर्म—मोहनीयकर्म के प्रबल उदय से अनेक अज्ञानी प्राणी इस कुटेव से कलंकित हो जाते हैं। विरक्त साधक भी किसी अज्ञान के कारण इस कुटेव की कुटिलता से ग्रस्त न हो जाए, इसलिए इसको शबल दोष कहा है और निशीथसूत्र प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र मे ही इस दोष का प्रायश्चित्त कहा है।

इस दुष्कर्म को बृहत्कल्प सूत्र उद्देशक चार मे गुरु प्रायश्चित्त का स्थान और ठाणाग सूत्र के पाचवे ठाणे मे भी गुरु प्रायश्चित्त का स्थान कहा है । अत. प्रत्येक साधु का यह कर्तव्य है कि वे इस ब्रह्मचर्यघातक प्रवृत्ति से स्वय बचे और अन्य सयमियो को भी इस कुकर्म से बचाए । क्योकि शारीरिक शक्ति के मूलाधार वीर्य का इस कुटेव से नाश होता है । हस्तमैथुन से सभी सद्गुण शनै - शनै समाप्त होकर व्यक्ति दुर्गुणी बन जाता है और उसका शरीर अनेक असाध्य रोगो से ग्रस्त हो जाता है । अत. मुमुक्षु साधक इस शबल दोष का सेवन न करे ।

२. **मैथुनसेवन**—सयमी साधक मैथुन त्याग करके आजीवन ब्रह्मचर्य पालन के लिये उद्यत हो जाता है । क्योकि वह यह जानता है कि **"मूलमेयं अहम्मस्स, महादोससमुस्सय"**—यह मैथुन अधर्म का मूल है एव महादोषो का समूह है तथा **"खाणी अणत्थाण हु कामभोगा"**—कामभोग अनर्थो की खान है । इस प्रकार विवेकपूर्वक सयमसाधना करते हुए भी कभी-कभी आहार-विहार की असावधानियो से या नववाड का यथार्थ पालन न करने से वेदमोह का तीव्र उदय होने पर साधक सयमसाधना से विचलित हो सकता है । इसलिए आगमो मे अनेक स्थलो पर भिन्न-भिन्न प्रकार से ब्रह्मचर्य पालन के लिये प्रेरित किया गया है । मैथुनसेवन की प्रवृत्ति स्त्रीससर्ग से होती है और हस्त-कर्म की प्रवृत्ति स्वत होती है । अत हस्तकर्म करने वाला तो स्वय ही भीतर ही भीतर दु खी होता है किन्तु मैथुनसेवन करने वाला स्वय को, समाज को एव सघ को कलकित करके अपना वर्चस्व समाप्त कर देता है । मैथुन सेवन करने वाले को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है, साथ ही उसके तीन वर्ष के लिए या जीवन भर के लिये धर्मशास्ता के सभी उच्च पदो को प्राप्त करने के अधिकार समाप्त कर दिये जाते हैं । वह महाकर्मों का बध करके विराधक हो जाता है और परभव मे निरतर दु खी रहता है । अत भिक्षु इस शबल दोष का सेवन न करे ।

३. **रात्रिभोजन**—भिक्षु आजीवन रात्रिभोजन का त्यागी होता है । वह सूर्यास्त के बाद अपने पास आहार-पानी आदि रख भी नही सकता है । रात्रिभोजन का त्याग करना यह साधु का मूल गुण है । इसके लिये दशवैकालिक, बृहत्कल्प, निशीथ, ठाणाग आदि सूत्रो मे विभिन्न प्रकार के निषेध और प्रायश्चित्त का विधान है ।

निशीथसूत्र मे दिन मे ग्रहण किये हुए गोबर आदि विलेपन योग्य पदार्थो का रात्रि मे उप-योग करना भी रात्रिभोजन ही माना है और उसका प्रायश्चित्त भी कहा गया है । रात्रिभोजन से प्रथम महाव्रत भी दूषित होता है । दिन मे भी अधकारयुक्त स्थान मे भिक्षु को आहार करना निषिद्ध है । अत भिक्षु इस शबल दोष को सयम मे क्षति पहुँचाने वाला और कर्मबध कराने वाला जानकर इसका कदापि सेवन न करे ।

४. **आधाकर्म** —यह एषणासमिति मे उद्गम दोष है । जो आहारादि साधु, साध्वी के निमित्त तैयार किया हो, अग्नि, पानी आदि का आरभ किया गया हो, वह आहारादि आधाकर्म दोषयुक्त कहलाता है । अनेक आगमो मे आधाकर्म आहार खाने का निषेध किया गया है । सूयगडाग सूत्र श्रु १ अ १० मे आधाकर्म आहार की चाहना करने का भी निषेध है और उसकी प्रशसा करने का भी निषेध है । आचाराग सूत्र श्रु १ अ ८ उ २ में कहा गया है—'कोई गृहस्थ आधाकर्म दोषयुक्त

आहार देने के आग्रह मे छेदन-भेदन, मार-पीट आदि कर दे तो भी वहाँ भिक्षु को आधाकर्म आहार ग्रहण नही करना चाहिए ।

सूयगडाग सूत्र श्रु २ अ १ उ ३ में आधाकर्म के अश से युक्त अन्य शुद्ध आहार को ग्रहण कर भोगने वाले को दो पक्ष (गृहपक्ष और साधुपक्ष) का सेवन करने वाला कहा है । भूल से आधाकर्म आहार ले लिया गया हो तो जानकारी होने के बाद उसे खाना नही कल्पता है, किन्तु परठना कल्पता है ।

आधाकर्मी आहारादि के सेवन से उसके बनने मे हुए आरम्भ का अनुमोदन होता है, जिससे प्रथम महाव्रत दूषित होता है तथा कर्मबध भी होता है । इन कारणो से ही आधाकर्म आहार के सेवन को यहाँ शबल दोष कहा है । इसके सेवन से सयम और ज्ञान मलिन होता है । अत भिक्षु कभी आधा-कर्म आहार का सेवन न करे ।

५. राजपिड—जिनका राज्याभिषेक हुआ हो, जो राज्यचिह्नो से युक्त हो, ऐसे राजा के घर का आहारादि राजपिंड कहा जाता है । ऐसे आहारादि के सेवन करने को दशवैकालिक सूत्र अ ३ मे अनाचार कहा गया है ।

पहले और अतिम तीर्थकरो के शासनकाल मे ही राजपिंड ग्रहण करने का निषेध है । बीच के तीर्थकरो के शासनकाल मे साधु ग्रहण कर सकते थे । राजाओ के यहाँ गोचरी जाने से अनेक दोष लगना सभव है—

यथा—१ राजाओ के यहाँ भक्ष्याभक्ष्य का विचार नही होता है ।

२ पौष्टिक भोजन काम-वासनावर्धक होने से साधुओ के योग्य नही होता है ।

३ राजकुल मे बार-बार जाने से जनता अनेक प्रकार की आशकाए करती है ।

४ साधु के आगमन को अमगल समझकर कोई कष्ट दे या पात्रे फोड दे ।

५ साधु को चोर या गुप्तचर समझकर पकडे, बाधे या मारपीट भी कर दे ।

इत्यादि कारणो से साधु की और जिनशासन की अवहेलना होती है । अत भिक्षु ऐसे मूर्द्धाभि-षिक्त राजाओ के यहाँ भिक्षा के लिए न जावे और ऐसे राजपिड को सयम का शबल दोष मानकर न खावे ।

निशीथसूत्र के आठवे, नववे उद्देशक मे अनेक प्रकार के राजपिडो का और राजाओ के यहाँ भिक्षा के लिए जाने का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा है ।

६. क्रीतादि—साधु के निमित्त खरीद कर लाये हुए पदार्थ, उधार लाये गये पदार्थ, किसी से छीनकर दिए जाने वाले पदार्थ, बिना आज्ञा के दिए जाने वाले भागीदारी के पदार्थ तथा अन्य ग्रामादि से सम्मुख लाकर दिए जाने वाले पदार्थों को ग्रहण करना और उनका सेवन करना यहाँ शबल दोष कहा गया है । ये सभी उद्गम के दोष हैं । इन दोषो वाले पदार्थों के सेवन से सयम दूषित होता है । दोषपरम्परा की वृद्धि होती है । इनके सेवन से गृहस्थकृत आरम्भ की अनुमोदना होती है जिससे

प्रथम महाव्रत दूषित होता है और जिनाज्ञा का उल्लघन होने से तीसरे महाव्रत में भी दोष लगता है। अन्य आगमो मे भी क्रीतादि दोषयुक्त पदार्थों के सेवन का निषेध है और निशीथ सूत्र मे प्रायश्चित्त का कथन है। यहाँ इसे शबल दोष कहा है। अत भिक्षु कर्मबध का कारण जानकर इन दोषो का सेवन न करे।

७. प्रत्याख्यान-भंग—किसी प्रत्याख्यान को एक बार भग करना भी दोष ही है किन्तु अनेक बार प्रत्याख्यानों को भग करना शबल दोष कहा गया है। एक या दो बार हुई भूले क्षम्य होती हैं किन्तु वही व्यक्ति अनेक बार भूल करे तो वह अक्षम्य होती हैं। इसी प्रकार प्रत्याख्यान बारम्बार भग करने से सामान्य दोष भी शबल दोष कहा जाता है। ऐसा करने से साधु की प्रतीति (विश्वास) नही रहती है। जन साधारण के जानने पर साधु समाज की अवहेलना होती है। दूसरा महाव्रत और तीसरा महाव्रत दूषित हो जाता है। प्रत्याख्यानो को शुद्ध पालन करने की लगन (चेष्टा) अल्प हो जाती है। अन्य प्रत्याख्यानो के प्रति भी उपेक्षा वृत्ति बढ जाती है, जिससे सयम की आराधना नही हो सकती है। अन्य साधारण साधको के अनुसरण करने पर उनके प्रत्याख्यान भी दूषित हो जाते हैं। अत बार-बार प्रत्याख्यान भग करना शबल दोष है। यह जानकर भिक्षु प्रत्याख्यान का दृढता पूर्वक पालन करे।

८. गणसंक्रमण—जिस आचार्य या गुरु की निश्रा मे जो साधु-साध्वी रहते हैं, उनका अन्य आचार्य या गुरु के नेतृत्व मे जाकर रहना गणसक्रमण—गच्छपरिवर्तन कहलाता है। गणसक्रमण के प्रशस्त और अप्रशस्त दोनो कारण होते हैं। ज्ञानवृद्धि या सयमवृद्धि के लिए अथवा परोपकार की भावना से गणसक्रमण करना प्रशस्त कारण है। गुस्से मे आकर या घमड से अथवा किसी प्रलोभन के कारण गणसक्रमण करना अप्रशस्त कारण है।

बृहत्कल्प उद्देशक ४ मे गणसक्रमण करने का विधान करते हुए कहा गया है कि आचार्यादि की आज्ञा लेकर संयमधर्म की जहाँ उन्नति हो, वैसे गच्छ मे जाना कल्पता है अन्यथा आचार्यादि की आज्ञा मिलने पर भी जाना नही कल्पता है।

वैसे अन्य गच्छ मे जाने का निशीथसूत्र उद्देशक १६ मे प्रायश्चित्त कथन है। प्रशस्त कारणो से गणसक्रमण करना कल्पनीय होते हुए भी बारबार या छह मास के भीतर करने पर वह चचलवृत्ति का प्रतीक होने से उसे यहाँ शबल दोष कहा है। ऐसा करने से सयम की क्षति और अपयश होता है। अत भिक्षु को बार-बार गणसक्रमण नही करना ही श्रेयस्कर है।

९. उदक-लेप—अर्द्ध जघा [गिरिए और घुटने के बीच के जितने] प्रमाण के कम पानी मे चलना "दगसस्पर्श" कहा जाता है और अर्द्ध जघा प्रमाण से अधिक पानी मे चलना "उदक-लेप" कहा जाता है। सचित्त जल की अत्यल्प विराधना करने पर भिक्षु को निशीथसूत्र उद्देशक १२ के अनुसार लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है। अत उसे एक बार भी पानी मे चलकर नदी आदि पार करना नही कल्पता है। प्रस्तुत सूत्र मे एक मास मे तीन बार जल-युक्त नदी पार करने पर शबल दोष होना बताया गया है, अत एक या दो बार पार करने पर प्रायश्चित्त होते हुए भी वह शबल दोष नही कहा जाता है। इसका कारण यह है कि चातुर्मास समाप्त होने के बाद भिक्षु ग्रामानुग्राम विहार

करता है । फिर एक गाव मे मासकल्प (२९ दिन) से ज्यादा नही ठहर सकता है । इस कारण यदि उसे प्रथम बिहार के दिन ऐसी नदी पार करना पडे तथा फिर २९ रात्रि वहाँ रहने के बाद तीसवे दिन विहार करने पर भी ऐसा ही प्रसग उपस्थित हो जाये तो परिस्थितिवश (अपवाद रूप में) उसे एक मास मे दो बार नदी पार करना कल्प-मर्यादानिर्वाह के लिये आवश्यक हो शकता है । इससे अधिक तीन बार बार "उदक-लेप" लगाने मे अन्य अनावश्यक कारण होने से वह शबल दोष कहा जाता है । सेवा आदि कार्यों के निमित्त यदि अधिक उदक-लेप लगे तो भी उसे शबल दोष नही कहा जाता है । अत भिक्षु शीत और ग्रीष्म काल मे मार्ग की पहले से ही पूर्ण जानकारी करके विवेकपूर्वक विचरण करे । जल मे चलने से अनेक त्रस प्राणी तथा फूलण आदि के अनत जीवो की विराधना हो सकती है । अत छह काया का रक्षक भिक्षु इस शबल दोष का सेवन न करे ।

१०. माया-सेवन—माया एक ऐसा भयकर कषाय है कि इसके सेवन मे सयम और सम्यक्त्व दोनो का नाश हो जाता है । ज्ञातासूत्र मे कहा है कि मल्लिनाथ तीर्थंकर के जीव ने पूर्वभव मे संयम तप की महान् साधना के काल मे माया का सेवन करते हुए अधिक तप किया । उस तप की उग्र साधना मे भी माया के सेवन से मिथ्यात्व की प्राप्ति और स्त्रीवेद का निकाचित बध हुआ । अत: भिक्षुओ को तप- सयम की साधना मे भी कभी माया का सेवन नही करना चाहिये ।

उत्तराध्ययनसूत्र अ ३ मे कहा है कि सरल आत्मा की शुद्धि होती है और ऐसी शुद्ध आत्मा मे ही धर्म ठहरता है । अत सयम की आराधना के इच्छुक भिक्षु को माया का सेवन नही करना चाहिये ।

इस सूत्र मे एक मास मे तीन बार मायासेवन करने को शबल दोष कहा है किन्तु एक या दो बार मायासेवन करने पर शबल दोष नही कहा है, इसमे उदक-लेप के समान विशेष परिस्थिति ही प्रमुख कारण होती है, वह इस प्रकार है—

व्यवहारसूत्र के आठवे उद्देशक मे विधान है कि निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थनियो को पहले आज्ञा लेकर मकान मे ठहरना कल्पता है, किन्तु पहले ठहर कर फिर आज्ञा लेना नही कल्पता है । यदि भिक्षु को यह ज्ञात हो कि इस क्षेत्र मे मकान मिलना दुर्लभ है तो वहाँ ठहरने योग्य स्थान मे ठहर कर फिर आज्ञा ले सकता है । जिसमे कुछ माया का भी सेवन होता है । विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखे व्यव. उ ८ । क्योंकि साध्वियो को तो मकान प्राप्त करना अवश्यक ही होता है और भिक्षुओ के लिये भी बाल, ग्लान, वृद्ध आदि की दृष्टि से कभी आवश्यक हो जाता है । महीने में दो बार ऐसी परिस्थिति आ जाये तो मायासेवन कर मकान प्राप्त करना शबल दोष नहीं कहा गया है । किन्तु सामान्य कारणो से एक बार मायासेवन करना भी शबल दोष समझना चाहिए । अत सूत्रोक्त कारण के अतिरिक्त भिक्षु कदापि माया का सेवन न करे ।

११. शय्यातर-पिड—जिस मकान मे भिक्षु ठहरा हुआ हो, उस शय्या (मकान) का दाता शय्यातर कहा जाता है । उसके घर का आहारादि शय्यातर-पिड या सागारिय-पिड कहा जाता है । क्योकि मकान मिलना दुर्लभ ही होता है और मकान देने वाले के घर से आहारादि अन्य पदार्थ ग्रहण करे तो मकान की दुर्लभता और भी बढ जाती है । सामान्य गृहस्थ यही सोचते हैं कि जो अपने

घर मे अतिथि रूप मे ठहरते है तो उनकी सभी व्यवस्था उसे ही करनी होती है। भिक्षु का भी ऐसा आचार हो तो वह शय्यादाता के लिये भार रूप माना जाता है। इत्यादि कारण से सभी तीर्थंकरो के शासन मे साधुओं के लिये यह आवश्यक नियम है कि वह शय्यादाता के घर से आहारादि ग्रहण न करे, क्योकि शय्यादाता अत्यधिक श्रद्धा-भक्ति वाला हो तो अनेक दोषो की सभावना हो सकती है। यदि किसी क्षेत्र मे या किसी काल मे ऐसे दोषो की सभावना न हो तो भी नियम सर्व-काल सर्व-क्षेत्र की बहुलता के विचार से होता है। अत भिक्षु भगवदाज्ञा को शिरोधार्य कर और शबल दोष समझकर कभी भी शय्यादाता मे आहारादि ग्रहण न करे।

१२-१३-१४. जानकर हिंसा, मृषा और अदत्त का सेवन—भिक्षु पच महाव्रतधारी होता है। उसके जीवन भर तीन करण, तीन योग से हिसा, असत्य और अदत्त का त्याग होता है। यदि अनजाने इनका सेवन हो जाये तो निशीथसूत्र उद्देशक २ मे उसका लघुमासिक प्रायश्चित्त कहा है। किंतु सकल्प करके कोई हिंसा आदि करता है तो उसके ये कृत्य शबल दोष कहे जाते है और इन कृत्यो से मूल गुणो की विराधना होती है और उसका सयम भी शिथिल हो जाता है। अत भिक्षु कभी हिसा आदि का सकल्प न करे और असावधानी से भी ये कृत्य न हो, ऐसी सतत सावधानी रखे।

१५-१६-१७. जानबूझ कर पृथ्वी, पानी, वनस्पतिकाय की विराधना करना—छहो काय के जीवो की विराधना न हो, यह विवेक भिक्षु प्रत्येक कार्य करते समय प्रतिक्षण रखे। प्रस्तुत सूत्र मे भिक्षु को विवेक रखने की सूचना दी गई है। आचाराग आदि मे जो विषय आठ सूत्रो मे कहा गया है, वही विषय यहाँ तीन सूत्रो मे कहा गया है—

यथा—१ सचित्त पृथ्वी के निकट की भूमि पर,
२ नमीयुक्त भूमि पर,
३ सचित्त रज से युक्त भूमि पर,
४ सचित्त मिट्टी बिखरी हुई भूमि पर
५ सचित्त भूमि पर,
६ सचित्त शिला पर,
७ सचित्त पत्थर आदि पर,
८ दीमकयुक्त काष्ठ पर तथा अन्य किसी भी त्रस स्थावर जीव से युक्त स्थान पर बैठना, सोना, खडे रहना भिक्षु को नही कल्पता है। निशीथसूत्र उद्देशक १३ मे इन कृत्यो का लघु चौमासी प्रायश्चित्त विधान इन आठ सूत्रो मे है। यहाँ इस सूत्र मे सकल्पपूर्वक किये गये ये सभी कार्य शबल दोष कहे गये हैं। अत भिक्षु इन शबल दोषो का कदापि सेवन न करे, किन्तु प्रत्येक प्रवृत्ति यतनापूर्वक करे। दशवै अ ४ मे कहा भी है—

जयं चरे जय चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥८॥

भिक्षु चलना, खडे रहना, बैठना, सोना, खाना, बोलना आदि सभी प्रवृत्तियाँ यतनापूर्वक करे, जिससे उसके पापकर्मों का बध न हो।

१८. कंद, मूल आदि भक्षण—वनस्पति के दस विभागों को खाने पर भिक्षु को शबल दोष लगता है। गृहस्थ के लिए बने वनस्पति के अचित्त खाद्य पदार्थ साधु ग्रहण करके क्षुधा शान्त कर सकता है। किन्तु अचित्त खाद्य न मिलने पर सचित्त फल, फूल, बीज या कद, मूल आदि खाना साधु को नही कल्पता है। क्योंकि वह जीवनपर्यन्त सचित्त का त्यागी होता है।

उत्तराध्ययन अ २ में प्रथम परीषह का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "क्षुधा से व्याकुल भिक्षु का शरीर इतना कृश हो जाए कि शरीर की नसें दिखने लग जाएँ, तो भी वह वनस्पति का छेदन न स्वय करे, न दूसरो से करावे तथा खाद्य पदार्थ न स्वय पकावे, न अन्य से पकवावे।" उदरपूर्ति के लिये वनस्पति का छेदन-भेदन करके खाना भिक्षु के लिये सर्वथा निषिद्ध है, क्योकि छेदन-भेदन करने से वनस्पतिकाय के जीवो के प्रति अनुकम्पा नही रहती है। अत प्रथम महाव्रत भग होता है। अनजाने भी सचित्त बीज आदि खाने मे आ जाय तो उसका निशीथसूत्र उद्देशक ४, १० तथा १२ में प्रायश्चित्त कहा गया है। यहाँ जानबूझ कर खाने को शबल दोष कहा गया है। अत भिक्षु को सचित्त पदार्थ खाने का सकल्प भी नही करना चाहिये।

१९-२० उदकलेप-मायासेवन—९वे, १०वे शबल दोष में एक मास मे तीन बार उदकलेप और मायासेवन को शबल दोष कहा है, यहाँ एक वर्ष मे दस बार सेवन को सबल दोष कहा है। ९ बार तक सेवन को शबल दोष नही कहने का कारण यह है कि विचरण के प्रथम मास मे दो बार जो परिस्थिति बन सकती है, वैसी परिस्थिति आठ महीनो मे विहार करते समय नव बार भी हो सकती है। २९ दिन के कल्प से रहने पर सात महीनो मे सात बार और प्रथम महीने मे दो बार विहार करना आवश्यक होने से एक वर्ष मे नौ विहार आवश्यक होते हैं। अतः नव बार से अधिक उदकलेप और मायास्थानसेवन को यहाँ शबल दोष कहा है। शेष विवेचन पूर्ववत् है।

२१. सचित्त जल से लिप्त पात्रादि से भिक्षा ग्रहण करना—भिक्षा के लिये प्रविष्ट भिक्षु यदि यह जाने कि दाता का हाथ अथवा चम्मच, बर्तन आदि सचित्त जल से भीगे हुए है तो उससे उसे भिक्षा ग्रहण करना नही कल्पता है। ऐसा निषेध दशवै अ ५ तथा आचाराग श्रु २ अ १ उ ६ मे है। ऐसे लिप्त हाथ आदि से भिक्षा ग्रहण करने पर अप्काय के जीवो की विराधना होती है। खाद्य पदार्थों मे सचित्त जल मिल जाने पर सचित्त खाने-पीने का दोष लगना और जीवविराधना होना ये दोनो ही सभव है। यह एषणा का "लिप्त" नामक नौवा दोष है। एषणा के दोष बीसवे असमाधि-स्थान मे भी कहे गये है, किन्तु यहाँ जीवविराधना की अपेक्षा से इसे शबल दोष कहा गया है। निशीथ-सूत्र के १२वे उद्देशक मे इनका लघु चौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है।

समवायाग सूत्र के २१वे समवाय मे भी इन्ही २१ शबल दोषो का वर्णन है, किन्तु यहाँ कहे गये पाचवे और ग्यारहवे शबल दोष को वहाँ क्रमश· ग्यारहवा और पाचवा शबल दोष कहा गया है। इन सब विशिष्ट शबल दोषो को सयम का विघातक जानकर तथा कर्मबध का कारण जानकर भिक्षु त्याग करे और शुद्ध सयम की आराधना करे।

तीसरी दशा

तेतीस आशातनाएँ

सूत्र—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ।

प०—कयराओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ ?

उ०—इमाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीस आसायणाओ पण्णत्ताओ,

तं जहा—१. सेहे रायणियस्स पुरओ गंता, भवइ आसायणा सेहस्स। २. सेहे रायणियस्स सपक्खं गंता, भवइ आसायणा सेहस्स। ३. सेहे रायणियस्स आसन्नं गंता, भवइ आसायणा सेहस्स। ४. सेहे रायणियस्स पुरओ चिट्ठित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। ५. सेहे रायणियस्स सपक्खं चिट्ठित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। ६. सेहे रायणियस्स आसन्न चिट्ठित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। ७. सेहे रायणियस्स पुरओ निसीइत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। ८. सेहे रायणियस्स सपक्खं निसीइत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। ९. सेहे रायणियस्स आसन्न निसीइत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। १०. सेहे रायणिएणं सद्धिं बहिया वियारभूमिं निक्खंते समाणे तत्थ सेहे पुव्वतरागं आयमइ, पच्छा रायणिए, भवइ आसायणा सेहस्स। ११. सेहे रायणिएणं सद्धिं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंते समाणे तत्थ सेहे पुव्वतरागं आलोएइ पच्छा रायणिए, भवइ आसायणा सेहस्स। १२. केइ रायणियस्स पुव्व-संलवित्तए सिया, तं सेहे पुव्वतरागं आलवइ, पच्छा रायणिए, भवइ आसायणा सेहस्स। १३. सेहे रायणियस्स राओ वा वियाले वा वाहरमाणस्स 'अज्जो! के सुत्ता ? के जागरा ?' तत्थ सेहे जागरमाणे रायणियस्स अपडिसुणेत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। १४. सेहे असणं वा, पाणं वा, खाइम वा, साइमं वा पडिग्गाहित्ता त पुव्वमेव सेहतरागस्स आलोएइ, पच्छा रायणियस्स, भवइ आसायणा सेहस्स। १५ सेहे असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइम वा पडिग्गाहित्ता तं पुव्वमेव सेहतरागस्स उवदंसेइ, पच्छा रायणियस्स, भवइ आसायणा सेहस्स। १६. सेहे असणं वा, पाणं वा, खाइम वा, साइमं वा पडिग्गाहित्ता तं पुव्वमेव सेहतरागं उवणिमतेइ, पच्छा रायणिए, भवइ आसायणा सेहस्स। १७. सेहे रायणिएणं सद्धिं असण वा, पाणं वा, खाइम वा, साइम वा पडिगाहित्ता तं रायणियं अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ तस्स तस्स खद्धं-खद्धं दलयति, भवइ आसायणा सेहस्स। १८. सेहे असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिगाहित्ता रायणिएणं सद्धिं आहारेमाणे तत्थ सेहे—खद्धं-खद्धं डाग-डागं उसढं-उसढं रसियं-रसियं मणुन्नं-मणुन्नं मणामं-मणामं निद्धं-निद्धं लुक्खं-लुक्खं आहारित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। १९. सेहे रायणियस्स वाहरमाणस्स, अपडिसुणित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २०. सेहे रायणियस्स वाहरमाणस्स तत्थगए चेव पडिसुणित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २१. सेहे रायणियं 'किं' त्ति वत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २२. सेहे रायणियं 'तुमं' त्ति वत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २३. सेहे रायणिय खद्धं-खद्धं वत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २४. सेहे रायणियं तज्जाएणं-

तज्जाएणं पडिहणित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २५. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स 'इति एवं' वत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २६. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स 'नो सुमरसी' ति वत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २७. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स णो सुमणसे, भवइ आसायणा सेहस्स। २८. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स परिसं भेत्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। २९. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स कहं आच्छिदित्ता, भवइ आसायणा सेहस्स। ३०. सेहे रायणियस्स कहं कहेमाणस्स तीसे परिसाए अणुट्ठियाए अभिन्नाए अवुच्छिन्नाए अव्वोगडाए दोच्चंपि तच्चंपि तमेव कहं कहित्ता भवइ आसायणा सेहस्स। ३१. सेहे रायणियस्स सिज्जा-संथारगं पाएणं संघट्टित्ता हत्थेण अणणुण्णवित्ता गच्छइ, भवइ आसायणा सेहस्स। ३२. सेहे रायणियस्स सिज्जा-संथारए चिट्ठित्ता वा, निसीइत्ता वा, तुयट्टित्ता वा, भवइ आसायणा सेहस्स। ३३. सेहे रायणियस्स उच्चासणंसि वा, समासणंसि वा चिट्ठित्ता वा, निसीइत्ता वा, तुयट्टित्ता वा, भवइ आसायणा सेहस्स।

एयाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ, त्ति बेमि।

अर्थ—हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है उन निर्वाणप्राप्त भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—इस आर्हतप्रवचन मे निश्चय से स्थविर भगवन्तो ने तेतीस आशातनाएँ कही हैं।

प्र०—उन स्थविर भगवन्तो ने तेतीस आशातनाएँ कौन सी कही हैं ?

उ०—उन स्थविर भगवन्तो ने ये तेतीस आशातनाएँ कही हैं, जैसे—

१ शैक्ष (अल्प दीक्षापर्यायवाला), रात्निक साधु के आगे चले तो उसे आशातना दोष लगता है। २ शैक्ष, रात्निक साधु के समश्रेणी-बराबरी मे चले तो उसे आशातना दोष लगता है। ३. शैक्ष, रात्निक साधु के अति समीप होकर चले तो उसे आशातना दोष लगता है। ४ शैक्ष, रात्निक साधु के आगे खडा हो तो उसे आशातना दोष लगता है। ५ शैक्ष, रात्निक साधु के समश्रेणी मे खडा हो तो उसे आशातना दोष लगता है। ६. शैक्ष, रात्निक साधु के अति समीप खडा हो तो आशातना दोष लगता है। ७ शैक्ष, रात्निक साधु के आगे बैठे तो उसे आशातना दोष लगता है। ८. शैक्ष, रात्निक साधु के समश्रेणी मे बैठे तो उसे आशातना दोष लगता है। ९ शैक्ष, रात्निक साधु के अतिसमीप बैठे तो उसे आशातना दोष लगता है। १० शैक्ष, रात्निक साधु के साथ बाहर मलोत्सर्ग-स्थान पर गया हुआ हो, वहाँ शैक्ष रात्निक से पहले आचमन (शौच-शुद्धि) करे तो आशातना दोष लगता है। ११. शैक्ष, रात्निक के साथ बाहर विचारभूमि या विहारभूमि (स्वाध्यायस्थान) मे जावे तब शैक्ष रात्निक से पहले गमनागमन की आलोचना करे तो उसे आशातना दोष लगता है। १२. कोई व्यक्ति रात्निक के पास वार्तालाप के लिए आये, यदि शैक्ष उससे पहले ही वार्तालाप करने लगे तो उसे आशातना दोष लगता है। १३. रात्रि में या विकाल (सन्ध्यासमय) मे रात्निक साधु शिष्य को सम्बोधन करके कहे—"हे आर्य ! कौन-कौन सो रहे हैं और कौन-कौन जाग रहे है ?" उस समय जागता हुआ भी शैक्ष यदि रात्निक के वचनों को अनसुना करके उत्तर न दे तो उसे आशातना दोष लगता है। १४. शैक्ष, यदि अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार को लेकर उसकी आलोचना पहले किसी अन्य शैक्ष के पास करे और पीछे रात्निक के समीप करे तो उसे आशातना दोष लगता है। १५ शैक्ष, यदि अशन, पान, खादिम और स्वादिम

आहार को लाकर पहले किसी अन्य शैक्ष को दिखावे और पीछे रात्निक को दिखावे तो उसे आशातना दोष लगता है। १६. शैक्ष, यदि अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार को उपाश्रय में लाकर पहले अन्य शैक्ष को (भोजनार्थ) आमन्त्रित करे और पीछे रात्निक को आमंत्रित करे तो उसे आशातना दोष लगता है। १७. शैक्ष, यदि साधु के साथ अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार को (उपाश्रय मे) लाकर रात्निक से बिना पूछे जिस-जिस साधु को देना चाहता है, उसे जल्दी-जल्दी अधिक-अधिक मात्रा मे दे तो उसे आशातना दोष लगता है। १८ शैक्ष, अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार को लाकर रात्निक साधु के साथ आहार करता हुआ यदि वहाँ वह शैक्ष प्रचुर मात्रा में विविध प्रकार के शाक, श्रेष्ठ, ताजे, रसदार मनोज्ञ मनोभिलषित स्निग्ध और रूक्ष आहार शीघ्रता से करे तो उसे आशातना दोष लगता है। १९ रात्निक के बुलाने पर यदि शैक्ष अनसुनी कर चुप रह जाता है तो उसे आशातना दोष लगता है। २० रात्निक के बुलाने पर यदि शैक्ष अपने स्थान पर ही बैठा हुआ उसकी बात को सुने और सन्मुख उपस्थित न हो तो आशातना दोष लगता है। २१. रात्निक के बुलाने पर यदि शैक्ष 'क्या कहते हो' ऐसा कहता है तो उसे आशातना दोष लगता है। २२ शैक्ष, रात्निक को "तू" या "तुम" कहे तो उसे आशातना दोष लगता है। २३. शैक्ष, रात्निक के सन्मुख अनर्गल प्रलाप करे तो उसे आशातना दोष लगता है। २४ शैक्ष, रात्निक को उसी के द्वारा कहे गये वचनो से प्रतिभाषण करे [तिरस्कार करे] तो उसे आशातना दोष लगता है। २५. शैक्ष, रात्निक के कथा कहते समय कहे कि 'यह ऐसा कहिये' तो उसे आशातना दोष लगता है। २६ शैक्ष, रात्निक के कथा कहते हुए "आप भूलते हैं" इस प्रकार कहता है तो उसे आशातना दोष लगता है। २७. शैक्ष, रात्निक के कथा कहतेहुए यदि प्रसन्न न रहे किन्तु अप्रसन्न रहे तो उसे आशातना दोष लगता है। २८ शैक्ष, रात्निक के कहते हुए यदि (किसी बहाने से) परिषद् को विसर्जन करे तो उसे आशातना दोष लगता है। २९ शैक्ष, रात्निक के कथा कहते हुए यदि कथा मे बाधा उपस्थित करे तो उसे आशातना दोष लगता है। ३० शैक्ष, रात्निक के कथा कहते हुए परिषद् के उठने से, भिन्न होने से, छिन्न होने से और बिखरने से पूर्व यदि उसी कथा को दूसरी बार और तीसरी बार भी कहता है तो उसे आशातना दोष लगता है। ३१. शैक्ष, यदि रात्निक साधु के शय्या-सस्तारक का (असावधानी से) पैर से स्पर्श हो जाने पर हाथ जोडकर बिना क्षमायाचना किये चला जाय तो उसे आशातना दोष लगता है। ३२ शैक्ष, रात्निक के शय्या-सस्तारक पर खडा हो, बैठे या सोवे तो उसे आशातना दोष लगता है। ३३ शैक्ष, रात्निक से ऊँचे या समान आसन पर खडा हो, बैठे या सोवे तो उसे आशातना दोष लगता है।

स्थविर भगवन्तो ने ये तेतीस आशातनाएँ कही है। ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन—भगवतीसूत्र मे वीतराग धर्म का मूल विनय कहा गया है। दशवै अ. ९ में वृक्ष की उपमा देकर कहा गया है—"जैसे वृक्ष के मूल से ही स्कध आदि सभी विभागो का विकास होता है, उसी प्रकार धर्म का मूल विनय है और उसका अतिम फल मोक्ष है, विनय से ही कीर्ति, श्रुत-श्लाधा और सपूर्ण गुणो की प्राप्ति होती है।" विनय सभी गुणो का प्राण है। जिस प्रकार निष्प्राण शरीर निरुपयोगी हो जाता है, उसी प्रकार विनय के अभाव मे सभी गुण-समूह व्यर्थ हो जाते हैं अर्थात् वे कुछ भी प्रगति नही कर पाते हैं।

अविनीत शिष्य को बृहत्कल्पसूत्र उ. ४ मे शास्त्र की वाचना के अयोग्य बताया गया है।

गुरु का विनय नही करना या अविनय करना, ये दोनो ही आशातना के प्रकार हैं। आशातना देव एव गुरु की तथा संसार के किसी भी प्राणी की हो सकती है। धर्म-सिद्धान्तो की भी आशातना होती है। अत आशातना की विस्तृत परिभाषा इस प्रकार होती है—देव, गुरु की विनय भक्ति न करना, अविनय अभक्ति करना, उनकी आज्ञा भग करना या निंदा करना, धर्मसिद्धान्तों की अवहेलना करना, विपरीत प्ररूपणा करना और किसी भी प्राणी के साथ अप्रिय व्यवहार करना, उसकी निन्दा या तिरस्कार करना 'आशातना' है। लौकिक भाषा में इसे असभ्य व्यवहार कहा जाता है।

आवश्यकसूत्र के चौथे अध्याय में तेतीस आशातनाओ मे ऐसी आशातनाओ का कथन है। किन्तु इस तीसरी दशा मे केवल गुरु और रत्नाधिक (अधिक सयमपर्याय वाले) की आशातना का ही कथन किया गया है।

निशीथसूत्र के दसवे उद्देशक में गुरु व रत्नाधिक की आशातना का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है और तेरहवे और पन्द्रहवे उद्देशक मे क्रमश गृहस्थ तथा सामान्य साधु की आशातना का प्रायश्चित्त विधान है। गुरु व रत्नाधिक की तेतीस आशातनाएँ इसप्रकार हैं—

चलना, खडे रहना और बैठना, तीन क्रियाओ की अपेक्षा नव आशातनाएँ कही गई हैं। गुरु या रत्नाधिक के आगे या समश्रेणी मे और पीछे अत्यन्त निकट चलने से उनकी आशातना होती है।

आगे चलना अविनय आशातना है, समकक्ष चलना विनयाभाव आशातना है, पीछे अत्यन्त निकट चलना अविवेक आशातना है। इसी तरह खड़े रहने और बैठने के विषय मे भी समझ लेना चाहिए। इन आशातनाओ से शिष्य के गुणो का ह्रास होता है, लोगो मे अपयश होता है और वह गुरुकृपा प्राप्त नही कर सकता है। अत गुरु या रत्नाधिक के साथ बैठना, चलना, खड़े रहना हो तो उनसे कुछ पीछे या कुछ दूर रहना चाहिए। कभी उनके सन्मुख बैठना आदि हो तो भी उचित दूरी पर विवेकपूर्वक बैठना चाहिए। यदि गुरु से कुछ दूरी पर चलना हो तो विवेकपूर्वक आगे भी चला जा सकता है। गुरु या रत्नाधिक की आज्ञा होने पर आगे पार्श्वभाग मे या निकट कही भी बैठने आदि से आशातना नही होती है।

शेष आशातनाओ का भाव सूत्र के अर्थ से ही स्पष्ट हो जाता है। उनका साराश यह है कि गुरु या रत्नाधिक के साथ आना-जाना, आलोचनात्मक प्रत्येक प्रवृत्ति मे शिष्य यही ध्यान रखे कि ये प्रवृत्तियाँ उनके करने के बाद करे। उनके वचनो को शान्त मन से सुनकर स्वीकार करे। अशनादि पहले उनको दिखावे। उन्हे बिना पूछे कोई कार्य न करे। उनके साथ आहार करते समय आसक्ति से मनोज्ञ आहार न खावे। उनके साथ वार्तालाप करते समय या विनय-भक्ति करने मे और प्रत्येक व्यवहार करने मे उनका पूर्ण सन्मान रखे। उनके शरीर की तथा उपकरणो की भी किसी प्रकार से अवज्ञा न करे।

गुरु या रत्नाधिक की आज्ञा से यदि कोई प्रवृत्ति करे और उसमे आशातना दिखे तो भी आशातना नही कही जाती है। प्रत्येक शिष्य को चाहिये कि वह अनाशातनाओ को समझकर अपने जीवन को विनयशील बनावे और आशातनाओ से बचे। क्योकि गुरु या रत्नाधिक की आशातनाओ से इस भव और परभव मे आत्मा का अहित होता है। इस विषय का स्पष्ट दृष्टान्त सहित वर्णन दशवै अ. ९ में है। प्रत्येक साधक को उस अध्ययन का मनन एव परिपालन करना चाहिये।

[□□

चौथी दशा

आठ प्रकार की गणि-सम्पदा

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवतेहिं अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता।

प०—कयरा खलु ता थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठविहा गणिसपया पण्णत्ता ?

उ०—इमा खलु ता थेरेहिं भगवतेहिं अट्ठविहा गणिसपया पण्णत्ता, तं जहा—

१. आयारसंपया, २. सुयसंपया, ३. सरीरसंपया, ४. वयणसंपया, ५. वायणासंपया,
६. मइसंपया, ७. पओगमइसपया, ८. संगह-परिण्णा णाम अट्ठमा संपया।

१. प०—से किं तं आयारसंपया ?

उ०—आयारसपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. संजम-धुव-जोग-जुत्ते यावि भवइ, २. असंपग्गहिय-अप्पा, ३. अणियत-वित्ती,
४. वुड्ढसीले यावि भवइ। से तं आयारसंपया।

२. प०—से किं तं सुयसपया ?

उ०—सुयसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. बहुस्सुए यावि भवइ, २. परिचियसुए यावि भवइ, ३. विचित्तसुए यावि भवइ,
४. घोसविसुद्धिकारए यावि भवइ। से त सुयसपया।

३. प०—से किं तं सरीरसंपया ?

उ०—सरीरसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. आरोहपरिणाहसंपन्ने यावि भवइ, २. अणोतप्पसरीरे यावि भवइ,
३. थिरसंघयणे यावि भवइ, ४. बहुपडिपुण्णिंदिए यावि भवइ। से तं सरीरसपया।

४. प०—से किं तं वयणसंपया ?

उ०—वयणसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. आदेयवयणे यावि भवइ, २. महुरवयणे यावि भवइ, ३. अणिस्सियवयणे यावि भवई,
४. असंदिद्धवयणे यावि भवइ। से त वयणसंपया।

५. प०—से किं तं वायणासंपया ?

उ०—वायणासंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. विजयं उद्दिसइ, २. विजयं वाएइ, ३. परिनिव्वावियं वाएइ,
४. अत्थनिज्जावए यावि भवइ। से तं वायणासंपया।

६. प०—से किं तं मइसंपया ?

उ०—मइसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. उग्गहमइसंपया, २. ईहामइसंपया, ३. अवायमइसंपया, ४. धारणामइसंपया।

(१) प०—से किं तं उग्गहमइसंपया ?

उ०—उग्गहमइसंपया छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. खिप्पं उगिण्हेइ, २. बहुं उगिण्हेइ, ३. बहुविहं उगिण्हेइ,
४. धुवं उगिण्हेइ, ५. अणिस्सियं उगिण्हेइ, ६. असंदिद्धं उगिण्हेइ।
से तं उग्गहमइसंपया।

(२) एवं ईहामई वि।

(३) एवं अवायमई वि।

(४) प०—से किं तं धारणामइसंपया ?

उ०—धारणामइसंपया छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. बहुं धरेइ, २. बहुविहं धरेइ, ३. पोराणं धरेइ, ४. दुद्धरं धरेइ,
५. अणिस्सियं धरेइ, ६. असंदिद्धं धरेइ। से तं धारणामइसंपया। से तं मइसंपया।

७. प०—से किं तं पओगमइसंपया ?

उ०—पओगमइसंपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. आयं विदाय वायं पउंजित्ता भवइ, २. परिसं विदाय वायं पउंजित्ता भवइ,
३. खेत्तं विदाय वायं पउंजित्ता भवइ, ४. वत्थुं विदाय वायं पउंजित्ता भवइ।
से तं पओगमइसंपया।

८. प०—से किं तं संगहपरिण्णा णामं संपया ?

उ०—संगहपरिण्णा णामं संपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. बहुजणपाउग्गयाए वासावासेसु खेत्तं पडिलेहित्ता भवइ,
२. बहुजणपाउग्गयाए पाडिहारिय-पीढ-फलग-सेज्जा-संथारयं उगिण्हित्ता भवइ,
३. कालेणं कालं समाणइत्ता भवइ, ४. अहागुरु संपूएत्ता भवइ।
से तं संगहपरिण्णासंपया।

अर्थ—हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है उन निर्वाणप्राप्त भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—इस आर्हतप्रवचन में स्थविर भगवन्तों ने आठ प्रकार की गणिसम्पदा कही है।

प्र०—हे भगवन् ! वह आठ प्रकार की गणिसम्पदा कौन-सी कही गई है ?

उ०—आठ प्रकार की गणिसम्पदा ये कही गई है। जैसे—

१. आचारसम्पदा, २. श्रुतसम्पदा, ३. शरीरसम्पदा, ४. वचनसम्पदा, ५. वाचना-सम्पदा, ६. मतिसम्पदा, ७. प्रयोगमतिसम्पदा, ८. आठवीं संग्रहपरिज्ञासम्पदा।

१. प्र०—भगवन् ! वह आचारसम्पदा क्या है ?

उ०—आचारसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. सयमक्रियाओ मे सदा उपयुक्त रहना। २ अहकाररहित होना।
३. एक स्थान पर स्थिर होकर नही रहना। ४ वृद्धो के समान गम्भीर स्वभाव वाला होना।
यह चार प्रकार की आचारसम्पदा है।

२. प्र०—भगवन् ! श्रुतसम्पदा क्या है ?

उ०—श्रुतसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१ अनेकशास्त्रो का ज्ञाता होना। २ सूत्रार्थ से भलीभाति परिचित होना।
३ स्वसमय और परसमय का ज्ञाता होना। ४. शुद्ध उच्चारण करने वाला होना।
यह चार प्रकार की श्रुतसम्पदा है।

३ प्र०—भगवन् ! शरीरसम्पदा क्या है ?

उ०—शरीरसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१ शरीर की लम्बाई-चौडाई का उचित प्रमाण होना। २ लज्जास्पद शरीर वाला न होना।
३ शरीर-सहनन सुदृढ़ होना। ४ सर्व इन्द्रियो का परिपूर्ण होना।
यह चार प्रकार की शरीरसम्पदा है।

४ प्र०—भगवन् ! वचनसम्पदा क्या है ?

उ०—वचनसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१ आदेयवचन वाला होना। २ मधुरवचन वाला होना।
३ राग-द्वेषरहित वचन वाला होना। ४ सन्देहरहित वचन वाला होना।
यह चार प्रकार की वचनसम्पदा है।

५ प्र०—भगवन् ! वाचनासम्पदा क्या है ?

उ०—वाचनासम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१ शिष्य की योग्यता का निश्चय करके मूल पाठ की वाचना देने वाला होना।
२ शिष्य की योग्यता का विचार करके सूत्रार्थ की वाचना देने वाला होना।
३. पूर्व में पढाये गये सूत्रार्थ को धारण कर लेने पर आगे पढाने वाला होना।
४. अर्थ-सगतिपूर्वक नय-प्रमाण से अध्यापन कराने वाला होना।
यह चार प्रकार की वाचनासम्पदा है।

६. प्र०—भगवन् ! मतिसम्पदा क्या है ?

उ०—मतिसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. अवग्रहमतिसम्पदा—सामान्य रूप से अर्थ को जानना।
२. ईहामतिसम्पदा—सामान्य रूप से जाने हुए अर्थ को विशेष रूप से जानने की इच्छा होना।
३ अवायमतिसम्पदा—ईहित वस्तु का विशेष रूप से निश्चय करना।
४. धारणामतिसम्पदा—ज्ञात वस्तु का कालान्तर मे स्मरण रखना।

(१) प्र०—भगवन् ! अवग्रहमतिसम्पदा क्या है ?

उ०—अवग्रहमतिसम्पदा छह प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. प्रश्न आदि को शीघ्र ग्रहण करना। २ बहुत अर्थ को ग्रहण करना।
३. अनेक प्रकार के अर्थों को ग्रहण करना।
४ निश्चित रूप से अर्थ को ग्रहण करना।
५. अनुक्त अर्थ को अपनी प्रतिभा से ग्रहण करना।
६. सन्देहरहित होकर अर्थ को ग्रहण करना।

(२) इसी प्रकार ईहामतिसम्पदा भी छह प्रकार की कही गई है।

(३) इसी प्रकार अवायमतिसम्पदा भी छह प्रकार की कही गई है।

(४) प्र०—भगवन् ! धारणामतिसम्पदा क्या है ?

उ०—धारणामतिसम्पदा छह प्रकार की कही गई है। जैसे—

१ बहुत अर्थ को धारण करना। २. अनेक प्रकार के अर्थों को धारण करना।
३ पुरानी धारणा को धारण करना। ४. कठिन से कठिन अर्थ को धारण करना।
५ किसी के अधीन न रहकर अनुकूल अर्थ को निश्चित रूप से अपनी प्रतिभा द्वारा धारण करना।
६ ज्ञात अर्थ को सन्देहरहित होकर धारण करना। यह धारणामतिसम्पदा है।

७ प्र०—भगवन् ! प्रयोगमतिसम्पदा क्या है ?

उ०—प्रयोगमतिसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. अपनी शक्ति को जानकर वादविवाद (शास्त्रार्थ) का प्रयोग करना।
२. परिषद् के भावो को जानकर वादविवाद का प्रयोग करना।
३. क्षेत्र को जानकर वादविवाद का प्रयोग करना।
४. वस्तु के विषय को जानकर वादविवाद का प्रयोग करना।
यह प्रयोगमतिसम्पदा है।

८ प्र०—भगवन् ! सग्रहपरिज्ञा नामक सम्पदा क्या है ?

उ०—सग्रहपरिज्ञा नामक सम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. वर्षावास मे अनेक मुनिजनो के रहने योग्य क्षेत्र का प्रतिलेखन करना।
२. अनेक मुनिजनो के लिए प्रातिहारिक पीठ फलक शय्या और सस्तारक ग्रहण करना।
३. यथाकाल यथोचित कार्य को करना और कराना।
४. गुरुजनो का यथायोग्य पूजा-सत्कार करना।
यह सग्रहपरिज्ञा नामक सम्पदा है।

विवेचन—इस दशा मे आचार्य को 'गणी' कहा गया है। साधुसमुदाय को "गण" या "गच्छ" कहा जाता है, उस गण के जो अधिपति (स्वामी) होते है, उन्हें गणि या गच्छाधिपति कहा जाता है। उनके गुणो के समूह को सम्पदा कहते हैं। गणि को उन गुणो से पूर्ण होना ही चाहिए, क्योकि बिना गुणों के वह गण की रक्षा नही कर सकता है और गण की रक्षा करना ही उसका प्रमुख कर्तव्य है।

शिष्य-समुदाय द्रव्य-संपदा है और ज्ञानादि गुण का समूह भाव-सपदा है। दोनो सपदाओं

से युक्त व्यक्ति ही वास्तव में गणि पद को सुशोभित करता है। प्रस्तुत दशा में द्रव्य और भाव सम्पदा को ही विस्तार से आठ प्रकार की सम्पदाओं द्वारा कहा गया है।

आचारसम्पदा—१. संयम की सभी क्रियाओं मे योगो का स्थिर होना आवश्यक है, क्योंकि उन क्रियाओं का उचित रीति से पालन तभी हो सकता है।

२. आचार्य-पद-प्राप्ति का अभिमान न करते हुए सदा विनीतभाव से रहना, क्योंकि विनय से ही अन्य सभी गुणो का विकास होता है।

३. अप्रतिबद्ध होकर विचरण करना, क्योकि आचार्य के विचरण करने से ही धर्म-प्रभावना अधिक होती है तथा विचरण से ही वह आचार-धर्म पर दृढ रह सकता है।

४ लघुवय मे भी आचार्य पद प्राप्त हो सकता है किन्तु शान्त स्वभाव एव गाभीर्य होना अर्थात् बचपन न रखकर प्रौढता धारण करना अत्यावश्यक है।

इन गुणो से सम्पन्न आचार्य "**आचारसम्पदा**" युक्त होता है।

(२) **श्रुतसम्पदा**—१ उपलब्ध विशाल श्रुत मे से प्रमुख सूत्रग्रन्थो का चिन्तन-मननपूर्वक अध्ययन होना और उनमे आये विषयो से तात्त्विक निर्णय करने की क्षमता होना।

२. श्रुत के विषयो का हृदयगम होना, उसका परमार्थ समझना तथा विस्मृत न होना।

३ नय-निक्षेप, भेद-प्रभेद सहित अध्ययन होना तथा मत-मतातर आदि की चर्चा-वार्ता करने के लिए श्रुत का समुचित अभ्यास होना।

४ ह्रस्व-दीर्घ, सयुक्ताक्षर, गद्य-पद्यमय सूत्रपाठो का पूर्ण शुद्ध उच्चारण होना।

इन गुणो से सम्पन्न आचार्य "**श्रुत (ज्ञान) संपदा**" युक्त होता है।

(३) **शरीरसम्पदा**—१ ऊँचाई और मोटाई मे प्रमाणयुक्त शरीर अर्थात् अति लम्बा या अति ठिगना तथा अति दुर्बल या अति स्थूल न होना।

२ शरीर के सभी अगोपागो का सुव्यवस्थित होना अर्थात् दूसरो को हास्यास्पद और स्वयं को लज्जाजनक लगे, ऐसा शरीर न होना।

३. सुदृढ सहनन होना अर्थात् शरीर शक्ति से सम्पन्न होना।

४ सभी इन्द्रियाँ परिपूर्ण होना, पूर्ण शरीर सुगठित होना, आख-कान आदि की विकलता न होना अर्थात् शरीर सुन्दर, सुडौल, कातिमान और प्रभावशाली होना।

इन गुणो से युक्त आचार्य '**शरीरसम्पदा' युक्त** होता है।

(४) **वचनसम्पदा**—१ आदेश और शिक्षा के वचन शिष्यादि सहर्ष स्वीकार कर ले और जनता भी उनके वचनो को प्रमाण मान ले, ऐसे आदेयवचन वाला होना।

२ सारगर्भित तथा मधुरभाषी होना और आगमसम्मत वचन होना। किन्तु निरर्थक या मोक्षमार्गनिरपेक्ष वचन न होना।

३. अनुबन्धयुक्त वचन न होना अर्थात् "उसने भी ऐसा कहा था या उससे पूछकर कहूँगा" इत्यादि अथवा राग-द्वेष से युक्त वचन न बोलना, किन्तु शान्त स्वभाव से निष्पक्ष वचन बोलना।

४. संदेह रहित स्पष्ट वचन बोलना। अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने वाला वचन बोलना। सत्यवचन बोलना। असत्य, मिश्र या संदिग्ध वचन न बोलना।

इन गुणों से युक्त आचार्य "**वचनसम्पदा**" से युक्त होता है।

(५) **वाचनासम्पदा** १–२ यहाँ "विजय"—"विचय" शब्द के अनुप्रेक्षा, विचार-चिन्तन आदि अर्थ हैं। मूल पाठ की तथा अर्थ की वाचना के साथ इस शब्द का प्रयोग यही सूचित करता है कि शिष्य विनय, उपशान्ति, जितेन्द्रियता आदि श्रुत ग्रहण योग्य प्रमुख गुणो से युक्त है या नही तथा किस सूत्र का कितना पाठ या कितना अर्थ देने योग्य है, इस प्रकार की अनुप्रेक्षा करके मूल पाठ व अर्थ की वाचना देने वाला होना।

३ कठस्थ करने की शक्ति और उसे स्मृति में रखने की शक्ति का क्रमश विकास हो, इसका ध्यान रखना तथा पूर्व मे वाचना दिये गये मूल पाठ का और अर्थ की स्मृति का निरीक्षण-परीक्षण करके जितना उपयुक्त हो उतना आगे पढाना।

४ सक्षिप्त वाचना पद्धति से दिये गए मूल और अर्थ का परिणमन कर लेने पर शब्दार्थों के विकल्प, नय-प्रमाण, प्रश्न-उत्तर और अन्यत्र आये उन विषयो के उद्धरणो के सबधो को समझाते हुए तथा उत्सर्ग-अपवाद की स्थितियो मे उसी सूत्राधार से किस तरह उचित निर्णय लेना आदि विस्तृत व्याख्या समझाना। इन गुणो से युक्त आचार्य "**वाचनासम्पदा**" से युक्त होता है।

(६) **मतिसम्पदा**—मति का अर्थ है बुद्धि। १ औत्पत्तिकी, २ वैनयिकी, ३. कार्मिकी और ४ पारिणामिकी, इन चारो प्रकार की बुद्धियो से सम्पन्न होना।

प्रत्येक पदार्थ के सामान्य और विशेष गुणो को समझकर सही निर्णय करना। एक बार निर्णय करके समझे हुए विषय को लम्बे समय तक स्मृति मे रखना। किसी भी विषय को स्पष्ट समझना, किसी के द्वारा किये गये प्रश्न का समाधान करना, गूढ वचन के आशय को शीघ्र और नि सदेह स्वत. समझ जाना।

ऐसी बुद्धि और धारणाशक्ति से सम्पन्न आचार्य "**मतिसम्पदा**" युक्त होता है।

(७) **प्रयोगमतिसम्पदा**—पक्ष प्रतिपक्ष युक्त शास्त्रार्थ के समय श्रुत तथा बुद्धि के प्रयोग करने की कुशलता होना प्रयोगमतिसपदा है।

१ प्रतिपक्ष की योग्यता को देखकर तथा अपने सामर्थ्य को देखकर ही वाद का प्रयोग करना।

२ स्वय के और प्रतिवादी के सामर्थ्य का विचार करने के साथ उस समय उपस्थित परिषद् की योग्यता, रुचि, क्षमता का भी ध्यान रखकर वाद का प्रयोग करना अर्थात् तदनुरूप चर्चा का विषय और उसका विस्तार करना।

३. उपस्थित परिषद् के सिवाय चर्चा-स्थल के क्षेत्रीय वातावरण और प्रमुख पुरुषो का विचार कर वाद का प्रयोग करना।

४. साथ में रहने वाले बाल, ग्लान, वृद्ध, नवदीक्षित, तपस्वी आदि की समाधि का ध्यान

रखकर अति परिणामी, अपरिणामी, अगीतार्थ शिष्यो के हिताहित का विचार रखते हुए तथा वाद के परिणाम मे लाभालाभ की तुलना करके वाद का प्रयोग करना ।

इन कुशलताओ से सम्पन्न आचार्य "**प्रयोगमतिसम्पदा**" युक्त होता है ।

(८) **संग्रहपरिज्ञासम्पदा**—१ उपरोक्त सम्पदाओ से युक्त आचार्य मे यह उत्साह होना कि जनपद मे ग्रामानुग्राम विचरण करके वीतरागप्रज्ञप्त धर्म पर सर्वसाधारण की श्रद्धा सुदृढ करना और उन्हें धर्मानुरागी बनाना, जिससे चातुर्मास योग्य क्षेत्र सुलभ रहे ।

२. वहाँ के लोगो की आतिथ्य [सुपात्रदान] की भावना बढाना, जिससे बाल, ग्लान, वृद्ध, तपस्वी और अध्ययनशील साधु-साध्वियो का तथा आचार्य, उपाध्याय का निर्वाह एव सेवा शुश्रूषा सहज संपन्न हो सके अर्थात् पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक तथा आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, औषध वगैरह सर्वथा सुलभ हो ।

३ स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, उपधि-आहारादि की गवेषणा, अध्ययन-अध्यापन और यथाविधि सयम का पालन कराना तथा सयम का सम्यक् पालन करना ।

४ दीक्षापर्याय मे जो ज्येष्ठ हो तथा सयमदाता, वाचनादाता या गुरु हो, उनके आदर-सत्कार आदि व्यवहारो का स्वय पूर्ण पालन करना । ऐसा करने से शिष्यो मे और समाज मे विनय गुण का अनुपम प्रभाव होता है ।

इन गुणो से सम्पन्न आचार्य "**संग्रहपरिज्ञासम्पदा**" युक्त होता है ।

आचार्य सम्पूर्ण सघ की धर्म-नौका के नाविक होते है । अत सघहित के लिए सभी का यह कर्तव्य है कि वे उपरोक्त आठ सम्पदा रूप सर्वोच्च गुणो से सम्पन्न गीतार्थ भिक्षु को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करे ।

सघनायक आचार्य मे आठो ही सम्पदा होना आवश्यक है । तभी वे सम्पूर्ण सघ के सदस्यो की सुरक्षा और विकास कर सकते है तथा जिनशासन की प्रचुर प्रभावना कर सकते है ।

१ सर्वप्रथम आचार्य का आचार-सम्पन्न होना आवश्यक है, क्योकि आचार की शुद्धि से ही व्यवहार शुद्ध होता है ।

२ अनेक साधको का मार्गदर्शक होने से श्रुतज्ञान मे सम्पन्न होना भी आवश्यक है । बहुश्रुत ही सर्वत्र निर्भय विचरण कर सकता है ।

३ ज्ञान और क्रिया भी शारीरिक सौष्ठव होने पर ही प्रभावक हो सकते है, रुग्ण या अशोभनीय शरीर धर्म-प्रभावना मे सहायक नही होता है ।

४ धर्म के प्रचार-प्रसार मे प्रमुख साधन वाणी भी है । अत तीन सपदाओ के साथ-साथ वचनसपदा भी आचार्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है ।

५ बाह्य प्रभाव के साथ-साथ योग्य शिष्यो की सपदा भी आवश्यक है, क्योंकि सर्वगुणसपन्न अकेला व्यक्ति भी विशाल कार्यक्षेत्र मे अधिक सफल नही हो सकता । अत वाचनाओं के द्वारा अनेक बहुश्रुत गीतार्थ प्रतिभासपन्न शिष्यो को तैयार करना ।

६. शिष्य भी विभिन्न तर्क, बुद्धि, रुचि, आचार वाले होते है। अत. आचार्य का सभी के सरक्षण तथा सवर्धन के योग्य बहुमुखी बुद्धिसपन्न होना आवश्यक है।

७. विशाल समुदाय मे अनेक परिस्थितियाँ तथा उलझने उपस्थित होती रहती हैं। उनका यथासमय शीघ्र समुचित समाधान करने के लिये मतिसपदा और प्रयोगमतिसपदा का होना भी आवश्यक है। अन्य अनेक मत-मतान्तरो के सैद्धान्तिक विवाद या शास्त्रार्थ के प्रसग उपस्थित होने पर योग्य रीति से उनका प्रतीकार करना भी आवश्यक है। ऐसे समय मे तर्क, बुद्धि और श्रुत का प्रयोग बहुत धर्मप्रभावना करने वाला होता है।

८ उपरोक्त गुणो से धर्म की प्रभावना होने पर सर्वत्र यश की वृद्धि होने से शिष्य-परिवार की वृद्धि होना स्वाभाविक है। विशाल शिष्यसमुदाय के सयम की यथाविधि आराधना हो इसके लिये विचरण क्षेत्र, उपधि, आहारादि की सुलभता तथा अध्ययन, सेवा, विनय-व्यवहार की समुचित व्यवस्था और सयम समाचारी के पालन की देख-रेख, सारणा-वारणा सुव्यवस्थित होना भी अत्यावश्यक है।

इस प्रकार आठो ही सपदाएँ परस्पर एक-दूसरे की पूरक तथा स्वत महत्त्वशील है। ऐसे गुणो से सपन्न आचार्य का होना प्रत्येक गण (गच्छ-समुदाय) के लिये अनिवार्य है। जैसे कुशल नाविक के बिना नौका के यात्रियो की समुद्र मे पूर्ण सुरक्षा की आशा रखना अनुचित है वैसे ही आठ सपदाओ से सपन्न आचार्य के अभाव मे सयमसाधको की साधना और आराधना सदा विराधना रहित रहे, यह भी सभव नही है।

प्रत्येक साधक का भी यह कर्तव्य है कि वह जब तक पूर्ण योग्य और गीतार्थ न बन जाय तब तक उपरोक्त योग्यता से सपन्न आचार्य के नेतृत्व मे ही अपना सयमी जीवन सुरक्षित बनाये रखे।

शिष्य के प्रति आचार्य के कर्तव्य

आयरिओ अतेवासिं इमाए चउव्विहाए विणयपडिवत्तीए विणइत्ता भवइ निरिणत्तं गच्छइ, त जहा--

१. आयार-विणएण, २. सुय-विणएण, ३. विक्खेवणा-विणएण, ४. दोसनिग्घायण-विणएण।

१. प०—से किं तं आयार-विणए ?

उ०—आयार-विणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. संयमसामायारी यावि भवइ, २. तवसामायारी यावि भवइ,

३. गणसामायारी यावि भवइ, ४. एकल्लविहारसामायारी यावि भवइ।

से त आयार-विणए।

२. प०—से किं तं सुय-विणए ?

उ०—सुय-विणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. सुत्तं वाएइ, २. अत्थं वाएइ, ३. हियं वाएइ, ४. निस्सेसं वाएइ। से तं सुय-विणए।

३. प०—से किं तं विक्खेवणा-विणए ?

उ०—विक्खेवणा-विणए चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. अदिट्ठधम्मं दिट्ठ-पुव्वगत्ताए विणयइत्ता भवइ,

२. दिट्ठपुव्वगं साहम्मियत्ताए विणयइत्ता भवइ,

३. चुयधम्माओ धम्मे ठावइत्ता भवइ,

४. तस्सेव धम्मस्स हियाए, सुहाए, खमाए, निस्सेयसाए, अणुगामियत्ताए अब्भुट्ठेत्ता भवइ।

से तं विक्खेवणा-विणए।

४. प०—से किं तं दोसनिग्घायणा-विणए ?

उ०—दोसनिग्घायणा-विणए चउव्विहे पण्णत्ते, त जहा—

१. कुद्धस्स कोहं विणएत्ता भवइ, २. दुट्ठस्स दोसं णिगिण्हित्ता भवइ,

३. कंखियस्स कंखं छिंदित्ता भवइ, ४. आया-सुपणिहिए यावि भवइ।

से तं दोसनिग्घायणा-विणए।

आचार्य अपने शिष्यो को यह चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति सिखाकर के अपने ऋण से उऋण हो जाता है। जैसे—

१ आचार-विनय, २ श्रुत-विनय, ३ विक्षेपणा-विनय, ४ दोषनिर्घातना-विनय।

१ प्र०—भगवन्! वह आचार-विनय क्या है ?

उ०—आचार-विनय चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—

१ सयम की समाचारी सिखाना। २ तप की समाचारी सिखाना।

३ गण की समाचारी सिखाना। ४ एकाकीविहार की समाचारी सिखाना।

यह आचार-विनय है।

२ प्र०—भगवन्! श्रुत-विनय क्या है ?

उ०—श्रुत-विनय चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—

१ मूल सूत्रो को पढाना। २ सूत्रो के अर्थ को पढाना।

३ शिष्य के हित का उपदेश देना। ४ सूत्रार्थ का यथाविधि समग्र अध्यापन कराना।

यह श्रुत-विनय है।

३ प्र०—भगवन्! विक्षेपणा-विनय क्या है ?

उ०—विक्षेपणा-विनय चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—

१ जिसने सयमधर्म को पूर्ण रूप से नही समझा है उसे समझाना।

२ सयमधर्म के ज्ञाता को ज्ञानादि गुणो से अपने समान बनाना।

३ धर्म से च्युत होने वाले शिष्य को पुन धर्म मे स्थिर करना।

४ सयमधर्म मे स्थित शिष्य के हित के लिये, सुख के लिए, सामर्थ्य के लिए, मोक्ष के लिए और भवान्तर मे भी धर्म की प्राप्ति हो, इसके लिए प्रवृत्त रहना।

यह विक्षेपणा-विनय है।

४. प्र०—भगवन् ! दोषनिर्घातना-विनय क्या है ?

उ०—दोषनिर्घातना-विनय चार प्रकार का कहा गया है, जैसे—

१. क्रुद्ध व्यक्ति के क्रोध को दूर करना। २. दुष्ट व्यक्ति के द्वेष को दूर करना।

३ आकाक्षा वाले व्यक्ति की आकांक्षा का निवारण करना।

४. अपनी आत्मा को सयम मे लगाये रखना। यह दोषनिर्घातना-विनय है।

विवेचन—आठ संपदाओ से संपन्न भिक्षु को जब आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है तब वह सपूर्ण सघ का धर्मशास्ता हो जाता है। तब उसे भी सघ सरक्षण एव सवर्धन के अनेक कर्तव्यो के उत्तरदायित्व निभाने होते हैं। उनके प्रमुख उत्तरदायित्व चार प्रकार के है—

१ आचारविनय, २ श्रुतविनय, ३ विक्षेपणाविनय, ४ दोषनिर्घातनाविनय।

१. आचारविनय—गणी (आचार्य) का मुख्य कर्तव्य है कि सबसे पहले शिष्यो को आचार सम्बन्धी शिक्षाओ से सुशिक्षित करे। वह आचार सबधी शिक्षा चार प्रकार की है—

१ सयम की प्रत्येक प्रवृत्ति के विधि-निषेधो का ज्ञान कराना, काल-अकाल का ज्ञान कराना। महाव्रत, समिति, गुप्ति, यतिधर्म, परीषहजय आदि का यथार्थ बोध देना।

२ अनेक प्रकार की तपश्चर्याओ के भेद-प्रभेदो का ज्ञान कराना। तप करने की शक्ति और उत्साह बढाना। निरन्तर तपश्चर्या करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए आगमोक्त क्रम से तपश्चर्या की एव पारणा मे परिमित पथ्य आहारादि के सेवन की विधि का ज्ञान कराना।

३ गीतार्थ अगीतार्थ भद्रिक परिणामी आदि सभी की सयमसाधना निर्विघ्न सम्पन्न होने के लिए आचारशास्त्रो तथा छेदसूत्रो के आधार से बनाये गये गच्छ सम्बन्धी नियमो उपनियमो (समाचारी) का सम्यक् ज्ञान कराना।

४ गण की सामूहिकचर्या को त्यागकर एकाकीविहारचर्या करने की योग्यता का, वय का तथा विचरणकाल मे सावधानियाँ रखने का ज्ञान कराना एव एकाकीविहार करने की क्षमता प्राप्त करने के उपायो का ज्ञान कराना। क्योकि भिक्षु का द्वितीय मनोरथ यह है कि "कब मैं गच्छ के सामूहिक कर्तव्यो से मुक्त होकर एकाकीविहारचर्या धारण करूँ।" अत एकाकीविहारचर्या की विधि का ज्ञान कराना आचार्य का चौथा आचारविनय है।

आचारागसूत्र श्रु. १, अ ५ और ६ में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनो प्रकार की एकाकीविहार-चर्या के लक्षण बताये गये है। उनमे से अप्रशस्त एकलविहारचर्या के वर्णन को लक्ष्य मे रखकर एकल-विहारचर्या के निषेध की परम्परा प्रचलित है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र, द्वितीय मनोरथ तथा गणव्युत्सर्ग तप वर्णन के अनुसार एकलविहारचर्या का सर्वथा विरोध करना आगमसम्मत नही कहा जा सकता। इस पाठ की व्याख्या मे भी स्पष्ट उल्लेख है कि आचार्य एकाकीविहारचर्या धारण करने के लिये दूसरों को उत्साहित करे तथा स्वय भी अनुकूल अवसर पर निवृत्त होकर इस चर्या को धारण करे। इस सूत्र की निर्युक्ति, चूर्णि के सम्पादक मुनिराज भी यही सूचित करते है कि एकान्त निषेध उचित नही है।

यह आचार्य का चार प्रकार का "आचार-विनय" है।

२. **श्रुतविनय**—१-२. आचारधर्म का प्रशिक्षण देने के साथ-साथ आचार्य का दूसरा कर्तव्य है—आज्ञाधीन शिष्यो को **सूत्र व अर्थ** की समुचित वाचना देकर श्रुतसम्पन्न बनाना।

३ उस **सूत्रार्थ के** ज्ञान से तप सयम की वृद्धि के उपायो का ज्ञान कराना अर्थात् शास्त्रज्ञान को जीवन मे क्रियान्वित करवाना अथवा समय-समय पर उन्हे हितशिक्षा देना।

४ सूत्ररुचि वाले शिष्यो को प्रमाणनय की चर्चा द्वारा अर्थ परमार्थ समझाना। छेदसूत्र आदि सभी आगमो की क्रमश वाचना के समय आने वाले विघ्नो का शमन कर श्रुतवाचना पूर्ण कराना।

यह आचार्य का चार प्रकार का "**श्रुतविनय**" है।

३. विक्षेपणाविनय—१ जो धर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ है, उन्हे धर्म का स्वरूप समझाना।

२ जो अनगारधर्म के प्रति उत्सुक नही हैं, उन्हे अनगारधर्म स्वीकार करने के लिये उत्साहित करना।

अथवा १ यथार्थ सयमधर्म समझाना, २ सयमधर्म के यथार्थ ज्ञाता को ज्ञानादि मे अपने समान बनाना।

३ किसी अप्रिय प्रसंग से किसी भिक्षु की सयमधर्म से अरुचि हो जाय तो उसे विवेकपूर्वक पुन स्थिर करना।

४ श्रद्धालु शिष्यो को सयमधर्म की पूर्ण आराधना कराने मे सदैव तत्पर रहना।

यह आचार्य का चार प्रकार का "**विक्षेपणा-विनय**" है।

४. दोषनिर्घातनाविनय—शिष्यो की समुचित व्यवस्था करते हुए भी विशाल समूह मे साधना करते हुए कभी कोई साधक छद्मस्थ अवस्था के कारण कषायो के वशीभूत होकर किसी दोष-विशेष के पात्र हो सकते हैं।

१ उनके क्रोधादि अवस्थाओ का सम्यक् प्रकार से छेदन करना।

२ राग-द्वेषात्मक परिणति का तटस्थतापूर्वक निवारण करना।

३ अनेक प्रकार की आकाक्षाओ के अधीन शिष्यो की आकाक्षाओ को उचित उपायो से दूर करना।

४ इन विभिन्न दोषो का निवारण कर सयम मे सुदृढ करना अथवा शिष्यो के उक्त दोषो का निवारण करते हुए भी अपनी आत्मा को सयमगुणो से परिपूर्ण बनाये रखना।

शिष्य-समुदाय मे उत्पन्न दोषो को दूर करना। यह आचार्य का चार प्रकार का "**दोषनिर्घातनाविनय**" है।

सम्पूर्ण ऐश्वर्य-सम्पन्न जो राजा प्रजा का प्रतिपालक होता है वही यशकीर्ति को प्राप्त कर सुखी होता है, वैसे ही जो आचार्य शिष्यसमुदाय की विवेकपूर्वक परिपालना करता हुआ सयम की आराधना कराता है, वह शीघ्र ही मोक्ष गति को प्राप्त करता है। भगवतीसूत्र श ५ उ ६ मे कहा है कि सम्यक् प्रकार से गण का परिपालन करने वाले आचार्य, उपाध्याय उसी भव मे या दूसरे भव मे अथवा तीसरे भव में अवश्य मुक्ति प्राप्त करते हैं।

आचार्य और गण के प्रति शिष्य के कर्तव्य

तस्स णं एवं गुणजाइयस्स अंतेवासिस्स इमा चउव्विहा विणयपडिवत्ती भवइ, तं जहा—

१. उवगरणउप्पायणया, २. साहिल्लणया, ३. वण्णसंजलणया, ४. भारपच्चोरुहणया।

१. प०—से किं तं उवगरणउप्पायणया ?

उ०—उवगरणउप्पायणया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. अणुप्पण्णाणं उवगरणाणं उप्पाइत्ता भवइ,

२. पोराणाणं उवगरणाणं सारक्खित्ता संगोवित्ता भवइ,

३. परित्तं जाणित्ता पच्चुद्धरित्ता भवइ, ४. अहाविहिं संविभइत्ता भवइ।

से तं उवगरणउप्पायणया।

२. प०—से किं तं साहिल्लणया ?

उ०—साहिल्लणया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. अणुलोमवइसहिते यावि भवइ, २. अणुलोमकायकिरियत्ता यावि भवइ,

३. पडिरूवकायसंफासणया यावि भवइ, ४. सव्वत्थेसु अपडिलोमया यावि भवइ।

से तं साहिल्लणया।

३. प०—से किं तं वण्णसंजलणया ?

उ०—वण्णसंजलणया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. अहातच्चाणं वण्णवाई भवइ, २. अवण्णवाइं पडिहणित्ता भवइ,

३. वण्णवाइं अणुवूहइत्ता भवइ, ४. आय वुड्ढसेवी यावि भवइ।

से तं वण्णसंजलणया।

४. प०—से किं तं भारपच्चोरुहणया ?

उ०—भारपच्चोरुहणया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. असंगहिय-परिजणसंगहित्ता भवइ,

२. सेहं आयारगोयरसंगहित्ता भवइ,

३. साहम्मियस्स गिलायमाणस्स अहाथामं वेयावच्चे अब्भुट्ठित्ता भवइ,

४. साहम्मियाणं अहिगरणंसि उप्पण्णंसि तत्थ अणिस्सितोवस्सिए अपक्खग्गहिय-मज्झत्थ-भावभूए सम्मं ववहरमाणे तस्स अधिगरणस्स खमावणाए विउसमणयाए सया समियं अब्भुट्ठित्ता भवइ।

कहं णु साहम्मिया अप्पसद्दा, अप्पझंझा, अप्पकलहा, अप्पकसाया, अप्पतुमंतुमा, संजमबहुला, संवरबहुला, समाहिबहुला, अप्पमत्ता, संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा—एवं च णं विहरेज्जा।

से तं भारपच्चोरुहणया।

एसा खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता।

—त्ति बेमि।

ऐसे गुणवान् आचार्य के अन्तेवासी शिष्य की यह चार प्रकार की विनयप्रतिपत्ति है। जैसे—

१. उपकरणोत्पादनता—सयम के उपयोगी वस्त्र-पात्रादि का प्राप्त करना।
२. सहायकता—अशक्त साधुओ की सहायता करना।
३. वर्णसज्वलनता—गण और गणी के गुण प्रकट करना।
४. भारप्रत्यारोहणता—गण के भार का निर्वाह करना।

१. प्र०—भगवन् ! उपकरणोत्पादनता क्या है ?
उ०—उपकरणोत्पादनता चार प्रकार की कही गई है। जैसे—
१ नवीन उपकरणो को प्राप्त करना। २ प्राप्त उपकरणों का सरक्षण और सगोपन करना।
३. जिस मुनि के पास अल्प उपधि हो, उसकी पूर्ति करना।
४ शिष्यो के लिए यथायोग्य उपकरणो का विभाग करके देना। यह उपकरणोत्पादनता है।

२. प्र—भगवन् ! सहायकताविनय क्या है ?
उ०—सहायकताविनय चार प्रकार का कहा गया है। जैसे—
१ गुरु के अनुकूल वचन बोलने वाला होना अर्थात् जो गुरु कहे उसे विनयपूर्वक स्वीकार करना। २ जैसा गुरु कहे वैसी प्रवृत्ति करने वाला होना।
३ गुरु की यथोचित सेवा-शुश्रूषा करना।
४ सर्व कार्यों मे गुरु की इच्छा के अनुकूल व्यवहार करना। यह सहायकताविनय है।

३. प्र०—भगवन् ! वर्णसज्वलनताविनय क्या है ?
उ०—वर्णसज्वलनताविनय चार प्रकार का कहा गया है। जैसे—
१ यथातथ्य गुणो की प्रशसा करने वाला होना।
२. अयथार्थ दोषो के कहने वाले को निरुत्तर करना।
३. वर्णवादी के गुणो का सवर्धन करना। ४ स्वय वृद्धो की सेवा करने वाला होना।
यह वर्णसज्वलनताविनय है।

४ प्र०—भगवन् ! भारप्रत्यारोहणताविनय क्या है ?
उ०—भारप्रत्यारोहणताविनय चार प्रकार का कहा गया है। जैसे—
१ नवीन शिष्यो का सग्रह करना।
२ नवीन दीक्षित शिष्यो को आचार-गोचर अर्थात् सयम की विधि सिखाना।
३ साधर्मिक रोगी साधुओ की यथाशक्ति वैयावृत्य के लिए तत्पर रहना।
४ साधर्मिको मे परस्पर कलह उत्पन्न हो जाने पर राग-द्वेष का परित्याग करते हुए, किसी पक्षविशेष को ग्रहण न करके मध्यस्थभाव रखना और सम्यक् व्यवहार का पालन करते हुए उस कलह के क्षमापन और उपशमन के लिए सदा तत्पर रहना और यह विचार करना कि किस तरह साधर्मिक परस्पर अनर्गल प्रलाप नही करेगे, उनमे झझट नही होगी, कलह, कषाय और तू-तू-मैं-मैं नही होगी तथा साधर्मिक जन संयमबहुल, सवरबहुल, समाधिबहुल और अप्रमत्त होकर सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करेंगे। यह भारप्रत्यारोहणताविनय है।

यह स्थविर भगवन्तों ने आठ प्रकार की गणिसम्पदा कही है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—गण ग्रौर गणी के प्रति योग्य शिष्य के चार प्रमुख कर्तव्य हैं—

१. **उपकरण-उत्पादन**—१. गवेषणा करके वस्त्र-पात्र ग्रादि उपकरण प्राप्त करना।

२. प्राप्त हुए उपकरणो को सुरक्षित रखना।

३. जिसको जिस उपधि की ग्रावश्यकता है उसे वह उपधि देना।

४ यथायोग्य विभाग करके उपधि देना ग्रथवा जिसके योग्य जो उपधि हो उसे वही देना।

यह शिष्य का उपकरण सम्बन्धी कर्तव्य पालन है।

२. **सहायक होना**—१ गुरुजनो के ग्रनुकूल ग्रौर हितकारी वचन बोलना, उनके ग्रादेश-निर्देश को "तहत्ति" कहते हुए सविनय स्वीकार करना।

२ गुरुजनो के समीप बैठना, बोलना, खडे रहना, हाथ ग्रौर पैर ग्रादि अगोपागो का सचालन करना इत्यादि सभी काया की प्रवृत्तियाँ इस प्रकार करना कि जो उन्हें ग्रनुकूल लगें ग्रर्थात् कोई भी प्रवृत्ति गुरुजनों के प्रतिकूल न हो यह विवेक रखना।

३ गुरुजनो के शरीर का संबाहन (मर्दन) ग्रादि सेवाकार्य भी विवेकपूर्वक करना।

४ गुरुजनो के सभी कार्य उनके ग्रादेशानुसार करना तथा भाव, भाषा, प्रवृत्ति, प्ररूपणा ग्रादि किसी मे भी उनकी रुचि से कुछ भी विपरीत नही करना।

यह शिष्य का 'सहायकता' कर्तव्य-पालन है।

३. **गुणानुवाद**—१ ग्राचार्य ग्रादि के गुणो का कीर्तन करना।

२ ग्रवर्णवाद, निन्दा या ग्रसत्य ग्राक्षेप करने वाले को उचित प्रत्युत्तर देकर निरुत्तर करना तथा प्रबल युक्तियो से प्रतिपक्षी को इस प्रकार हतप्रभ करना कि भविष्य मे वह ऐसा दु:साहस न कर सके।

३ ग्राचार्य ग्रादि का गुणकीर्तन करने वालो को धन्यवाद कहकर उत्साहित करना। उसका जनता को परिचय देना।

४ ग्रपने से बडों की सेवा-भक्ति करना एव यथोचित ग्रादर देना।

यह शिष्य का 'गुणानुवाद' कर्तव्य पालन है।

४. **भार-प्रत्यारोहण**—ग्राचार्य के कार्यभार को सम्भालना योग्य शिष्य का कर्तव्य होता है। यथा—१ धर्मप्रचार ग्रादि के द्वारा नये-नये शिष्यो की वृद्धि हो, इस तरह प्रयत्न करना।

२. गण में विद्यमान शिष्यो को ग्राचारविधि का ज्ञान कराने मे ग्रौर शुद्ध ग्राचार का ग्रभ्यास कराने में प्रवृत्त रहना।

३ जहाँ जब जिसको सेवा की ग्रावश्यकता हो स्वय तन-मन से लगे रहना।

४ श्रमणो मे परस्पर कलह या विवाद हो जाय तो उसका निष्पक्षभाव से निराकरण कर देना तथा इस तरह की व्यवस्था या उपाय करना कि जिससे साधर्मिक साधुग्रो मे कलह ग्रादि होने का ग्रवसर ही उपस्थित न हो ग्रौर गच्छ के साधु-साध्वियो के सयम, समाधि ग्रादि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे।

यह शिष्य का भार-प्रत्यारोहण कर्तव्य पालन है।

इस प्रकार गच्छ-हित के कार्य करने वाला तथा ग्राचार्य के ग्रादेशो का पालन करने वाला शिष्य महान् कर्मनिर्जरा करता हुग्रा गच्छ का सरक्षक हो जाता है। वह जिनशासन की सेवा तथा सयमाराधना करके सुगति को प्राप्त होता है। □□

पांचवीं दशा

चित्तसमाधि के दस स्थान

सुयं मे आउस ! तेणं भगवया एवमक्खाय—

इह खलु थेरेहिं भगवतेहिं दस चित्तसमाहिठाणा पण्णत्ता ।

प०—कयरा खलु ताइ थेरेहिं भगवतेहिं दस चित्तसमाहिठाणा पण्णत्ता ?

उ०—इमाइ खलु ताइं थेरेहिं भगवंतेहिं दस चित्तसमाहिठाणा पण्णत्ता, तं जहा—

तेणं कालेण तेणं समएणं वाणियग्गामे नगरे होत्था । एत्थ नगरवण्णओ भाणियव्वो ।

तस्स ण वाणियग्गामस्स नगरस्स बहिया उत्तर-पुरच्छिमे दिसीभाए दूतिपलासए णामं चेइए होत्था । चेइयवण्णओ भाणियव्वो ।

जियसत्तू राया । तस्स धारणी नाम देवी । एवं समोसरणं भाणियव्वं जावपुढविसिलापट्टए । सामी समोसढे । परिसा निग्गया । धम्मो कहिओ । परिसा पडिगया ।

अज्जो ! इति समणे भगवं महावीरे समणा निग्गथा य निग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वयासी--

इह खलु अज्जो ! निग्गंथाण वा निग्गथीण वा इरियासमियाणं, भासासमियाणं, एसणा-समियाण, आयाण-भंड-मत्त-निक्खेवणा-समियाण, उच्चार-पासवण-खेल-सिघाण-जल्लपारिट्ठवणिया-समियाणं, मणसमियाणं, वयसमियाणं, कायसमियाण, मणगुत्तीण, वयगुत्तीणं, कायगुत्तीणं गुत्तिंदियाण, गुत्तबभयारीणं, आयट्ठीण, आयहियाण, आयजोईण, आयपरक्कमाण, पक्खियपोसहिएसु समाहिपत्ताण झियायमाणाण इमाइं दस चित्तसमाहिठाणाइ असमुप्पण्णपुव्वाइ समुप्पज्जेज्जा, तं जहा—

१. धम्मचिता वा से असमुप्पण्णपुव्वा समुप्पज्जेज्जा, सव्वं धम्मं जाणित्तए ।
२. सण्णिजाइसरणेण सण्णिणाण वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा, अप्पणो पोराणिय जाइ सुमरित्तए ।
३. सुमिणदसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अहातच्चं सुमिणं पासित्तए ।
४. देवदसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा, दिव्वं देवड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं पासित्तए ।
५. ओहिणाणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा, ओहिणा लोगं जाणित्तए ।
६. ओहिदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा, ओहिणा लोयं पासित्तए ।
७. मणपज्जवनाणे वा असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अंतो मणुस्सखित्तेसु अड्ढाइज्जेसु दीव-समुद्देसु सण्णीणं पंचिंदियाणं पज्जत्तगाणं मणोगए भावे जाणित्तए ।

८. केवलणाणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा, केवलकप्पं लोयालोयं जाणित्तए ।

९. केवलदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा, केवलकप्पं लोयालोयं पासित्तए ।

१०. केवलमरणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा सव्वदुक्खपहीणाए ।

गाहाओ

ओयं चित्तं समादाय, झाणं समणुपस्सइ ।
धम्मे ठिओ अविमणो, निव्वाणमभिगच्छइ ॥१॥

ण इमं चित्तं समादाय, भुज्जो लोयंसि जायइ ।
अप्पणो उत्तमं ठाणं, सण्णीणाणेण जाणइ ॥२॥

अहातच्चं तु सुमिणं, खिप्पं पासेइ संवुडे ।
सव्वं वा ओहं तरति, दुक्खाओ य विमुच्चइ ॥३॥

पंताइं भयमाणस्स, विवित्तं सयणासणं ।
अप्पाहारस्स दंतस्स, देवा दंसेंति ताइणो ॥४॥

सव्वकाम-विरत्तस्स, खमतो भय-भेरवं ।
तओ से ओहि भवइ, संजयस्स तवस्सिणो ॥५॥

तवसा अवहड-लेस्सस्स, दंसण परिसुज्झइ ।
उड्ढं अहे तिरियं च, सव्व समणुपस्सति ॥६॥

सुसमाहियलेसस्स, अवितक्कस्स भिक्खुणो ।
सव्वतो विप्पमुक्कस्स, आया जाणाइ पज्जवे ॥७॥

जया से णाणावरणं, सव्व होइ खयं गयं ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणति केवली ॥८॥

जया से दंसणावरणं, सव्व होइ खयं गयं ।
तया लोगमलोगं च, जिणो पासति केवली ॥९॥

पडिमाए विसुद्धाए, मोहणिज्जे खयं गए ।
असेसं लोगमलोगं च, पासेति सुसमाहिए ॥१०॥

जहा मत्थए सूइए हताए हम्मइ तले ।
एवं कम्माणि हम्मंति, मोहणिज्जे खयं गए ॥११॥

सेणावइम्मि निहए, जहा सेणा पणस्सति ।
एवं कम्माणि णस्संति मोहणिज्जे खयं गए ॥१२॥

धूमहीणो जहा अग्गी, खीयति से निरिंधणे ।
एवं कम्माणि खीयंति, मोहणिज्जे खयं गए ।।१३।।

सुक्क-मूले जहा रुक्खे, सिंचमाणे ण रोहति ।
एवं कम्मा ण रोहंति, मोहणिज्जे खय गए ।।१४।।

जहा दड्ढाणं बीप्राण, न जायंति पुणंकुरा ।
कम्म-बीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा ।।१५।।

चिच्चा ग्रोरालियं बोंदि, नाम-गोयं च केवली ।
ग्राउयं वेयणिज्जं च, छित्ता भवति नीरए ।।१६।।

एवं अभिसमागम्म, चित्तमादाय ग्राउसो ।
सेणि-सुद्धिमुवागम्म, आया सोधिमुवेहइ ।।१७।।

—त्ति बेमि ।

हे ग्रायुष्मन् ! मैंने सुना है—उन निर्वाणप्राप्त भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—
इस ग्रार्हत प्रवचन में स्थविर भगवन्तो ने दस चित्तसमाधिस्थान कहे है ।
प्र०—भगवन् ! वे कौन से दस चित्तसमाधिस्थान स्थविर भगवन्तो ने कहे हैं ?
उ०—ये दस चित्तसमाधिस्थान स्थविर भगवन्तो ने कहे है । जैसे—
उस काल ग्रौर उस समय मे वाणिज्यग्राम नगर था । यहाँ पर नगर का वर्णन कहना चाहिए ।
उस वाणिज्यग्राम नगर के बाहर उत्तर-पूर्व दिग्भाग (ईशानकोण) मे दूतिपलाशक नाम का चैत्य था । यहाँ पर चैत्यवर्णन कहना चाहिये ।
वहाँ का राजा जितशत्रु था । उसकी धारणी नाम की देवी थी । इस प्रकार सर्व समवसरण-वर्णन कहना चाहिए । यावत् पृथ्वी-शिलापट्टक पर वर्धमान स्वामी विराजमान हुए । धर्मोपदेश सुनने के लिए परिषद् निकली । भगवान् ने धर्म का निरूपण किया । परिषद् वापिस चली गई ।

हे ग्रार्यो ! इस प्रकार सम्बोधन कर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी निर्ग्रन्थो ग्रौर निर्ग्रन्थिनियो से कहने लगे—

हे ग्रार्यो ! निर्ग्रन्थ ग्रौर निर्ग्रन्थिनियो को, जो कि ईर्यासमिति वाले, भाषासमिति वाले, एषणा-समिति वाले, ग्रादान-भाण्ड-मात्रनिक्षेपणासमिति वाले, उच्चार-प्रश्रवण-खेल-सिंघाणक-जल्ल-मल की परिष्ठापनासमिति वाले, मन समिति वाले, वचनसमिति वाले, कायसमिति वाले, मनोगुप्ति वाले, वचनगुप्ति वाले, कायगुप्ति वाले तथा गुप्तेन्द्रिय, गुप्तब्रह्मचारी, ग्रात्मार्थी, ग्रात्मा का हित करने वाले, ग्रात्मयोगी, ग्रात्मपराक्रमी, पाक्षिकपोषधो मे समाधि को प्राप्त ग्रौर शुभ ध्यान करने वाले हैं । उन मुनियो को ये पूर्व ग्रनुत्पन्न चित्तसमाधि के दस स्थान उत्पन्न हो जाते है । वे इस प्रकार हैं—

१ पूर्व ग्रसमुत्पन्न (पहले कभी उत्पन्न नही हुई) ऐसी धर्म-भावना यदि साधु के मन मे उत्पन्न हो जाय तो वह सर्व धर्म को जान सकता है, इससे चित्त को समाधि प्राप्त हो जाती है ।

२. पूर्व असमुत्पन्न सञ्ज्ञि जातिस्मरण द्वारा संज्ञि-ज्ञान यदि उसे उत्पन्न हो जाय और अपने पूर्व जन्मों का स्मरण कर ले तो चित्तसमाधि प्राप्त हो जाती है।

३. पूर्व अदृष्ट यथार्थ स्वप्न यदि दिख जाय तो चित्तसमाधि प्राप्त हो जाती है।

४ पूर्व अदृष्ट देवदर्शन यदि हो जाय और दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाव दिख जाय तो चित्तसमाधि प्राप्त हो जाती है।

५ पूर्व असमुत्पन्न अवधिज्ञान यदि उसे उत्पन्न हो जाय और अवधिज्ञान के द्वारा वह लोक को जान लेवे तो चित्तसमाधि प्राप्त हो जाती है।

६ पूर्व असमुत्पन्न अवधिदर्शन यदि उसे उत्पन्न हो जाय और अवधि-दर्शन के द्वारा वह लोक को देख लेवे तो चित्तसमाधि प्राप्त हो जाती है।

७ पूर्व असमुत्पन्न मन पर्यवज्ञान यदि उसे उत्पन्न हो जाय और मनुष्य क्षेत्र के भीतर अढ़ाई द्वीप-समुद्रो मे सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवो के मनोगत भावो को जान लेवे तो चित्त-समाधि प्राप्त हो जाती है।

८ पूर्व असमुत्पन्न केवलज्ञान यदि उसे उत्पन्न हो जाय और केवल-कल्प लोक-अलोक को जान लेवे तो चित्तसमाधि प्राप्त हो जाती है।

९ पूर्व असमुत्पन्न केवलदर्शन यदि उसे उत्पन्न हो जाय और केवल-कल्प लोक-अलोक को देख लेवे तो चित्तसमाधि प्राप्त हो जाती है।

१० पूर्व असमुत्पन्न केवलमरण यदि उसे प्राप्त हो जाय तो वह सर्व दु:खों के सर्वथा अभाव से पूर्ण शान्तिरूप समाधि को प्राप्त हो जाता है।

गाथार्थ—

१ राग-द्वेष-रहित निर्मल चित्त को धारण करने पर एकाग्रतारूप ध्यान उत्पन्न होता है और शका-रहित धर्म मे स्थित आत्मा निर्वाण को प्राप्त करता है।

२. इस प्रकार चित्तसमाधि को धारण कर आत्मा पुन पुन लोक में उत्पन्न नही होता और अपने उत्तम स्थान को सञ्ज्ञि-ज्ञान से जान लेता है।

३. संवृत-आत्मा यथातथ्य स्वप्न को देखकर शीघ्र ही सर्व ससार रूपी समुद्र से पार हो जाता है तथा शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार के दु:खो से छूट जाता है।

४. अल्प आहार करने वाले, अन्त-प्रान्तभोजी, विविक्त शयन-आसनसेवी, इन्द्रियो का निग्रह करने वाले और षट्कायिक जीवो के रक्षक सयत साधु को देवदर्शन होता है।

५. सर्व कामभोगो से विरक्त, भीम-भैरव परीषह-उपसर्गों के सहन करने वाले तपस्वी सयत को अवधिज्ञान उत्पन्न होता है।

६. जिसने तप के द्वारा अशुभ लेश्याओ को दूर कर दिया है, उसे अति विशुद्ध अवधिदर्शन हो जाता है और उसके द्वारा वह ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और सर्व तिर्यक्लोक को देखने लगता है।

७ सुसमाधियुक्त प्रशस्त लेश्या वाले, विकल्प से रहित, भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने वाले और सर्व प्रकार के बन्धनों से मुक्त आत्मा मन के पर्यवो को जानता है।

८ जब जीव का समस्त ज्ञानावरणकर्म क्षय को प्राप्त हो जाता है, तब वह केवली जिन होकर समस्त लोक और अलोक को जानता है।

९. जब जीव का समस्त दर्शनावरणकर्म क्षय को प्राप्त हो जाता है, तब वह केवली जिन समस्त लोक और अलोक को देखता है।

१० प्रतिमा के विशुद्धरूप से आराधन करने पर और मोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर सुसमाहित आत्मा सम्पूर्ण लोक और अलोक को देखता है।

११. जैसे मस्तक स्थान मे सूई से छेदन किये जाने पर तालवृक्ष नीचे गिर जाता है, इसी प्रकार मोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर शेष कर्म विनष्ट हो जाते हैं।

१२ जैसे सेनापति के मारे जाने पर सारी सेना अस्त-व्यस्त हो जाती है, इसी प्रकार मोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर शेष सर्व कर्म विनष्ट हो जाते हैं।

१३ जैसे धूमरहित अग्नि ईन्धन के अभाव से क्षय को प्राप्त हो जाती है, इसी प्रकार मोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर सर्व कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं।

१४ जैसे शुष्क जड़वाला वृक्ष जल-सिंचन किये जाने पर भी पुन अकुरित नही होता है, इसी प्रकार मोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर शेष कर्म भी पुन. उत्पन्न नही होते है।

१५ जैसे जले हुए बीजो से पुन· अकुर उत्पन्न नही होते है, इसी प्रकार कर्मबीजो के जल जाने पर भवरूप अंकुर उत्पन्न नही होते है।

१६ औदारिक शरीर का त्याग कर तथा नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्म का छेदन कर केवली भगवान् कर्म-रज से सर्वथा रहित हो जाते है।

१७. हे आयुष्मन् शिष्य! इस प्रकार (समाधि के भेदो को) जान कर, राग और द्वेष से रहित चित्त को धारण कर, शुद्ध श्रेणी (क्षपक-श्रेणी) को प्राप्त कर आत्मा शुद्धि को प्राप्त करता है, अर्थात् मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—व्यापार मे पुरुषार्थ करने वाले व्यक्ति को जब इच्छित धन-राशि की प्राप्ति होती है तब उसे अत्यन्त प्रसन्नता होती है, वैसे ही सयम-साधना मे लीन मोक्षार्थी साधक को जब सूत्रोक्त दस आत्मगुणो मे से किसी गुण की प्राप्ति होती है तब उसे भी अनुपम आत्मानन्द की प्राप्ति होती है। उस अनुपम आनन्द को ही प्रस्तुत दशा मे चित्तसमाधि कहा गया है। सूत्र में दसो ही स्थान गद्यपाठ व गाथा रूप में कहे गये हैं। गद्यपाठ मे उन दस चित्तसमाधिस्थानो का कथन है और गाथाओ मे उन समाधिस्थानो की प्राप्ति किस प्रकार की साधना करने वाले भिक्षु को होती है, यह कहा है और उस समाधिस्थान का क्या परिणाम होता है, यह भी बताया गया है। दस चित्तसमाधिस्थान इस प्रकार हैं—

१. श्रमण निर्ग्रन्थ को धर्मजागरणा करते हुए अनुत्पन्न धर्मभावना का उत्पन्न होना अर्थात् अनुपम धर्मध्यान की प्राप्ति। २. जातिस्मरण ज्ञान की प्राप्ति। ३. जिन स्वप्नों को देखकर जागृत होने से उसी भव में या १-२ भव में जीव को मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसे स्वप्न को देखना। भगवतीसूत्र श. १६ उ. ६ में ऐसे स्वप्नो का वर्णन है। ४ देवदर्शन होना—अर्थात् श्रमण की सेवा मे देव का उपस्थित होना। ५ अवधिज्ञान की प्राप्ति। ६ अवधिदर्शन की प्राप्ति। ७. मनःपर्यवज्ञान की प्राप्ति। ८ केवलज्ञान की प्राप्ति। ९. केवलदर्शन की प्राप्ति। १०. मुक्तिगमन-मोक्ष की प्राप्ति।

दस चित्तसमाधि (आत्म-आनन्द के) स्थानो का दस गाथाओ में वर्णन करने के बाद मोहनीय-कर्म के क्षय का महत्त्व चार उपमाओ के द्वारा बताया गया है—१ तालवृक्ष के शीर्षस्थान पर सूई से छेद करना, २ सेनापति का युद्ध में मारा जाना, ३ अग्नि को ईंधन का अभाव, ४. वृक्ष का मूल सूख जाना।

सभी कर्म भवपरम्परा के बीज है। इन कर्म-बीजो के जल जाने अर्थात् पूर्ण क्षय हो जाने पर जीव शाश्वत मोक्ष को प्राप्त होता है। वह पुन ससार मे परिभ्रमण नही करता है।

प्रस्तुत दशा मे दस चित्तसमाधिस्थान श्रमण निर्ग्रन्थो को प्राप्त होने का प्रासंगिक कथन है, अतः अन्य श्रमणोपासक आदि को होने का निषेध नही समझना चाहिये। कई स्थान श्रमणोपासक को भी प्राप्त हो सकते है और कोई-कोई शुभ परिणामी अन्य सज्ञी जीवो को भी प्राप्त हो सकते हैं।

चित्तसमाधि प्राप्त करने वाले श्रमण के विशेषणो मे **"पक्खियपोसहिएसु समाहिपत्ताणं झियायमाणाणं"** ऐसा पाठ है, इसका अर्थ पर्व तिथियो के दिन धर्मजागरणा करने वाले श्रमणों की तपश्चर्या समझना चाहिए, क्योकि शेष सावद्ययोगो का त्याग आदि तो भिक्षु के आजीवन होते ही है।

□□

छठी दशा

ग्यारह उपासक-प्रतिमाएँ

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ।

प०—कयराओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ ?

उ०—इमाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ तं जहा—

१. दंसण-पडिमा, २. वय-पडिमा, ३. सामाइय-पडिमा, ४. पोसह-पडिमा, ५. काउस्सग्ग-पडिमा, ६. बंभचेर-पडिमा, ७. सचित्तपरिण्णाय-पडिमा, ८. आरंभपरिण्णाय-पडिमा, ९. पेस-परिण्णाय-पडिमा, १०. उद्दिट्ठभत्तपरिण्णाय-पडिमा, ११. समणभूय-पडिमा।

तत्थ खलु इमा पढमा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवति। तस्स ण बहूइं सीलवयगुणवयवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइ नो सम्मं पट्ठवियाइं भवंति, पढमा उवासगपडिमा।

अहावरा दोच्चा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ, तस्स णं बहूइ सीलवयगुणवय-वेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवियाइं भवंति, से णं सामाइय देसावगासियं नो सम्मं अणुपालित्ता भवइ, दोच्चा उवासगपडिमा।

अहावरा तच्चा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ, तस्स णं बहूइं सीलवयगुणवय-वेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवियाइ भवंति। से णं सामाइयं देसावगासियं सम्म अणुपालित्ता भवइ, से णं चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्ण पोसहोववासं नो सम्मं अणु-पालित्ता भवइ, तच्चा उवासगपडिमा।

अहावरा चउत्था उवासग पडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ, तस्स णं बहूइं सीलवयगुणवयवेर-मणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवियाइ भवंति। से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से णं चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहोववासं सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से णं एगराइयं काउस्सग्गपडिमं नो सम्मं अणुपालित्ता भवइ। चउत्था उवासगपडिमा।

अहावरा पंचमा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ। तस्स णं बहूइं सीलवयगुणवय-वेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं सम्मं पट्ठवियाइ भवंति। से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से णं चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहोववासं सम्मं अणु-पालित्ता भवइ।

से णं एगराइयं काउस्सग्गपडिमं सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से णं असिणाणए, वियडभोई, मउलिकडे, बंभयारी य नो भवइ।

से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा, दुयाहं वा, तियाहं वा, जाव उक्कोसेणं पंच मासं विहरइ, पंचमा उवासगपडिमा।

अहावरा छट्ठा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव से णं एगराइयं काउस्सग्ग-पडिमं सम्मं अणुपालित्ता भवइ। से णं असिणाणए, वियडभोई, मउलिकडे, बंभयारी यावि भवइ।

सचित्ताहारे से अपरिण्णाए भवइ। से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा, दुआहं वा, तिआहं वा जाव उक्कोसेणं छम्मासे विहरेज्जा, छट्ठा उवासगपडिमा।

अहावरा सत्तमा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव बंभयारी यावि भवइ।

सच्चित्ताहारे से परिण्णाए भवति। आरंभे से अपरिण्णाए भवति। से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा, दुआहं वा, तिआहं वा जाव उक्कोसेणं सत्तमासे विहरेज्जा, सत्तमा उवासगपडिमा।

अहावरा अट्ठमा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव बंभयारी यावि भवइ। सचित्ताहारे से परिण्णाए भवइ। आरम्भे से परिण्णाए भवइ। पेसारंभे से अपरिण्णाए भवइ। से ण एयारूवेण विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा, दुआहं वा, तिआहं वा जाव उक्कोसेणं अट्ठमासे विहरेज्जा, अट्ठमा उवासगपडिमा।

अहावरा नवमा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव बंभयारी यावि भवइ।

सचित्ताहारे से परिण्णाए भवइ। आरंभे से परिण्णाए भवइ। पेसारंभे से परिण्णाए भवइ। उद्दिट्ठभत्ते से अपरिण्णाए भवइ। से णं एयारूवेणं विहारेण विहरमाणे जहण्णेणं एगाह वा, दुआह वा, तिआहं वा जाव उक्कोसेणं नवमासे विहरेज्जा, नवमा उवासगपडिमा।

अहावरा दसमा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव उद्दिट्ठभत्ते से परिण्णाए भवइ। से णं खुरमुंडए वा, सिहाधारए वा, तस्स णं आभट्ठस्स वा समाभट्ठस्स वा कप्पंति दुवे भासाओ भासित्तए, तं जहा—

१. जाणं वा जाणं,
२. अजाणं वा णो जाणं।

से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा, दुआहं वा, तिआहं वा जाव उक्कोसेणं दस मासे विहरेज्जा, दसमा उवासगपडिमा।

अहावरा एकादसमा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव उद्दिट्ठभत्ते से परिण्णाए भवइ।

से णं खुरमुंडए वा, लुंचसिरए वा, गहियायारभंडगनेवत्थे, जारिसे समणाणं निग्गंथाणं धम्मे पण्णत्ते तं सम्मं काएणं फासेमाणे, पालेमाणे, पुरओ जुगमायाए पेहमाणे, दट्ठूण तसे पाणे, उद्धट्टु पाए रीएज्जा, साहट्टु पाए रीएज्जा, तिरिच्छं वा पायं कट्टु रीएज्जा, सति परक्कमे संजयामेव परिक्कमेज्जा, नो उज्जुयं गच्छेज्जा।

केवलं से नायए पेज्जबंधणे अवोच्छिन्ने भवइ, एवं से कप्पति नायविहिं एत्तए।

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे, कप्पइ से चाउलोदणे पडिगाहित्तए, नो से कप्पइ भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए।

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे, पच्छाउत्ते चाउलोदणे, कप्पइ से भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए, नो से कप्पइ चाउलोदणे पडिगाहित्तए।

तत्थ से पुव्वागमणेण दो वि पुव्वाउत्ताइं, कप्पंति से दोऽवि पडिगाहित्तए।

तत्थ से पुव्वागमणेण दो वि पच्छाउत्ताइं नो कप्पंति दोऽवि पडिगाहित्तए।

जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते से कप्पइ पडिगाहित्तए।

जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते नो से कप्पइ पडिगाहित्तए।

तस्स ण गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स कप्पति एवं वदित्तए—

"समणोवासगस्स पडिमापडिवन्नस्स भिक्खं दलयह।"

तं च एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणं केइ पासित्ता वदिज्जा—

प०—केइ आउसो! "तुमं वत्तव्वं सिया"?

उ०—"समणोवासए पडिमापडिवण्णए अहमंसी" ति वत्तव्वं सिया।

से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेण एगाहं वा, दुआहं वा, तिआहं वा जाव उक्कोसेणं एक्कारसमासे विहरेज्जा।

से तं एकादसमा उवासगपडिमा।

एयाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ।

हे आयुष्मन्! मैंने सुना है उन निर्वाणप्राप्त भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—इस जैन प्रवचन में स्थविर भगवन्तों ने ग्यारह उपासक-प्रतिमाएँ कही हैं।

प्र०—भगवन्! वे कौन-सी ग्यारह उपासक-प्रतिमाएँ स्थविर भगवन्तों ने कही हैं?

उ०—वे ग्यारह उपासक-प्रतिमाएँ स्थविर भगवन्तों ने इस प्रकार कही हैं, जैसे—

१ दर्शनप्रतिमा, २. व्रतप्रतिमा, ३ सामायिकप्रतिमा, ४ पौषधप्रतिमा, ५. कायोत्सर्ग-प्रतिमा, ६ ब्रह्मचर्यप्रतिमा, ७ सचित्तत्यागप्रतिमा, ८ आरम्भत्यागप्रतिमा, ९. प्रेष्यत्याग-प्रतिमा, १० उद्दिष्टभक्तत्यागप्रतिमा, ११ श्रमणभूतप्रतिमा।

इनमें प्रथम उपासकप्रतिमा का वर्णन यह है—

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है अर्थात् श्रुतधर्म और चारित्रधर्म मे श्रद्धा रखता है। किन्तु वह अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि-विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि का सम्यक् प्रकार से धारक नही होता है। यह प्रथम उपासकप्रतिमा है।

दूसरी उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है। उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि-विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि सम्यक् प्रकार से धारण किये हुए होते हैं। किन्तु वह सामायिक और देशावकाशिक व्रत का सम्यक् प्रतिपालक नही होता है। यह दूसरी उपासकप्रतिमा है।

तीसरी उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है। उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि सम्यक् प्रकार से धारण किये हुए होते है। वह सामायिक और देशावकाशिक शिक्षाव्रत का भी सम्यक् परिपालक होता है। किन्तु चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी तिथियो मे परिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक् परिपालक नही होता। यह तीसरी उपासकप्रतिमा है।

चौथी उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है, उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि-विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि सम्यक् धारण किए हुए होते है। वह सामायिक और देशावकाशिक शिक्षाव्रतो को भी सम्यक् प्रकार से पालन करता है। वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी तिथियो मे परिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक् परिपालन करता है। किन्तु एकरात्रिक कायोत्सर्गप्रतिमा का सम्यक् परिपालन नही करता है। यह चौथी उपासकप्रतिमा है।

पांचवीं उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है, उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि-विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि सम्यक् धारण किये हुए होते है। वह सामायिक और देशावकाशिक व्रत का सम्यक् प्रकार से परिपालन करता है। वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी तिथियो मे परिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक् परिपालन करता है। वह एकरात्रिक कायोत्सर्गप्रतिमा का सम्यक् परिपालन करता है। किन्तु अस्नान, दिवस भोजन, मुकुलीकरण, पूर्ण ब्रह्मचर्य का सम्यक् परिपालन नही करता है। वह इस प्रकार के आचरण से विचरता हुआ जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट पाच मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है। यह पाचवी उपासकप्रतिमा है।

छठी उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है यावत् वह एक रात्रिक कायोत्सर्गप्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन करता है। वह स्नान नहीं करता, दिन मे भोजन करता है, धोती की लाग नही लगाता और पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। किन्तु वह सचित्त आहार का परित्यागी नही होता है। इस प्रकार का आचरण करते हुए विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट छह मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है। यह छठी उपासकप्रतिमा है।

सातवीं उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है यावत् वह पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। वह सचित्ताहार का परित्यागी होता है। किन्तु वह आरम्भ करने का

परित्यागी नही होता है। इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट सात मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है। यह सातवी उपसाकप्रतिमा है।

आठवीं उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है यावत् वह पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। वह सचित्ताहार का परित्यागी होता है, वह सर्व आरम्भो का परित्यागी होता है, किन्तु वह दूसरो से आरम्भ कराने का परित्यागी नही होता है। इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट आठ मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है। यह आठवी उपासकप्रतिमा है।

नवमी उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है यावत् वह पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। वह सचित्ताहार का परित्यागी होता है। वह आरम्भ का परित्यागी होता है। वह दूसरो के द्वारा आरम्भ कराने का भी परित्यागी होता है। किन्तु उद्दिष्टभक्त का परित्यागी नही होता है। इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट नौ मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है। यह नवमी उपासकप्रतिमा है।

दसवीं उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है यावत् वह उद्दिष्टभक्त का परित्यागी होता है। वह शिर के बालो का क्षुरमुडन करा देता है अथवा शिखा (बालो) को धारण करता है। किसी के द्वारा एक बार या अनेक बार पूछे जाने पर उसे दो भाषाएँ बोलना कल्पता है। यथा—

१. यदि जानता हो तो कहे—"मैं जानता हूँ।"

२ यदि नही जानता हो तो कहे—"मैं नही जानता हूँ।"

इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट दस मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है। यह दसवी उपासकप्रतिमा है।

ग्यारहवीं उपासकप्रतिमा—वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है यावत् वह उद्दिष्टभक्त का परित्यागी होता है।

वह क्षुरा से सिर का मुडन करता है अथवा केशो का लुचन करता है, वह साधु का आचार, भण्डोपकरण और वेषभूषा ग्रहण करता है।

जो श्रमण निर्ग्रन्थो का धर्म होता है, उसका सम्यक्तया काया से स्पर्श करता हुआ, पालन करता हुआ, चलते समय आगे चार हाथ भूमि को देखता हुआ त्रसप्राणियो को देखकर उनकी रक्षा के लिए अपने पैर उठाता हुआ, पैर सकुचित करता हुआ अथवा तिरछे पैर रखकर सावधानी से चलता है।

यदि दूसरा जीवरहित मार्ग हो तो उसी मार्ग पर यतना के साथ चलता है किन्तु जीवसहित सीधे मार्ग से नही चलता।

केवल ज्ञाति-वर्ग से उसके प्रेम-बन्धन का विच्छेद नही होता है इसलिए उसे ज्ञातिजनो के घरो मे भिक्षावृत्ति के लिए जाना कल्पता है।

गृहस्थ के घर में प्रतिमाधारी के आगमन से पूर्व चावल रंधे हुए हो और दाल पीछे से रंधे तो चावल लेना कल्पता है, किन्तु दाल लेना नही कल्पता है।

आगमन से पूर्व दाल रंधी हुई हो और चावल पीछे से रंधे हों तो दाल लेना कल्पता है, किन्तु चावल लेना नही कल्पता है।

आगमन से पूर्व दाल और चावल दोनो रंधे हुए हो तो दोनो लेने कल्पते हैं, किन्तु बाद मे रंधे हो तो दोनों लेने नहीं कल्पते हैं।

(तात्पर्य यह है कि) आगमन से पूर्व जो आहार अग्नि आदि से दूर रखा हुआ हो वह लेना कल्पता है और जो आगमन के बाद मे अग्नि आदि से दूर रखा गया हो वह लेना नहीं कल्पता है।

जब वह गृहस्थ के घर मे भक्त-पान की प्रतिज्ञा से प्रविष्ट होवे तब उसे इस प्रकार बोलना कल्पता है—

"प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो।"

इस प्रकार की चर्या से उसे विचरते हुए देखकर यदि कोई पूछे—

प्र०—हे आयुष्मन्! तुम कौन हो? तुम्हे क्या कहा जाये?

उ०—मैं प्रतिमाधारी श्रमणोपासक हूँ। इस प्रकार उसे कहना चाहिये।

इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट ग्यारह मास तक विचरण करे।

यह ग्यारहवी उपासकप्रतिमा है।

स्थविर भगवन्तो ने ये ग्यारह उपासकप्रतिमाए कही हैं।

विवेचन—सामान्य रूप से कोई भी सम्यग्दृष्टि आत्मा व्रत धारण करने पर व्रतधारी श्रावक कहा जाता है। वह एक व्रतधारी भी हो सकता है या बारह व्रतधारी भी हो सकता है। प्रतिमाओ मे भी अनेक प्रकार के व्रत, प्रत्याख्यान ही धारण किये जाते हैं, किन्तु विशेषता यह है कि इसमें जो भी प्रतिज्ञा की जाती है उसमे कोई आगार नही रखा जाता है और नियत समय मे अतिचाररहित नियम का दृढता के साथ पालन किया जाता है।

जिस प्रकार भिक्षुप्रतिमा धारण करने वाले को विशुद्ध सयमपर्याय और विशिष्ट श्रुत का ज्ञान होना आवश्यक है, उसी प्रकार उपासकप्रतिमा धारण करने वाले को भी बारह व्रतो के पालन का अभ्यास होना और कुछ श्रुतज्ञान होना भी आवश्यक है, किन्तु इसका कुछ स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है।

प्रतिमा धारण करने वाले श्रावक को सासारिक जिम्मेदारियो से निवृत्त होना तो आवश्यक है ही किन्तु सातवी प्रतिमा तक गृहकार्यों का त्याग आवश्यक नहीं होता है, तथापि प्रतिमा के नियमो का शुद्ध पालन करना अत्यावश्यक होता है। आठवी प्रतिमा से अनेक गृहकार्यों का त्याग करते हुए ग्यारहवी प्रतिमा मे सम्पूर्ण गृहकार्यों का त्याग करके श्रमण के समान आचार का पालन करता है।

ग्यारह प्रतिमाओ में से किसी भी प्रतिमा को धारण करने वाले को आगे की प्रतिमा के नियमों का पालन करना आवश्यक नही होता है। स्वेच्छा से पालन कर सकता है अर्थात् पहली प्रतिमा में सचित्त का त्याग या श्रमणभूत जीवन धारण कर सकता है।

किन्तु आगे की प्रतिमा धारण करने वाले को उसके पूर्व की सभी प्रतिमाओ के सभी नियमों का पालन करना आवश्यक होता है अर्थात् सातवी प्रतिमा धारण करने वाले को सचित्त का त्याग करने के साथ ही सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य, पौषध, कायोत्सर्ग आदि प्रतिमाओ का भी यथार्थ रूप से पालन करना आवश्यक होता है।

१. पहली दर्शनप्रतिमा धारण करने वाला श्रावक १२ व्रतो का पालन करता है किन्तु वह दृढप्रतिज्ञ सम्यक्त्वी होता है। मन वचन काय से वह सम्यक्त्व मे किसी प्रकार का अतिचार नही लगाता है तथा देवता या राजा आदि किसी भी शक्ति से किंचित् मात्र भी सम्यक्त्व से विचलित नही होता है अर्थात् किसी भी आगार के बिना तीन करण तीन योग से एक महीना तक शुद्ध सम्यक्त्व की आराधना करता है। इस प्रकार वह प्रथम दर्शनप्रतिमा वाला व्रतधारी श्रावक कहलाता है।

कुछ प्रतियो मे "से दंसणसावए भवइ" ऐसा पाठ भी मिलता है। उसका तात्पर्य भी यही है कि वह दर्शनप्रतिमाधारी व्रती श्रावक है क्योकि जो एक व्रतधारी भी नही होता है उसे दर्शनश्रावक कहा जाता है किन्तु प्रतिमा धारण करने वाला श्रावक पहले १२ व्रतो का पालक तो होता ही है। अत उसे केवल "दर्शनश्रावक" ऐसा नही कहा जा सकता।

२ दूसरी व्रतप्रतिमा धारण करने वाला यथेच्छ एक या अनेक छोटे या बडे कोई भी नियम प्रतिमा के रूप मे धारण करता है, जिनका उसे अतिचार रहित पालन करना आवश्यक होता है।

३ तीसरी सामायिकप्रतिमाधारी श्रावक सुबह दुपहर शाम को नियत समय पर ही सदा निरतिचार सामायिक एव देशावकाशिक (१४ नियम धारण) व्रत का आराधन करता है तथा पहली दूसरी प्रतिमा के नियमो का भी पूर्ण पालन करता है।

४. चौथी पौषधप्रतिमाधारी श्रावक पूर्व की तीनो प्रतिमाओ के नियमो का पालन करते हुए महीने मे पर्व-तिथियो के छह प्रतिपूर्ण पौषध का सम्यक् प्रकार से आराधन करता है। इस प्रतिमा के धारण करने से पहले श्रावक पौषध व्रत का पालन तो करता ही है किन्तु प्रतिमा के रूप मे नही।

५ पाचवी कायोत्सर्गप्रतिमाधारी श्रावक पहले की चारो प्रतिमाओ का सम्यक् पालन करते हुए पौषध के दिन सम्पूर्ण रात्रि या नियत समय तक कायोत्सर्ग करता है।

६ छट्ठी ब्रह्मचर्यप्रतिमा का धारक पूर्व प्रतिमाओ का पालन करता हुआ सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। स्नान का और रात्रिभोजन का त्याग करता है तथा धोती की एक लाग खुली रखता है।

पाचवी छट्ठी प्रतिमा के मूल पाठ मे लिपि-दोष से कुछ पाठ विकृत हुआ है, जो ध्यान देने पर स्पष्ट समझ मे आ सकता है—प्रत्येक प्रतिमा के वर्णन मे आगे की प्रतिमा के नियमो के पालन का निषेध किया जाता है। पाचवी प्रतिमा मे छट्ठी प्रतिमा के विषय का निषेध-पाठ विधि रूप में जुड़ जाने से और चूर्णिकार द्वारा सम्यक् निर्णय न किये जाने के कारण मतिभ्रम से और भी पाठ विकृत हो गया है। प्रस्तुत प्रकाशन में उसे शुद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन करने वाले का ही स्नानत्याग उचित है। क्योकि पाचवी प्रतिमा में एक-एक मास मे केवल ६ दिन ही स्नान का त्याग और दिन मे कुशील सेवन का त्याग किया जाय तो सम्पूर्ण स्नान का त्याग कब होगा? तथा केवल ६ दिन ही स्नान का त्याग और दिन में ब्रह्मचर्य-

पालन का कथन प्रतिमाधारी के लिये महत्त्व नहीं रखता है। यदि पाचवी प्रतिमा के पूरे पांच महीने स्नान का त्याग करने का अर्थ किया जाय तो भी असगत है। क्योंकि पाच मास तक रात्रि मे ब्रह्मचर्य का पालन नही करे और स्नान का पूर्ण त्याग रखे, इन दोनों नियमों का सम्बन्ध अव्यावहारिक होता है। अत' स्वीकृत पाठ ही उचित ध्यान में आता है।

उपरोक्त लिपिप्रमादादि के कारणो से ही इन दोनो प्रतिमाओ के नाम समवायागसूत्र मे भिन्न है तथा ग्रन्थों मे भी अनेक भिन्नताएँ मिलती हैं।

७ सातवी सचित्तत्यागप्रतिमा का आराधक श्रावक पानी, नमक, फल, मेवे आदि सभी सचित्त पदार्थों के उपभोग का त्याग करता है, किन्तु उन पदार्थों को अचित्त बनाने का त्याग नही करता है।

८ आठवी आरम्भत्यागप्रतिमाधारी श्रावक स्वय आरम्भ करने का सम्पूर्ण त्याग करता है, किन्तु दूसरो को आदेश देकर सावद्य कार्य कराने का उसके त्याग नही होता है।

९. नौवी प्रेष्यत्यागप्रतिमा मे श्रावक आरम्भ करने व कराने का त्यागी होता है, किन्तु स्वत ही कोई उसके लिये आहारादि बना दे या आरम्भ कर दे तो उस पदार्थ का वह उपयोग कर सकता है।

१० दसवी उद्दिष्टभक्तत्यागप्रतिमाधारी श्रावक दूसरे के निमित्त बने आहारादि का उपयोग कर मकता है, स्वय के निमित्त बने हुए आहारादि का उपयोग नही कर सकता है। उसका व्यावहारिक जीवन श्रमण जैसा नही होता है। इसलिए उसे किसी के पूछने पर—"मैं जानता हूँ या मैं नही जानता हूँ" इतना ही उत्तर देना कल्पता है। इससे अधिक उत्तर देना नही कल्पता है। किसी वस्तु के यथास्थान न मिलने पर इतना उत्तर देने से भी पारिवारिक लोगो को सन्तोष हो सकता है। इस प्रतिमा मे श्रावक क्षुरमु डन कराता है अथवा बाल रखता है।

११ ग्यारहवी श्रमणभूतप्रतिमाधारी श्रावक यथाशक्य सयमी जीवन स्वीकार करता है। किन्तु यदि लोच न कर सके तो मुण्डन करवा सकता है। वह भिक्षु के समान गवेषणा के सभी नियमो का पालन करता है।

इस प्रतिमा की अवधि समाप्त होने के बाद वह प्रतिमाधारी सामान्य श्रावक जैसा जीवन बिताता है। इस कारण इस प्रतिमा-आराधनकाल मे स्वय को भिक्षु न कहकर "मैं प्रतिमाधारी श्रावक हूँ" इस प्रकार कहता है।

पारिवारिक लोगो से प्रेमसम्बन्ध का आजीवन त्याग न होने के कारण वह ज्ञात कुलो मे ही गोचरी के लिए जाता है। यहाँ ज्ञात कुल से पारिवारिक और अपारिवारिक ज्ञातिजन सूचित किये गये हैं। भिक्षा के लिये घर मे प्रवेश करने पर वह इस प्रकार करे कि "प्रतिमाधारी श्रावक को भिक्षा दो।"

समवायांगसूत्र सम ११ में भी इन ग्यारह प्रतिमाओ का कथन है। वहाँ पाचवीं प्रतिमा का नाम भिन्न है। इसमें लिपि-प्रमाद ही एकमात्र कारण है।

इन ग्यारह प्रतिमाओं मे से प्रत्येक प्रतिमा का आराधनकाल और सभी प्रतिमाओ का एक

साथ आराधनकाल कितना है ? इस प्रकार की कालमर्यादा का स्पष्ट कथन इस आगम में नही है और चार प्रतिमा तक की कालमर्यादा का कथन इस सूत्र मे नही है ।

पाचवी से ग्यारहवी तक क्रमश: पाच मास से ग्यारह मास तक का काल कहा गया है । तदनुसार पहली से चौथी तक क्रमश· एक मास से चार मास तक का काल परम्परा से माना जाता है । इसमे कोई मतभेद नही है ।

पाचवीं प्रतिमा से आगे जो काल-मान बताया गया है, उसमे जघन्य काल एक, दो और तीन दिन का जो कहा है, वह भ्रान्तिजनक प्रतीत होता है, क्योकि ऐसा विकल्प भिक्षुप्रतिमा मे भी नही है तथा अर्थसगति भी सन्तोषप्रद नही है । पूर्वाचार्य तीन तरह से अर्थ की सगति करते हैं—

१. एक-दो दिन के लिये ही धारण कर बाद मे स्वत. छोड दे ।
२. एक-दो दिन के बाद काल कर जाये ।
३ एक-दो दिन के बाद सयम स्वीकार कर ले ।

प्रतिमाएँ दृढता और वीरता की सूचक हैं और पाच-छह मास की प्रतिमा को एक-दो दिन के लिये धारण करना तो दृढता नही ।

मरने का विकल्प तो भिक्षुप्रतिमा मे भी हो सकता है । किन्तु वहाँ जघन्यकाल नही कहा है ।

एक दिन के बाद सयम स्वीकार कर ले, ऐसे चचल विचार की कल्पना करना प्रतिमाधारी के लिए ठीक नही है । अत जघन्यस्थिति का पाठ विचारणीय है ।

ग्यारह प्रतिमाओ का कुल समय एक मास से लेकर ग्यारह मास तक का होता है । इनका योग करने पर पाच वर्ष और छह मास होते हैं—यह परम्परा सर्वसम्मत है ।

ग्यारह प्रतिमाओ की आराधना पूर्ण होने के बाद ग्यारहवी प्रतिमा जैसा जीवनपर्यन्त रहना ही श्रेयस्कर है । यही दृढता एव वीरता का सूचक है । किन्तु आगम मे इस विषय का उल्लेख नही मिलता है ।

इन प्रतिमाओ की आराधना क्रमश करना या बिना क्रम के करना, ऐसा स्पष्ट विधान उपलब्ध नही है । किन्तु कार्तिक सेठ के समान एक प्रतिमा को अनेक बार धारण किया जा सकता है ।

श्रावकप्रतिमा के सम्बन्ध मे यह भी एक प्रचलित कल्पना है कि "प्रथम प्रतिमा में एकान्तर उपवास, दूसरी प्रतिमा मे निरन्तर बेले, तीसरी मे तेले यावत् ग्यारहवी प्रतिमा मे ग्यारह की तपश्चर्या निरन्तर की जा सकती है ।" किन्तु इस विषय मे कोई आगमप्रमाण उपलब्ध नही है तथा ऐसा मानना सगत भी नही है, क्योकि इतनी तपस्या तो भिक्षुप्रतिमा मे भी नही की जाती है । श्रावक की चौथी प्रतिमा मे महीने के छह पौषध करने का विधान है । यदि उपरोक्त कथन के अनुसार तपस्या की जाए तो चार मास मे २४ चौले की तपस्या करनी आवश्यक होती है । प्रतिमाधारी के द्वारा तपस्या तिविहार या बिना पौषध के करना भी उचित नही है । अत· २४ चौले पौषधयुक्त करना आवश्यक नियम होने पर महीने के छह पौषध का विधान निरर्थक हो जाता है । जब कि तीसरी प्रतिमा से चौथी प्रतिमा की विशेषता भी यही है कि महीने के छह पौषध किये जावे । अत· कल्पित तपस्या का क्रम सूत्रसम्मत नही है । आनन्द आदि श्रावको के अन्तिम साधनाकाल मे तथा प्रतिमा-आराधन के बाद शरीर की कृशता का जो वर्णन है वह व्यक्तिगत जीवन का वर्णन है । उसमें भी इस

प्रकार के तप का वर्णन नही है। अपनी इच्छा से साधक कभी भी कोई विशिष्ट तप कर सकता है। आनन्दादि ने भी कोई विशिष्ट तपश्चर्या साधनाकाल मे की होगी, किन्तु ऐसा वर्णन नही है। यदि उन्होने तप किया हो तो भी सब के लिये विधान मानना प्रतिमावर्णन से असगत है।

दशाश्रुतस्कन्ध की पहली दशा से पाचवी दशा तक की जो रचनापद्धति है और निर्युक्तिकार ने पाचवी गाथा मे छोटी-छोटी दशाएँ होने का सूचन किया है। तदनुसार प्रस्तुत सस्करण मे इस दशा का स्वीकृत पाठ ही उचित प्रतीत होता है। अत. यहाँ अक्रियावादी और क्रियावादी का वर्णन अप्रासगिक है, अति विस्तृत है और छेदसूत्र का विषय न होने से अनुपयुक्त भी है। सूयगडाग-सूत्र श्रु. २, अ. २ का पाठ यहाँ कभी जोड दिया गया है। कब जुडा है, यह तो अज्ञात है।

इस दशा की उत्थानिका सातवी दशा के समान है। यथा—

"ये ग्यारह उपासक-प्रतिमाएँ स्थविर भगवन्तों ने कही है, वे इस प्रकार हैं—इस उत्थानिका के बाद ग्यारह प्रतिमाओ के नाम तथा प्रतिमाओ का क्रमश. वर्णन ही उचित प्रतीत होता है, किन्तु इस विस्तृत पाठ के कारण मूलपाठ मे नाम भी नही रहे हैं, जबकि सातवी दशा मे भिक्षुप्रतिमा के नाम विद्यमान हैं।

प्रतिमा धारण करने वाला तो व्रतधारी श्रावक होता ही है। अत उत्थानिका के बाद अक्रियावादी का यह विस्तृत वर्णन सर्वथा असंगत है। इसलिए यहाँ उपरोक्त सक्षिप्त पाठ ही स्वीकार किया गया है। विस्तृत पाठ के जिज्ञासु सूयगडागसूत्र से अध्ययन कर सकते हैं।

इस दशाश्रुतस्कन्ध की उत्थानिकाए विचित्र ही हैं, अत ये चौदहपूर्वी भद्रबाहुस्वामी के द्वारा निर्यूढ हैं, ऐसा नही कह सकते। न ही गणधर सुधर्मास्वामी द्वारा ग्रथित कह सकते है और न एक पूर्वधारी देवर्द्धिगणि द्वारा सम्पादित कह सकते है। क्योकि इन उत्थानिकाओ मे भगवान् से कहलवाया गया है कि "इस प्रथम दशा मे स्थविर भगवतो ने बीस असमाधिस्थान कहे है इत्यादि।" जबकि तीर्थंकर या केवली किसी छद्मस्थविहित विधि-निषेधो का कथन नही करते।

पाचवी दशा की उत्थानिका तो और भी विचारणीय है। इस उत्थानिका के प्रारम्भ मे कहा है कि स्थविर भगवतो ने ये दस चित्तसमाधिस्थान कहे हैं। बाद मे कहा—भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थनियो को आमन्त्रित करके दस चित्तसमाधिस्थान कहे। इस प्रकार एक ही उत्थानिका दो प्रकार के कथन पाठक स्वय पढे और सोचे कि वास्तविकता क्या है।

आठवी दशा के पाठो में भी जो परिवर्तन के प्रयत्न हुए हैं, वे उसी दशा के विवेचन मे देखे तथा आठवी दशा का और दसवी दशा का (उपसहार पाठ) भी विचारणीय है। इन विचित्रताओ को देखकर यह अनुमान किया गया है कि तीन छेदसूत्रो के समान इस सूत्र की पूर्ण मौलिकता वर्तमान मे नही रही है। अत. मूलपाठ में कुछ सशोधन करने का प्रयत्न किया है।

□□

सातवीं दशा

बारह भिक्षुप्रतिमाएँ

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं बारस भिक्खुपडिमाओ पण्णत्ताओ।

प०—कयराओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं बारस भिक्खुपडिमाओ पण्णत्ताओ ?

उ०—इमाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं बारस भिक्खुपडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१. मासिया भिक्खुपडिमा, २. दोमासिया भिक्खुपडिमा, ३. तिमासिया भिक्खुपडिमा, ४. चउमासिया भिक्खुपडिमा, ५. पंचमासिया भिक्खुपडिमा, ६. छमासिया भिक्खुपडिमा, ७. सत्तमासिया भिक्खुपडिमा, ८. पढमा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा, ९. दोच्चा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा, १०. तच्चा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा, ११. अहोराया भिक्खुपडिमा, १२. एगराइया भिक्खुपडिमा।

हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है—उन निर्वाणप्राप्त भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—इस जिनप्रवचन मे स्थविर भगवन्तो ने बारह भिक्षुप्रतिमाएँ कही हैं।

प्र०—भगवन् ! स्थविर भगवन्तो ने बारह भिक्षुप्रतिमाएँ कौन-सी कही है ?

उ०—स्थविर भगवन्तो ने बारह भिक्षुप्रतिमाएँ ये कही हैं, यथा—

१ मासिकी भिक्षुप्रतिमा, २ द्विमासिक भिक्षुप्रतिमा, ३ त्रिमासिकी भिक्षुप्रतिमा, ४. चातुर्मासिकी भिक्षुप्रतिमा, ५. पचमासिकी भिक्षुप्रतिमा, ६ षणमासिकी भिक्षुप्रतिमा, ७. सप्तमासिकी भिक्षुप्रतिमा, ८ प्रथमा सप्तरात्रिदिवा भिक्षुप्रतिमा, ९ द्वितीया सप्तरात्रिदिवा भिक्षुप्रतिमा, १०. तृतीया सप्तरात्रिदिवा भिक्षुप्रतिमा, ११ अहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा, १२ एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा।

प्रतिमा आराधनकाल में उपसर्ग

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उववज्जेज्जा, तं जहा—

दिव्वा वा, माणुसा वा, तिरिक्खजोणिया वा, ते उप्पण्णे सम्मं सहेज्जा, खमेज्जा, तितिक्खेज्जा, अहियासेज्जा।

नित्य शरीर की परिचर्या एव ममत्वभाव से रहित एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को जो कोई उपसर्ग आवे, जैसे—

देवसम्बन्धी, मनुष्यसम्बन्धी या तिर्यञ्चसम्बन्धी, उसे वह सम्यक् प्रकार से सहन करे, क्षमा करे, दैन्यभाव नही रखे, वीरतापूर्वक सहन करे।

मासिकी भिक्षुप्रतिमा

मासियं णं भिक्खुपडिम पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहित्तए, एगा पाणस्स।

अण्णायउञ्छं, सुद्धोवहडं,

निज्जूहित्ता बहवे दुप्पय-चउप्पय-समण-माहण-अतिहि-किविण वणीमगे,

कप्पइ से एगस्स भुंजमाणस्स पडिगाहित्तए।

णो दुण्हं, णो तिण्हं, णो चउण्हं, णो पंचण्हं, णो गुब्बिणीए, णो बालवच्छाए, णो दारगं पेज्जमाणीए।

णो से कप्पइ अंतो एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए, णो बाहिं एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए।

अह पुण एवं जाणेज्जा, एगं पायं अंतो किच्चा, एग पायं बाहिं किच्चा एलुयं विक्खंभइत्ता एव से दलयति, कप्पति से पडिगाहित्तए,

एवं से नो दलयति, नो से कप्पति पडिगाहित्तए।

मासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को एक दत्ति भोजन की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है।

वह भी अज्ञात स्थान से, अल्पमात्रा मे और दूसरो के लिए बना हुआ हो तथा अनेक द्विपद, चतुष्पद, श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारी आदि भोजन लेकर चले गए हो, उसके बाद ग्रहण करना कल्पता है।

जहा एक व्यक्ति भोजन कर रहा हो, वहा से आहार-पानी की दत्ति लेना कल्पता है।

किन्तु दो, तीन, चार या पाच व्यक्ति एक साथ बैठकर भोजन करते हो, वहा से लेना नही कल्पता है।

गर्भिणी, बालवत्सा और बच्चे को दूध पिलाती हुई स्त्री से लेना नही कल्पता है।

जिसके दोनो पैर देहली के अन्दर या दोनो पैर देहली के बाहर हो, ऐसी स्त्री से लेना नही कल्पता है।

किन्तु यह ज्ञात हो जाए कि एक पैर देहली के अन्दर है और एक पैर बाहर है, इस प्रकार देहली को पांवो के मध्य मे किये हुए हो और वह देना चाहे तो उससे लेना कल्पता है।

इस प्रकार न दे तो लेना नही कल्पता है।

प्रतिमाधारी के भिक्षाकाल

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स तओ गोयरकाला पण्णत्ता, तं जहा—

१. आइमे, २. मज्झे, ३. चरिमे।

१. जइ आइमे चरेज्जा; नो मज्झे चरेज्जा, णो चरिमे चरेज्जा।

२. जइ मज्झे चरिज्जा; नो आइमे चरिज्जा, नो चरिमे चरेज्जा।

३. जइ चरिमे चरेज्जा; नो आइमे चरेज्जा, नो मज्झिमे चरेज्जा।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार के भिक्षाचर्या करने के तीन काल कहे हैं, यथा—

१. दिन का प्रथम भाग, २ दिन का मध्य भाग, ३ दिन का अन्तिम भाग।

१. यदि दिन के प्रथमभाग मे भिक्षाचर्या के लिए जाए तो मध्य और अन्तिम भाग में न जाए।

२. यदि दिन के मध्यभाग मे भिक्षाचर्या के लिए जाए तो प्रथम और अन्तिम भाग मे न जाए।

३ यदि दिन के अन्तिमभाग मे भिक्षाचर्या के लिए तो प्रथम और मध्यम भाग मे न जाए।

प्रतिमाधारी की गोचरचर्या

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स छव्विहा गोयरचरिया पण्णत्ता, तं जहा—

१. पेडा, २. अद्धपेडा, ३. गोमुत्तिया, ४. पंतगवीहिया, ५. संबुक्कावट्टा, ६. गंतुपच्चागया।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार के छ प्रकार की गोचरी कही गई है, यथा—

१ चौकोर पेटी के आकार से भिक्षाचर्या करना। २ अर्धपेटी के आकार से भिक्षाचर्या करना। ३. बैल के मूत्रोत्सर्ग के आकार से भिक्षाचर्या करना। ४ पतंगिये के गमन के आकार से भिक्षाचर्या करना। ५ शखावर्त के आकार से भिक्षाचर्या करना। ६ जाते या पुन आते भिक्षाचर्या करना।

प्रतिमाधारी का वसतिवास-काल

मासियं णं भिक्खुपडिम पडिवन्नस्स अणगारस्स जत्थ ण केइ जाणइ, कप्पइ से तत्थ एगराइयं वसित्तए।

जत्थ णं केइ न जाणइ, कप्पइ से तत्थ एगरायं वा, दुरायं वा वसित्तए। नो से कप्पइ एगरायाओ वा, दुरायाओ वा पर वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा, दुरायाओ वा परं वसति, से संतरा छेए वा परिहारे वा।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को जहा कोई जानता हो, वहा एक रात रहना कल्पता है।

जहा कोई नीह जानता हो, वहा उसे एक या दो रात रहना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक रहना नही कल्पता है।

यदि एक या दो रात से अधिक रहता है तो वह इस कारण से दीक्षाछेद या परिहार तप का पात्र होता है।

प्रतिमाधारी की कल्पनीय भाषाएँ

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पंति चत्तारि भासाओ भासित्तए, तं जहा—
१. जायणी, २. पुच्छणी, ३. अणुण्णवणी ४. पुट्ठस्स वागरणी।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को चार भाषाएँ बोलना कल्पता है, यथा—

१ याचनी—आहारादि की याचना करने के लिए। २ पृच्छनी—मार्ग आदि पूछने के लिए। ३ अनुज्ञापनी—आज्ञा लेने के लिए। ४ पृष्ठव्याकरणी—प्रश्न का उत्तर देने के लिए।

प्रतिमाधारी के कल्पनीय उपाश्रय

मासियं ण भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ तओ उवस्सया पडिलेहित्तए, तं जहा—
१. अहे आरामगिहंसि वा, २. अहे वियडगिहंसि वा, ३. अहे रुक्खमूलगिहंसि वा, एवं तओ उवस्सया अणुण्णवेत्तए, उवाइणित्तए य।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को तीन प्रकार के उपाश्रयो का प्रतिलेखन करना कल्पता है, यथा—

१ उद्यान मे बने हुए गृह मे, २ चारों ओर से खुले हुए गृह में, ३. वृक्ष के नीचे या वहा बने हुए गृह मे। इसी प्रकार तीन उपाश्रय की आज्ञा लेना और ठहरना कल्पता है।

प्रतिमाधारी के कल्पनीय संस्तारक

मासियं ण भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ तओ संथारगा पडिलेहित्तए, तं जहा—
१. पुढविसिलं वा, २. कट्ठसिलं वा, ३. अहासंथडमेव वा संथारगं। एवं तओ संथारगा अणुण्णवेत्तए, उवाइणित्तए य।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को तीन प्रकार के सस्तारको का प्रतिलेखन करना कल्पता है, यथा—

१ पत्थर की शिला, २ लकडी का पाट, ३ पहले से बिछा हुआ सस्तारक। इसी प्रकार तीन सस्तारक की आज्ञा लेना और ग्रहण करना कल्पता है।

प्रतिमाधारी को स्त्री-पुरुष का उपसर्ग

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स इत्थी वा पुरिसे वा उवस्सयं उवागच्छेज्जा, णो से कप्पति तं पडुच्च निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार के उपाश्रय मे यदि कोई स्त्री या पुरुष आ जावे तो उनके कारण उपाश्रय से बाहर जाना या बाहर हो तो अन्दर आना नही कल्पता है।

प्रतिमाधारी को अग्नि का उपसर्ग

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स केई उवस्सयं अगणिकाएण झामेज्जा, णो से कप्पति तं पडुच्च निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा ।

तत्थ णं केइ बाहाए गहाय आगसेज्जा, नो से कप्पति तं अवलंबित्तए वा पलंबित्तए वा, कप्पति अहारियं रीइत्तए ।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार के उपाश्रय में कोई अग्नि लगा दे तो उसे उपाश्रय से बाहर जाना या बाहर हो तो अन्दर आना नही कल्पता है ।

यदि कोई उसे भुजा पकडकर बलपूर्वक बाहर निकालना चाहे तो उसका अवलबन-प्रलबन करना नही कल्पता है, किन्तु ईर्यासमितिपूर्वक बाहर निकलना कल्पता है ।

प्रतिमाधारी को ठूंठा आदि निकालने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स पायंसि खाणू वा, कंटए वा, हीरए वा, सक्करए वा अणुपवेसेज्जा, नो से कप्पइ नीहरित्तए वा, विसोहित्तए वा, कप्पति से अहारियं रीइत्तए ।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार के पैर मे यदि तीक्ष्ण ठूंठ (लकडी का तिनका आदि), काटा, काच या ककर लग जावे तो उसे निकालना या उसकी विशुद्धि करना नही कल्पता है, किन्तु उसे सावधानी से ईर्यासमितिपूर्वक चलते रहना कल्पता है ।

प्रतिमाधारी को प्राणी आदि निकालने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स अच्छिंसि पाणाणि वा, बीयाणि वा, रए वा परियावज्जेज्जा, नो से कप्पति नीहरित्तए वा, विसोहित्तए वा, कप्पति से अहारियं रीइत्तए ।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार की आख मे सूक्ष्म प्राणी, बीज, रज आदि गिर जावे तो उसे निकालना या विशुद्ध करना नही कल्पता है, किन्तु उसे सावधानी से ईर्यासमितिपूर्वक चलते रहता कल्पता है ।

सूर्यास्त होने पर विहार का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जत्थेव सूरिए अत्थमेज्जा—जलंसि वा, थलंसि वा, दुग्गंसि वा, निण्णंसि वा, पव्वयंसि वा, विसमंसि वा, गड्डाए वा, दरीए वा, कप्पति से तं रयणी तत्थेव उवाइणावित्तए, नो से कप्पति पयमवि गमित्तए ।

कप्पति से कल्लं पाउप्पभाए रयणीयए जाव जलंते पाइणाभिमुहस्स वा, दाहिणाभिमुहस्स वा, पडीणाभिमुहस्स वा, उत्तराभिमुहस्स वा, अहारियं रीइत्तए ।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को विहार करते हुए जहा सूर्यास्त हो जाय, वहां

चाहे जल हो या स्थल हो, दुर्गमस्थान हो या निम्नस्थान हो, पर्वत हो या विषमस्थान हो, गर्त हो या गुफा हो, तो भी उसे पूरी रात वहीं रहना कल्पता है, किन्तु एक कदम भी आगे बढना नही कल्पता है।

रात्रि समाप्त होने पर प्रातःकाल में यावत् जाज्वल्यमान सूर्योदय होने पर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर उसे ईर्यासमितिपूर्वक गमन करना कल्पता है।

सचित्त पृथ्वी के निकट निद्रा लेने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स णो से कप्पइ अणंतरहियाए पुढवीए निद्दाइत्तए वा, पयलाइत्तए वा।

केवली बूया—"आयाणमेयं"।

से तत्थ निद्दायमाणे वा, पयलायमाणे वा हत्थेहिं भूमिं परामुसेज्जा। [तम्हा] अहाविहिमेव ठाण ठाइत्तए।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार सूर्यास्त हो जाने के कारण यदि सचित्त पृथ्वी के निकट ठहरा हो तो उसे वहा निद्रा लेना या ऊँघना नही कल्पता है।

केवली भगवान् ने कहा है—'यह कर्मबन्ध का कारण है'।

क्योकि वहा पर नीद लेता हुआ या ऊँघता हुआ वह अपने हाथ आदि से सचित्त पृथ्वी का स्पर्श करेगा, जिससे पृथ्वीकाय के जीवो की हिंसा होगी।

अत उसे सावधानीपूर्वक वहा स्थिर रहना या कायोत्सर्ग करना कल्पता है।

मलावरोध का निषेध

उच्चारपासवणेणं उब्बाहिज्जा, नो से कप्पति उगिण्हित्तए वा, णिगिण्हित्तए वा।

कप्पति से पुव्वपडिलेहिए थंडिले उच्चार-पासवण परिट्ठावित्तए, तमेव उवस्सयं आगम्म अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए।

यदि वहां उसे मल-मूत्र की बाधा हो जाए तो धारण करना या रोकना नही कल्पता है।

किन्तु पूर्वप्रतिलेखित भूमि पर मल-मूत्र का त्याग करना कल्पता है और पुन उसी स्थान पर आकर सावधानी पूर्वक स्थिर रहना या कायोत्सर्ग करना कल्पता है।

सचित्त रजयुक्त शरीर से गोचरी जाने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स नो कप्पति ससरक्खेणं काएणं गाहावइकुलं भत्ताए वा, पाणाए वा निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा।

अह पुण एवं जाणेज्जा ससरक्खे सेयत्ताए वा, जल्लत्ताए वा, मल्लत्ताए वा, पंकत्ताए वा परिणते, एवं से कप्पति गाहावइकुलं भत्ताए वा, पाणाए वा निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को सचित्त रजयुक्त काय से गृहस्थों के घरों में आहार-पानी के लिए जाना या आना नही कल्पता है।

यदि यह ज्ञात हो जाये कि शरीर पर लगा हुआ सचित्त रज—पसीना, सूखा पसीना, मैल या पक रूप मे परिणत हो गया हो तो उसे गृहस्थो के घरो मे आहार-पानी के लिए जाना-आना कल्पता है।

हस्तादि धोने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स नो कप्पति सीओदगवियडेण वा, उसिणोदग-वियडेण वा, हत्थाणि वा, पायाणि वा, दंताणि वा, अच्छीणि वा, मुहं वा उच्छोलित्तए वा, पधोइत्तए वा।

नन्नत्थ लेवालेवेण वा भत्तमासेण वा।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को अचित्त शीतल या उष्ण जल से हाथ, पैर, दात, नेत्र या मुख एक बार धोना अथवा बार-बार धोना नही कल्पता है।

किन्तु किसी प्रकार के लेप युक्त अवयव को और आहार से लिप्त हाथ आदि को धोकर शुद्ध कर सकता है।

दुष्ट अश्वादि का उपद्रव होने पर भयभीत होने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स नो कप्पति आसस्स वा, हत्थिस्स वा, गोणस्स वा, महिसस्स वा, सीहस्स वा, वग्घस्स वा, विगस्स वा, दीवियस्स वा, अच्छस्स वा, तरच्छस्स वा, परासरस्स वा, सीयालस्स वा, विरालस्स वा, कोकतियस्स वा, ससगस्स वा, चित्ताचिल्लडयस्स वा, सुणगस्स वा, कोलसुणगस्स वा, दुट्ठस्स आवयमाणस्स पयमवि पच्चोसक्कित्तए।

अदुट्ठस्स आवयमाणस्स कप्पइ जुगमित्तं पच्चोसक्कित्तए।

एकमासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार के सामने अश्व, हस्ती, वृषभ, महिष, सिंह, व्याघ्र, भेडिया, चीता, रीछ, तेंदुआ, अष्टापद, शृगाल, बिल्ला, लोमडा, खरगोश, चिल्लडक, श्वान, जगली शूकर आदि दुष्ट प्राणी आ जाये तो उससे भयभीत होकर एक पैर भी पीछे हटना नही कल्पता है।

यदि कोई दुष्टता रहित पशु स्वाभाविक ही मार्ग मे सामने आ जाए तो उसे मार्ग देने के लिए युगमात्र अर्थात् कुछ अलग हटना कल्पता है।

सर्दी और गर्मी सहन करने का विधान

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स नो कप्पति छायाओ "सीयं ति" नो उण्हं एत्तए, उण्हाओ "उण्हं ति" छायं एत्तए।

जं जत्थ जया सिया तं तत्थ अहियासए।

एक मासिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार को—'यहा शीत अधिक है' ऐसा सोचकर छाया से धूप मे तथा 'यहां गर्मी अधिक है' ऐसा सोचकर धूप से छाया में जाना नही कल्पता है।

किन्तु जब जहा जैसा हो वहां उसे सहन करे।

भिक्षुप्रतिमाओं का सम्यग् आराधन

एवं खलु एसा मासिया भिक्खुपडिमा अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं, सम्मं काएणं फासित्ता, पालित्ता, सोहित्ता, तीरित्ता, किट्टइत्ता, आराहित्ता, आणाए अणुपालित्ता भवइ।

इस प्रकार यह एक मासिकी भिक्षुप्रतिमा सूत्र, कल्प और मार्ग के अनुसार यथातथ्य सम्यक् प्रकार काया से स्पर्श कर, पालन कर, शोधन कर, पूर्ण कर, कीर्तन कर और आराधन कर जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमा

दो-मासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ।

नवरं दो दत्तिओ भोयणस्स पडिगाहित्तए दो पाणस्स।

द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार के द्वारा यावत् वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन दो दत्तिया आहार की और दो दत्तिया पानी की ग्रहण करना कल्पता है।

त्रैमासिकी भिक्षुप्रतिमा

ति-मासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ।

णवरं तओ दत्तिओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तओ पाणस्स।

तीन मास की भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार के द्वारा यावत् वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन तीन दत्तिया भोजन की और तीन दत्तियां पानी की ग्रहण करना कल्पता है।

चातुर्मासिकी भिक्षुप्रतिमा

चउमासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ।

णवरं चत्तारि दत्तिओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चत्तारि पाणस्स।

चार मास की भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार के द्वारा यावत् वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन चार दत्तिया आहार की और चार दत्तिया पानी की ग्रहण करना कल्पता है।

पंचमासिकी भिक्षुप्रतिमा

पंचमासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ।

णवरं पंच दत्तिओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणस्स।

पांच मास की भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार के द्वारा यावत् वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन भोजन की पाच दत्तिया और पानी की पांच दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।

षाण्मासिकी भिक्षुप्रतिमा

छमासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ।

णवरं छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, छ पाणस्स।

छह मास की भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार के द्वारा यावत् वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन भोजन की छह दत्तिया और पानी की छह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।

सप्तमासिकी भिक्षुप्रतिमा

सत्तमासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ।

णवरं सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स।

सात मास की भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्न अनगार के द्वारा यावत् वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन भोजन की सात दत्तिया और पानी की सात दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।

प्रथम सप्तअहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा

पढम सत्तराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव अहियासेज्जा।

कप्पइ से चउत्थेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा उत्ताणस्स वा, पासिल्लगस्स वा, नेसिज्जयस्स वा ठाणं ठाइत्तए।

तत्थ से दिव्वमाणुस्सतिरिक्खजोणिया उवसग्गा समुप्पज्जेज्जा, ते णं उवसग्गा पयलेज्ज वा, पवडेज्ज वा, णो से कप्पइ पयलित्तए वा पवडित्तए वा।

तत्थ णं उच्चारपासवणेणं उब्बाहिज्जा, णो से कप्पइ उच्चारपासवणं उगिण्हित्तए वा, णिगिण्हित्तए वा कप्पइ से पुव्वपडिलेहियंसि थंडिलंसि उच्चारपासवणं परिट्ठवित्तए, अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए।

एवं खलु एसा पढमा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ।

प्रथम सात दिन-रात की भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार यावत् शारीरिक सामर्थ्य से सहन करे ।

उसे निर्जल उपवास करके ग्राम यावत् राजधानी के बाहर उत्तानासन, पार्श्वासन या निषद्यासन से कायोत्सर्ग करके स्थित रहना चाहिए ।

वहाँ यदि देव, मनुष्य या तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्ग हो और वे उपसर्ग उस अनगार को ध्यान से विचलित करे या पतित करे तो उसे विचलित होना या पतित होना नही कल्पता है ।

यदि मल-मूत्र की बाधा हो जाय तो उसे धारण करना या रोकना नही कल्पता है, किन्तु पूर्व प्रतिलेखित भूमि पर मल-मूत्र त्यागना कल्पता है । पुन यथाविधि अपने स्थान पर आकर उसे कायोत्सर्ग करना कल्पता है ।

इस प्रकार यह प्रथम सात दिन-रात की भिक्षुप्रतिमा यथासूत्र यावत् जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

द्वितीय सप्तअहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा

एवं दोच्चा सत्तराइंदिया वि ।

नवरं—दंडाइयस्स वा, लगडसाइस्स वा, उक्कुडुयस्स वा ठाणं ठाइत्तए । सेस तं चेव जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

इसी प्रकार दूसरी सात दिन-रात की भिक्षुप्रतिमा का भी वर्णन है ।

विशेष यह है कि इस प्रतिमा के आराधनकाल मे दण्डासन, लकुटासन अथवा उत्कुटुकासन से स्थित रहना चाहिए । शेष पूर्ववत् यावत् जिनाज्ञा के अनुसार (यह प्रतिमा) पालन की जाती है ।

तृतीय सप्तअहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा

एवं तच्चा सत्तराइंदिया वि ।

नवरं—गोदोहियाए वा, वीरासणीयस्स वा, अंबखुज्जस्स वा ठाणं ठाइत्तए । सेसं तं चेव जाव अणुपालित्ता भवइ ।

इसी प्रकार तीसरी सात दिन-रात की भिक्षुप्रतिमा का भी वर्णन है ।

विशेष यह है कि इस प्रतिमा के आराधनकाल मे गोदोहनिकासन, वीरासन या आम्र-कुब्जासन से स्थित रहना चाहिए । शेष पूर्ववत् यावत् यह प्रतिमा जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

अहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा

एवं अहोराइयावि ।

नवरं—छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणिस्स वा ईसिं पब्भारगएणं काएणं दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणिस्स ठाणं ठाइत्तए । सेसं तं चेव जाव अणुपालित्ता भवइ ।

अर्थ—इसी प्रकार अहोरात्रिकी प्रतिमा का भी वर्णन है ।

विशेष यह है कि निर्जल षष्ठभक्त करके ग्राम यावत् राजधानी के बाहर शरीर को थोडा-सा झुकाकर दोनों पैरो को सकुचित कर और दोनों भुजाओ को जानुपर्यन्त लम्बी करके कायोत्सर्ग करना चाहिए । शेष पूर्ववत् यावत् यह प्रतिमा जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा

एगराइयं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव अहियासेज्जा ।

कप्पइ से अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणिस्स वा ईसिं पब्भारगएण काएणं एगपोग्गलट्ठिताए दिट्ठीए अणिमिसनयणेहिं अहापणिहितेहिं गत्तेहिं सव्विदिएहिं गुत्तेहिं दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणिस्स ठाणं ठाइत्तए ।

तत्थ से दिव्वमाणुस्सतिरिक्खजोणिया उवसग्गा समुप्पज्जेज्जा, ते ण उवसग्गा पयलेज्ज वा, पवडेज्ज वा, नो से कप्पइ पयलित्तए वा, पवडित्तए वा ।

तत्थ णं उच्चारपासवणेणं उब्बाहिज्जा, नो से कप्पइ उच्चारपासवणं उगिण्हित्तए वा, णिगिण्हित्तए वा । कप्पइ से पुव्वपडिलेहियंसि थंडिलंसि उच्चारपासवणं परिट्ठवित्तए, अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए ।

एगराइयं भिक्खुपडिमं सम्मं अणणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणा अहियाए, असुभाए, अक्खमाए अणिस्सेयसाए, अणणुगामियत्ताए भवति, तं जहा—

१. उम्मायं वा लभेज्जा, २. दीहकालियं वा रोगायकं पाउणिज्जा, ३. केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसिज्जा ।

एगराइयं भिक्खुपडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणा हियाए, सुहाए, खमाए, निस्सेयसाए, अणुगामियत्ताए भवंति । तं जहा—

१. ओहिनाणे वा से समुप्पज्जेज्जा, २. मणपज्जवनाणे वा से समुप्पज्जेज्जा, ३. केवलनाणे वा से असमुप्पन्नपुव्वे समुप्पज्जेज्जा ।

एवं खलु एगराइयं भिक्खुपडिमं अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं, सम्मं काएणं फासित्ता, पालित्ता, सोहित्ता, तीरित्ता, किट्टित्ता, आराहित्ता, आणाए अणुपालित्ता या वि भवति ।

एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमाधारी अनगार यावत् शारीरिक क्षमता से उसे सहन करे ।

उसे निर्जल अष्टमभक्त करके ग्राम यावत् राजधानी के बाहर शरीर को थोडा-सा आगे की ओर झुकाकर, एक पदार्थ पर दृष्टि स्थिर रखते हुए अनिमेष नेत्रो से और निश्चल अगो से सर्व इन्द्रियो को गुप्त रखते हुए दोनो पैरो को सकुचित कर एव दोनो भुजाओ को जानुपर्यन्त लम्बी करके कायोत्सर्ग से स्थित रहना चाहिये ।

वहां यदि देव, मनुष्य या तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग हों और वे उपसर्ग उस अनगार को ध्यान से विचलित करें या पतित करे तो उसे विचलित होना या पतित होना नही कल्पता है।

यदि मल-मूत्र की बाधा हो जाय तो उसे धारण करना या रोकना नही कल्पता है, किन्तु पूर्व प्रतिलेखित भूमि पर मल-मूत्र त्यागना कल्पता है। पुन यथाविधि अपने स्थान पर आकर उसे कायोत्सर्ग करना कल्पता है।

एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन न करने पर अनगार के लिए ये तीन स्थान अहितकर, अशुभ, असामर्थ्यकर, अकल्याणकर एव दु.खद भविष्य वाले होते है, यथा—

१ उन्माद की प्राप्ति, २ चिरकालिक रोग एवं आतक की प्राप्ति, ३ केवलीप्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट होना।

एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाले वाले अनगार के लिए ये तीन स्थान हितकर, शुभ, सामर्थ्यकर, कल्याणकर एव सुखद भविष्य वाले होते हैं, यथा— १ अवधिज्ञान की उत्पत्ति, २ मन पर्यवज्ञान की उत्पत्ति, ३ अनुत्पन्न केवलज्ञान की उत्पत्ति।

इस प्रकार यह एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग और यथातथ्य रूप से सम्यक् प्रकार काया से स्पर्श कर, पालन कर, शोधन कर, पूर्ण कर, कीर्तन कर और आराधन कर जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

विवेचन—सयम की उत्कृष्ट आराधना करते हुए योग्यताप्राप्त गीतार्थ भिक्षु कर्मों की विशेष निर्जरा करने के लिये बारह भिक्षुप्रतिमाये स्वीकार करता है।

इस दशा मे बारह प्रतिमाओ के नाम दिये गये है। टीकाकार ने इनकी व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि "दो मासिया, ति मासिया" इस पाठ से "द्वितीया एकमासिकी, तृतीया एक-मासिकी" इस प्रकार अर्थ करना चाहिये। क्योकि इन प्रतिमाओ का पालन निरन्तर शीत और ग्रीष्म काल के आठ मासो मे ही किया जाता है। चातुर्मास मे इन प्रतिमाओ का पालन नही किया जाता। पूर्व की प्रतिमाओ के एक, दो मास भी आगे की प्रतिमाओ मे जुड जाते हैं, अत "द्वि-मासिकी, त्रिमासिकी" कहना भी असगत नही है। यदि ऐसा अर्थ न करे तो प्रथम वर्ष मे तीन प्रतिमा पालन करके छोडना होगा, दूसरे वर्ष मे चौथी प्रतिमा पालन करके छोडना होगा, इस प्रकार बीच मे छोडते हुए पाच वर्ष मे प्रतिमाओ का आराधन करना उचित नही कहा जा सकता। टीकानुसार उपरोक्त अर्थ करना ही सगत प्रतीत होता है। अत दूसरी प्रतिमा से सातवी प्रतिमा तक के नाम इस प्रकार समझना—

१ एकमासिकी दूसरी भिक्षुप्रतिमा, २ एकमासिकी तीसरी भिक्षुप्रतिमा, ३. एक-मासिकी चौथी भिक्षुप्रतिमा, ४. एकमासिकी पाचवी भिक्षुप्रतिमा, ५ एकमासिकी छट्ठी भिक्षु-प्रतिमा, ६ एकमासिकी सातवी भिक्षुप्रतिमा।

पू० आचार्य श्री आत्माराम जी म० सपादित दशाश्रुतस्कध से ऐसा ही छाया, अर्थ एव विवेचन किया है।

पहली प्रतिमा से सातवी प्रतिमा तक भिक्षु की एक-एक दत्ति बढ़ती है। आठवी से बारहवी प्रतिमा तक दत्ति का कोई परिमाण नही कहा गया है। अत उन प्रतिमाओं मे पारणे के दिन

आवश्यकतानुसार आहार-पानी की दत्ति ग्रहण की जा सकती है। इसके सिवाय सभी प्रतिमाधारी के पालन योग्य सोलह सामान्य नियम है, जो प्रथम प्रतिमा के वर्णन मे कहे गये है—

१. भिक्षादाता का एक पैर देहली के अन्दर हो और एक पैर देहली के बाहर हो, पात्र मे एक व्यक्ति का ही भोजन हो, गर्भवती, छोटे बच्चे वाली या स्तनपान कराती हुई स्त्री न हो तथा उस समय अन्य कोई भिक्षाचर भ्रमण न कर रहे हो तो भिक्षा ग्रहण करना कल्पता है।

२. यदि १२ घण्टो का दिन हो तो ४-४ घण्टो के तीन विभाग करे। प्रथम विभाग—सुबह ६ बजे से १० बजे तक, दूसरा विभाग—दोपहर १० बजे से २ बजे तक, तीसरा विभाग—२ बजे से ६ बजे तक। इन तीन विभागो मे से किसी एक विभाग मे ही भिक्षाचरी ग्रहण करना तथा खाना कल्पता है, शेष दो विभागो मे नही कल्पता है।

३. गोचरी के लिए भ्रमण करने के छह प्रकारो मे से किसी एक प्रकार से गोचरी करने का निश्चय कर लेने पर ही गोचरी जाना कल्पता है।

४. प्रतिमा आराधनकाल मे भिक्षु एक या दो दिन से अधिक किसी ग्रामादि मे नही ठहर सकता है, निरन्तर आठ मास तक विचरण करता ही रहता है। इस मर्यादा का उल्लघन करने पर उसे तप या छेद का प्रायश्चित्त आता है। इस कारण से ही ये प्रतिमाएँ चातुर्मासकाल के सिवाय आठ मास मे ही प्रारम्भ करके पूर्ण कर ली जाती है।

५ प्रतिमाधारी भिक्षु आठ मास तक सूत्रोक्त चार कारणो के अतिरिक्त मौन रह कर ही व्यतीत करता है। जब कभी बोलता है तो सीमित बोलता है। चलते समय बोलना आवश्यक हो तो रुककर बोल सकता है। प्रतिमाराधनकाल मे विचरण करते हुए वह धर्मोपदेश नही देता है। क्योकि प्रत्येक विशिष्ट साधना मे मौन को ही ध्यान व आत्मशान्ति का मुख्य साधन माना गया है। इसलिए प्रतिमाधारी भिक्षु निवृत्त होकर अकेला ही साधना करता है।

६ प्रतिमाधारी भिक्षु ग्रामादि के बाहर—१ बगीचे में, २ चौतरफ से खुले मकान मे अथवा ३ वृक्ष के नीचे ठहर सकता है। इन तीन स्थानो के सिवाय उसे कही भी ठहरना नही कल्पता है। सूत्र मे "अहे" शब्द है, इसका यहा यह अर्थ है कि ठहरने का स्थान यदि चौतरफ से खुला भी हो किन्तु ऊपर से पूर्ण आच्छादित होवे, ऐसे स्थान मे ही भिक्षु निवास करे। वृक्ष कही सघन छाया वाला होता है और कही विरल छाया वाला होता है। अत: विवेकपूर्वक आच्छादित स्थान में रहे।

७ प्रतिमाधारी भिक्षु भूमि पर या काष्ठ के पाट आदि पर अपना आसन आदि बिछाकर बैठ सकता है या सो सकता है। तृणादि के सस्तारक यदि बिछाये हुए मिल जाए तो आज्ञा लेकर पहले उसकी प्रतिलेखना करे और बाद में उसको उपयोग मे ले। अन्य स्थान से याचना करके लाना उसे नही कल्पता है।

८ प्रतिमाधारी भिक्षु ग्रामादि से बाहर बगीचे मे, खुले मकान मे या वृक्ष के नीचे एकान्त स्थान देखकर ठहरा हो और बाद मे वहा कोई भी स्त्री या पुरुष आकर ठहर जाय तथा बातचीत या

कोई भी प्रवृत्ति करे तो उनके निमित्त से स्थान परिवर्तन करना उसे नही कल्पता है। किन्तु संकल्प-विकल्पो का त्याग करके एकाग्रचित्त से ध्यान मे तल्लीन होकर समय व्यतीत करना कल्पता है तथा निर्धारित समय पर वहा से विहार करना कल्पता है।

९ प्रतिमाधारी भिक्षु जहा ठहरा हो वहा यदि कोई आग लगा दे तो उसे स्वत. या किसी के कहने से स्थान परिवर्तन करना नही कल्पता है, किन्तु सकल्प-विकल्पो का त्याग कर धैर्य के साथ आत्मध्यान में तल्लीन रहना कल्पता है।

यदि कोई व्यक्ति दयाभाव से उसे पकड कर बलात् निकाले तो वह निकालने वाले का किसी प्रकार से विरोध न करे किन्तु स्वत: ईर्यासमिति पूर्वक निकल जावे।

१०-११ प्रतिमाधारी भिक्षु के पांव मे काटा आदि लग जाय या आख में रज आदि पड जाय तो उसे निकालने के लिये कुछ भी प्रयास करना नही कल्पता है। यदि कोई निकालने का प्रयत्न करे तो उसका प्रतीकार करना भी नही कल्पता है। माध्यस्थ भाव धारण करके विचरना कल्पता है।

ग्यारहवे नियम मे प्रतिमाधारी भिक्षु को आंख मे से त्रस प्राणी निकालने का निषेध किया गया है, इस नियम मे भी शरीर के प्रति निरपेक्षता एव सहनशीलता का ही लक्ष्य है। भिक्षु उस प्राणी के जीवित रहने तक आँखो की पलके भी नही पडने देता है, जिससे वह स्वयं निकल जाता है। यदि वह नही निकल पा रहा हो तो उसकी अनुकम्पादृष्टि से प्रतिमाधारी भिक्षु निकाल सकता है। यथा—मार्ग मे पशु भयभीत हो तो मार्ग छोड सकता है। इस प्रकार इन नियमो मे प्रतिमाधारी के दृढमनोबली और कष्टसहिष्णु होते हुए शरीर के ममत्व व शुश्रूषा का त्याग करना सूचित किया गया है। इनमे जीवरक्षा का अपवाद स्वत समझ लेना चाहिए।

१२ तीन प्रकार के ठहरने का स्थान न मिले और सूर्यास्त का समय हो जाय तो सूर्यास्त के पूर्व ही योग्य स्थान देखकर रुक जाना कल्पता है। वह स्थान आच्छादित हो या खुला आकाश वाला हो तो भी सूर्यास्त के बाद एक कदम भी चलना नही कल्पता है।

ऐसी स्थिति मे यदि भिक्षु के ठहरने के आस-पास की भूमि सचित्त हो तो उसे निद्रा या ऊँघ लेना नही कल्पता है। सतत सावधानीपूर्वक जागृत रहते हुए स्थिर आसन से रात्रि व्यतीत करना कल्पता है। मल-मूत्र की बाधा हो तो यतनापूर्वक पूर्व प्रतिलेखित भूमि में जा सकता है और परठ कर पुन· उसी स्थान पर आकर उसे स्थित होना कल्पता है।

सूत्र मे खुले आकाश वाले स्थान के लिये ही "जलसि" शब्द का प्रयोग किया गया है क्योकि खुले स्थान मे निरन्तर सूक्ष्म जलवृष्टि होना भगवतीसूत्र श १, उ ६ में कहा है। अत· उस शब्द से नदी तालाब आदि जलाशय नही समझना चाहिये। बृहत्कल्पसूत्र उ· २ मे ऐसे स्थान के लिए "अब्भावगासियसि" शब्द का प्रयोग है।

१३· प्रतिमाधारी भिक्षु के कभी कही हाथ पैर आदि पर सचित्त रज लग जाए तो उसका प्रमार्जन करना नही कल्पता है और स्वत· पसीने आदि से रज अचित्त न हो जाय तब तक गोचरी जाना नहीं कल्पता है किन्तु स्थिरकाय होकर खड़े रहना कल्पता है।

१४ प्रतिमाधारी भिक्षु को हाथ पैर मुह आदि को अचित्त जल से धोना भी नही कल्पता है। किन्तु अशुचि के लेप को दूर कर सकता है तथा भोजन के बाद हाथ मुह को धो सकता है।

यहा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सामान्य भिक्षु को भी उक्त दो कारणो के बिना हाथ पैर आदि धोना नही कल्पता है तो प्रतिमाधारी के लिये इस नियम में क्या विशेषता है ?

इसका समाधान यह है कि सामान्य भिक्षु अपवाद सेवन कर सकता है किन्तु प्रतिमाधारी अपवाद सेवन नही कर सकता है। सामान्य भिक्षु आपवादिक स्थिति मे रोगोपशाति के लिये औषध सेवन और अंगोपाग पर जलसिचन या उनका प्रक्षालन भी कर सकता है।

१५ प्रतिमाधारी भिक्षु के सामने यदि कोई उन्मत्त पशु आवे तो भयभीत होकर मार्ग छोडना नही कल्पता है। अपितु धैर्य के साथ चलते रहना कल्पता है तथा किसी शात पशु को मार्ग देने के लिये उसे एक तरफ होकर चलना कल्पता है।

१६ प्रतिमाधारी भिक्षु को चलते समय या बैठे हुए गर्मी या सर्दी से बचने के लिये किसी प्रकार का सकल्प या प्रयत्न करना नही कल्पता है किन्तु जहा जिस अवस्था मे है, वहा वैसी ही स्थिति मे समभाव पूर्वक स्थिरचित्त से सहनशील होकर रहना कल्पता है।

यद्यपि सयमसाधना के लिये उद्यत प्रत्येक भिक्षु को धैर्य रखना तथा निस्पृह होकर शरीर की शुश्रूषा न करना आवश्यक है, किन्तु प्रतिमाधारी के लिये तो उक्त दोनो अनिवार्य नियम है।

उपरोक्त सोलह नियमो में कई नियम तो मानो धैर्य की परीक्षा के लिये ही हैं, यथा—

अग्नि मे जलते समय बाहर निकलने का सकल्प भी नहीं करना, सिह आदि के सामने आने पर भी मार्ग न छोडना, आँखो मे गिरी हुई रज आदि का शोधन नही करना, पाव मे लगे काच आदि को नही निकालते हुए ईर्यासमिति पूर्वक आठ मास तक विहार करते रहना इत्यादि।

प्रतिमा-आराधनाकाल मे उक्त उपसर्ग आवे या न भी आवे, किन्तु भिक्षाप्राप्ति का कठोरतम नियम निरन्तर आठ महिनो के लिये अत्यन्त दुष्कर है। लम्बी तपश्चर्या करना फिर भी सरल हो सकता है किन्तु एक पाव देहली के अदर और एक पाव बाहर तथा एक व्यक्ति के खाने लायक भोजन मे से ही लेना इत्यादि विधि से आहार का या अचित्त पानी का मिलना अत्यन्त दुर्लभ ही होता है। ऐसी भूख-प्यास सहन करते हुए भी सदा भिक्षा के लिये घूमना तथा एक या दो रात्रि रुकते हुए आठ मास तक विहार करते रहना अत्यन्त कठिन है।

इसीलिये भिक्षुप्रतिमा-आराधन के लिये प्रारम्भ के तीन सहनन, २० वर्ष की सयमपर्याय, २९ वर्ष की उम्र तथा जघन्य ९वे पूर्व की तीसरी आचारवस्तु का ज्ञान होना आवश्यक है। अनेक प्रकार की साधनाए व अभ्यास भी प्रतिमा धारण के पूर्व किये जाते हैं। उनमे उत्तीर्ण होने पर प्रतिमा धारण के लिये आज्ञा मिलती है। अत वर्तमान मे इन भिक्षुप्रतिमाओ का आराधन नही किया जा सकता है अर्थात् इनका विच्छेद माना गया है।

इन भिक्षुप्रतिमाओ मे पहली से सातवी प्रतिमा तक उपवास आदि तपस्या का कोई आवश्यक नियम नही है, फिर भी इच्छानुसार तप करने का निषेध भी नही समझना चाहिये।

आठवीं नवमी और दसवी प्रतिमा के एक-एक सप्ताह मिलाकर तीन सप्ताह तक एकांतर उपवास करना आवश्यक होता है तथा पारणे मे आयम्बिल किया जाता है। दत्ति सख्या की मर्यादा को छोडकर भिक्षा के व अन्य सभी नियम पूर्व प्रतिमा के समान पालन करने होते हैं। उपवास के दिन चारो आहार का त्याग करके सूत्रोक्त किसी एक आसन से ग्रामादि के बाहर पूर्ण दिन-रात स्थिर रहना होता है। तीनो प्रतिमाओ मे केवल आसन का अतर होता है।

आठवी और नवमी प्रतिमा का प्रथम आसन "उत्तानासन" और "दंडासन" है। ये दोनों आकाश की तरफ मुख करके सोने के हैं, किंतु इनमें अतर यह है कि उत्तानासन में हाथ पाव आदि फैलाये हुए या अन्य किसी भी अवस्था मे रह सकते हैं और दंडासन मे मस्तक से पाव तक पूरा शरीर दड के समान सीधा लम्बा रहता है और हाथ पैर अतर रहित रहते हैं।

इसी प्रकार उक्त दोनो प्रतिमाओ का द्वितीय आसन "एक पार्श्वासन" और 'लकुटासन' है। ये दोनो एक पसवाडे (करवट) से सोने के है किंतु इनमे अंतर यह है कि "एक पार्श्वासन" मे भूमि पर एक पार्श्व भाग से सोना होता है और लकुटासन मे करवट से सोकर मस्तक एक हथेली पर टिकाकर-और पाव पर पाव चढाकर लेटे रहना होता है। इस प्रकार इसमे मस्तक और एक पाव भूमि से ऊपर रहता है।

दोनो प्रतिमाओ का तृतीय आसन "निषद्यासन" और "उत्कुटुकासन" है। ये दोनो बैठने के आसन है। निषद्यासन मे पलथी लगाकर पर्यंकासन से सुखपूर्वक बैठा जाता है और "उत्कुटुक-आसन" मे दोनो पावो को समतल रख कर उन पर पूरे शरीर को रखते हुए बैठना होता है। यह उत्कृष्ट गुरुवदन का आसन है।

दसवी प्रतिमा के तीनो आसनो की यह विशेषता है कि वे न बैठने के, न सोने के और न सीधे खडे रहने के है किन्तु बैठने तथा खडे रहने के मध्य की अवस्था के है।

प्रथम गोदुहासन मे पूरे शरीर को दोनो पावो के पजों पर रखना पडता है। इसमे जघा उरु आपस मे मिले हुए रहते हैं और दोनो नितम्ब एडी पर टिके हुए रहते हैं।

दूसरे वीरासन मे पूरा शरीर दोनो पजो के आधार पर तो रखना पडता है किन्तु इसमें नितम्ब एडी से कुछ ऊपर उठे हुए रखने पडते हैं तथा जघा और उरु में भी कुछ दूरी रखनी पडती है। इस प्रकार कुर्सी पर बैठे व्यक्ति के नीचे से कुर्सी निकाल देने पर जो आकार अवस्था उसकी होती है वैसा ही लगभग इस आसन का आकार समझना चाहिये।

तीसरा आसन आम्रकुब्जासन है तथा विकल्प से इसका अंतकुब्जासन नाम और व्याख्या भी उपलब्ध है। इस आसन मे भी पूरा शरीर तो पैरो के पंजो पर रखना पड़ता है, घुटने कुछ टेढे रखने होते हैं, शेष शरीर का सम्पूर्ण भाग सीधा रखना पडता है। जिस प्रकार आम ऊपर से गोल और नीचे से कुछ टेढ़ा होता है इसी प्रकार यह आसन किया जाता है।

किसी भी एक आसन से २४ घंटे रहना यद्यपि कठिन है, फिर भी दसवी प्रतिमा के तीनो आसन तो अत्यन्त कठिन है। सामान्य व्यक्ति के लिये तो इन आसनों में एक घटा रहना भी अशक्य होता है।

आठवे महिने के बावीसवे दिन, पूर्व प्रतिमा के उपवास का पारणा कर, तेवीसवें दिन उपवास करके, चौवीसवे दिन बेला करके ग्यारहवी प्रतिमा का पालन किया जाता है। बेले मे दिन रात सीधे खडे रहकर कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्ग मे हाथो को शरीर से सटाकर जानु पर्यंत सीधे रखना, दोनो पावो को सकुचित करना, वक्षस्थल और मुख कुछ आगे झुकाकर सीधे खडे रहना होता है। इस प्रकार अहोरात्रि के कायोत्सर्ग से इस प्रतिमा का आराधन किया जाता है, शेष सभी वर्णन पूर्व प्रतिमाओं के समान है।

पच्चीसवे दिन बेले का पारणा करके, छब्बीसवें, सत्तावीसवे और अट्ठावीसवे इन तीन दिनो मे तेला किया जाता है। तेले के दिन अर्थात् तीसरे दिन सम्पूर्ण रात्रि का कायोत्सर्ग करके बारहवी प्रतिमा का पालन किया जाता है। कायोत्सर्ग की विधि ग्यारहवी प्रतिमा के समान है किन्तु इस प्रतिमा मे सारी रात एक पुद्गल पर दृष्टि स्थिर रखना, आँखो की पलके भी नही झपकाना अगोपागो को सर्वथा स्थिर रखना, सभी इन्द्रियो को अपने विषय से निवृत्त रखना तथा किसी प्रकार का उपसर्ग होने पर किंचित् भी कायोत्सर्ग मुद्रा से विचलित न होना, यह इस बारहवी प्रतिमा की विशेषता है।

आठवी से बारहवी भिक्षुप्रतिमा तक के कायोत्सर्गों मे मल-मूत्र की बाधा होने पर भिक्षु कायोत्सर्ग अवस्था छोडकर पूर्व प्रतिलेखित भूमि मे जाकर मल-मूत्र का त्याग करके पुन उसी स्थान पर आकर उसी आसन या मुद्रा मे स्थित हो सकता है। ऐसी उग्रतम साधना मे भी शरीर के स्वाभाविक वेग को नही रोकना यह वीतराग मार्ग का स्वस्थ विवेक है। यह शरीर के प्राकृतिक नियमो से विपरीत नही चलने का निर्देश है। ऐसे प्रसगो मे छ मास तक मल-मूत्र रोकने की शक्ति का कथन भी किया जाता है जो आगमो के विधान के अनुकूल नही है।

एक पुद्गल पर दृष्टि रखने का तात्पर्य यह है कि सब ओर से दृष्टि हटाकर नासिका या पैरो के नखो पर दृष्टि को स्थिर करना।

इस बारहवी प्रतिमा मे उपसर्ग अवश्य होते हैं, ऐसा भी कहा जाता है, किन्तु सूत्र मे इतना ही कथन है कि सम्यग् आराधना का यह सुफल है और असम्यग् आराधना का यह कुफल है।

आठवे महिने के २९वें दिन तेले का पारणा करके बारह ही प्रतिमा पूर्ण कर दी जाती है। इस प्रकार मिगसर की एकम से प्रतिमाये प्रारम्भ की जाएँ तो आषाढी पूनम के पूर्व १२ भिक्षु प्रतिमाओ की आराधना पूर्ण हो जाती है।

बारह भिक्षुप्रतिमा की उग्र साधना करने वाले श्रमण कर्मों की महान् निर्जरा करके आराधक होकर शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। □□

आठवीं दशा

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पंचहत्युत्तरे यावि होत्था, तं जहा—१. हत्युत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते, २. हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, ३. हत्युत्तराहिं जाए, ४. हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए, ५. हत्थुत्तराहिं अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पण्णे, ६. साइणा परिनिव्वुए भगवं जाव भुज्जो भुज्जो उवदंसेइ।

अर्थ—उस काल उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर के पाच हस्तोत्तर (उत्तराफाल्गुनी) हुए थे अर्थात् भगवान् उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे देवलोक से च्यव कर गर्भ मे आए। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे भगवान् का एक गर्भ से दूसरे गर्भ मे सहरण हुआ। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे जन्मे। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे मुडित होकर आगार धर्म से अणगार धर्म मे प्रव्रजित हुए। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र मे भगवान् को अनन्त अनुत्तर निर्व्याघात निरावरण कृत्स्न परिपूर्ण श्रेष्ठ केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न हुआ एव स्वाति नक्षत्र मे भगवान् परम निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हुए यावत् भगवान् ने बारम्बार स्पष्ट रूप से समझाया।

विवेचन—इस दशा का नाम "पर्युषणाकल्प" है। इसका उल्लेख ठाणागसूत्र के दसवे ठाणे मे है तथा दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति गाथा ७ मे "कप्पो" ऐसा नाम भी उपलब्ध है।

दशाश्रुतस्कन्धसूत्र की सभी दशाओ मे एक-एक विषय का ही निरूपण किया गया है। तदनुसार इस दशा मे भी "पर्युषणाकल्प" सम्बन्धी एक विषय का ही प्रतिपादन स्थविर भगवन्त श्री भद्रबाहुस्वामी ने किया है। निर्युक्तिकार के समय तक उसका वही रूप रहा है।

निर्युक्तिकार ने इस दशा मे सयम-समाचारी के कुछ विषयो का विवेचन किया है और प्रारम्भ मे "पर्युषण" शब्द की व्याख्या की है। सम्पूर्ण सूत्र की निर्युक्ति गाथा ६७ है। जिनमें प्रारम्भ की २३ गाथाओ में केवल 'पर्युषण' का विस्तृत विवेचन है।

वर्तमान मे उपलब्ध सक्षिप्त पाठ की रचना मे सम्पूर्ण कल्पसूत्र (पर्युषणाकल्प-सूत्र) का समावेश किया गया है। उस कल्पसूत्र में २४ तीर्थंकरो के जीवन का वर्णन है। उनमें भगवान् महावीर के पांच कल्याणको का विस्तृत वर्णन है और शेष तीर्थंकरो के कल्याणकों का सक्षिप्त वर्णन है। बाद मे यह भी सूचित किया है कि भगवान् महावीर स्वामी को निर्वाण प्राप्त हुए ९८० वर्ष बीत गये है और पार्श्वनाथ भगवान् को मोक्ष गये १२३० वर्ष बीत गये हैं। तदनन्तर सवत्सर सम्बन्धी मतभेद का भी कथन है। वीरनिर्वाण के बाद एक हजार वर्ष की अवधि में हुए आचार्यों की स्थविरावली है। उनमे भी मतभेद और सक्षिप्त-विस्तृत वाचनाभेद है। अन्त मे चातुर्मास समाचारी है। चिन्तन करने पर इन विभिन्न विषयो के बारह सौ श्लोक प्रमाण जितनी बड़ी आठवीं दशा का होना उचित प्रतीत नही होता है।

दशाश्रुतस्कन्ध छेदसूत्र है। छेदसूत्रो का विषय और उनकी रचना-पद्धति कुछ भिन्न ही है। बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथसूत्र छेदसूत्र है। इनमे छोटे-छोटे उद्देशक हैं और केवल आचार का विषय है। दशाश्रुतस्कन्धसूत्र के निर्युक्तिकार भी पाचवी गाथा में इस सूत्र की छोटी दशाएँ होने का ही निर्देश करते है और बडी दशाएँ अन्य अगसूत्रो मे हैं, ऐसा कथन करते है। अत वर्तमान मे उपलब्ध कल्पसूत्र को समाविष्ट करने वाला सक्षिप्त पाठ प्राचीन प्रतीत नही होता है तथा निर्युक्ति व्याख्या से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। क्योकि निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन में पर्युषणासूत्र की सर्वप्रथम व्याख्या की है। जबकि कल्पसूत्र मे सर्वप्रथम नमस्कार मन्त्र तथा तीर्थंकर वर्णन है और पर्युषणा का सूत्र ९०० श्लोक प्रमाण वर्णन के बाद मे है।

कुछ चिन्तको का यह मत है कि "आठवी दशा को अलग करके कल्पसूत्र नाम अकित कर दिया गया है, अत सम्पूर्ण कल्पसूत्र भद्रबाहुस्वामी रचित आठवी दशा ही है।" यह भी एक कल्पना है और इसे बिना सोचे-विचारे कईयो ने सत्य मान लिया है।

नदीसूत्र मे तीन कल्पसूत्रो के नाम हैं—१ कप्पसुत्त (बृहत्कल्पसूत्र) २ चुल्लकप्पसुत्त ३ महाकप्पसुत्त। किन्तु इस पर्युषणाकल्पसूत्र का कही नाम नही है। नदीसूत्र का सकलनकाल वीरनिर्वाण की दसवी शताब्दी का माना जाता है। तब तक इस कल्पसूत्र का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नही था, यह स्पष्ट और सुनिश्चित है।

आर्य भद्रबाहुस्वामी ने दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, कल्पसूत्र (बृहत्कल्पसूत्र) और व्यवहारसूत्र इन तीन छेदसूत्रो की रचना की है, इनमे से एक सूत्र का नाम कल्पसूत्र है ही तो उन्ही के दशाश्रुत-स्कन्ध की एक दशा को अलग करके नया कल्पसूत्र का सकलन करना किसी भी विद्वान् द्वारा कैसे आवश्यक या उचित माना जा सकता है ?

दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्तिकार ने प्रथम गाथा मे भद्रबाहुस्वामी को १४ पूर्वी कहकर वदन किया है और तीन छेदसूत्रो का कर्ता कहा है—

वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिम सगलसुयणाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसि, दसासुकप्पे य ववहारे ॥ निर्युक्ति गाथा ॥ १ ॥

चूर्णिकार ने भी इस गाथा की व्याख्या करते हुए कहा है कि निर्युक्तिकार इस प्रथम गाथा मे सूत्रकार को आदि मगल के रूप मे प्रणाम करते हैं। अत यह सहज सिद्ध है कि चूर्णिकार के समय तक स्वोपज्ञ निर्युक्ति कहने की भ्रान्त धारणा भी नही थी और इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सूत्रकार भद्रबाहुस्वामी से निर्युक्तिकार भिन्न हुए हैं। क्योकि निर्युक्तिकार स्वय सूत्रकर्ता भद्रबाहु स्वामी को वदन करते है। अत स्वोपज्ञ निर्युक्ति मानना भी सर्वथा असगत है। दशाश्रुतस्कन्ध के निर्युक्तिकार ने निर्युक्ति करते हुए आठवी दशा की निर्युक्ति भी की है। उसमें न तो इस सक्षिप्त पाठ की सूचना की है और न ही अलग सकलित किए गये कल्पसूत्र की कोई चर्चा की है।

निर्युक्तिकार ने आठ आचार-प्रधान आगमो की निर्युक्ति की है। यदि पर्युषणाकल्पसूत्र आठवी दशा से अलग होता तो उसका निर्देश या उसकी व्याख्या अवश्य करते। अत. यह निश्चित है कि निर्युक्तिकार के समय तक भी इस बारसा कल्पसूत्र अर्थात् पर्युषणाकल्पसूत्र का अस्तित्व नही

था। साथ ही एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए कि इसका परिचायक यह नाम विक्रम की बारहवी शताब्दी पूर्व के किसी भी आगम या ग्रन्थ मे देखने को नही मिलता है।

आचार्य मलयगिरि के समय तक प्राय: सभी आगमो की निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि व्याख्याएँ रची गई थी किन्तु इस कल्पसूत्र की व्याख्या करने का किसी भी विद्वान् ने सकल्प नही किया और कही किसी ने इसका नाम-निर्देश भी नही किया।

एक प्रचलित धारणा यह भी है कि "ध्रुवसेन राजा के पुत्रशोक को दूर करने के लिये कालकाचार्य ने आठवी दशा का सभा मे वाचन किया और उस समय से ही यह अलग सूत्र के रूप मे प्रचलित हुआ। उसका आज तक पर्युषण के दिनो मे सभा के बीच वाचन किया जाता है।" यह भी एक कल्पना कल्पित करके फिट कर दी गई है, इसमें मौलिकता तनिक भी नही है।

इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कालकाचार्य अनेक हुए हैं, उनमे अन्तिम कालकाचार्य देवर्द्धिगणि के समय वीरनिर्वाण की दसवी सदी में और विक्रम की छट्ठी सदी के प्रारम्भ मे हुए है।

ध्रुवसेन राजा भी तीन हुए हैं, जिनमे प्रथम ध्रुवसेन वीरनिर्वाण के ११वी शताब्दी के मध्यकाल मे, दूसरे १२वी शताब्दी के मध्यकाल मे और तीसरे १२वीं शताब्दी के अन्तिम काल मे हुए है। प्रथम ध्रुवसेन राजा के पुत्रशोक की घटना वीरनिर्वाण के बाद ग्यारहवी शताब्दी के ५४वे वर्ष मे घटी है। उस समय मे आनन्दपुर मे कालकाचार्य के चातुर्मास करने का कोई भी उल्लेख इतिहास से सिद्ध नही हो सकता है।

सामान्य साधुओ को और साध्वियो को भी छेदसूत्र नही पढ़ाये जाने की धारणा और परम्परा के अनेक उल्लेख प्राप्त होते है। ऐसे इस छेदसूत्र के अध्ययन को पुत्रशोक दूर करने के लिये राजसभा मे वाचन करने का कथन किंचित् भी उचित नही कहा जा सकता है।

इस प्रकार उपलब्ध कल्पसूत्र का यह स्वतन्त्र स्वरूप प्राचीन सिद्ध नही होता है। अत. दशाश्रुतस्कन्ध की आठवी दशा मे उसके सम्पूर्ण अस्तित्व का अथवा उसके सक्षिप्त पाठ का बाद मे सकलित होना या प्रक्षिप्त करना स्वत.सिद्ध है।

अनुप्रेक्षा फलित ज्ञातव्य यह है कि विक्रम की १२वी, १३वी शताब्दी में चुल्लकल्पसूत्र, महाकल्पसूत्र या पट्टावलिया आदि के सग्रह से यह सूत्र सकलित किया गया और इसके साथ पर्युषणाकल्प नामक आठवी दशा रूप समाचारी को परिवर्धित या परिवर्तित करके अन्त मे जोडा गया है तथा उस समूचे सग्रहसूत्र को चौदह पूर्वी भद्रबाहु की रचना कहकर प्रसिद्ध किया गया और प्राचीनता दिखाने के लिए सभा मे वाचन का नाम भी कल्पित असगत कथा द्वारा कालकाचार्य से जोड दिया गया। यहा तक कि दशाश्रुतस्कन्ध की आठवी दशा मे भी पूरा पर्युषणाकल्पसूत्र लिख दिये जाने का दुस्साहस होने लगा। इस प्रकार २१०० श्लोक-प्रमाण पूर्ण दशाश्रुतस्कन्ध कल्पित कर उसको चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु की रचना कहकर उसका महत्त्व बढ़ाया गया है।

इससे अच्छी तरह निर्णय हो जाता है कि "आठवी" दशा मे उपलब्ध सम्पूर्ण पर्युषणाकल्प-सूत्र रूप सक्षिप्त पाठ मौलिक नही है।

पर्युषणाकल्पसूत्र मे स्थविरावली के बाद समाचारी के प्रारम्भ का सूत्र भी मौलिक और शुद्ध नही है, उस सूत्र का भावार्थ देखने से यह अच्छी तरह समझ मे आ सकता है ।

समाचारी-प्रकरण के प्रथम सूत्र मे यह कहा गया है कि "श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने वर्षावास के एक महीना बीस दिन बीतने पर वर्षावास किया । उसी प्रकार गणधरो ने किया, उसी प्रकार उनके शिष्यो ने एव स्थविरो ने किया है और उसी प्रकार आजकल विचरने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ करते हैं तथा हमारे आचार्य उपाध्याय भी उसी प्रकार वर्षावास करते है और हम भी वर्षावास का एक मास और बीस दिन बीतने पर (भादवासुदी पचमी को) चातुर्मास करते हैं । उसके पहले भी अर्थात् चतुर्थी को करना कल्पता है किन्तु उसके बाद मे करना नही कल्पता है ।"

दशाश्रुतस्कन्ध से हटाये गये पर्युषणाकल्प अध्ययन की साधु-समाचारी वर्णन के पाठ का यह प्रथम सूत्र है । चौदहपूर्वी भद्रबाहु द्वारा निर्यूढ बृहत्कल्प और व्यवहारसूत्र भी है । इनके सूत्रों से मिलान करने पर समाचारी का यह सूत्र उनकी रचनाशैली के समकक्ष प्रतीत नही होता है, क्योकि इस सूत्र के सम्बन्ध मे अनेक प्रश्न उद्भूत होते हैं । यथा—

१ भगवान् ने कौनसा वर्षावास किस ग्राम या नगर मे एक मास और बीस दिन बाद किया ? क्योकि भगवान् ने तो सभी चातुर्मास आषाढी चौमासी के पूर्व ही स्थिर किये, ऐसे उल्लेख आगमो और ग्रन्थो मे उपलब्ध है ।

वर्षावास के लिए ठहरने के स्थान की चार मास पर्यन्त आज्ञा लेकर ही सत-सतियो के रहने की परम्परा प्राचीनकाल से आज तक अविच्छिन्नरूप से प्रचलित है । इतिहास मे एक भी उल्लेख ऐसा उपलब्ध नही है कि किसी भी अमुक साधु ने एक मास और बीस दिन बाद भादवा की शुक्ला पचमी को चौमासा बिठाया हो ।

भगवान् के नाम से किसी प्रकार का विधान करना, यह भी छेदसूत्र की पद्धति नही है । निर्युक्तिकार ने भी प्रथम सूत्र की व्याख्या २३ गाथाओ मे की है, उनमे कही भगवान् महावीरस्वामी के वर्षावास के निर्णय का कथन नही है ।

२ "भगवान् ने किया वैसा गणधरो ने किया, वैसा ही उनके शिष्यो ने एव स्थविरो ने किया, वैसे ही आजकल के श्रमण तथा हमारे आचार्य और हम करते है । पहले दिन पर्युषण कर सकते है किन्तु बाद मे नही कर सकते है ।" ऐसी क्रमबद्ध रचना को चौदहपूर्वी भद्रबाहुस्वामी की रचना कहना भी असगत है ।

३ उक्त सूत्र मे "हम" शब्द का प्रयोग करने वाला कौन है ? भद्रबाहु जैसे महान् श्रुतधर इस प्रकार कहे, यह कल्पना करना भी उचित प्रतीत नही होता । इस प्रकार पूर्वापर के तथ्यो पर चिन्तन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान मे उपलब्ध पर्युषणाकल्पसूत्र के समाचारी प्रकरण का यह प्रथम सूत्र और अन्य अनेक सूत्र परिवर्तित और परिवर्धित हैं, अत यह समाचारी भी भद्रबाहु की रचना प्रतीत नही होती है ।

इस दशा का जो स्वरूप निर्युक्तिकार के सामने था वह उपलब्ध कल्पसूत्र मे दिखाई नही देता है । अत इस आठवी दशा को सक्षिप्त पाठ वाली कहने की अपेक्षा आचाराग के सातवें अध्ययन के समान विलुप्त कहना ही उचित प्रतीत होता है ।

यहाँ प्रस्तुत सस्करण मे जो सक्षिप्त मूल पाठ है वह पर्युषणाकल्पसूत्र का प्रथम सूत्र और अन्तिम सूत्र लेकर सकलित किया हुआ है। यह परम्परा का पालन मात्र है।

आगमो के सूत्रपाठ का एक अक्षर भी आगे-पीछे, कम-ज्यादा, इधर-उधर करना बहुत बडा दोष—ज्ञानातिचार माना गया है। फिर भी समय-समय पर अनेक ऐसे प्रक्षेप आगमो मे हुए है। उनमे का यह भी एक उदाहरण है। यहा जो कुछ लिखा है वह अपनी अल्प जानकारी एव सामान्य अनुभवो के अनुसार लिखा है, विद्वान् विशेषज्ञो को इसमे जो यथार्थ लगे उसे ही समझने का एव धारण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

उपलब्ध कल्पसूत्र का २९१ वा अन्तिम उपसहार सूत्र जो है, उसका भावार्थ यह है—

"यह सम्पूर्ण (१२०० श्लोकप्रमाण का पर्युषणाकल्पसूत्र) अध्ययन (आठवी दशा) भगवान् महावीर स्वामी ने राजगृह नगर मे देवयुक्त परिषद् मे बारम्बार कहा।" इस उपसहार सूत्र को मनीषी पाठक पढकर आश्चर्य करेगे कि भगवान् के जीवन का सारा वर्णन उनके ही मुख से परिषद मे कहलाना और निर्वाण के ९८० वर्ष या ९९३ वर्ष बीतने का कथन, स्थविरो की वदना के पाठ सहित स्थविरावली तथा असगत पाठो से युक्त समाचारी को महावीर के श्रीमुख से कहलवाना और उसी आठवी दशा को १४ पूर्वी भद्रबाहुरचित कहना कितना बेतुका प्रयास है। जिसे कि किसी भी तरह सत्य सिद्ध नही किया जा सकता है।

यह कल्पसूत्र भगवान् महावीर ने राजगृही नगरी के गुणशील उद्यान मे बारम्बार कहा था, तो किस दिन कहा? क्या एक ही दिन मे कहा या अलग-अलग दिनो मे कहा? और बारम्बार क्यो कहा? —इत्यादि प्रश्नो का सही समाधान कुछ नही मिल सकता है।

निर्युक्तिकार ने इस दशा के जिन-जिन विषयो की व्याख्या की है उनसे भी उक्त प्रश्नों का यथार्थ निर्णय नही हो पाता। निर्युक्ति की ६१वी उपसहार-गाथा है उसके बाद उपलब्ध ६ गाथाओ को भी मौलिक नही कहा जा सकता।

६१ गाथाओ मे आये विषयो का साराश इस प्रकार है—

१ साधु-साध्वी को वर्षावास के एक महीना बीस दिन बीतने पर अर्थात् भादवा सुदी पचमी को पर्युषणा (सवत्सरी) करनी चाहिए।

२ साधु-साध्वी जिस मकान मे चातुर्मास निवास करे, वहाँ से उन्हे प्रत्येक दिशा मे आधा कोस सहित आधा योजन से आगे नही जाना चाहिए।

३. चातुर्मास मे साधु-साध्वी को विगय का सेवन नही करना चाहिए। रोगादि कारण से विगय सेवन करना हो तो आचार्यादि की आज्ञा लेकर ही करना चाहिए।

४ वर्षावास मे साधु-साध्वी को शय्या, सस्तारक ग्रहण करना कल्पता है। अर्थात् जीवरक्षा हेतु आवश्यक समझना चाहिए।

५ वर्षावास मे साधु-साध्वी को तीन मात्रक ग्रहण करना कल्पता है, यथा—१ उच्चार (बडी नीत का) मात्रक, २ प्रश्रवणमात्रक, ३ खेल-कफमात्रक।

६ साधु-साध्वी को पर्युषणा के बाद गाय के रोम जितने बाल रखना नही कल्पता है। अर्थात गाय के रोम जितने बाल हों तो भी लोच करना आवश्यक होता है।

७. साधु-साध्वी को चातुर्मास मे पूर्वभावित श्रद्धावान् के अतिरिक्त किसी को दीक्षा देना नही कल्पता है ।

८. चातुर्मास मे साधु-साध्वी को समिति गुप्ति की विशेष रूप से सावधानी रखनी चाहिए ।

९. साधु-साध्वी को पर्युषणा के बाद किसी भी पूर्व क्लेश (कषाय) को अनुपशान्त रखना नही कल्पता है ।

१०. साधु-साध्वी को वर्ष भर के सभी प्रायश्चित्त तपों को चातुर्मास मे वहन कर लेना चाहिए ।

आगे ६२वी गाथा मे कहा है "तीर्थकर और गणधरो की स्थविरावली २४वें तीर्थकर के शासन में कही जाती है" और शेष (६३-६७) ५ गाथाओ मे अल्पवर्षा मे गोचरी जाने का विधान किया गया है ।

उपलब्ध पर्युषणा कल्पसूत्र मे तो तीर्थकर, गणधर और स्थविरो के वर्णन पहले है और उस के बाद समाचारी का वर्णन है । किन्तु निर्युक्ति मे समाचारी के प्रायश्चित्तो का विधान करने वाली उपसहार गाथा के बाद मे उसका कथन है अत. उसका कोई महत्त्व नही है, अपितु ऐसा कथन अनेक आशकाओ का जनक है । अर्थात् अपने आग्रह की सिद्धि के लिए यह गाथा रचकर जोड दी गई है ।

स्थविरावली के कथन के बाद वर्षा मे गोचरी जाने का विधान ५ निर्युक्ति गाथाओं मे है । वह भी दशवैकालिकसूत्र तथा आचारागसूत्र से विपरीत विधान है, अत सदेहास्पद है । अर्थात् उपसहार के बाद होने से और आगम-विपरीत कथन करने वाली होने से ये पाच गाथाए भी प्रक्षिप्त ही प्रतीत होती है । इस प्रकार निर्युक्ति की अतिम छ. गाथाए प्रक्षिप्त ज्ञात होती है । जब मूल पाठो मे इतना परिवर्तन किया जा सकता है तो निर्युक्ति मे होना क्या आश्चर्य है ।

उक्त सभी विचारणाओ का तात्पर्य यह है कि पर्युषणाकल्पसूत्र स्वतत्र सकलित सूत्र है । न कि दशाश्रुतस्कधसूत्र की आठवी दशा है । अत आठवी दशा का सक्षिप्त पाठ जो समूचे पर्युषणा कल्पसूत्र को समाविष्ट करता हुआ दिखाया जाता है वह अशुद्ध है, अर्थात् कल्पित है । जो निर्युक्ति आदि व्याख्याओ से स्पष्ट सिद्ध है ।

पर्युषणाकल्पसूत्र को आठवी दशा एव भद्रबाहुस्वामी रचित तथा भगवद्भाषित मानने मे अनेक विरोध एव विकल्प उत्पन्न होते हैं ।

इस प्रकार व्यविच्छिन्न हुई वर्तमान मे इस आठवी दशा के आदि, मध्य और अन्तिम मूल पाठ का सही निर्णय निर्युक्ति व्याख्या के आधार से किया जाना भी कठिन है ।

अतः उपलब्ध सक्षिप्त सूत्र को स्वीकार करने की अपेक्षा तो इस दशा को व्यवच्छिन्न मानकर सन्तोष करना ही श्रेयस्कर है । □□

नवमी दशा

महामोहनीय कर्म-बंध के तीस स्थान

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था। वण्णओ। पुण्णभद्दे नामं चेइए। वण्णओ। कोणिय राया। धारिणी देवी। सामी समोसढे। परिसा निग्गया। धम्मो कहिओ। परिसा पडिगया।

"अज्जो!" ति समणे भगवं महावीरे बहवे निग्गंथा य निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी—

"एवं खलु अज्जो! तीसं मोहणिज्जठाणाइं जाइं इमाइं इत्थी वा पुरिसो वा अभिक्खणं-अभिक्खणं आयारेमाणे वा, समायारेमाणे वा मोहणिज्जत्ताए कम्मं पकरेइ", तं जहा—

१. जे केइ तसे पाणे, वारिमज्झे विगाहिआ।
उदएणाऽक्कम्म मारेइ, महामोहं पकुव्वइ॥

२. पाणिणा संपिहित्ताणं, सोयमावरिय पाणिणं।
अंतो नदंतं मारेइ, महामोहं पकुव्वइ॥

३. जायतेयं समारब्भ, बहुं ओरुंभिया जणं।
अंतो धूमेण मारेइ, महामोहं पकुव्वइ॥

४. सीसम्मि जो पहणइ, उत्तमंगम्मि चेयसा।
विभज्ज मत्थयं फाले, महामोहं पकुव्वइ॥

५. सीसं वेढेण जे केइ, आवेढेइ अभिक्खणं।
तिव्वासुभ-समायारे, महामोहं पकुव्वइ॥

६. पुणो-पुणो पणिहीए, हणित्ता उवहसे जणं।
फलेण अदुव दंडेणं, महामोहं पकुव्वइ॥

७. गूढायारी निगूहिज्जा, मायं मायाए छायए।
असच्चवाई णिण्हाइ, महामोहं पकुव्वइ॥

८. धंसेइ जो अभूएणं, अकम्मं अत्तकम्मुणा।
अदुवा तुमकासित्ति, महामोहं पकुव्वइ॥

९. जाणमाणो परिसाए, सच्चामोसाणि भासए।
अक्खीण-झंझे पुरिसे, महामोहं पकुव्वइ॥

१०. अणायगस्स नयव, दारे तस्सेव धसिया ।
विउलं विक्खोभइत्ताण, किच्चा णं पडिबाहिरं ।।

उवगसंतपि झपित्ता, पडिलोमाहिं वग्गुहिं ।
भोग-भोगे वियारेइ, महामोहं पकुव्वइ ।।

११. अकुमारभूए जे केई, "कुमार-भूए-त्ति हं" वए ।
इत्थी-विसय सेवी य, महामोह पकुव्वइ ।।

१२. अबंभयारी जे केई, 'बभयारी त्ति ह' वए ।
गद्दहेव्व गवा मज्झे, विस्सरं नयइ नदं ।।

अप्पणो अहिए बाले, मायामोसं बहु भसे ।
इत्थी-विसय-गेहिय, महामोहं पकुव्वइ ।।

१३. ज निस्सिए उव्वहइ, जस्साहिगमेण वा ।
तस्स लुब्भइ वित्तसि, महामोहं पकुव्वइ ।।

१४. ईसरेण अवुवा गामेणं, अणीसरे ईसरीकए ।
तस्स संपय-हीणस्स, सिरी अतुलमागया ।।

इस्सा-दोसेण आविट्ठे, कलुसाविल-चेयसे ।
जे अंतरायं चेएइ, महामोह पकुव्वइ ।।

१५. सप्पी जहा अंडउडं, भत्तारं जो विहिंसइ ।
सेनावइ पसत्थारं, महामोहं पकुव्वइ ।।

१६. जे नायगं च रट्ठस्स, नेयारं निगमस्स वा ।
सेट्ठि बहुरवं हंता, महामोहं पकुव्वइ ।।

१७. बहुजणस्स णेयारं, दीवं ताणं च पाणिणं ।
एयारिसं नर हंता, महामोहं पकुव्वइ ।।

१८. उवट्ठियं पडिविरयं, संजयं सुतवस्सियं ।
विउक्कम्म धम्माओ भंसेइ, महामोहं पकुव्वइ ।।

१९. तहेवाणंत-णाणीणं, जिणाणं वरदंसिणं ।
तेसिं अवण्णवं बाले, महामोहं पकुव्वइ ।।

२०. नेयाइअस्स मग्गस्स, दुट्ठे अवयरइ बहुं।
तं तिप्पयन्तो भावेइ, महामोहं पकुव्वइ ।।

२१. आयरिय-उवज्झाएहिं, सुय विणयं च गाहिए।
ते चेव खिसइ बाले, महामोहं पकुव्वइ ।।

२२. आयरिय-उवज्झायाण, सम्म नो पडितप्पइ।
अप्पडिपूयए थद्धे, महामोह पकुव्वइ ।।

२३. अबहुस्सुए य जे केई, सुएणं पविकत्थइ।
सज्झाय-वायं वयइ, महामोहं पकुव्वइ ।।

२४. अतवस्सिए जे केई, तवेण पविकत्थइ।
सव्वलोयपरे तेणे, महामोह पकुव्वइ ।।

२५. साहारणट्ठा जे केइ, गिलाणम्मि उवट्ठिए।
पभू न कुणइ किच्च, मज्झपि से न कुव्वइ ।।

सढे नियडी-पण्णाणे, कलुसाउलचेयसे।
अप्पणो य अबोहीए, महामोहं पकुव्वइ ।।

२६. जे कहाहिगरणाइं, सपउंजे पुणो-पुणो।
सव्व तित्थाण-भेयाए, महामोह पकुव्वइ ।।

२७ जे य आहम्मिए जोए, सपउंजे पुणो पुणो।
सहा-हेउं सही-हेउ, महामोह पकुव्वइ ।।

२८. जे य माणुस्सए भोए, अदुवा पारलोइए।
तेऽतिप्पयंतो आसयइ, महामोहं पकुव्वइ ।।

२९. इड्ढी जुई जसो वण्णो, देवाण बलवीरियं।
तेसिं अवण्णवं बाले, महामोह पकुव्वइ ।।

३०. अपस्समाणो पस्सामि, देवे जक्खे य गुज्झगे।
अण्णाणी जिणपूयट्ठी, महामोहं पकुव्वइ ।।

एते मोहगुणा वुत्ता, कम्मंता चित्तवद्धणा।
जे उ भिक्खू विवज्जेज्जा, चरेज्जत्तगवेसए ।।

जं पि जाणे इतो पुव्वं, किच्चाकिच्चं बहुं जढं ।
त वंता ताणि सेविज्जा, जेहि, आयारवं सिया ॥

आयार-गुत्ती सुद्धप्पा, धम्मे ठिच्चा अणुत्तरे ।
ततो वमे सए दोसे, विसमासीविसो जहा ॥

सुचत्तदोसे सुद्धप्पा, धम्मट्ठी विदितापरे ।
इहेव लभते कित्ति, पेच्चा य सुगति वरं ॥

एवं अभिसमागम्म, सूरा दढपरक्कमा ।
सव्वमोहविणिमुक्का, जाइमरणमतिच्छिया[1] ॥

उस काल और उस समय मे चम्पा नामक नगरी थी । नगरी का विस्तृत वर्णन (उववाईसूत्र से) जानना चाहिए ।

पूर्णभद्र नाम का चैत्य (उद्यान) था । उद्यान का विस्तृत वर्णन (उववाईसूत्र से) जानना चाहिये ।

वहा कोणिक राजा राज्य करता था, उसके धारणी देवी पटरानी थी । श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ग्रामानुग्राम विचरते हुए वहा पधारे । परिषद् चम्पा नगरी से निकलकर धर्मश्रवण के लिये पूर्णभद्र चैत्य मे आई । भगवान् ने धर्म का स्वरूप कहा । धर्म श्रवण कर परिषद् चली गई ।

श्रमण भगवान् महावीर ने सभी निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थनियो को आमन्त्रित कर इस प्रकार कहा—

"हे आर्यो ! जो स्त्री या पुरुष इन तीस मोहनीय-स्थानो का सामान्य या विशेष रूप से पुन - पुन आचरण करते है, वे महामोहनीय कर्म का बन्ध करते है ।" वे इस प्रकार हैं—

१ जो कोई त्रस प्राणियो को जल मे डुबोकर या प्रचण्ड वेग वाली तीव्र जलधारा मे डालकर मारता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

२ जो प्राणियो के मु ह, नाक आदि श्वास लेने के द्वारो को हाथ आदि से अवरुद्ध कर अव्यक्त शब्द करते हुए प्राणियो को मारता है, वह महामोहनीय कर्म बाधता है ।

३ जो अनेक प्राणियो को एक घर मे घेर कर अग्नि के धु ए से उन्हे मारता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

४ जो किसी प्राणी के उत्तमाग—शिर पर शस्त्र से प्रहार कर उसका भेदन करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

५ जो तीव्र अशुभ परिणामो से किसी प्राणी के सिर को गीले चर्म के अनेक वेष्टनो से वेष्टित करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

---

१ सम. ३०, सु १

६ जो किसी प्राणी को धोखा देकर के भाले से या डडे से मारकर हँसता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

७. जो गूढ आचरणों से अपने मायाचार को छिपाता है, असत्य बोलता है और सूत्रो के यथार्थ अर्थों को छिपाता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

८ जो निर्दोष व्यक्ति पर मिथ्या आक्षेप करता है, अपने दुष्कर्मों का उस पर आरोपण करता है अथवा 'तूने ही ऐसा कार्य किया है' इस प्रकार दोषारोपण करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

९ जो कलहशील रहता है और भरी सभा मे जान-बूझकर मिश्र भाषा बोलता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१० जो कूटनीतिज्ञ मत्री राजा के हितचिन्तको को भरमाकर या अन्य किसी बहाने से राजा को राज्य से बाहर भेजकर राज्य-लक्ष्मी का उपभोग करता है, रानियो का शील खडित करता है और विरोध करने वाले सामन्तो का तिरस्कार करके उनके भोग्य पदार्थों का विनाश करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

११ जो बालब्रह्मचारी नही होते हुए भी अपने आपको बालब्रह्मचारी कहता है और स्त्रियो का सेवन करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१२ जो ब्रह्मचारी नही होते हुए भी—"मै ब्रह्मचारी हूँ" इस प्रकार कहता है, वह मानो गायो के बीच गधे के समान बेसुरा बकता है और अपनी आत्मा का अहित करने वाला वह मूर्ख माया-युक्त झूठ बोलकर स्त्रियो मे आसक्त रहता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१३ जो जिसका आश्रय पाकर आजीविका कर रहा है और जिसकी सेवा करके समृद्ध हुआ है, उसी के धन का अपहरण करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१४ जो किसी स्वामी का या ग्रामवासियो का आश्रय पाकर उच्च स्थान को प्राप्त करता है और जिनकी सहायता से सर्वसाधनसम्पन्न बना है, यदि ईर्ष्यायुक्त एव कलुषितचित्त होकर उन आश्रय-दाताओ के लाभ में अन्तराय उत्पन्न करता है तो वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१५ सर्पिणी जिस प्रकार अपने ही अण्डो को खा जाती है, उसी प्रकार जो पालनकर्ता, सेनापति तथा कलाचार्य या धर्माचार्य को मार डालता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१६ जो राष्ट्रनायक को, निगम के नेता को तथा लोकप्रिय श्रेष्ठी को मार डालता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१७ जो अनेकजनो के नेता को तथा समुद्र में द्वीप के समान अनाथजनो के रक्षक का घात करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१८ जो पापो से विरत दीक्षार्थी को और तपस्वी साधु को धर्म से भ्रष्ट करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

१९ जो अज्ञानी अनन्त ज्ञानदर्शनसम्पन्न जिनेन्द्र देव का अवर्णवाद—निन्दा करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

२० जो दुष्टात्मा अनेक भव्य जीवो को न्यायमार्ग से भ्रष्ट करता है और न्यायमार्ग की द्वेषपूर्वक निन्दा करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

२१ जिन आचार्य या उपाध्यायो से श्रुत और आचार ग्रहण किया है, उनकी ही जो अवहेलना करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

२२ जो व्यक्ति आचार्य उपाध्याय की सम्यक् प्रकार से सेवा नही करता है तथा उनका आदर-सत्कार नही करता है और अभिमान करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

२३ जो बहुश्रुत नही होते हुए भी अपने आपको बहुश्रुत, स्वाध्यायी और शास्त्रो के रहस्य का ज्ञाता कहता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

२४ जो तपस्वी नही होते हुए भी अपने आपको तपस्वी कहता है, वह इस विश्व मे सबसे बडा चोर है, अत वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

२५ जो समर्थ होते हुए भी रोगी की सेवा का महान् कार्य नही करता है अपितु 'मेरी इसने सेवा नही की है अत मै भी इसकी सेवा क्यो करू" इस प्रकार कहता है, वह महामूर्ख मायावी एव मिथ्यात्वी कलुषितचित्त होकर अपनी आत्मा का अहित करता है, ऐसा व्यक्ति महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

२६ चतुर्विध सघ मे मतभेद पैदा करने के लिए जो कलह के अनेक प्रसग उपस्थित करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

२७ जो श्लाघा या मित्रगण के लिए अधार्मिक योग करके वशीकरणादि का बार-बार प्रयोग करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

२८ जो मानुषिक और दैवी भोगो की अतृप्ति से उनकी बार-बार अभिलाषा करता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

२९ जो व्यक्ति देवो की ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण और बल-वीर्य का अवर्णवाद बोलता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

३० जो अज्ञानी जिन देव की पूजा के समान अपनी पूजा का इच्छुक होकर देव, यक्ष और असुरो को नही देखता हुआ भी कहता है कि "मैं इन सबको देखता हूँ," वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

ये मोह से उत्पन्न होने वाले, अशुभ कर्म का फल देने वाले, चित्त की मलीनता को बढाने वाले दोष कहे गये हैं। अत. भिक्षु इनका आचरण न करे, किन्तु आत्मगवेषी होकर विचरे।

भिक्षु पूर्व मे किये हुए अपने कृत्याकृत्यो को जानकर उनका पूर्ण रूप से परित्याग करे और उन संयमस्थानो का सेवन करे, जिनसे कि वह आचारवान् बने।

जो भिक्षु पचाचार के पालन से सुरक्षित है, शुद्धात्मा है और अनुत्तर धर्म मे स्थित है, वह अपने दोषो को त्याग दे। जिस प्रकार 'आशिविष-सर्प', विष का वमन कर देता है।

इस प्रकार दोषो को त्यागकर शुद्धात्मा, धर्मार्थी, भिक्षु मोक्ष के स्वरूप को जानकर इस लोक मे कीर्ति प्राप्त करता है, और परलोक मे सुगति को प्राप्त होता है।

जो दृढ पराक्रमी, शूरवीर भिक्षु इन सभी स्थानो को जानकर उन मोहबन्ध के कारणो का त्याग कर देता है, वह जन्म-मरण का अतिक्रमण करता है, अर्थात् ससार से मुक्त हो जाता है।

विवेचन—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने साधु-साध्वियो को सम्बोधित कर महामोहनीय कर्मबध के तीस स्थान कहे है। यद्यपि यतनापूर्वक व्यवहार करने वाला भिक्षु सामान्य पापकर्म का भी बध नही करता है तथापि उसे महामोहनीय कर्मबध के स्थानो का कथन किया गया है, जिसका प्रयोजन यह है कि साधना-पथ पर चलते हुए भी कभी कोई भिक्षु कषायो के वशीभूत होकर क्लेश, ममत्व, अभिमान और दुर्व्यवहार आदि दोषो से दूषित हो सकता है। अत शासन के समस्त साधु-साध्वियो को लक्ष्य मे रखकर भगवान् ने इन तीस महामोहनीय कर्मबध-स्थानो का कथन किया है—

एक से छह स्थानो मे क्रूरता युक्त हिंसक वृत्ति को,

सातवे स्थान मे माया (कपट) को,

आठवे स्थान मे असत्य आक्षेप लगाने को,

नवमे स्थान मे न्याय के प्रसग पर मिश्रभाषा के प्रयोग से कलहवृद्धि कराने को,

दसवे, पन्द्रहवे स्थान मे विश्वासघात करने को,

ग्यारहवे, बारहवे, तेवीसवे, चौवीसवे और तीसवे स्थान मे अपनी असत्य प्रशसा करके दूसरो को धोखा देने की प्रवृत्ति को,

तेरहवे, चौदहवे, पन्द्रहवे स्थान मे कृतघ्नता को,

सोलहवे, सत्रहवे स्थान मे अनेकों के आधारभूत उपकारी पुरुष का घात करने को,

अठारहवे स्थान मे धर्म से भ्रष्ट करने को,

उन्नीसवें स्थान मे ज्ञानी (सर्वज्ञ) का अवर्णवाद (निन्दा) करने को,

बीसवें स्थान मे न्यायमार्ग से विपरीत प्ररूपणा करने को,

इक्कीसवे-बावीसवे स्थान मे आचार्यादि की अविनय आशातना करने को,

पच्चीसवे स्थान मे शक्ति होते हुए कषायवश निर्दय बनकर रोगी की सेवा न करने को,

छब्बीसवें स्थान मे बुद्धि के दुरुपयोग से सघ मे मतभेद पैदा करने को,

सत्तावीसवें स्थान में वशीकरण योग से किसी को परवश करके दुःखी करने को,

अट्ठावीसवे स्थान मे अत्यधिक कामवासना को,

उनतीसवे स्थान मे देवो का अवर्णवाद बोलने को महामोहनीय कर्मबध का कारण कहा गया है।

मुमुक्षु साधक ऐसे कुकृत्यो को जानकर उनका त्याग करे। यदि पूर्व मे इनका सेवन किया हो तो उनकी आलोचना आदि करके शुद्धि कर ले।

महामोहनीय कर्मबन्ध के इन स्थानो से विरत रहने वाला इस भव मे यशस्वी होता है और परभव मे सुगति प्राप्त करता है। □□

दसवीं दशा

भगवान् महावीर का राजगृह में आगमन

तेणं कालेणं तेणं समएण रायगिहे नामं नयरे होत्था । वण्णओ । गुणसिलए चेइए । वण्णओ । रायगिहे नयरे सेणिए राया होत्था । रायवण्णओ जाव[1] चेलणाए सद्धि भोगे भुंजमाणे विहरइ । तए णं से सेणिए राया अण्णया कयाइ ण्हाए जाव[2] कप्परुक्खए चेव सुअलंकियविभूसिए णरिंदे । सकोरंट-मल्ल-दामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं जाव[3] ससिव्व पियदसणे नरवई जेणेव बाहिरिया उवट्ठाण-साला, जेणेव सिंहासणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सिंहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे निसीयइ, निसीइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—

"गच्छह णं तुम्हे देवाणुप्पिया !" जाइं इमाइं रायगिहस्स णयरस्स बहिया आरामाणि य, उज्जाणाणि य, आएसणाणि य जाव[4] दब्भकम्मंताणि जे तत्थ महत्तरगा आणत्ता चिट्ठति ते एवं वदह—

"एवं खलु देवाणुप्पिया ! सेणिए राया भंभसारे आणवेइ—जया णं समणे भगवं महावीरे, आदिगरे, तित्थयरे जाव[5] संपाविउकामे पुव्वाणुपुव्वि चरमाणे, गामाणुगाम दूइज्जमाणे, सुहं सुहेणं विहरमाणे, संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे इहमागच्छेज्जा, तया णं तुम्हे भगवओ महावीरस्स अहापडिरूवं उग्गहं अणुजाणह, अहापडिरूवं उग्गहं अणुजाणेत्ता सेणियस्स रण्णो भंभसारस्स एयमट्ठं पियं णिवेदह ।"

तए णं ते कोडुंबियपुरिसे सेणिएणं रन्ना भंभसारेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ-तुट्ठ-चित्तमाणंदिया पीइमणा परमसोमणस्सिया हरिसवसविसप्पमाणहियया करयलपरिग्गहियं सिरसावत्त मत्थए अजलिं कट्टु—"एवं सामी ! तह त्ति" आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेंति ।

पडिसुणित्ता सेणियस्स रन्नो अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता रायगिहं नयरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छंति, निग्गच्छित्ता जाइं इमाइं रायगिहस्स बहिया आरामाणि वा जाव जे तत्थ

---

१ उववाईसूत्र सु ११
२ ज्ञाता अ १, सु ४६, पृ ९४ अगसुत्ताणि
३. उववाईसूत्र सु. ४८
४ आचा श्रु २, अ २, उ २
५ उववाईसूत्र सु १६

महत्तरगा आणत्ता चिट्ठंति, ते एवं वयंति जाव "सेणियस्स रण्णो एयमट्ठं पियं निवेदेज्जा, पियं भे भवतु" दोच्चपि तच्चंपि एवं वदंति, वइत्ता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया ।

तेण कालेणं तेणं समएण समणे भगवं महावीरे आइगरे तित्थयरे जाव गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।

तए ण रायगिहे नयरे सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु महया जणसद्दे जाव[1] विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासइ । तए णं महत्तरगा जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता नाम-गोय पुच्छंति, नाम-गोय पुच्छित्ता नाम-गोय पधारेंति, पधारित्ता एगओ मिलंति एगओ मिलित्ता एगंतमवक्कमति एगतमवक्कमित्ता एवं वयासी—

"जस्स णं देवाणुप्पिया ! सेणिए राया भंभसारे दंसणं कंखति, जस्स ण देवाणुप्पिया ! सेणिए राया दसण पीहेति, जस्स णं देवाणुप्पिया ! सेणिए राया दंसणं पत्थेति, जस्स णं देवाणुप्पिया ! सेणिए राया दसण अभिलसति, जस्स ण देवाणुप्पिया ! सेणिए राया नामगोत्तस्सवि सवणयाए जाव विसप्पमाणहियए भवति ।

से णं समणे भगवं महावीरे आदिगरे तित्थयरे जाव सव्वण्णू सव्वदसी पुव्वाणुपुव्वि चरमाणे, गामाणुगाम दूइज्जमाणे सुहंसुहेणं विहरमाणे इह आगए, इह सपत्ते, इह समोसढे, इहेव रायगिहे नगरे बहिया गुणसिलए चेइए अहापडिरूवं ओग्गह ओगिण्हित्ता सजमेणं तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरति ।

त गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! सेणियस्स रण्णो एयमट्ठं निवेदेमो—"पिय भे भवतु" त्ति कट्टु अण्णमन्नस्स वयणं पडिसुणंति, पडिसुणित्ता जेणेव रायगिहे नयरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता रायगिह-नगर मज्झमज्झेणं जेणेव सेणियस्स रन्नो गिहे, जेणेव सेणिए राया, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता सेणियं राय करयल परिग्गहियं सिरसावत्त मत्थए अंजलि कट्टु जएण विजएण वद्धावेंति, वद्धावित्ता एव वयासी—

"जस्स ण सामी ! दंसण कखति, जाव से णं समणे भगवं महावीरे गुणसिलए चेइए जाव विहरति । एयण्ण देवाणुप्पियाणं पिय निवेदेमो । पियं भे भवतु ।"

उस काल और उस समय मे राजगृह नाम का नगर था । नगर का विस्तृत वर्णन (उववाई-सूत्र से) जानना । उस नगर के बाहर गुणशील नाम का चैत्य (उद्यान) था । उद्यान का विस्तृत वर्णन (उववाईसूत्र से) जानना । उस राजगृह नगर मे श्रेणिक नाम का राजा था । राजा का विस्तृत वर्णन (उववाईसूत्र से) जानना यावत् वह चेलणा महारानी के साथ परम सुखमय जीवन बिता रहा था । एक दिन श्रेणिक राजा ने स्नान किया यावत् कल्पवृक्ष के समान वह नरेन्द्र अलकृत एव

१ उववाईसूत्र सु ३८

विभूषित होकर कोरण्टक पुष्पो की माला-युक्त छत्र धारण करके यावत् शशिसम प्रियदर्शी नरपति श्रेणिक जहा बाह्य उपस्थानशाला मे सिंहासन था, वहा आया। पूर्वाभिमुख हो उस पर बैठा। बाद मे अपने प्रमुख अधिकारियों को बुलाकर उसने इस प्रकार कहा—

"हे देवानुप्रियो! तुम जाओ। जो ये राजगृह नगर के बाहर आराम (लताओ से सुशोभित), उद्यान (पत्र-पुष्प-फलो से सुशोभित), शिल्पशालाएं यावत् दर्भ के कारखाने हैं, इनमे जो मेरे आज्ञाकारी अधिकारी हैं—उन्हे इस प्रकार कहो—

"हे देवानुप्रियो! श्रेणिक राजा भभसार ने यह आज्ञा दी है—'जब पचयाम धर्म के प्रवर्तक अन्तिम तीर्थंकर यावत् सिद्धगति नाम वाले स्थान के इच्छुक श्रमण भगवान् महावीर क्रमश चलते हुए, गांव-गाव घूमते हुए, सुखपूर्वक विहार करते हुए तथा सयम एव तप से अपनी आत्म-साधना करते हुए आएँ, तब तुम भगवान् महावीर को उनकी साधना के उपयुक्त स्थान बताना और उन्हे उसमे ठहरने की आज्ञा देकर (भगवान् महावीर के यहा पधारने का) प्रिय सवाद मेरे पास पहुँचाना।"

तब वे प्रमुख राज्य-अधिकारी पुरुष श्रेणिक राजा भभसार का उक्त कथन सुनकर हर्षित एव परितुष्ट होते हैं, मन मे आनन्द तथा प्रसन्नता का अनुभव करते है, सौम्य मनोभाव व हर्षातिरेक मे उनका हृदय खिल उठता है। उन्होने हाथ जोडकर सिर के आवर्तन कर अजलि को मस्तक से लगाया और विनयपूर्वक राजा के आदेश को स्वीकार करते हुए निवेदन किया—

'हे स्वामिन्! आपके आदेशानुसार ही सब कुछ होगा।'

इस प्रकार श्रेणिक राजा की आज्ञा (उन्होने) विनयपूर्वक सुनी, तदनन्तर वे राजप्रासाद से निकले। राजगृह के मध्य भाग से होते हुए वे नगर के बाहर गये। आराम यावत् घास के कारखानो मे राजा श्रेणिक के आज्ञाधीन जो प्रमुख अधिकारी थे, उन्हे इस प्रकार कहा यावत् श्रेणिक राजा को यह (भगवान् महावीर के पधारने का) प्रिय सवाद कहे। (और कहे कि) आपके लिए यह सवाद प्रिय हो। दो-तीन बार इस प्रकार कहकर जिस दिशा से वे आये थे, उसी दिशा मे चले गए।

उस काल और उस समय मे पचयामधर्म के प्रवर्तक तीर्थकर भगवान् महावीर यावत् ग्रामानुग्राम विचरते हुए यावत् आत्म-साधना करते हुए गुणशील उद्यान मे विचरने (रहने) लगे।

उस समय राजगृह नगर के त्रिकोण=तिराहे, चौराहे और चौक मे चतुर्मुखी स्थानो मे राजमार्गों मे गलियो मे कोलाहल होने लगा यावत् वे लोग हाथ जोडकर विनयपूर्वक पर्युपासना करने लगे।

उस समय राजा श्रेणिक के प्रमुख अधिकारी जहा श्रमण भगवान् महावीर थे, वहा आये। उन्होने श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार वन्दन-नमस्कार किया। नाम-गोत्र पूछकर स्मृति मे धारण किया और एकत्रित होकर एकान्त स्थान मे गए। वहा उन्होने आपस मे इस प्रकार बातचीत की—

"हे देवानुप्रियो! श्रेणिक राजा भभसार जिनके दर्शन करना चाहता है, जिनके दर्शनो की इच्छा करता है, जिनके दर्शनो की प्रार्थना करता है, जिनके दर्शनो की अभिलाषा करता है, जिनके नाम-गोत्र-श्रवण करके भी यावत् हर्षित हृदय वाला होता है, ये पचयामधर्म के प्रवर्तक तीर्थकर

श्रमण भगवान् महावीर यावत् सर्वज्ञ सर्वदर्शी है। वे अनुक्रमश सुखपूर्वक गाव-गाव घूमते हुए यहा पधारे है, यहा विद्यमान हैं, यहा ठहरे है, यहा राजगृह नगर के बाहर गुणशील बगीचे मे यथायोग्य अवग्रह ग्रहण कर सयम, तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विराजमान है।

"हे देवानुप्रियो ! चलें, श्रेणिक राजा को यह सवाद सुनाएँ और उन्हे कहे कि आपके लिए यह सवाद प्रिय हो", इस प्रकार एक दूसरे ने ये वचन सुने। वहा से वे राजगृह नगर मे आए। नगर के बीच मे होते हुए जहा श्रेणिक राजा का राजप्रासाद था और जहा श्रेणिक राजा था वहा वे आये। श्रेणिक राजा को हाथ जोडकर सिर के आवर्तन करके अजलि को मस्तक से लगाकर जय-विजय बोलते हुए बधाया और इस प्रकार कहा—

"हे स्वामिन् ! जिनके दर्शनो की आप इच्छा करते है यावत् वे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी गुणशील बगीचे मे यावत् विराजित हैं—इसलिए हे देवानुप्रिय ! यह प्रिय सवाद आपसे निवेदन कर रहे हैं। यह सवाद आपके लिये प्रिय हो।"

श्रेणिक का दर्शनार्थ गमन

तए णं से सेणिए राया तेसिं पुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म जाव बिसप्पमाणहियए सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठित्ता वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता ते पुरिसे सक्कारेइ सम्माणेइ, सक्कारित्ता सम्माणित्ता विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलयइ, दलइत्ता पडिविसज्जेति, पडिविसज्जित्ता नगरगुत्तियं सद्दावेइ, सद्दावेत्ता एवं वयासी—

"खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! रायगिहं नगरं सब्भितर-बाहिरियं आसिय-संमज्जियोवलित्तं" जाव कारवित्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि जाव पच्चप्पिणंति। तए णं से सेणिए राया बलवाउयं सद्दावेइ,[1] सद्दावेत्ता एवं वयासी—

"खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! हय-गय-रह-जोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेह।" जाव[2] से वि पच्चप्पिणइ।

तए णं से सेणिए राया जाण-सालियं सद्दावेइ, सद्दावित्ता एवं वयासी—

"भो देवाणुप्पिया ! खिप्पामेव धम्मियं जाणपवरं जुत्तामेव उवट्ठवेह, उवट्ठवित्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि।"

तए णं से जाणसालिए सेणियरन्ना एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ, जाव बिसप्पमाणहियए जेणेव जाणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जाणसालं अणुप्पविसइ; अणुप्पविसित्ता जाणगं

---

१ यहां से इस वर्णन मे श्रेणिक राजा सेनापति, यानशालिक, नगररक्षक आदि को अलग-अलग बुलवाकर आदेश देता है किन्तु औपपातिकसूत्र के भगवान् महावीर के दर्शन की तैयारी के वर्णन मे कोणिक राजा केवल सेनापति को बुलवाकर आदेश देता है, वही सम्पूर्ण तैयारी करवाता है। यह दोनो सूत्रो के वर्णक सकलन मे अन्तर है।

२ उववाईसूत्र सु ४०

पच्चुवेक्खइ, पच्चुवेक्खित्ता जाण पच्चोरुभति, पच्चोरुभित्ता जाणगं संपमज्जति, संपमज्जित्ता जाणगं णीणेइ, णीणेत्ता जाणगं संवट्टेति, संवट्टेत्ता दूसं पवीणेति, पवीणेत्ता जाणगं समलंकरेइ, जाणग समलंकरित्ता जाणगं वरमडियं करेइ, करित्ता जेणेव वाहणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वाहणसाल अणुप्पविसित्ता वाहणाइ पच्चुवेक्खइ, पच्चुवेक्खित्ता वाहणाइं संपमज्जइ, संपमज्जित्ता वाहणाइ अप्फालेइ, अप्फालेत्ता वाहणाइं णीणेइ, णीणेत्ता दूसे पवीणेइ, पवीणेत्ता वाहणाइं समलंकरेइ, समलंकरित्ता वराभरणमडियाइं करेइ, करेत्ता वाहणाइं जाणगं जोएइ, जोएत्ता वट्टमग्ग गाहेइ, गाहित्ता पओद-लट्ठि पओद-धरे य सम्म आरोहइ, आरोहइत्ता जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जाव एवं वयासी—

"जुत्ते ते सामी ! धम्मिए जाण-पवरे आविट्ठे, भद्द तव, आरुहाहि ।"

तए णं सेणिए राया भभसारे जाणसालियस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे जाव मज्जणघर अणुपविसइ, अणुपविसित्ता जाव कप्परुक्खे चेव अलकिए विभूसिए णरिंदे जाव मज्जणघराओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता जेणेव चेल्लणादेवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता चेल्लणादेविं एवं वयासी—

एव खलु देवाणुप्पिए ! समणे भगव महावीरे आइगरे तित्थयरे जाव पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरइ ।

तं महप्फलं देवाणुप्पिए ! तहारूवाण अरहताणं भगवंताणं णामगोयस्स वि सवणयाए, किमग पुण अभिगमण वदण णमंसण पडिपुच्छण पज्जुवासणयाए ? एगस्स वि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए, किमग पुण विउलस्स अट्ठस्स गहणयाए । तं गच्छामो देवाणुप्पिए ! समणं भगवं महावीर वंदामो, नमंसामो, सक्कारेमो, सम्माणेमो, कल्लाणं, मंगल, देवयं, चेइयं पज्जुवासामो ।

एत ण इहभवे य परभवे य हियाए, सुहाए, खमाए, निस्सेयसाए, अणुगामियत्ताए भविस्सति ।

तए ण सा चेल्लणादेवी सेणियस्स रन्नो अतिए एयमट्ठ सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठा जाव सेणियस्स रन्नो एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ जाव[1] महत्तरगविंद-परिक्खित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाण-साला, जेणेव सेणियराया, तेणेव उवागच्छइ ।

तए णं से सेणियराया चेल्लणादेवीए सद्धि धम्मियं जाणपवरं दुरूढे जाव[2] जेणेव गुणसीलए चेइए तेणेव उवागच्छइ जाव[3] पज्जुवासइ ।

एवं चेल्लणा वि जाव[4] पज्जुवासइ ।

---

१ उववाईसूत्र सु ४८

२-४ उववाईसूत्र सु ४८-५४

तए णं समणे भगवं महावीरे सेणियस्स रन्नो भभसारस्स, चेल्लणादेवीए, तीसे य महइ-महालयाए परिसाए, इसि-परिसाए, जइ-परिसाए, मुणि-परिसाए, मणुस्स-परिसाए, देव-परिसाए, अणेग-सयाए जाव धम्मो कहिम्रो। परिसा पडिगया। सेणियराया पडिगम्रो।

उस समय श्रेणिक राजा उन पुरुषो से यह सवाद सुनकर एव अवधारण कर यावत् हर्षित हृदयवाला होकर सिहासन से उठा।

श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन नमस्कार किया। तदनन्तर उन पुरुषो का सत्कार और सन्मान किया। फिर उन्हे प्रीतिपूर्वक आजीविका योग्य विपुल दान देकर विसर्जित किया। बाद मे नगररक्षक को बुलाकर इस प्रकार कहा—

"हे देवानुप्रिय! राजगृह नगर को अन्दर और बाहर से परिमार्जित कर जल से सिञ्चित करो यावत् सिञ्चित कराकर मुझे सूचित करो यावत् वे सूचित करते है। उसके बाद राजा श्रेणिक ने सेनापति को बुलाकर इस प्रकार कहा—

"हे देवानुप्रिय! हाथी, घोडे, रथ और पदाति योधागण—इन चार प्रकार की सेनाओ को सुसज्जित करो" यावत् वे सूचित करते हैं।

तत्पश्चात् श्रेणिक राजा ने यानशाला के अधिकारी को बुलाकर इस प्रकार कहा—

"हे देवानुप्रिय! श्रेष्ठ धार्मिक रथ को तैयार कर यहा उपस्थित करो और मेरी आज्ञानुसार हुए कार्य की मुझे सूचना दो।"

उस समय यानशाला का प्रबन्धक श्रेणिक राजा के इस प्रकार कहने पर यावत् हर्षित हृदय बाला होकर जहा यानशाला थी वहा आया। उसने यानशाला मे प्रवेश किया। यान (रथ) को देखा। यान को नीचे उतारा, प्रमार्जन किया। बाहर निकाला। एक स्थान पर स्थित किया और उस पर ढंके हुए वस्त्र को दूर कर यान को अलकृत किया एव सुशोभित किया। बाद मे जहा वाहनशाला थी वहा आया। वाहनशाला मे प्रवेश किया, वाहनो (बैलो) को देखा। उनका प्रमार्जन किया। उन पर बार-बार हाथ फेरे। उन्हे बाहर लाया। उन पर ढंके वस्त्र को दूर कर उन्हे अलकृत किया एव आभूषणों से मण्डित किया। उन्हे यान से जोड कर रथ को राजमार्ग पर लाया। चाबुक हाथ मे लिए हुए सारथी के साथ यान पर बैठा। वहा से वह जहा श्रेणिक राजा था, वहा आया। हाथ जोड़कर यावत् इस प्रकार कहा—

"स्वामिन्! श्रेष्ठ धार्मिक यान तैयार करने के लिए आपने आदेश दिया था—वह यान (रथ) तैयार है। यह यान आपके लिए कल्याणकर हो। आप इस पर बैठे।"

उस समय श्रेणिक राजा भभसार यानशाला के अधिकारी से श्रेष्ठ धार्मिक रथ ले आने का सवाद सुनकर एव अवधारण कर हृदय मे हर्षित एव सतुष्ट हुआ यावत् (उसने) स्नानघर में प्रवेश किया। यावत् कल्पवृक्ष के समान अलकृत एव विभूषित वह श्रेणिक नरेन्द्र यावत् स्नानघर से निकला। जहा चेलणादेवी (महारानी) थी—वहा आया। उसने चेलणादेवी को इस प्रकार कहा—

"हे देवानुप्रिये! पचयामधर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर यावत् अनुक्रम से चलते हुए यावत् सयम और तप से आत्म-साधना करते हुए (गुणशीलचैत्य में) विराजित हैं।"

हे देवानुप्रिये ! सयम और तप के मूर्तरूप अरहतो के नाम-गोत्र श्रवण करने का ही महाफल होता है तो उनके दर्शन करने के लिए जाना, वन्दन-नमस्कार करना, सुख-साता पूछना, पर्युपासना करना, एक भी धार्मिक वचन सुनना और विपुल अर्थ ग्रहण करने के फल का तो कहना ही क्या है अर्थात् महाफलदायी होता है ।

इसलिए हे देवानुप्रिये ! चले, श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करे, उनका सत्कार-सम्मान करे, वे कल्याणरूप है, मगलरूप है, देवाधिदेव हैं, ज्ञान के मूर्तरूप है, उनकी पर्युपासना करे ।

उनकी यह पर्युपासना इहभव और परभव मे हितकर, सुखकर, क्षेमकर, मोक्षप्रद और भव-भव मे मार्गदर्शक रहेगी ।

उस समय वह चेलणादेवी श्रेणिक राजा से यह सवाद सुनकर एव धारण कर हर्षित एव सतुष्ट हो यावत् उसने श्रेणिक राजा के उन वचनो को विनयपूर्वक स्वीकार किया । फिर जहा स्नानगृह था वहा आकर स्नानगृह मे प्रवेश किया यावत् महत्तरावृद (दासियो) से वेष्टित होकर बाह्य उपस्थानशाला मे श्रेणिक राजा के समीप आई ।

उस समय श्रेणिक राजा चेलणादेवी के साथ श्रेष्ठ धार्मिक रथ मे बैठा यावत् गुणशील बगीचे मे आया यावत् पर्युपासना करने लगा ।

इसी प्रकार चेलणादेवी भी यावत् पर्युपासना करने लगी ।

उस समय श्रमण भगवान् महावीर ने ऋषि, यति, मुनि, मनुष्य और देवो की महापरिषद् मे श्रेणिक राजा भभसार एव चेलणादेवी को यावत् धर्म कहा । परिषद् गई और राजा श्रेणिक भी गया ।

साधु-साध्वियों का निदान-संकल्प

तत्थ णं एगइयाण निग्गथाणं निग्गंथीण य सेणियं राय चेल्लण च देविं पासित्ताणं इमेयारूवे अज्झत्थिए, चिंतिए, पत्थिए, मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—अहो णं सेणिए राया महिड्ढिए जाव महासुक्खे, जे णं ण्हाए जाव सव्वालंकार-विभूसिए, चेल्लणा देवीए सद्धि उरालाइं माणुस्सगाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरति । न मे दिट्ठा देवलोगंसि, सक्ख खलु अय देवे । जइ इमस्स सुचरियस्स तव-नियम-बंभचेरवासस्स कल्लाणे फल-वित्तिविसेसे अत्थि, त वयमवि आगमेस्साइं इमाइं एयारूवाइं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगाइं भुंजमाणा विहरामो, से त साहू ।

"अहो णं चेल्लणादेवी महिड्ढिया जाव महासुक्खा जा णं ण्हाया जाव सव्वालंकारविभूसिया सेणिएणं रण्णा सद्धि उरालाइ माणुस्सगाइ भोगाइं भुंजमाणी विहरइ । न मे दिट्ठाओ देवीओ देवलोगंसि, सक्खा खलु इमा देवी । जइ इमस्स सुचरियस्स तव-नियम-बंभचेरवासस्स कल्लाणे फल-वित्तिविसेसे अत्थि ।

तं वयमवि आगमिस्साइं इमाइ एयारूवाइं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगाइं भुंजमाणीओ विहरामो, से तं साहू ।

"अज्जो" त्ति समणे भगवं महावीरे ते बहवे निग्गंथा निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी—

प०—"सेणियं रायं, चेल्लणादेविं पासित्ता इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—अहो णं सेणिए राया महिड्डिए जाव से तं साहू; अहो णं चेल्लणा देवी महिड्डिया जाव से तं साहू। से णूणं अज्जो! अत्थे समट्ठे?"

उ०—हंता, अत्थि।

वहा (गुणशीलचैत्य मे) श्रेणिक राजा और चेलणादेवी को देखकर कुछ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थनियो के मन मे इस प्रकार का अध्यवसाय, चिंतन, चाहना और मनोगत सकल्प उत्पन्न हुआ—

"अहो! यह श्रेणिक राजा महान् ऋद्धि वाला यावत् बहुत सुखी है। यह स्नान करके यावत् सर्वालकारो से विभूषित होकर चेलणादेवी के साथ मानुषिक भोग भोग रहा है। हमने देवलोक के देव देखे नही हैं। हमारे सामने तो यही साक्षात् देव है। यदि चारित्र, तप, नियम, ब्रह्मचर्य-पालन एव त्रिगुप्ति की सम्यक् प्रकार से की गई आराधना का कोई कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो हम भी भविष्य मे इस प्रकार के अभिलषित मानुषिक भोग भोगे तो श्रेष्ठ होगा।"

"अहो! यह चेलणादेवी महान् ऋद्धिवाली है यावत् बहुत सुखी है। वह स्नान करके यावत् सभी अलकारो से विभूषित होकर श्रेणिक राजा के साथ मानुषिक भोग भोग रही है। हमने देवलोक को देवियां नही देखी हैं। हमारे सामने तो यही साक्षात् देवी है। यदि चारित्र, तप, नियम एव ब्रह्मचर्य-पालन का कुछ विशिष्ट फल हो तो हम भी भविष्य मे ऐसे ही मानुषिक भोग भोगे तो श्रेष्ठ होगा।"

श्रमण भगवान् महावीर ने बहुत से निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थनियो को आमन्त्रित कर इस प्रकार कहा—

प्र०—"आर्यो! श्रेणिक राजा और चेलणादेवी को देखकर इस प्रकार के अध्यवसाय यावत् विचार उत्पन्न हुए—'अहो! श्रेणिक राजा महर्द्धिक है यावत् तो यह श्रेष्ठ होगा।' अहो चेलणादेवी महर्द्धिक है यावत् तो यह श्रेष्ठ होगा।' हे आर्यो! यह वृत्तान्त यथार्थ है?

उ०—हा भगवन्! यह वृत्तान्त यथार्थ है।

निर्ग्रन्थ का मनुष्यसम्बन्धी भोगों के लिए निदान करना

एव खलु समणाउसो! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे, अणुत्तरे, पडिपुण्णे, केवले, संसुद्धे, णेआउए, सल्लकत्तणे, सिद्धिमग्गे, मुत्तिमग्गे, निज्जाणमग्गे, निव्वाणमग्गे, अवितहमविसंधी, सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे।

इत्थं ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

जस्स णं धम्मस्स निग्गंथे सिक्खाए उवट्ठिए विहरमाणे, पुरा दिगिंछाए, पुरा पिवासाए, पुराऽसीतातवेहिं, पुरा पुट्ठेहिं विरूवरूवेहिं परीसहोवसग्गेहिं उदिण्णकामजाए यावि विहरेज्जा से य परक्कमेज्जा, से य परक्कममाणे पासेज्जा—जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया।

तेसिं णं अण्णयरस्स अतिजायमाणस्स वा निज्जायमाणस्स वा पुरओ महं दासी-दास-किंकर-कम्मकर-पुरिसा छत्तं भिंगारं गहाय निग्गच्छंति ।

तयाणंतरं च णं पुरओ महाआसा आसवरा, उभओ तेसिं नागा नागवरा, पिट्ठओ रहा रहवरा, रहसंगेल्लिपुरिस पदाति परिक्खित्तं ।

से य उद्धरिय-सेय-छत्ते, अब्भुगये भिंगारे, पग्गहिय तालियंटे, पवीयमाण-सेय-चामर-बालवीयणीए ।

अभिक्खणं-अभिक्खण अतिजाइ य निज्जाइ य सप्पभा ।

सपुव्वावरं च णं ण्हाए जाव[1] सव्वालंकारविभूसिए, महति महालियाए कूडागारसालाए, महति महालयंसि सयणिज्जंसि दुहओ उण्णते मज्झे णतगभीरे वण्णओ सव्वरातिणिएणं जोइणा झियायमाणेणं, इत्थिगुम्मपरिवुडे महयाहत-नट्ट-गीय-वाइय-तंती-तल-ताल-तुडिय-घण-मुइंग-मुद्दल-पडुप्पवाइयरवेणं उरालाइं माणुस्सगाइं कामभोगाइं भुंजमाणे विहरति ।

तस्स ण एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति—

"भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो ? किं उवणेमो ? किं आहरेमो ? कि आचिट्ठामो ? कि भे हियइच्छियं ? किं ते आसगस्स सवति ?"

ज पासित्ता णिग्गथे णिदाण करेइ—

"जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, तं अहमवि आगमिस्साए इमाइ एयारूवाइं उरालाइं माणुस्सगाइं कामभोगाइं भुंजमाणे विहरामि—से तं साहू ।"

एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथे णिदाण किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय-अप्पडिक्कते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति महड्ढिएसु महज्जुइएसु महब्बलेसु महायसेसु महासुक्खेसु महाणुभागेसु दूरगईसु चिरट्ठितिएसु ।

से णं तत्थ देवे भवइ महड्ढिए जाव[2] दिव्वाइ भोगाइ भुंजमाणे विहरइ जाव[3] से ण तओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएण, अणंतर चयं चइत्ता से जे इमे भवति उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया, तेसिं णं अन्नयरंसि कुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाति ।

से णं तत्थ दारए भवइ, सुकुमालपाणिपाए, अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरे, लक्खण-वंजण-गुणोववेए, ससिसोमागारे, कंते, पियदंसणे, सुरूवे ।

तए ण से दारए उम्मुक्कबालभावे, विण्णाणपरिणयमित्ते, जोव्वणगमणुप्पत्ते सयमेव पेइयं दायं पडिवज्जति ।

---

१ ज्ञाता अ १, सु ४७, पृ २० (अंगसुत्ताणि)

२ ठाण. अ ८, सु १०

३ ठाण. अ ८, सु. १०

तस्स णं अतिजायमाणस्स वा, निज्जायमाणस्स वा, पुरओ महं दासीदासकिंकरकम्मकर-पुरिसा छत्तं भिंगारं गहाय निगच्छंति जाव[1] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति—'भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो जाव[2] किं ते आसगस्स सवति ?'

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ काल केवलिपण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ?

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा ।

प०—से णं पडिसुणेज्जा ।

उ०—णो इणट्ठे समट्ठे । अभविए णं से तस्स धम्मस्स सवणयाए ।

से य भवइ महिच्छे जाव दाहिणगामी नेरइए कण्हपक्खिए, आगमिस्साए दुल्लहबोहिए यावि भवइ ।

त एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे ज णो संचाएइ केवलिपण्णत्तं धम्म पडिसुणित्तए ।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैने धर्म का निरूपण किया है । यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, श्रेष्ठ है, प्रतिपूर्ण है, अद्वितीय है, शुद्ध है, न्यायसगत है, शल्यो का सहार करने वाला है, सिद्धि, मुक्ति, निर्याण एव निर्वाण का यही मार्ग है, यही यथार्थ है, सदा शाश्वत है और सब दु खो से मुक्त होने का यही मार्ग है ।

इस सर्वज्ञप्रज्ञप्त धर्म के आराधक सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त होते है और सब दु खो का अन्त करते हैं ।

इस धर्म की आराधना के लिए उपस्थित होकर आराधना करते हुए निर्ग्रन्थ के भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि अनेक परीषह-उपसर्गों से पीडित होने पर कामवासना का प्रबल उदय हो जाए और साथ ही सयमसाधना मे विचरण करते हुए वह विशुद्ध मातृ-पितृ पक्ष वाले उग्रवशीय या भोगवशीय राजकुमार को देखे ।

उनमे से किसी के घर मे प्रवेश करते या निकलते समय छत्र, झारी आदि ग्रहण किये हुए अनेक दास-दासी किंकर और कर्मकर पुरुष आगे-आगे चलते है ।

उसके बाद उस राजकुमार के आगे उत्तम अश्व, दोनो ओर गजराज और पीछे-पीछे श्रेष्ठ सुसज्जित रथ चलते हैं और वह अनेक पैदल चलने वाले पुरुषो से घिरा रहता है । जो कि श्वेत छत्र ऊँचा उठाये हुए, झारी लिये हुए, ताडपत्र का पखा लिए, श्वेत चामर डुलाते हुए चलते है । इस प्रकार के वैभव से वह बारम्बार गमनागमन करता है ।

वह राजकुमार यथासमय स्नान कर यावत् सब अलकारो से विभूषित होकर विशाल कूटागारशाला (राजप्रासाद) मे दोनो किनारो से उन्नत और मध्य मे अवनत एव गम्भीर (इत्यादि शय्यावर्णन जानना चाहिये ।) ऐसे सर्वोच्च शयनीय मे सारी रात दीपज्योति जगमगाते हुए

१ इसी निदान मे ।

२ इसी निदान मे ।

वनितावृन्द से घिरा हुआ कुशल नर्तकों का नृत्य देखता है, गायकों का गीत सुनता है और वाद्यत्र, तन्त्री, तल-ताल, त्रुटित, घन, मृदग, मादल आदि महान् शब्द करने वाले वाद्यों की मधुर ध्वनिया सुनता है। इस प्रकार वह उत्तम मानुषिक कामभोगों को भोगता हुआ रहता है।

उसके द्वारा किसी एक को बुलाये जाने पर चार-पाच सेवक बिना बुलाये ही उपस्थित हो जाते हैं और वे पूछते हैं कि

'हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करे ? क्या लावे ? क्या अर्पण करे और क्या आचरण करें ? आपकी हार्दिक अभिलाषा क्या है ? आपके मुख को कौन-से पदार्थ स्वादिष्ट लगते है ?'

उसे देखकर निर्ग्रन्थ निदान करता है कि

'यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे तप, नियम एव ब्रह्मचर्यपालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी आगामी काल मे इस प्रकार से उत्तम मनुष्य सम्बन्धी काम-भोगो को भोगते हुए विचरण करू तो अच्छा होगा।'

हे आयुष्मन् श्रमणो ! वह निर्ग्रन्थ निदान करके उस निदान सम्बन्धी सकल्पो की आलोचना एव प्रतिक्रमण किये बिना जीवन के अन्तिम क्षणो मे देह छोडकर महान् ऋद्धि वाले, महाद्युति वाले, महाबल वाले, महायश वाले, महासुख वाले, महाप्रभा वाले, दूर जाने की शक्ति वाले, लम्बी स्थिति वाले किसी देवलोक मे देव रूप मे उत्पन्न होता है।

वह वहा महर्धिक देव होता है यावत् देव सम्बन्धी भोगो को भोगता हुआ विचरता है यावत् वह आयु, भव और स्थिति के क्षय होने से उस देवलोक से च्यव कर शुद्ध मातृ-पितृपक्ष वाले उग्रकुल या भोगकुल मे से किसी एक कुल मे पुत्र रूप मे उत्पन्न होता है।

वहा वह बालक सुकुमार हाथ-पैर वाला, शरीर तथा पाचो इन्द्रियो से प्रतिपूर्ण, शुभ लक्षण-व्यजन-गुणो से युक्त, चन्द्रमा के समान सौम्य, कातिप्रिय दर्शन वाला और सुन्दर रूप वाला होता है।

बाल्यकाल बीतने पर तथा विज्ञान की वृद्धि होने पर वह बालक यौवन को प्राप्त होता है। उस समय वह स्वय पैतृक सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है।

उसके कही जाते समय या आते समय आगे छत्र, झारी आदि लेकर अनेक दासी-दास-नौकर-चाकर चलते है यावत् एक को बुलाने पर उसके सामने चार पाच बिना बुलाये ही आकर खडे हो जाते हैं और पूछते हैं कि—'हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करे यावत् आपके मुख को कौन से पदार्थ अच्छे लगते है ?'

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि से युक्त उस पुरुष को तप-सयम के मूर्तरूप श्रमण माहण उभयकाल केवलिप्ररूपित धर्म कहते है ?

उ०—हां कहते हैं।

प्र०--क्या वह सुनता है ?

उ०—यह सम्भव नही है, क्योकि वह उस धर्मश्रवण के योग्य नही है।

वह महाइच्छाओ वाला यावत् दक्षिणदिशावर्ती नरक मे कृष्णपाक्षिक नैरयिक रूप मे उत्पन्न होता है तथा भविष्य मे उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! उस निदानशल्य का यह पापकारी परिणाम है कि वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म का श्रवण भी नहीं कर सकता है।

निर्ग्रन्थी का मनुष्यसम्बन्धी भोगों के लिये निदान करना

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे जाव[1] सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति।

जस्स णं धम्मस्स निग्गंथी सिक्खाए उवट्ठिया विहरमाणी जाव[2] पासेज्जा से जा इमा इत्थिया भवइ—एगा, एगजाया, एगाभरणपिहाणा, तेल्ल-पेला इव सुसगोपिता, चेल-पेला इव सुसपरिगहिया, रयणकरंडकसमाणी।

तीसे णं अतिजायमाणीए वा, निज्जायमाणीए वा, पुरओ महं दासी-दास-किंकर-कम्मकर-पुरिसा छत्तं भिंगार गहाय निग्गच्छंति जाव[3] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव[4] चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति, "भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो जाव[5] किं ते आसगस्स सदति ?"

जं पासित्ता निग्गंथी णिदाणं करेति—

"जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, तं अहमवि आगमिस्साए इमाइं एयारूवाइं उरालाइं माणुस्सगाइं कामभोगाइं भुंजमाणी विहरामि—से तं साहु।"

एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथी णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारा भवइ जाव[6] दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणी विहरति जाव[7] सा णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता जे इमे भवंति उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया एतेसिं णं अण्णयरंसि कुलंसि दारियत्ताए पच्चायाति।

सा णं तत्थ दारिया भवइ सुकुमाला जाव[8] सुरूवा।

तए णं तं दारियं अम्मापियरो उम्मुक्कबालभावं, विण्णाणपरिणयमित्तं, जोव्वणगमणुप्पत्तं, पडिरूवेण सुक्केणं पडिरूवस्स भत्तारस्स भारियत्ताए दलयति।

सा णं तस्स भारिया भवइ एगा, एगजाया, इट्ठा, कंता, पिया, मणुण्णा, मणामा, धेज्जा, वेसासिया, सम्मया, बहुमया, अणुमया रयणकरंडगसमाणा।

तीसे णं अतिजायमाणीए वा, निज्जायमाणीए वा पुरतो महं दासी-दास-किंकर-कम्मकर पुरिसा छत्तं, भिंगार गहाय निग्गच्छंति जाव[9] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति—"भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो जाव[10] किं ते आसगस्स सदति ?"

---

१ सूय श्रु. २, अ. २, सूत्र ५८-६१ (अंगसुत्ताणि)

२-१० प्रथम निदान में देखें।

प०—तीसे ण तहप्पगाराए इत्थियाए तहारूवे समणे वा माहणे वा उभयकालं केवलिपण्णत्तं धम्मं आइक्खेज्जा ?

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा ।

प०—सा णं पडिसुणेज्जा ?

उ०--णो इणट्ठे समट्ठे । अभविया णं सा तस्स धम्मस्स सवणयाए ।

सा य भवति महिच्छा जाव[1] दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साए दुल्लभबोहिया यावि भवइ ।

एव खलु समणाउसो ! तस्स नियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे जं णो संचाएति केवलिपण्णत्त धम्म पडिसुणित्तए ।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैने धर्म का प्रतिपादन किया है । यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है यावत् सब दु खो का अन्त करते है ।

इस धर्म की आराधना के लिए उपस्थित होकर आराधना करती हुई निर्ग्रन्थी यावत् एक ऐसी स्त्री को देखती है जो अपने पति की केवल एकमात्र प्राणप्रिया है । वह एक सरीखे (स्वर्ण के या रत्नो के) आभरण एव वस्त्र पहने हुई है तथा तेल की कुप्पी, वस्त्रो की पेटी एव रत्नों के करंडिये के समान सरक्षणीय है और सग्रहणीय है ।

प्रासाद मे आते-जाते हुए उसके आगे छत्र, झारी लेकर अनेक दासी-दास-नौकर-चाकर चलते है यावत् एक को बुलाने पर उसके सामने चार-पाच बिना बुलाये ही आकर खडे हो जाते हैं और पूछते है—"हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करे ? यावत् आपके मुख को कौनसे पदार्थ अच्छे लगते है ?

उसे देखकर निर्ग्रन्थी निदान करती है कि

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे तप, नियम एव ब्रह्मचर्यपालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मै भी आगामी काल मे इस प्रकार के उत्तम मनुष्य सम्बन्धी कामभोगो को भोगते हुए विचरण करू तो यह श्रेष्ठ होगा ।"

हे आयुष्मन् श्रमणो ! वह निर्ग्रन्थी निदान करके उस निदान की आलोचना एव प्रतिक्रमण किये बिना जीवन के अन्तिम क्षणो मे देह त्याग कर किसी एक देवलोक मे देव रूप मे उत्पन्न होती है यावत् दिव्य भोग भोगती हुई रहती है यावत् आयु, भव और स्थिति का क्षय होने पर वह उस देवलोक से च्यव कर विशुद्ध मातृ-पितृपक्ष वाले उग्रवशी या भोगवशी कुल मे से किसी एक कुल मे बालिका रूप मे उत्पन्न होती है ।

वहां वह बालिका सुकुमार यावत् सुरूप होती है ।

उसके बाल्यभाव से मुक्त होने पर तथा विज्ञानपरिणत एव यौवनवय प्राप्त होने पर उसे उसके माता-पिता उस जैसे सुन्दर एव योग्य पति को अनुरूप दहेज के साथ पत्नी रूप मे देते हैं ।

१ प्रथम निदान मे देखें ।

वह उस पति की इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, अतीव मनोहर, धैर्य का स्थान, विश्वासपात्र, सम्मत, बहुमत, अनुमत (अतीव मान्य) रत्नकरण्डक के समान केवल एक भार्या होती है।

आते-जाते उसके आगे छत्र, झारी लेकर अनेक दासी-दास, नौकर-चाकर चलते हैं यावत् एक को बुलाने पर उसके सामने चार-पाच बिना बुलाये ही आकर खडे हो जाते है और पूछते है कि 'हे देवानुप्रिये ! कहो हम क्या करे ? यावत् आपके मुख को कौन-से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?"

प्र०—क्या उस ऋद्धिसम्पन्न स्त्री को तप-सयम के मूर्तरूप श्रमण-माहण उभयकाल केवलि-प्रज्ञप्त धर्म कहते हैं ?

उ०—हा कहते है।

प्र० —क्या वह (श्रद्धापूर्वक) सुनती है ?

उ०—यह सम्भव नही है, क्योकि वह उस धर्मश्रवण के लिये अयोग्य है।

वह उत्कृष्ट अभिलाषाओ वाली यावत् दक्षिणदिशावर्ती नरक मे कृष्णपाक्षिक नैरयिक रूप मे उत्पन्न होती है तथा भविष्य मे उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! उस निदानशल्य का यह पापकारी परिणाम है कि वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म का श्रवण भी नही कर सकती है।

निर्ग्रन्थ का स्त्रीत्व के लिये निदान करना

एव खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव निग्गथे पावयणे सच्चे जाव[1] सव्वदुक्खाण अंत करेंति।

जस्स ण धम्मस्स सिक्खाए निग्गंथे उवट्ठिए विहरमाणे जाव[2] पासेज्जा—से जा इमा इत्थियाा भवति—एगा, एगजाया जाव[3] जं पासित्ता निग्गंथे निदाण करेंति--

दुक्खं खलु पुमत्तणए,

जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया, भोगपुत्ता महामाउया, एतेसि ण अण्णतरेसु उच्चावएसु महासमर-संगामेसु उच्चावयाइं सत्थाइं उरंसि चेव पडिसवेवेंति। तं दुक्ख खलु पुमत्तणए, इत्थित्तणय साहु।

"जइ इमस्स सुचरियतवनियमबभचेरवासस्स फलवित्तिविसेसे अत्थि, त अहमवि आगमेस्साए इमाइं एयारूवाइ उरालाइ इत्थिभोगाइ भु जमाणे विहरामि—से त साहु।"

एव खलु समणाउसो ! निग्गंथे णियाण किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय-अपडिक्कते जाव[4] आगमेस्साए दुल्लहबोहिए यावि भवइ।

एव खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे ज नो संचाएइ केवलिपण्णत्तं धम्म पडिसुणित्तए।

१-३ प्रथम निदान मे देखे।

४. द्वितीय निदान मे देखें।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैंने धर्म का निरूपण किया है। यही निर्ग्रन्थ-प्रवचन सत्य है यावत् सब दुःखो का अन्त करते है।

कोई निर्ग्रन्थ केवलिप्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए उपस्थित हो विचरते हुए यावत् एक स्त्री को देखता है—जो अपने पति की केवल एकमात्र प्राणप्रिया है यावत् निर्ग्रन्थ उस स्त्री को देखकर निदान करता है—

"पुरुष का जीवन दुःखमय है,

क्योकि जो ये विशुद्ध मातृ-पितृपक्ष वाले उग्रवशी या भोगवशी पुरुष हैं, वे किसी छोटे-बडे युद्ध मे जाते हैं और छोटे-बडे शस्त्रो का प्रहार वक्षस्थल मे लगने पर वेदना से व्यथित होते हैं। अतः पुरुष का जीवन दुःखमय है और स्त्री का जीवन सुखमय है।

यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एव ब्रह्मचर्यपालन का विशिष्ट फल हो तो मैं भी भविष्य मे स्त्री सम्बन्धी इन उत्तम भोगो को भोगता हुआ विचरण करू तो यह श्रेष्ठ होगा।"

हे आयुष्मन् श्रमणो ! वह निर्ग्रन्थ निदान करके उसकी आलोचना प्रतिक्रमण किये बिना यावत् उसे आगामी काल मे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! उस निदान का यह पापकारी परिणाम है कि वह केवलिप्ररूपित धर्म को नही सुन सकता है।

निर्ग्रन्थी का पुरुषत्व के लिये निदान करना

एव खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे जाव[1] सव्वदुक्खाण अत करेंति।

जस्स णं धम्मस्स निग्गथी सिक्खाए उवट्ठिया विहरमाणी जाव[2] पासेज्जा जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया जाव[3] ज पासित्ता निग्गंथी णिदाणं करेंति—

"दुक्खं खलु इत्थित्तणए,

दुस्संचराइं गामंतराइं जाव[4] सन्निवेसतराइं।

से जहानामए अंबपेसियाइ वा, मातुलिंगपेसियाइ वा, अंबाडगपेसियाइ वा, उच्छुखंडियाइ वा, सबलिफलियाइ वा बहुजणस्स आसायणिज्जा, पत्थणिज्जा, पीहणिज्जा, अभिलसणिज्जा।

एवामेव इत्थिया वि बहुजणस्स आसायणिज्जा जाव[5] अभिलसणिज्जा तं दुक्खं खलु इत्थित्तणए, पुमत्तणए णं साहु।"

---

१ प्रथम निदान मे देखें।
२ प्रथम निदान मे देखें।
३ आ श्रु २, अ १, उ २, सु ३३८
४ इसी निदान मे देखें।
५ प्रथम निदान में देखें।

"जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स फलवित्तिविसेसे अत्थि, तं अहमवि आगमेस्साए इमाइं एयारूवाइं उरालाइं पुरिसभोगाइं भुंजमाणी विहरामि—से तं साहु।"

एवं खलु समणाउसो! णिग्गंथी णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइयअप्पडिक्कंता जाव[1] दुल्लहबोहिया यावि भवइ।

एवं खलु समणाउसो! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे, जं नो संचाएइ केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणित्तए।

हे आयुष्मन् श्रमणो! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है। यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है यावत् सब दुःखो का अन्त करते है।

उस केवलिप्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए कोई निर्ग्रन्थी उपस्थित होकर विचरती हुई यावत् एक पुरुष को देखती है जो कि विशुद्ध मातृ-पितृपक्ष वाला उग्रवशी या भोगवशी है यावत उसे देखकर निर्ग्रन्थी निदान करती है कि—

"स्त्री का जीवन दुःखमय है, वह क्योकि किसी अन्य गाव को यावत् अन्य सन्निवेश को अकेली स्त्री नही जा सकती है।

जिस प्रकार आम, बिजोरा या आम्रातक की फाके, इक्षु-खण्ड और शाल्मलि की फलिया अनेक मनुष्यो के लिए आस्वादनीय, प्राप्तकरणीय, इच्छनीय और अभिलषणीय होती है, इसी प्रकार स्त्री का शरीर भी अनेक मनुष्यो के लिए आस्वादनीय यावत् अभिलषणीय होता है। इसलिए स्त्री का जीवन दुःखमय है और पुरुष का जीवन सुखमय है।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे तप, नियम एव ब्रह्मचर्यपालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मै भी आगामी काल मे इस प्रकार के उत्तम पुरुष सम्बन्धी कामभोगो को भोगते हुए विचरण करू तो यह श्रेष्ठ होगा।"

इस प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो! वह निर्ग्रन्थनी निदान करके उसकी आलोचना प्रतिक्रमण किये बिना यावत् उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है।

हे आयुष्मन् श्रमणो! उस निदान का यह पापकारी परिणाम है कि वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म का श्रवण भी नही कर सकता है।

५. निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी द्वारा परदेवी-परिचारणा का निदान करना

एवं खलु समणाउसो! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव णिग्गथे पावयणे सच्चे जाव[2] सव्वदुक्खाणमंत करेंति।

जस्स णं धम्मस्स निग्गंथो वा निग्गथी वा सिक्खाए उवट्ठिए विहरमाणे जाव[3] से य परक्कममाणे माणुस्सेहिं कामभोगेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा—

माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा, अणितिया, असासया, सडणपडणविद्धंसणधम्मा।

१-३ प्रथम निदान मे देखे

'उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणगवंतपित्तसुक्कसोणियसमुब्भवा ।

दुरूवउस्सासनिस्सासा, दुरंतमुत्तपुरीसपुण्णा, वंतासवा, पित्तासवा, खेलासवा, पच्छापुरं च णं अवस्सं विप्पजहणिज्जा ।

संति उड्ढं देवा देवलोयंसि ।

ते णं तत्थ अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेंति अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्विय विउव्विय परियारेंति, अप्पणिज्जयाओ देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेंति ।

'जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि तं अहमवि आगमेस्साए इमाइं एयारूवाइं दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरामि—से तं साहु ।'

एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा णियाणं किच्चा जाव[1] देवे भवइ महिड्ढिए जाव[2] दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरइ ।

से णं तत्थ अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्विय विउव्विय परियारेइ, अप्पणिज्जयाओ देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ ।

से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव[3] पुमत्ताए पच्चायाति जाव[4] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति—"भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो जाव[5] किं ते आसगस्स सयइ ?"

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ कालं केवलि-पण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ?

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा ।

प०—से णं पडिसुणिज्जा ?

उ०—हंता ! पडिसुणिज्जा ।

प०—से णं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ?

उ०—णो तिणट्ठे समट्ठे । अभविए णं से तस्स धम्मस्स सद्दहणयाए ।

से य भवति महिच्छे जाव[6] दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमेस्साए दुल्लभबोहिए यावि भवति ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे—जं णो संचाएति केवलि-पण्णत्तं धम्मं सद्दहित्तए वा, पत्तियत्तिए वा, रोइत्तए वा ।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है । यही निर्ग्रन्थ-प्रवचन सत्य है यावत् सब दुःखो का अन्त करते हैं ।

१–६ प्रथम निदान मे देखें ।

कोई निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी केवलिप्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए उपस्थित हो विचरण करते हुए यावत् संयम में पराक्रम करते हुए मानुषिक कामभोगो से विरक्त हो जाये और वह यह सोचे—

"मानव सम्बन्धी कामभोग अध्रुव है, अनित्य है, अशाश्वत है, सड़ने-गलने वाले एव नश्वर है। मल-मूत्र-श्लेष्म-मैल-वात-पित्त-कफ-शुक्र एव शोणित से उद्भूत हैं। दुर्गन्धयुक्त श्वासोच्छ्वास तथा मल-मूत्र से परिपूर्ण हैं। वात-पित्त और कफ के द्वार हैं। पहले या पीछे अवश्य त्याज्य हैं।"

जो ऊपर देवलोक मे देव रहते हैं—

वे वहा अन्य देवो की देवियो को अपने अधीन करके उनके साथ विषय सेवन करते है, स्वय ही अपनी विकुर्वित देवियो के साथ विषय सेवन करते हैं और अपनी देवियों के साथ भी विषय सेवन करते हैं।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप, नियम एव ब्रह्मचर्यपालन का विशिष्ट फल हो तो मैं भी भविष्य मे इन उपर्युक्त दिव्यभोगो को भोगते हुए विचरण करू तो यह श्रेष्ठ होगा।"

हे आयुष्मन् श्रमणो! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थनी (कोई भी) निदान करके यावत् देव रूप मे उत्पन्न होता है। वह वहा महाऋद्धि वाला देव होता है यावत् दिव्यभोगो को भोगता हुआ विचरता है।

वह देव वहा अन्य देवो की देवियो के साथ विषय सेवन करता है।

स्वय ही अपनी विकुर्वित देवियो के साथ विषय सेवन करता है।

और अपनी देवियो के साथ भी विषय सेवन करता है।

वह देव उस देवलोक से आयु के क्षय होने पर यावत् पुरुष रूप मे उत्पन्न होता है यावत् उसके द्वारा एक को बुलाने पर चार-पाच बिना बुलाये ही उठकर खडे हो जाते हैं और पूछते हैं कि "हे देवानुप्रिय! कहो हम क्या करे? यावत् आपके मुख को कौन-से पदार्थ अच्छे लगते है?"

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि से युक्त उस पुरुष को तप-सयम के मूर्त रूप श्रमण माहण उभय काल केवलिप्रज्ञप्त धर्म कहते हैं?

उ०—हा, कहते हैं।

प्र०—क्या वह सुनता है?

उ०—हा, सुनता है।

प्र०—क्या वह केवलिप्ररूपित धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति या रुचि करता है?

उ०—यह सम्भव नही है, क्योकि वह सर्वज्ञप्ररूपित धर्म पर श्रद्धा करने के अयोग्य है।

किन्तु वह उत्कट अभिलाषाएँ रखता हुआ यावत् दक्षिणदिशावर्ती नरक मे कृष्णपाक्षिक नैरयिक रूप मे उत्पन्न होता है तथा भविष्य मे उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है।

हे आयुष्मन् श्रमणो! निदान शल्य का यह पापकारी परिणाम है कि वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नही रखता है।

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी के द्वारा स्वदेवी-परिचारणा का निदान करना

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते जाव[1] से य परक्कममाणे माणुस्सएसु कामभोगेसु निव्वेयं गच्छेज्जा,

"माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा जाव[2] विप्पजहणिज्जा।

संति उड्ढं देवा देवलोयंसि ते ण तत्थ णो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेंति, अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्वित्ता परियारेंति, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेंति।"

"जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, अहमवि आगमेस्साए इमाइं एयारूवाइं दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरामि—से त साहू।"

एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा णियाणं किच्चा जाव[3] देवे भवइ, महिड्ढिए जाव[4] दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

से ण तत्थ णो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ, अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्विय-विउव्विय परियारेइ, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ।

से ण ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव[5] पुमत्ताए पच्चायाति जाव[6] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति "भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो ? जाव[7] किं ते आसगस्स सयइ ?"

प०—तस्स ण तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ कालं केवलिपण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ?

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा।

प०—से ण पडिसुणेज्जा ?

उ०—हंता ! पडिसुणेज्जा।

प०—से ण सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा ?

उ०—णो तिणट्ठे समट्ठे, अण्णत्थरुई यावि भवति।

अण्णरुइमायाए से भवति—

जे इमे आरण्णिया, आवसहिया, गामंतिया, कण्हुइरहस्सिया। णो बहु-संजया, णो बहु-पडिविरया सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु, अप्पणो सच्चामोसाइं एवं विपडिवदंति—

अहं णं हंतव्वो, अण्णे हंतव्वा,

अहं णं अज्जावेयव्वो, अण्णे अज्जावेयव्वा,

अहं णं परियावेयव्वो, अण्णे परियावेयव्वा,

१-७ प्रथम निदान मे देखें।

अहं णं परिघेतव्वो, अण्णे परिघेतव्वा,

अहं णं उवहवेयव्वो, अण्णे उवहवेयव्वा,

एवामेव इत्थिकामेहिं मुच्छिया गढिया गिद्धा अज्झोववण्णा जाव[1] कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु आसुरिएसु किब्बिसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति ।

ततो विमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए पच्चायंति ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागेण णो संचाएति केवलि-पण्णत्तं धम्मं सद्दहित्तए वा, पत्तिइत्तए वा, रोइत्तए वा ।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैंने धर्म का निरूपण किया है यावत् सयम की साधना मे पराक्रम करते हुए निर्ग्रन्थ मानवसम्बन्धी कामभोगो से विरक्त हो जाए और यह सोचे कि

"मानव सम्बन्धी कामभोग अध्रुव हैं यावत् त्याज्य है ।

जो ऊपर देवलोक मे देव हैं वे वहा अन्य देवो की देवियो के साथ विषय सेवन नही करते हैं, किन्तु स्वय की विकुर्वित देवियो के साथ विषय सेवन करते है तथा अपनी देवियो के साथ भी विषय सेवन करते हैं ।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एव ब्रह्मचर्यपालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी आगामी काल मे इस प्रकार के दिव्यभोगो को भोगते हुए विचरण करू — तो यह श्रेष्ठ होगा ।"

हे आयुष्मन् श्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी (कोई भी) निदान करके यावत् देव रूप मे उत्पन्न होता है । वह वहा महाऋद्धि वाला देव होता है यावत् दिव्यभोगो को भोगता हुआ विचरता है ।

वह देव वहा अन्य देवो की देवियो के साथ विषय सेवन नही करता है, स्वय ही अपनी विकुर्वित देवियो के साथ विषय सेवन करता है और अपनी देवियो के साथ भी विषय सेवन करता है ।

वह देव उस देवलोक से आयु के क्षय होने पर यावत् पुरुष रूप मे उत्पन्न होता है यावत् उसके द्वारा एक को बुलाने पर चार-पाच बिना बुलाये ही उठकर खडे हो जाते हैं और पूछते हैं कि—हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करे यावत् आपके मुख को कौन-से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि से युक्त उस पुरुष को तप-सयम के मूर्त रूप श्रमण माहण उभय काल केवलिप्रज्ञप्त धर्म कहते हैं ?

उ०—हा, कहते हैं ।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हां, सुनता है ।

---

१ सूय श्रु २, अ. २, सु ५९ (अग सुत्ताणि)

प्र०—क्या वह श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि करता है ?

उ०—यह सम्भव नही है, किन्तु वह अन्य दर्शन में रुचि रखता है।

अन्य दर्शन को स्वीकार कर वह इस प्रकार के आचरण वाला होता है—

जैसे कि ये पर्णकुटियो मे रहने वाले अरण्यवासी तापस और ग्राम के समीप की वाटिकाओ में रहने वाले तापस तथा अदृष्ट होकर रहने वाले जो तान्त्रिक है, असयत हैं, वे प्राण, भूत, जीव और सत्व की हिंसा से विरत नही हैं। वे सत्य-मृषा (मिश्रभाषा) का इस प्रकार प्रयोग करते है कि—

"मुझे मत मारो, दूसरो को मारो,
मुझे आदेश मत करो, दूसरो को आदेश करो,
मुझ को पीडित मत करो, दूसरो को पीडित करो,
मुझ को मत पकडो, दूसरो को पकडो,
मुझे भयभीत मत करो, दूसरो को भयभीत करो,

इसी प्रकार वे स्त्री सम्बधी कामभोगो मे भी मूर्च्छित—ग्रथित, गृद्ध एव आसक्त होकर यावत् जीवन के अन्तिम क्षणो मे देह त्याग कर किसी असुरलोक मे किल्विषिक देवस्थान मे उत्पन्न होते हैं।

वहा से वे देह छोड कर पुन भेड़-बकरे के समान मनुष्यो मे मूक रूप मे उत्पन्न होते हैं।

हे आयुष्मन् श्रमणो! उस निदान का यह पापकारी परिणाम है कि—वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि नही रखता है।

७. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के द्वारा सहज दिव्यभोग का निदान करना

एवं खलु समणाउसो! मए धम्मे पण्णत्ते जाव[1] से य परक्कममाणे माणुस्सएसु काम-भोगेसु निव्वेदं गच्छेज्जा—

"माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा जाव[2] विप्पजहियव्वा।

संति उड्ढं देवा देवलोगंसि। ते णं तत्थ णो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ, णो अप्पणो चेव अप्पाणं वेउव्विय-वेउव्विय परियारेइ, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ।"

"जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, अहमवि आगमेस्साए इमाइं एयारूवाइं दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरामि—से तं साहू।"

एवं खलु समणाउसो! णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा णियाणं किच्चा जाव[3] देवे भवइ महिड्ढिए जाव[4] दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

१-४. प्रथम निदान मे देखें।

से णं तत्थ णो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ, णो अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्विय-विउव्विय परियारेइ, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ।

से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव[1] पुमत्ताए पच्चायाति जाव[2] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि-पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति "भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो जाव[3] किं ते आसगस्स सयइ।"

प०—तस्स ण तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ कालं केवलि-पण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा।

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा।

प०—से णं पडिसुणेज्जा ?

उ०—हंता ! पडिसुणेज्जा।

प०—से ण सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ?

उ०—हंता ! सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा।

प०—से ण सीलव्वयगुणवयवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं पडिवज्जेज्जा ?

उ०—णो तिणट्ठे समट्ठे, से ण दसणसावए भवति।

अभिगयजीवाजीवे जाव[4] अट्ठिमिज्जापेमाणुरागरत्ते—

"अयमाउसो ! निग्गथे पावयणे अट्ठे, एस परमट्ठे, सेसे अणट्ठे।"

से णं एयारूवेणं विहारेण विहरमाणे बहूइ वासाइ समणोवासगपरियाय पाउणइ, पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे—ज णो संचाएति सीलव्वयगुणव्वयवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं पडिवज्जित्तए।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्ररूपण किया है यावत् सयम की साधना मे पराक्रम करते हुए निर्ग्रन्थ मानव सम्बन्धी कामभोगो से विरक्त हो जाय और वह यह सोचे कि—

"मानव सम्बन्धी कामभोग अध्रुव है यावत् त्याज्य है।

जो ऊपर देवलोक मे देव हैं, वे वहा अन्य देवो की देवियो के साथ विषय सेवन नही करते हैं तथा स्वय की विकुर्वित देवियो के साथ भी विषय सेवन नही करते हैं, किन्तु अपनी देवियो के साथ कामक्रीडा करते है।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एव ब्रह्मचर्य-पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी आगामी काल मे इस प्रकार के दिव्यभोग भोगता हुआ विचरण करूं—तो यह श्रेष्ठ होगा।"

हे आयुष्मन् श्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी (कोई भी) निदान करके यावत् देव

१-८ प्रथम निदान मे देखें।

रूप में उत्पन्न होता है। वह वहा महाऋद्धि वाला देव होता है यावत् दिव्यभोगो को भोगता हुआ विचरता है।

वह देव वहा अन्य देवो की देवियो के साथ विषय सेवन नही करता है, स्वय ही अपनी विकुर्वित देवियों के साथ भी विषय सेवन नही करता है, किन्तु अपनी देवियो के साथ विषय सेवन करता है।

वह देव उस देवलोक से आयु के क्षय होने पर यावत् पुरुष रूप मे उत्पन्न होता है यावत् उसके द्वारा किसी एक को बुलाने पर चार-पाच बिना बुलाये ही उठकर खडे हो जाते हैं और पूछते हैं कि "हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करे यावत् आपके मुख को कौन-से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?"

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि युक्त उस पुरुष को तप-सयम के मूर्त रूप श्रमण माहण उभय काल केवलिप्रज्ञप्त धर्म कहते हैं ?

उ०—हा, कहते है।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हा, सुनता है।

प्र०—क्या वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि रखता है ?

उ०—हा वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि रखता है।

प्र०—क्या वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास करता है ?

उ०—यह सम्भव नही है। यह केवल दर्शन-श्रावक होता है।

वह जीव अजीव के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता होता है यावत् उसके अस्थि एव मज्जा मे धर्म के प्रति अनुराग होता है। यथा—"हे आयुष्मन् ! यह निर्ग्रन्थप्रवचन ही जीवन में इष्ट है। यही परमार्थ है। अन्य सब निरर्थक है।"

वह इस प्रकार अनेक वर्षों तक अगारधर्म की आराधना करता है और आराधना करके जीवन के अन्तिम क्षणो मे किसी एक देवलोक मे देव रूप मे उत्पन्न होता है।

इस प्रकार हे आयुष्मन् श्रमणो ! उस निदान का यह पाप रूप परिणाम है कि वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास नही कर सकता है।

८. श्रमणोपासक होने के लिये निदान करना

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते जाव[2] से य परक्कममाणे दिव्वमाणुस्सएहिं काम-भोगेहिं णिव्वेदं गच्छेज्जा—

"माणुस्सगा कामभोगा अधुवा जाव[3] विप्पजहणिज्जा,

दिव्वा वि खलु कामभोगा अधुवा, अणितिया, असासया, चलाचलण-धम्मा, पुणरागमणिज्जा पच्छा पुव्वं च णं अवस्सं विप्पजहणिज्जा।"

---

१ भगवती श २, उ. ५, सु ११

२-३ सातवें निदान मे देखें।

जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, अहमवि आगमेस्साए, जे इमे भवंति उग्गपुत्ता महामाउया, भोगपुत्ता महामाउया तेसिं णं अन्नयरंसि कुलंसि पुमत्ताए पच्चायामि, तत्थ णं समणोवासए भविस्सामि—

अभिगयजीवाजीवे जाव[1] अहापरिग्गहिएण तवोकम्मेण अप्पाण भावेमाणे विहरिस्सामि-से तं साहू।

एवं खलु समणाउसो ! निग्गथो वा निग्गथी वा णिदाणं किच्चा जाव[2] देवे भवइ महिड्ढिए जाव[3] दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरइ जाव[4] से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव[5] पुमत्ताए पच्चायाति जाव[6] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि-पंच अवुत्ता चेव अभुट्ठेंति "भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो जाव[7] किं ते आसगस्स सयइ ?"

प०—तस्स ण तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ कालं केवलि-पण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ?

उ—हंता ! आइक्खेज्जा।

प०—से ण पडिसुणेज्जा ?

उ०—हंता ! पडिसुणेज्जा।

प०—से णं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ?

उ०—हंता ! सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा।

प०—से णं सीलव्वय जाव[8] पोसहोववासाइ पडिवज्जेज्जा ?

उ०—हंता ! पडिवज्जेज्जा।

प०—से णं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ?

उ०—णो तिणट्ठे समट्ठे।

से ण समणोवासए भवति अभिगयजीवाजीवे जाव[9] पडिलाभेमाणे विहरइ।

से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूणि वासाणि समणोवासगपरियागं पाउणइ पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा भत्तं पच्चक्खाएइ, भत्तं पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ, बहूइं भत्ताइ अणसणाइं छेदित्ता आलोइयपडिक्कते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स नियाणस्स इमेयारूवे पावफलविवागे—जं नो सचाएति सव्वाओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए।

---

१ भगवती श २, उ ५, सू ११

२-८ सातवें निदान में देखें।

९ भगवती श २, उ ५, सू ११

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है यावत् सयम-साधना मे पराक्रम करते हुए निर्ग्रन्थ दिव्य और मानुषिक कामभोगो से विरक्त हो जाने पर यो सोचे कि—

"मानुषिक कामभोग अध्रुव हैं यावत् त्याज्य हैं।

देव सम्बन्धी कामभोग भी अध्रुव हैं, अनित्य है, अशाश्वत हैं, चलाचलस्वभाव वाले हैं, जन्म-मरण बढाने वाले है, आगे-पीछे अवश्य त्याज्य है।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एव ब्रह्मचर्य-पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी भविष्य मे जो ये विशुद्ध मातृ-पितृपक्ष वाले उग्रवशी या भोगवशी कुल है, वहा पुरुष रूप मे उत्पन्न होऊँ और श्रमणोपासक बनू ।"

जीवाजीव के स्वरूप को जानू यावत् ग्रहण किये हुए तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करू तो यह श्रेष्ठ होगा।"

हे आयुष्मन् श्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी (कोई भी) निदान करके यावत् देवरूप मे उत्पन्न होता है। वह वहा महाऋद्धि वाला देव होता है यावत् दिव्य भोगो को भोगता हुआ विचरता है यावत् वह देव उस लोक से आयुक्षय होने पर यावत् पुरुष रूप मे उत्पन्न होता है यावत् उसके द्वारा किसी एक को बुलाने पर चार-पाच बिना बुलाये ही उठकर खडे हो जाते हैं और पूछते है—"हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करे यावत् आपके मुख को कौन-से पदार्थ अच्छे लगते है ?"

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि से युक्त उस पुरुष को तप-सयम के मूर्तरूप श्रमण माहण उभय-काल केवलिप्रज्ञप्त धर्म कहते है ?

उ०—हा, कहते है।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हा, सुनता है।

प्र०—क्या वह श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि करता है ?

उ०—हा, वह श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि करता है ?

प्र०—क्या वह शीलव्रत यावत् पौषधोपवास स्वीकार करता है ?

उ०—हा, वह स्वीकार करता है।

प्र०—क्या वह गृहवास को छोडकर मुण्डित होता है एव अनगार प्रव्रज्या स्वीकार करता है ?

उ०—यह सम्भव नही।

वह श्रमणोपासक होता है, जीवाजीव का ज्ञाता यावत् प्रतिलाभित करता हुआ विचरता है।

इस प्रकार के आचरण से वह अनेक वर्षों तक श्रमणोपासक पर्याय का पालन करता है, पालन करके रोग उत्पन्न होने या न होने पर भक्त-प्रत्याख्यान (भोजनत्याग) करता है, भक्तप्रत्याख्यान करके अनेक भक्तो का अनशन से छेदन करता है, छेदन करके आलोचना एव प्रतिक्रमण द्वारा समाधि को प्राप्त होता है। जीवन के अन्तिम क्षणो मे देह छोडकर किसी देवलोक मे देव होता है।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! उस निदानशल्य का यह पाप रूप परिणाम है कि—वह गृहवास को छोडकर एव सर्वथा मुण्डित होकर अनगार प्रव्रज्या स्वीकार नही कर सकता है।

९. श्रमण होने के लिए निदान करना

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते जाव[1] से य परक्कममाणे दिव्वमाणुस्सएहिं काम-भोगेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा—

"माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा जाव[2] विप्पजहणिज्जा। दिव्वा वि खलु कामभोगा अधुवा जाव[3] पुणरागमणिज्जा, पच्छापुव्वं च णं अवस्सं विप्पजहणिज्जा।

"जइ इमस्स सुचरियतवनियमबंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, अहमवि आगमेस्साए जाइं इमाइं भवंति अंतकुलाणि वा, पंतकुलाणि वा, तुच्छकुलाणि वा, दरिद्दकुलाणि वा, किवणकुलाणि वा, भिक्खागकुलाणि वा एएसि णं अण्णतरंसि कुलंसि पुमत्ताए पच्चायामि एस मे आया परियाए सुणीहडे भविस्सति, से तं साहु।"

एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा णियाणं किच्चा जाव[4] देवे भवइ, महिड्ढिए जाव[5] दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणे विहरइ जाव[6] से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव[7] पुमत्ताए पच्चायाति जाव[8] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि-पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति "भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो जाव[9] किं ते आसगस्स सयइ ?"

प०- तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ कालं केवलि-पण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ?

उ०—हंता, आइक्खेज्जा।

प०—से णं पडिसुणेज्जा ?

उ०—हंता, पडिसुणेज्जा।

प०—से णं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ?

उ०—हंता, सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा।

प०—से णं सीलव्वयगुणव्वयवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं पडिवज्जेज्जा ?

उ०—हंता, पडिवज्जेज्जा।

प०—से णं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा ?

उ०—हंता, पव्वइज्जा।

प०—से णं तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झेज्जा जाव[10] सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा ?

उ०—णो इणट्ठे समट्ठे।

से णं भवइ—से जे अणगारा भगवंतो इरियासमिया जाव[11] बंभयारी।

१–९ पहले या सातवें निदान में देखें।

१० पहले णिग्गंथे में देखें।

११ दशा० द० ५ सु० ६।

से णं एयारूवेण विहारेणं विहरमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणइ, बहूइ वासाइं सामण्ण-परियागं पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नसि वा अणुप्पन्नंसि वा भत्त पच्चक्खाएइ, भत्तं पच्चक्खाइत्ता, बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ, बहूइ भत्ताइ अणसणाइ छेदेत्ता आलोइय-पडिक्कते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फल-विवागे ज नो सचाएइ तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झित्तए जाव[1] सव्वदुक्खाण अंत करेत्तए ।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैने धर्म का निरूपण किया है यावत् सयम की साधना मे प्रयत्न करता हुआ निर्ग्रन्थ दिव्य मानुषिक कामभोगो से विरक्त हो जाए और वह यह सोचे कि—

"मानुषिक कामभोग अध्रुव यावत् त्याज्य है ।

दिव्य कामभोग भी अध्रुव यावत् भवपरम्परा बढाने वाले है तथा पहले या पीछे अवश्य त्याज्य हैं ।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एव ब्रह्मचर्य-पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी भविष्य मे जो ये अतकुल, प्रान्तकुल, तुच्छकुल, दरिद्रकुल, कृपणकुल या भिक्षुकुल है, इनमे से किसी एक कुल मे पुरुष बनू जिससे मैं प्रव्रजित होने के लिए सुविधापूर्वक गृहवास छोड सकू तो यह श्रेष्ठ होगा ।"

हे आयुष्मन् श्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी (कोई भी) निदान करके यावत् देवरूप मे उत्पन्न होता है । वह वहाँ महाऋद्धि वाला देव होता है । यावत् दिव्य भोग भोगता हुआ विचरता है, यावत् वह देव उस देवलोक से आयु क्षय होने पर यावत् पुरुष रूप मे उत्पन्न होता है, यावत् उसके द्वारा किसी एक को बुलाने पर चार-पाच बिना बुलाये ही उठकर खडे हो जाते हैं और पूछते है कि 'हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करे यावत् आपके मुख को कौन-से पदार्थ अच्छे लगते है ?"

प्र०—क्या इस प्रकार की ऋद्धि से युक्त उस पुरुष को तप-सयम के मूर्तरूप श्रमण माहण उभय काल केवलिप्रज्ञप्त धर्म कहते है ?

उ०—हा, कहते है ।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हा, सुनता है ।

प्र०—क्या वह श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि करता है ?

उ०—हा, वह श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि करता है ।

प्र०—क्या वह गृहवास को छोडकर मुण्डित होता है एव अनगारप्रव्रज्या स्वीकार करता है ?

उ०—हा, वह अनगारप्रव्रज्या स्वीकार करता है ।

प्र०—क्या वह उसी भव में सिद्ध हो सकता है यावत् सब दु खो का अत कर सकता है ?

उ०—यह सम्भव नही है ।

---

१. पहले निदान मे देखें ।

वह अनगार भगवंत ईर्या-समिति का पालन करने वाला यावत् ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला होता है।

इस प्रकार के आचरण से वह अनेक वर्षों तक सयमपर्याय का पालन करता है, अनेक वर्षों तक सयमपर्याय का पालन करके रोग उत्पन्न होने या न होने पर भी भक्त-प्रत्याख्यान करता है, भक्त-प्रत्याख्यान करके अनेक भक्तो का अनशन से छेदन करता है, अनेक भक्तो का अनशन से छेदन करके आलोचना एव प्रतिक्रमण द्वारा समाधि को प्राप्त होता है और जीवन के अन्तिम क्षणो मे देह त्याग कर किसी देवलोक मे देवरूप मे उत्पन्न होता है।

हे आयुष्मन् श्रमणो! उस निदानशल्य का यह पाप रूप परिणाम है कि—वह उस भव से सिद्ध नही होता है यावत् सब दु खो का अन्त नही कर पाता है।

निदानरहित की मुक्ति

एवं खलु समणाउसो! मए धम्मे पण्णत्ते—इणमेव निग्गथे पावयणे सच्चे जाव[1] सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

जस्स णं धम्मस्स सिक्खाए निग्गंथे उवट्ठिए विहरमाणे से य परक्कमेज्जा से य परक्कममाणे सव्वकामविरत्ते, सव्वरागविरत्ते, सव्वसगातीते, सव्वहा सव्वसिणेहातिक्कते सव्वचरित्तपरिवुडे।

तस्स णं भगवंतस्स अणुत्तरेणं णाणेण, अणुत्तरेण दसणेण जाव[2] अणुत्तरेण परिनिव्वाणमग्गेण अप्पाणं भावेमाणस्स अणंते, अणुत्तरे, निव्वाघाए, निरावरणे, कसिणे, पडिपुण्णे केवलवरनाणदसणे समुप्पज्जेज्जा।

तए णं से भगवं अरहा भवइ, जिणे, केवली, सव्वण्णू, सव्वभावदरिसी, सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पज्जाए जाणइ, त जहा—

आगई, गई, ठिई, चवणं, उववायं, भुत्त, पीय, कडं, पडिसेविय, आवीकम्म, रहोकम्मं, लवियं, कहियं, मणोमाणसियं।

सव्वलोए सव्वजीवाण सव्वभावाइ जाणमाणे पासमाणे विहरइ।

से णं एयारूवेण विहारेण विहरमाणे बहूइ वासाइ केवलिपरियाग पाउणइ, पाउणित्ता अप्पणो आउसेस आभोएइ, आभोएत्ता भत्तं पच्चक्खाएइ, पच्चक्खाइत्ता बहूइ भत्ताइ अणसणाइ छेदेइ, तओ पच्छा चरमेहिं ऊसासनीसासेहिं सिज्झइ जाव[3] सव्वदुक्खाणमत करेइ।

एव खलु समणाउसो! तस्स अणिदाणस्स इमेयारूवे कल्लाणे फलविवागे ज तेणेव भवग्गहणेण सिज्झति जाव सव्वदुक्खाणं अतं करेइ।

---

१ प्रथम निदान मे देखें।

२ दसा द १०, सु ३३ नवमुत्ताणि

३ प्रथम निदान मे देखें।

तए णं ते बहवे निग्गंथा य निग्गंथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता तस्स ठाणस्स आलोयंति पडिक्कमंति जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जंति ।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! मैने धर्म का प्रतिपादन किया है । यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन सत्य है यावत् सब दु खो का अत करते हैं ।

इस धर्म की आराधना के लिए उपस्थित होकर विचरता हुआ वह निर्ग्रन्थ तप-सयम मे पराक्रम करता हुआ तप-सयम की उग्र साधना करते समय काम-राग से सर्वथा विरक्त हो जाता है । सगस्नेह से सर्वथा रहित हो जाना है और सम्पूर्ण चारित्र की आराधना करता है ।

उत्कृष्ट ज्ञान, दर्शन और चारित्र यावत् मोक्षमार्ग से अपनी आत्मा को भावित करते हुए उस अनगार भगवत को अनन्त, सर्वप्रधान, बाधा एव आवरण से रहित, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान उत्पन्न होना है ।

उस समय वह अरहन्त भगवत जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो जाता है, वह देव, मनुष्य, असुर आदि लोक के पर्यायो को जानता है, यथा—

जीवो की आगति, गति, स्थिति, च्यवन, उत्पत्ति तथा उनके द्वारा खाये-पीये गये पदार्थों एव उनके द्वारा सेवित प्रकट एव गुप्त सभी क्रियाओ को तथा वार्तालाप, गुप्त वार्ता और मानसिक चिन्तन को प्रत्यक्ष रूप से जानते-देखते है ।

वह सम्पूर्ण लोक मे स्थित सर्व जीवो के सर्व भावो को जानते देखते हुए विचरण करता है ।

वह इस प्रकार केवली रूप मे विचरण करता हुआ अनेक वर्षों की केवलिपर्याय को प्राप्त होता है और अपनी आयु का अन्तिम भाग जानकर वह भक्तप्रत्याख्यान करता है, भक्तप्रत्याख्यान करके अनेक भक्तो को अनशन से छेदन करता है । उसके बाद वह अन्तिम श्वासोच्छ्वास के द्वारा सिद्ध होता है यावत् सब दु खो का अन्त करता है ।

हे आयुष्मन् श्रमणो ! उस निदान रहित साधनामय जीवन का यह कल्याणकारक परिणाम है कि वह उसी भव से सिद्ध होता है यावत् सब दु खो का अन्त करता है ।

उस समय उन अनेक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो ने श्रमण भगवान् महावीर से इन निदानो का वर्णन सुनकर श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन, नमस्कार किया और उस पूर्वकृत निदानशल्यो की आलोचना-प्रतिक्रमण करके यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप स्वीकार किया ।

विवेचन—इस दशा मे निदानो का वर्णन है । इसका नाम 'आयतिट्ठाणअज्झयण' भी कहा गया है । "आयति" शब्द का अर्थ "ससार" या "कर्मबध" है । ससारभ्रमण या कर्मबध के प्रमुख स्थान को 'आयतिट्ठाण' कहा गया है ।

निदान शब्द का अर्थ है—छेदन करना या काटना । जिससे ज्ञान दर्शन चारित्र की आराधना का छेदन होता है वह निदान कहा जाता है ।

निदान का सामान्य अर्थ यह भी है कि तप सयम के महाफल के बदले मे अल्पफल की कामना करना ।

आवश्यकादि आगमो में निदान को आत्मा का आभ्यतर शल्य अर्थात् हृदय का कटक कहा है। जैसे पाव मे लगा कटक शारीरिक समाधि भग करता है और जब तक निकल न जाय या नष्ट न हो जाय तब तक खटकता रहता है, उसी प्रकार आलोचना प्रायश्चित्त के द्वारा निदानशल्य निकल न जाये या उदय में आकर नष्ट न हो जाये तब तक बोधि (सम्यक्त्व), चारित्र और मुक्ति के लाभ में बाधक बन कर खटकता रहता है। अत आत्मशाति के इच्छुक मुमुक्षु को किसी भी प्रकार का निदान (सकल्प) नही करना चाहिये।

निदान कितने प्रकार के होते है ? उसकी कोई निश्चित सख्या इस दशा मे नही कही गई है। जिन निदानो का वर्णन किया है उनकी सख्या नव है और एक अनिदान अवस्था का वर्णन है।

समवायागसूत्र मे बताया गया है कि वासुदेव पद को प्राप्त करने वाले सभी पूर्वभव मे निदान करते हैं। सभी प्रतिवासुदेव पद वाले जीव भी पूर्वभव मे निदान करने वाले होते है। कोई-कोई चक्रवर्ती भी पूर्वभव मे निदान करने वाले होते हैं। अन्य भी कई जीव कोणिक आदि की तरह निदानकृत हो सकते हैं।

निदान भी मद या तीव्र परिणामो से विभिन्न प्रकार के होते हैं। तीव्र परिणामो से निदान करने वाले जीव निदानफल को प्राप्त करके नरकगति को प्राप्त करते है और मद परिणामो से निदान करने वाले फल की प्राप्ति के बाद धर्माचरण करके सद्गति प्राप्त कर सकते है किन्तु मुक्त नही हो सकते। धर्मप्राप्ति का निदान करने वाले भी उस निदान का फल प्राप्त कर लेते है किन्तु मुक्त नही हो सकते हैं।

निदानवर्णन के पूर्व इस दशा मे श्रेणिक और चेलना से सम्बन्धित घटित घटना का वर्णन किया गया है। इस वर्णन मे पूर्व दशाओ की उत्थानिकापद्धति से भिन्न प्रकार की उत्थानिका है, छोटी दशाए होने का निर्युक्तिकार का कथन होते हुए भी यह दशा विस्तृत वर्णन वाली है, अन्य छेदसूत्रो के विषयो से इस दशा का वर्णन भी भिन्न प्रकार का है। इसका कारण अज्ञात है, जो विद्वानो के लिए चिन्तनयोग्य है।

विस्तृत पाठ प्राय उववाईसूत्र से मिलता-जुलता है। अत सक्षिप्त पाठो का सकलन और "जाव" शब्द का प्रयोग अत्यधिक हुआ है। वे सक्षिप्त पाठ अनेक लिपिदोषो से युक्त हैं। जिससे सक्षिप्त पाठ अनावश्यक और अशुद्ध भी हो गये हैं। इस दशा के सक्षिप्त पाठो को यथामति सुधार कर व्यवस्थित करने की कोशिश की गई है।

प्रारम्भ के चार निदानो में कहा गया है कि सयमसाधना करते हुए भिक्षु या भिक्षुणी के चित्त मे यदा-कदा भोगाकाक्षा उत्पन्न हो जाती है और वे मानुषिक भोगो की प्राप्ति के लिये निदान (सकल्प) करते हैं। सयम तप के प्रभाव से सकल्प के अनुसार फल प्राप्त भी हो जाता है किन्तु उसका परिणाम यह होता है कि वह जीवन भर धर्मश्रवण के भी अयोग्य रहता है और काल करके नरक मे जाता है।

१. प्रथम निदान मे निर्ग्रन्थ का पुरुष होना कहा है।
२ दूसरे निदान मे निर्ग्रन्थी का स्त्री होना कहा है।
३. तीसरे निदान में निर्ग्रन्थ का स्त्री होना कहा है।
४. चौथे निदान मे निर्ग्रन्थी का पुरुष होना कहा है।

पांचवें, छट्ठे और सातवें निदान मे देव सम्बन्धी भोगो की प्राप्ति के लिये निदान करने का कथन है। सकल्पानुसार भिक्षु या भिक्षुणी को देवगति की प्राप्ति हो जाती है तथा उसके बाद प्राप्त होने वाले मनुष्यजीवन मे भी उसे भोग-ऋद्धि की प्राप्ति होती है।

५. पांचवे निदान वाला देवलोक मे स्वयं की देवियो के साथ, स्वय की विकुर्वित देवियो के साथ और दूसरो की देवियो के साथ दिव्यभोग भोगता है किन्तु उसके बाद वह मनुष्यभव पाकर भी धर्मश्रवण के अयोग्य होता है तथा काल करके नरक मे जाता है।

६ छट्ठे निदान वाला देवलोक मे स्वय की देवियो के साथ तथा स्वय की विकुर्वित देवियो के साथ दिव्यभोग भोगता है। बाद मे वह मनुष्य बनकर भी तापस-सन्यासी बनता है तथा काल करके असुरकुमारनिकाय मे किल्विषिक देवरूप मे उत्पन्न होकर बाद में वह तिर्यक्योनि मे भ्रमण करता है।

७ सातवे निदान वाला देवलोक मे केवल स्वय की देवियो के साथ दिव्यभोग भोगता है, किन्तु विकुर्वित देवियो के साथ भोग नही भोगता और बाद मे वह मनुष्य बनकर सम्यग्दृष्टि होता है, किन्तु निदान के कारण व्रत धारण नही कर सकता है।

आठवा और नवमा निदान श्रावक-अवस्था या साधु-अवस्था प्राप्त करने का कहा गया है।

८ आठवे निदान वाला देवलोक मे जाकर फिर मनुष्य होना है और बारहव्रतधारी श्रावक बनता है किन्तु निदान के कारण सयम ग्रहण नही कर सकता।

९ नवमें निदान वाला भी देवभव के पश्चात् इच्छित (तुच्छ) कुल मे मनुष्य बनता है। सयम स्वीकार करता है, किन्तु तप सयम की उग्र साधना नही कर सकता और निदान के प्रभाव से उस भव मे मुक्ति प्राप्त नही कर सकता है।

इस प्रकार नव निदानो के वर्णन के बाद अनिदान-अवस्था का वर्णन किया गया है। निदान-रहित साधना करने वाला सर्वसगातीत होकर उसी भव मे केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध बुद्ध मुक्त होता है।

इस प्रकार इस दशा मे निदान के कटु फल कहकर अनिदान सयमसाधना के लिए प्रेरणा दी गई है।

बृहत्कल्पसूत्र उ ६ मे भी कहा है—'निदान करने वाला स्वय के लिये मोक्ष के मार्ग का नाश करता है अतः भगवान् ने सर्वत्र निदान न करना ही प्रशस्त कहा है।' भगवदाज्ञा को जानकर मोक्ष-मार्ग की साधना करने वालो को कदापि निदान नही करना चाहिए।

इस दशा मे श्रेणिक राजा व चेलना रानी के निमित्त से निदान करने वाले श्रमण-श्रमणियो के मानुषिक भोगो के निदान का वर्णन प्रारम्भ किया गया, फिर क्रमश दिव्यभोग तथा श्रावक एव साधु-अवस्था के निदान का कथन किया गया है। इनके सिवाय अन्य भी कई प्रकार के निदान होते हैं, यथा—किसी को दु ख देने वाला बनूं, या इसका बदला लेने वाला बनूं, मारने वाला बनूं इत्यादि। उदाहरण के रूप मे श्रेणिक के लिये कोणिक का दु खदाई होना, वासुदेव का प्रतिवासुदेव को मारना, द्वीपायनऋषि का द्वारिका को विनष्ट करना, द्रौपदी के पाँच पति होना व संयमधारण भी करना, ब्रह्मदत्त का चक्रवर्ती होना और सम्यक्त्व की प्राप्ति भी होना इत्यादि।

निदान के विषय मे यह सहज प्रश्न उत्पन्न होता है कि किसी के सकल्प करने मात्र से उस ऋद्धि की प्राप्ति कैसे हो जाती है ?

समाधान यह है कि किसी के पास रत्न या सोने-चादी का भडार है, उसे रोटी-कपडे आदि सामान्य पदार्थों के लिये दे दिया जाए तो वे सहज ही प्राप्त हो सकते हैं। वैसे ही शाश्वत मोक्ष-सुख देने वाली तप-सयम की विशाल साधना के फल से मानुषिक या दैविक तुच्छ भोगो का प्राप्त होना कोई महत्त्व की बात नही है। इसे समझने के लिये एक दृष्टान्त भी दिया जाता है—

एक किसान के खेत के पास किसी धनिक राहगीर ने दाल-बाटी-चूरमा बनाया। किसान का मन चूरमा आदि खाने के लिए ललचाया, किसान के मागने पर भी धनिक ने कहा कि यह तेरा खेत बदले मे दे तो भोजन मिले। किसान ने स्वीकार किया। भोजन कर बडा आनदित हुआ।

जैसे खेत के बदले एक बार मनचाहा भोजन का मिलना कोई महत्त्व नही रखता, वैसे ही तप-सयम की मोक्षदायक साधना से एक दो भव के भोग मिलना महत्त्व नही रखता।

किन्तु जैसे खेत के बदले भोजन खा लेने के बाद दूसरे दिन से वर्ष भर तक किसान पश्चात्ताप से दु खी होता है, वैसे ही तप-सयम के फल से एक भव का सुख प्राप्त हो भी जाय किन्तु मोक्षदायक साधना खोकर नरकादि के दु खो का प्राप्त होना निदान का ही फल है।

जिस प्रकार खेत के बदले एक दिन का मिष्ठान्न भोजन प्राप्त करने वाला किसान मूर्ख गिना जाता है, वैसे ही मोक्षमार्ग की साधना का साधक निदान करे तो महामूर्ख ही कहलायेगा। अत भिक्षु को किसी प्रकार का निदान न करना और सयम-तप की निष्काम साधना करना ही श्रेयस्कर है।

□□

परिशिष्ट

इस प्रकाशन में जिन पाठो को अनुपयुक्त प्रविष्ट समझकर अलग कर दिया गया है उनको तथा लिपिदोष से जिन विकृत पाठो को विकृत बने समझकर सुधारा गया है, वे सब पाठ इस परि-शिष्ट मे दिए गए हैं।

१. सुयं मे आउस ! तेण भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासग-पडिमाओ पण्णत्ताओ।

२. कयरा खलु ताओ थेरेहिं भगवतेहिं एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ ?

३. इमाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवतेहिं एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—अकिरियावादी यावि भवति—नाहियवादी नाहियपण्णे नाहियदिट्ठी, नो सम्मावादी, नो नितियावादी नसति-परलोगवादी।

णत्थि इहलोए, णत्थि परलोए, णत्थि माता, णत्थि पिता, णत्थि अरहंता, णत्थि चक्क-वट्टी, णत्थि बलदेवा, णत्थि वासुदेवा, णत्थि सुक्कडदुक्कडाण फलवित्तिविसेसो।

णो सुच्चिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवति।

णो दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णफला भवति, अफले कल्लाणपावए, णो पच्चायंति जीवा, णत्थि णिरयादि ह्व णत्थि सिद्धी।

से एववादी एवपण्णे एवदिट्ठी एव छवरागमभिनिविट्ठे यावि भवति।

से य भवति महिच्छे महारंभे महापरिग्गहे अहम्मिए अहम्माणुए अहम्मसेवी अहम्मिट्ठे अधम्मक्खाई अधम्मरागी अधम्मपलोई अधम्मजीवी अधम्मपलज्जणे अधम्मसीलसमुदाचारे अधम्मेणं चेव विर्त्ति कप्पेमाणे विहरइ।

"हण, छिंद, भिंद" वेकत्तए लोहियपाणी पावो चंडो रुद्दो खुद्दो साहस्सिओ उक्कचण-वचण-माया-निअडी-कवड-कूड-साति-सपयोगबहुले दुस्सीले दुपरिचए दुरणुणेए दुव्वए दुप्पडियानंदे निस्सीले निग्गुणे निम्मेरे निपच्चक्खाणपोसहोववासे असाहू।

सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरए जावज्जीवाए।

एवं जाव सव्वाओ कोहाओ, सव्वाओ माणाओ, सव्वाओ मायाओ, सव्वाओ लोभाओ, पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुण्णपरपरिवादाओ अरतिरतिमायामोसाओ मिच्छा-दंसणसल्लाओ अपडिविरए जावज्जीवाए।

सव्वाओ ण्हाणुम्मद्दणा-अब्भंगण-वण्णगविलेवण-सद्द-फरिस-रस-रूव-गंध-मल्लालकाराओअपडि-विरए जावज्जीवाए।

सव्वाओ सगड-रह-जाण-जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि-सीया-संदमाणिय-सयणासणजाण-वाहण-भोयण-पवित्थरविधीओ अपडिविरए जावज्जीवाए।

सव्वाओ आस-हत्थि-गो-महिस-गवेलय-दासी-दास-कम्मकरपोरुसाओ अपडिविरए जावज्जीवाए।

सव्वाओ कय-विक्कय-मासद्धमास-रूवगसंववहाराओ अपडिविरए जावज्जीवाए, हिरण्ण-

सुवण्ण-धन-धन्न-मणि-मोत्तिय-संख-सिलप्पवालाओ अपडिविरए जावज्जीवाए ।

सव्वाओ कूडतूल-कूडमाणाओ अपडिविरए जावज्जीवाए ।

सव्वाओ आरम्भ-समारंभाओ अपडिविरए जावज्जीवाए ।

सव्वाओ करण-कारावणाओ अपडिविरए जावज्जीवाए ।

सव्वाओ पयण-पयावणाओ अपडिविरए जावज्जीवाए ।

सव्वाओ कुट्टण-पिट्टण-तज्जण-तालण-वह-बध-परिकिलेसाओ अपडिविरए जावज्जीवाए ।

जे यावण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोधिआ कम्मंता परपाणपरिता वणकडा कज्जति (ततो वि अ णं अपडिविरए जावज्जीवाए ।

से जहानामए केइ पुरिसे कल-मसूर-तिल-मुग्ग-मास-निप्फाव-कुलत्थ-आलिसं-दगसईणा-पलिमथ एमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादडं पउजइ ।

एवामेव तहप्पगारे पुरिसज्जाते तित्तिर-वट्टा-लावय-कपोत-कपिजल-मिय-महिस-वराह-गाह-गोध-कुम्म-सिरीसवादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउजइ ।

जावि य से बाहिरिया परिसा भवति, त जहा—दासेति वा, पेसेति वा भतएति वा भाइल्लेति वा कम्मारएति वा भोगपुरिसेति वा ।

तेसिंपि य णं अण्णयरगंसि अहालघुयसि अवराधसि सयमेव गरुय दड वत्तेति, त जहा -इम दडेह, इमं मु डेह, इम बज्झेह, इम तालेह, इम अदुबधण करेह, इमं नियलबधण करेह, इम हडिबधण करेह, इम चारगबधण करेह, इम नियलजुयलसकोडियमोडित करेह, इम हत्थच्छिन्न करेह, इम पायच्छिन्न करेह, इम कण्णच्छिन्न करेह, इम नक्कच्छिन्न करेह, इम ओट्ठच्छिन्न करेह, इमं सोसच्छिन्न करेह, इम मुखच्छिन्न करेह, इम मज्झच्छिन्न करेह, इम वेयच्छिन्न करेह, इम हियउप्पाडिय करेह, एव नयण-दसण-वसण-जिब्भुप्पाडिय करेह ।

इम ओलबित करेह, इम उल्लबितं करेह, इम घसियय करेह, इम घोलितय करेह, इम सूलाइतयं करेह, इम सूलाभिन्नं करेह, इम खारवत्तिय करेह, इम दब्भवत्तिय करेह, इम सीहपुच्छितय करेह, इम वसभपुच्छितयं करेह, इम कडग्गिदड्ढय करेह, इम काकिणिमसखावितत करेह, इमं भत्तपाणनिरुद्धय करेह, इमं जावज्जीवबधणं करेह, इमं अण्णतरेण असुभेण कु-मारेणं मारेह ।

जावि य से अब्भितरिया परिसा भवति, त जहा—मातति वा, पितति वा, भायाति वा भगिणिति वा, भज्जाति वा, धूयाति वा, सुण्हाति वा, तेसिं पि य णं अण्णयरसि अहालहुसगंसि अवराहसि सयमेव गरुय डंड वत्तेति, त जहा—सीतोदगसि काय ओबोलित्ता भवति ।

उसिणोदगवियडेण काय ओसिंचित्ता भवति, अगणिकाएण काय ओडहित्ता भवति, जोत्तेण वा, वेत्तेण वा, नेत्तेण वा, कसेण वा, छिवाए वा, लताए वा, पासाइ उद्दालित्ता भवति, डडेण वा, अट्ठीण वा, मुट्ठीण वा, लेलूण वा, कवालेण वा, काय ओओडेत्ता भवति ।

तहप्पगारे पुरिसज्जाते सवसमाणे दुमणा भवति ।

तहप्पगारे पुरिसज्जाते विप्पवसमाणे सुमणा भवंति ।

तहप्पगारे पुरिसज्जाते दंडमासी दंडगरुए दंडपुरक्खडे अहिते अंसि लोयंसि अहिते परंसि लोयसि।

से दुक्खेति से सोयति एवं जूरेति तिप्पेति पिट्टेति परितप्पति।

से दुक्खण-सोयण-जूरण-तिप्पण-पिट्टण-परितप्पण-वह-बंध-परिकिलेसाओ अप्पडिविरते भवति।

४. एवामेव से इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिते गिद्धे गढिते अज्झोववन्ने जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाणि वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्ता भोगभोगाइं पसवित्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता 'बहूइं कूराइं' कम्माइं ओसन्नं संभारकडेण कम्मुणा—

से जहानामए अयगोलेति वा, सेलगोलेति वा, उदयंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमतिवतित्ता अहे धरणितलपतिट्ठाणे भवति।

एवामेव तहप्पगारे पुरिसज्जाते वज्जबहुले, धुतबहुले पंकबहुले, वेरबहुले, दंभ-नियडि-साइबहुले, अयसबहुले, अप्पत्तियबहुले, उस्सण्णं तसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा धरणितलमतिवतित्ता अहे णरगतलपतिट्ठाणे भवति।

५. ते णं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया निच्चंधकारतमसा ववगय-गह-चंद-सूर-नक्खत्त-जोइसपहा।

मेद-वसा-मंस-रुहिर-पूयपडल-चिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काउ अगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा नरगा। असुभा नरयस्स वेदणाओ।

नो चेव ण नरएसु नेरइया निद्दायंति वा पयलायंति वा सुतिं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलभति। ते णं तत्थ उज्जल विउलं पगाढं कक्कस कडुयं चंडं रुक्खं दुग्ग तिव्वं दुरहियासं नरएसु नेरइया निरयवेयण पच्चणुभवमाणा विहरति।

६. से जहानामए रुक्खे सिया पव्वतग्गे जाते मूलच्छिन्ने अग्गे गुरुए जतो निन्न, जतो दुग्गं, जतो विसम, ततो पवडति।

एवामेव तहप्पगारे पुरिसज्जाते गब्भातो गब्भ जम्मातो जम्मं मारातो मारं दुक्खातो दुक्खं दाहिणगामिए नेरइए किण्हपक्खिते आगमेस्साणं दुल्लभबोधिते यावि भवति।

७. किरियावादी यावि भवति, तं जहा—आहियवादी आहियपण्णे आहियदिट्ठी सम्मावादी नीयावादी संति परलोगवादी अत्थि इहलोगे, अत्थि परलोगे, अत्थि माता, अत्थि पिता, अत्थि अरहंता, अत्थि चक्कवट्टी, अत्थि बलदेवा, अत्थि वासुदेवा, अत्थि सुकडदुक्कडाणं फलवित्तिविसेसे।

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति।

दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णफला भवंति, सफले कल्लाणपावए, पच्चायंति जीवा, अत्थि निरयावि हु अत्थि सिद्धी।

से एववादी एवंपण्णे एवंदिट्ठीच्छंदरागमभिनिविट्ठे आवि भवति।

से य भवति महिच्छे जाव उत्तरगामिए नेरइए सुक्कपक्खिते आगमेस्साण सुलभबोधिते यावि भवति।

८. सव्वधम्मरुई यावि भवति। तस्स ण बहूइं सील-व्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहो-ववासाइं नो सम्मं पट्ठविताइ भवति।

एवं दंसणसावगोत्ति पढमा उवासगपडिमा। —दसा द. ६, सू. १-८ नवसुत्ताणि

१२. अहावरा पचमा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवति। तस्स ण बहूइ सील-व्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं सम्म पट्ठविताइं भवति।

से णं सामाइय देसावगासिय सम्मं अणुपालित्ता भवति।

से ण चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहोववास सम्म अणुपालित्ता भवति।

से ण एगराइय उवासगपडिम सम्मं अणुपालेत्ता भवति।

से णं असिणाणए वियडभोई मउलिकडे दियाबभचारी रत्ति परिमाणकडे।

से णं एतारूवेण विहारेण विहरमाणे जहण्णेण एगाह वा दुयाह वा तियाह वा, उक्कोसेण पचमासे विहरेज्जा। पचमा उवासगपडिमा।

१३. अहावरा छट्ठा उवासगपडिमा—सव्वधम्मरुई यावि भवति। तस्स ण बहूइ सील-व्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइ सम्मं पट्ठविताइ भवति।

से ण सामाइय देसावगासिय सम्म अणुपालित्ता भवति।

से णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्ण पोसहोववास सम्म अणुपालित्ता भवति।

से ण एगराइय उवासगपडिम सम्मं अणुपालेत्ता भवति।

से ण असिणाणए वियडभोई मउलिकडे रातोवरात बंभचारी।

सचित्तहारे से अपरिण्णाते भवति।

से ण एतारूवेण विहारेण विहरमाणे जहण्णेण एगाह वा दुयाह वा तिहाह वा, उक्कोसेण छम्मासे विहरेज्जा छट्ठा उवासगपडिमा। —दसा. द ६, सू १२-१३

तेण कालेण तेण समएण समण भगव महावीरे पच हत्थुत्तरे होत्था, तं जहा—

१. हत्थुत्तराहिं चुए, चइत्ता गब्भ वक्कते। २. हत्थुत्तराहिं गब्भातो गब्भ साहरिते।

३. हत्थुत्तराहिं जाते। ४. हत्थुत्तराहिं मुडे भवित्ता आगारातो अणगारित पव्वइए।

५. हत्थुत्तराहिं अणते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदसणे समुप्पन्ने। सातिणा परिनिव्वुए भयव जाव भुज्जो-भुज्जो उवदंसेइ। —त्ति बेमि॥

—दसा द ८, सू १

तेणं कालेणं तेणं समएण समणे भगव महावीरे रायगिहे नगरे गुणसिलए चेइए बहूणं समणाणं बहूणं समणीण बहूण सावगाणं बहूण सावियाण बहूण देवाण बहूणं देवीणं सदेवमणुयासुराए परिसाए मज्झगते एव आइक्खइ एव भासति एवं पण्णवेइ एवं परूवेइ आयातिट्ठाणे णामं अज्जो! अज्झयणे, सअट्ठ सहेउयं सकारण सुत्त च अत्थं च तदुभय च भुज्जो-भुज्जो उवदसेति। —त्ति बेमि॥

—दसा द १०, सू. ३५

इनके अतिरिक्त अनेक सक्षिप्त, विस्तृत, सशोधित एव परिवर्धित पाठों की सूची नही दी है। आशा है सुज्ञ पाठक स्वय समझ लेगे।

□□

सारांश

इस सूत्र के नाम आगम मे दो प्रकार से है—१ दसा, २ आचारदशा, किन्तु इसी के आधार से इसका पूरा नाम दशाश्रुतस्कन्ध कहा जाता है। यह पूरा नाम प्राचीन व्याख्या ग्रन्थो आदि मे उपलब्ध नही है अत यह अर्वाचीन प्रतीत होता है। इस सूत्र के दस अध्ययन हैं, जिनको पहली दशा यावत् दसवी दशा कहा जाता है।

पहली दशा मे २० असमाधिस्थान है। दूसरी दशा मे २१ सबलदोष हैं। तीसरी दशा मे ३३ आशातना हैं। चौथी दशा मे आचार्य की आठ सम्पदा हैं और चार कर्तव्य कहे गए है तथा चार कर्तव्य शिष्य के कहे गए है। पाचवी दशा मे चित्त की समाधि होने के १० बोल कहे है। छट्ठी दशा मे श्रावक की ११ प्रतिमाए है। सातवी दशा मे भिक्षु की १२ पडिमाए हैं। आठवी दशा का सही स्वरूप व्यवच्छिन्न हो गया या विकृत हो गया है। इसमे साधुओ की समाचारी का वर्णन था। नौवी दशा मे ३० महामोहनीय कर्मबन्ध के कारण है। दसवी दशा मे ९ नियाणो का निषेध एव वर्णन है तथा उनसे होने वाले अहित का कथन है।

प्रथम दशा का साराश

साध्वाचार (सयम) के सामान्य दोषो को या अतिचारो को यहा असमाधिस्थान कहा है। जिस प्रकार शरीर की समाधि मे बाधक सामान्य पीडाए भी होती है और विशेष बडे-बडे रोग भी होते हैं यथा- १ सामान्य चोट लगना, काटा गडना, फोडा होना, हाथ पाव अगुली आदि अवयव दुखना, दात दुखना और इनका अल्प समय मे ठीक हो जाना, २ अत्यन्त व्याकुल एव अशक्त कर देने वाले बडे-बडे रोग होना।

उसी प्रकार सामान्य दोष अर्थात् सयम के अतिचारो (अविधियो) को इस दशा मे असमाधि-स्थान कहा गया है। इनके सेवन से सयम निरतिचार नही रहता है और उसकी शुद्ध आराधना भी नही होती है।

बीस असमाधिस्थान

१ उतावल से (जल्दी जल्दी) चलना, २ अधकार मे चलते वक्त प्रमार्जन न करना,
३ सही तरीके से प्रमार्जन न करना, ४ अनावश्यक पाट आदि लाना या रखना,
५ बडो के सामने बोलना, ६ वृद्धो को असमाधि पहुचाना,
७ पाच स्थावर कायो की बराबर यतना नही करना अर्थात् उनकी विराधना करना करवाना,
८ क्रोध से जलना अर्थात् मन में क्रोध रखना,
९ क्रोध करना अर्थात् वचन या व्यवहार द्वारा क्रोध को प्रकट करना,
१० पीठ पीछे निन्दा करना,

११ कषाय या अविवेक से निश्चयकारी भाषा बोलना, १२. नया कलह करना,
१३ पुराने शान्त कलह को पुन उभारना,
१४. अकाल (चोतीस प्रकार के अस्वाध्यायो) मे सूत्रोच्चारण करना,
१५ सचित्त रज या अचित्त रज से युक्त हाथ पाव का प्रमार्जन नही करना अर्थात् प्रमार्जन किए बिना बैठ जाना या अन्य कार्य मे लग जाना,
१६ अनावश्यक बोलना, वाक्युद्ध करना एव जोर-जोर से आवेश युक्त बोलना,
१७ सघ मे या सगठन मे अथवा प्रेम सम्बन्ध मे भेद उत्पन्न हो ऐसा भाषण करना,
१८ कलह करना, झगडना, तुच्छता पूर्ण व्यवहार करना,
१९ मर्यादित समय के अतिरिक्त दिन भर कुछ न कुछ खाते ही रहना,
२० अनेषणीय आहार-पानी आदि ग्रहण करना अर्थात् एषणा के छोटे दोषो की उपेक्षा करना।

दूसरी दशा का सारांश

सबल, प्रबल, ठोस, भारी, वजनदार, विशेष बलवान आदि लगभग एकार्थक शब्द है।

सयम के सबल दोषो का अर्थ है कि सामान्य दोषो की अपेक्षा बडे दोष या विशेष दोष। इस दशा मे ऐसे बडे दोषो को "शबल दोष" कहा गया है। ये दोष सयम के अनाचार रूप होते है। इनका प्रायश्चित्त भी गुरुतर होता है तथा ये सयम मे विशेष असमाधि उत्पन्न करने वाले है। प्रकारान्तर से कहे तो ये शबल दोष सयम मे बडे अपराध है और असमाधिस्थान सयम मे छोटे अपराध हैं।

इक्कीस सबल दोष

१ हस्तकर्म करना, २ मैथुन सेवन करना, ३ रात्रिभोजन करना, ४ साधु के अर्थात् अपने निमित्त बने आधाकर्मी आहारपानी आदि को लेना, ५. राजा के घर गोचरी जाना, ६ सामान्य साधु-साध्वियो के निमित्त बने उद्देशक आहार आदि लेना या साधु के लिए खरीदना आदि क्रिया की हो ऐसे आहारादि पदार्थ लेना, ७ बारम्बार तप त्याग आदि का भग करना, ८ बारम्बार गण का त्याग करना और स्वीकार करना, ९, १९ घुटने (जानु) जल मे डूबे इतने पानी मे एक मास मे तीन बार या वर्ष मे १० बार चलना। अर्थात् आठ महीने के आठ और एक अधिक कुल ९ बार उतरने पर सबल दोष नही है। १०, २० एक मास मे तीन बार और वर्ष मे १० बार (उपाश्रय के लिए) माया कपट करना। अर्थात् उपाश्रय दुर्लभ होने पर ९ बार वर्ष मे माया करना पडे वह सबल दोष नही है। ११ शय्यातर पिंड ग्रहण करना, १२-१४ जानकर सकल्प पूर्वक हिंसा करना, झूठ बोलना, अदत्तग्रहण करना। १५-१७ त्रस स्थावर जीव युक्त अथवा सचित्त स्थान पर या उसके अत्यधिक निकट बैठना, सोना, खडे रहना। १८ जानकर सचित्त हरी वनस्पति (१ मूल, २ कद, ३ स्कन्ध, ४ छाल, ५ कोपल, ६ पत्र, ७ पुष्प, ८. फल, ९ बीज और १० हरी वनस्पति) खाना। २१ जानकर सचित्त जल के लेप युक्त हाथ या बर्तन से गोचरी लेना।

यद्यपि अतिचार-अनाचार अन्य अनेक हो सकते है, फिर भी यहा अपेक्षा से २० असमाधिस्थान और २१ सबल दोष कहे गए हैं। अन्य दोषो को यथा योग्य विवेक से इन्ही मे अतर्भावित कर लेना चाहिए।

तीसरी दशा का सारांश : तेतीस आशातना

सयम के मूलगुण एव उत्तरगुण के दोषो के अतिरिक्त अविवेक और अभक्ति के सयोग से गुरु रत्नाधिक आदि के साथ की जाने वाली प्रवृत्ति को आशातना कहते है। इससे सयम दूषित होता है एव गुणो का नाश होता है। क्योकि विनय और विवेक के सद्भाव मे ही गुणो की वृद्धि होती है और पापकर्म का बन्ध नही होता है। दशवैकालिकसूत्र मे कहा भी है—

एवं धम्मस्स विणओ मूल परमो से मोक्खो।
जेण किर्त्ति सुय सिग्घ निस्सेस चाभिगच्छई॥

—दश अ ९, उ. २, गा २

जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सए।
जय भुजतो भासतो पावकम्मं न बधइ॥

—दश अ ४, गा ८

बडो का विनय नही करना एव अविनय करना ये दोनो ही आशातना हैं। आशातना देव गुरु की एव ससार के किसी भी प्राणी की हो सकती है।

धर्म सिद्धान्तो की भी आशातना हो सकती है। अत आशातना की विस्तृत परिभाषा इस प्रकार है—देव गुरु की विनय भक्ति न करना, अविनय अभक्ति करना, उनकी आज्ञा भग करना या निन्दा करना, धर्म सिद्धान्तो की अवहेलना करना या विपरीत प्ररूपणा करना और किसी भी प्राणी के प्रति अप्रिय व्यवहार करना, उसकी निन्दा तिरस्कार करना "आशातना" है। लौकिक भाषा मे इसे असभ्य व्यवहार कहा जाता है। इन सभी अपेक्षाओ से आवश्यकसूत्र मे ३३ आशातनाए कही है। प्रस्तुत दशा मे केवल गुरु रत्नाधिक (बडे) की आशातना के विषयो का ही कथन किया गया है।

बडो के साथ चलने बैठने खडे रहने मे, आहार, विहार, निहार सम्बन्धी समाचारी के कर्तव्यो मे, बोलने मे, शिष्टाचार मे, भावो मे, आज्ञापालन मे अविवेक अभक्ति से प्रवर्तन करना "आशातना" है।

तात्पर्य यह है कि बडो के साथ प्रत्येक प्रवृत्ति मे सभ्यता शिष्टता दिखे और जिस व्यवहार प्रवर्तन से बडो का चित्त प्रसन्न रहे, उस तरह रहते हुए ही प्रत्येक प्रवृत्ति करनी चाहिए।

चौथी दशा का सारांश · आठ सम्पदा

साधु साध्वियो के समुदाय की समुचित व्यवस्था के लिए आचार्य का होना नितान्त आवश्यक होता है। व्यवहारसूत्र उद्देशक तीन मे नवदीक्षित (तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय तक), बालक (१६ वर्ष की उम्र तक), तरुण (४० वर्ष की वय तक के) साधु-साध्वियो को आचार्य एव उपाध्याय की निश्रा के बिना रहने का स्पष्ट निषेध है। साथ ही शीघ्र ही अपने आचार्य उपाध्याय के निश्चय करने का ध्रुव विधान है। साध्वी के लिए "प्रवर्तिनी" की निश्रा सहित तीन पदवीधरो की निश्रा होना आवश्यक कहा है। ये पदवीधर शिष्य-शिष्याओ के व्यवस्थापक एव अनुशासक होते है, अतः इनमे विशिष्ट गुणो की योग्यता होना आवश्यक है। व्यवहारसूत्र के तीसरे उद्देशक मे इनकी आवश्यक एव जघन्य योग्यता के गुण कहे गए है।

प्रस्तुत दशा मे आचार्य के आठ मुख्य गुण कहे है, यथा—

१ आचारसम्पन्न—	सम्पूर्ण सयम सम्बन्धी जिनाज्ञा का पालन करने वाला, क्रोध मानादि कषायो से रहित, शान्त स्वभाव वाला।
२. श्रुतसम्पन्न—	आगमोक्त क्रम से शास्त्रो को कठस्थ करने वाला एव उनके अर्थ परमार्थ को धारण करने वाला।
३. शरीरसम्पन्न—	समुचित सहनन सस्थान वाला एव सशक्त और स्वस्थ शरीर वाला।
४. वचनसम्पन्न—	आदेय वचन वाला, मधुर वचन वाला, राग-द्वेष रहित एव भाषा सम्बन्धी दोषो से रहित वचन बोलने वाला।
५ वाचनासम्पन्न—	सूत्रो के पाठो का उच्चारण करने कराने मे, अर्थ परमार्थ को समझाने मे तथा शिष्य की क्षमता योग्यता का निर्णय करके शास्त्र ज्ञान देने में निपुण। योग्य शिष्यो को राग द्वेष या कषाय रहित होकर अध्ययन कराने के स्वभाव वाला।
६ मतिसम्पन्न—	स्मरणशक्ति एव चारो प्रकार की बुद्धि से युक्त बुद्धिमान हो अर्थात् भोला भद्रिक न हो।
७ प्रयोगमतिसम्पन्न—	वाद-विवाद (शास्त्रार्थ) मे, प्रश्नो (जिज्ञासाओ) के समाधान करने मे परिषद् का विचार कर योग्य विषय का विश्लेषण करने मे एव सेवा-व्यवस्था मे समय पर उचित बुद्धि की स्फुरणा हो, समय पर सही (लाभदायक) निर्णय एव प्रवर्तन कर सके।
८ सग्रहपरिज्ञासम्पदा—	साधु-साध्वी की व्यवस्था एव सेवा के द्वारा एव श्रावक-श्राविकाओ की विचरण तथा धर्म प्रभावना के द्वारा भक्ति निष्ठा ज्ञान विवेक की वृद्धि करने वाला। जिससे कि सयम के अनुकूल विचरण क्षेत्र, आवश्यक उपधि, आहार की प्रचुर उपलब्धि होती रहे एव सभी निराबाध सयम आराधना करते रहे।

शिष्यो के प्रति आचार्य के कर्तव्य

१ सयम सम्बन्धी और त्याग-तप सम्बन्धी समाचारी का ज्ञान कराना एव उसके पालन मे अभ्यस्त करना। समूह मे रहने की या अकेले रहने की विधियो एव आत्मसमाधि के तरीको का ज्ञान एव अभ्यास कराना।

२ आगमो का क्रम से अध्ययन करवाना, अर्थ ज्ञान करवाकर उससे किस तरह हिताहित होता है, यह समझाना एव उससे पूर्ण आत्मकल्याण साधने का बोध देते हुए परिपूर्ण वाचना देना।

३ शिष्यो की श्रद्धा को पूर्ण रूप से दृढ बनाना और ज्ञान मे एव अन्य गुणो मे अपने समान बनाने का प्रयत्न करना।

४ शिष्यो मे उत्पन्न दोष, कषाय, कलह, आकाक्षाओ का उचित उपायो द्वारा शमन करना। ऐसा करते हुए भी अपने सयम गुणो की एव आत्मसमाधि की पूर्णरूपेण सुरक्षा एव वृद्धि करना।

गण एवं आचार्य के प्रति शिष्यों का कर्तव्य

१ आवश्यक उपकरणों की प्राप्ति, सुरक्षा एवं विभाजन मे चतुर होना ।
२ आचार्य गुरुजनों के अनुकूल ही सदा प्रवर्तन करना ।
३ गण के यश की वृद्धि, अपयश का निवारण एव रत्नाधिक को यथायोग्य आदरभाव देना और सेवा करने मे सिद्धहस्त होना ।
४ शिष्यवृद्धि, उनके सरक्षण, शिक्षण मे सहयोगी होना । रोगी साधुओ की यथायोग्य सार-सम्भाल करना एव मध्यस्थ भाव से साधुओ की शान्ति बनाए रखने मे निपुण होना ।

पांचवी दशा का सारांश : चित्तसमाधि के दस बोल

सासारिक आत्मा को धन-वैभव भौतिक सामग्री की प्राप्ति होने पर आनन्द का अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्मगुणो की अनुपम उपलब्धि मे आत्मार्थी मुमुक्षुओ को अनुपम आनन्दरूप चित्त-समाधि की प्राप्ति होती है—

१ अनुपम धर्मभावो की प्राप्ति या वृद्धि होने पर,
२ जातिस्मरणज्ञान होने पर,
३ अत्यन्त शुभ स्वप्न देखने पर, ४ देवदर्शन होने पर, ५ अवधिज्ञान,
६ अवधिदर्शन, ७ मन पर्यवज्ञान, ८ केवलज्ञान
९ केवलदर्शन उत्पन्न होने पर, १० कर्मों से मुक्त हो जाने पर ।

छट्ठी दशा का सारांश : श्रावकप्रतिमा

श्रावक का प्रथम मनोरथ आरम्भ परिग्रह की निवृत्तिमय साधना करने का है । उस निवृत्ति-साधना के समय वह विशिष्ट साधना के लिए श्रावक की प्रतिमाओ को अर्थात् विशिष्ट प्रतिज्ञाओ को धारण कर सकता है । अनिवृत्त साधना के समय भी श्रावक समकित की प्रतिज्ञा सहित सामायिक पौषध आदि बारह व्रतो का आराधन करता है किन्तु उस समय वह अनेक परिस्थितियो एव जिम्मेदारियो के कारण अनेको आगार के साथ उन व्रतो को धारण करता है किन्तु निवृत्तिमय अवस्था मे आगारो से रहित उपासक प्रतिमाओ का पालन दृढता के साथ कर सकता है ।

११ प्रतिमाएं

१ आगाररहित निरतिचार सम्यक्त्व की प्रतिमा का पालन । इसमे पूर्व के धारण किए अनेक नियम एव बारह व्रतो का पूर्व प्रतिज्ञा एव आगार अनुसार पालन किया जाता है, उन नियमो को छोडा नही जाता ।

२ अनेक छोटे बडे नियम प्रत्याख्यान अतिचाररहित और आगाररहित पालन करने की प्रतिज्ञा करना और यथावत पालन करना ।

३· प्रात., मध्याह्न, साय नियत समय पर ही निरतिचार शुद्ध सामायिक करना एव १४ नियम भी नियमित पूर्ण शुद्ध रूप से आगाररहित धारण करके यथावत पालन करना ।

४. उपवास युक्त छ पौषध (दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, अमावस, पूर्णिमा के दिन) आगार रहित निरतिचार पालन करना ।
५ पौषध के दिन पूर्ण रात्रि या नियत समय तक कायोत्सर्ग करना ।
६ प्रतिपूर्ण ब्रह्मचर्य का आगार रहितपालन करना । साथ ही ये नियम रखना—
 १ स्नानत्याग, २ रात्रिभोजनत्याग, ३ धोती की एक लाग खुली रखना ।
७. आगाररहित सचित्त वस्तु खाने का त्याग ।
८. आगाररहित स्वय हिसा करने का त्याग करना ।
९ दूसरो से सावद्य कार्य कराने का त्याग अर्थात् धर्मकार्य की प्रेरणा कर सकता है, उसके अतिरिक्त किसी कार्य की प्रेरणा या आदेश नही कर सकता है ।
१०. सावद्य कार्य के अनुमोदन का भी त्याग करना अर्थात् अपने लिए बनाए गए आहारादि किसी भी पदार्थ को न लेना ।
११. श्रमण के समान वेष एव चर्या धारण करना ।

लोच करना, विहार करना, सामुदायिक गोचरी करना या आजीवन सयमचर्या धारण करना इत्यादि का इसमे प्रतिबध नही है । अत वह भिक्षा आदि के समय स्वय को प्रतिमाधारी श्रावक ही कहता है और ज्ञातिजनो के घरो मे गोचरी जाता है । आगे-आगे की प्रतिमाओ मे पहले-पहले की प्रतिमाओ का पालन करना आवश्यक होता है ।

सातवीं दशा का सारांश : बारह भिक्षुप्रतिमा

भिक्षु का दूसरा मनोरथ है कि "मै एकलविहारप्रतिमा धारण करके विचरण करू ।" भिक्षुप्रतिमा भी आठ मास की एकलविहारप्रतिमा युक्त होती है । विशिष्ट साधना के लिए एव कर्मों की अत्यधिक निर्जरा के लिए आवश्यक योग्यता से सम्पन्न गीतार्थ (बहुश्रुत) भिक्षु इन बारह प्रतिमाओ को धारण करता है । इनके धारण करने के लिए प्रारम्भ के तीन सहनन, ९ पूर्वो का ज्ञान, २० वर्ष की दीक्षापर्याय एव २९ वर्ष की उम्र होना आवश्यक है । अनेक प्रकार की साधनाओ के एव परीक्षाओ के बाद ही भिक्षुप्रतिमा धारण करने की आज्ञा मिलती है ।

प्रतिमाधारी के विशिष्ट नियम

१. दाता का एक पैर देहली के अन्दर और एक पैर बाहर हो । स्त्री गर्भवती आदि न हो, एक व्यक्ति का ही भोजन हो, उसमे से ही विवेक के साथ लेना ।
२ दिन के तीन भाग कल्पित कर किसी एक भाग मे से गोचरी लाना, खाना ।
३ छ प्रकार की भ्रमण विधि के अभिग्रह से गोचरी लेने जाना ।
४ अज्ञात क्षेत्र मे दो दिन और ज्ञात—परिचित क्षेत्रो मे एक दिन से अधिक नही ठहरना ।
५ चार कारणो के अतिरिक्त मौन ही रहना । धर्मोपदेश भी नही देना ।
६-७ तीन प्रकार की शय्या और तीन प्रकार के सस्तारक का ही उपयोग करना ।
८-९ साधु के ठहरने के बाद उस स्थान पर कोई स्त्री-पुरुष आवे, ठहरें या अग्नि लग जावे तो भी बाहर नही निकलना ।
१०-११ पाव से काटा या आख मे से रज आदि नही निकालना ।

१२ सूर्यास्त के बाद एक कदम भी नही चलना। रात्रि में मल-मूत्र की बाधा होने पर जा-आ सकता है।

१३ हाथ पाव के सचित्त रज लग जाए तो प्रमार्जन नही करना और स्वतः अचित्त न हो जाए तब तक गोचरी आदि भी नही जाना।

१४ अचित्त जल से भी सुखशान्ति के लिए हाथ पाव नही धोना।

१५ उन्मत्त पशु भी चलते समय सामने आ जाए तो मार्ग नही छोडना।

१६ धूप से छाया मे और छाया से धूप मे नही जाना।

ये नियम सभी प्रतिमाओ मे यथायोग्य समझ लेना।

प्रथम सात प्रतिमाएँ एक-एक महिने की है। उनमे दत्ति की सख्या १ से ७ तक वृद्धि होती है। आठवी नवमी दसवी प्रतिमाएँ सात-सात दिन की एकान्तर तप युक्त की जाती हैं। सूत्रोक्त तीन-तीन आसन मे से रात्रि भर कोई भी एक आसन किया जाता है।

ग्यारहवी प्रतिमा मे छट्ठ के तप के साथ एक अहोरात्र का कायोत्सर्ग किया जाता है।

बारहवी भिक्षुप्रतिमा मे अट्ठमतप के साथ श्मशान आदि मे एक रात्रि का कायोत्सर्ग किया जाता है।

आठवीं दशा

इस दशा का नाम पर्यूषणाकल्प है। विक्रम की तेरहवी चौदहवी शताब्दि मे अर्थात् वीर निर्वाण की अठारहवी उन्नीसवी शताब्दी मे इस दशा के अवलम्बन से कल्पसूत्र की रचना करके उसे प्रामाणिक प्रसिद्ध करके प्रचारित किया गया है। अन्य किसी विस्तृत सूत्र के पाठो के साथ इस दशा को जोडकर और स्वच्छदतापूर्वक अनगिनत परिवर्तन करके इस दशा को पूर्ण विकृत करके व्यवछिन्न कर दिया गया है। अत यह दशा अनुपलब्ध व्यवछिन्न समझनी चाहिए। इसमे भिक्षुओ के चातुर्मास एव पर्यूषणा सम्बन्धी समाचारी के विषयो का कथन था।

नवमी दशा का सारांश

आठ कर्मों मे मोहनीयकर्म प्रबल है, महामोहनीय कर्म उससे भी तीव्र होता है। उसके बध सम्बन्धी ३० कारण यहा कहे गए है।

तीस महामोह के स्थान

१-३ त्रस जीवो को जल मे डुबाकर, श्वास रूधकर, धुआ करके, मारना,

४-५. शस्त्रप्रहार से शिर फोडकर. सिर पर गीला चमडा बाधकर मारना,

६ धोखा देकर भाला आदि से मारकर हसना,

७ मायाचार करके उसे छिपाना या शास्त्रार्थ छिपाना, ८ मिथ्या आक्षेप लगाना,

९. भरी सभा मे मिश्र भाषा का प्रयोग करके कलह करना,

१०. विश्वस्त मत्री द्वारा राजा को राज्यभ्रष्ट कर देना,

११-१२ अपने को ब्रह्मचारी या बालब्रह्मचारी न होते हुए भी प्रसिद्ध करना,

१३-१४ उपकारी पर अपकार करना, १५. रक्षक होकर भक्षक का कार्य करना,

१६-१७. अनेकों के रक्षक नेता या स्वामी आदि को मारना,

१८ दीक्षार्थी या दीक्षित को संयम से च्युत करना, १९ तीर्थंकरो की निन्दा करना,

२०. मोक्षमार्ग की द्वेषपूर्वक निन्दा करके भव्य जीवो को मार्ग भ्रष्ट करना,

२१-२२. उपकारी आचार्य, उपाध्याय की अवहेलना करना, उनका आदर, सेवा, भक्ति न करना।

२३-२४ बहुश्रुत या तपस्वी न होते हुए भी बहुश्रुत या तपस्वी कहना,

२५. कलुषित भावो के कारण समर्थ होते हुए भी सेवा नही करना,

२६ सघ मे भेद उत्पन्न करना, २७ जादू-टोना आदि करना,

२८. कामभोगो मे अत्यधिक आसक्ति एव अभिलाषा रखना,

२९. देवो की शक्ति का अपलाप करना, उनकी निन्दा करना,

३०. देवी देवता के नाम से झूठा ढोग करना।

अध्यवसायो की तीव्रता या क्रूरता के होने से इन प्रवृत्तियो द्वारा महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है।

दसवीं दशा का सारांश

सयम तप की साधना रूप सम्पत्ति को भौतिक लालसाओ की उत्कटता के कारण आगे के भव मे ऐच्छिक सुख या अवस्था प्राप्त करने के लिए दाव पर लगा देना "निदान" (नियाण करना) कहा जाता है। ऐसा करने से यदि सयम तप की पूँजी अधिक हो तो निदान करना फलीभूत हो जाता है किन्तु उसका परिणाम हानिकर होता है अर्थात् राग-द्वेषात्मक निदानो के कारण निदान फल के साथ मिथ्यात्व एव नरकादि दुर्गति की प्राप्ति होती है और धर्मभाव के निदानो से मोक्षप्राप्ति मे दूरी पडती है। अत निदान कर्म त्याज्य है।

नव निदान

१ निर्ग्रन्थ द्वारा पुरुष के भोगो का निदान।

२ निर्ग्रन्थी द्वारा स्त्री के भोगो का निदान।

३ निर्ग्रन्थ द्वारा स्त्री के भोगो का निदान।

४. निर्ग्रन्थी द्वारा पुरुष के भोगो का निदान।

५-६-७ सकल्पानुसार दैविक सुख का निदान।

८ श्रावक अवस्था प्राप्ति का निदान।

९ साधु जीवन प्राप्ति का निदान।

इन निदानो का दुष्फल जानकर निदान रहित सयम तप की आराधना करनी चाहिए।

।। दशाश्रुतस्कन्ध का सारांश समाप्त ।।

बृहत्कल्पसूत्र

बृहत्कल्पसूत्र

प्रथम उद्देशक

साधु-साध्वी के प्रलंब-ग्रहण करने का विधि-निषेध

१. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे ताल-पलम्बे अभिन्ने पडिग्गाहित्तए।

२. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा आमे ताल-पलम्बे भिन्ने पडिग्गाहित्तए।

३. कप्पइ निग्गंथाणं पक्के ताल-पलम्बे भिन्ने वा अभिन्ने वा पडिग्गाहित्तए।

४. नो कप्पइ निग्गंथीणं पक्के ताल-पलम्बे अभिन्ने पडिग्गाहित्तए।

५. कप्पइ निग्गंथीणं पक्के ताल-पलम्बे भिन्ने पडिग्गाहित्तए; से वि य विहिभिन्ने, नो चेव ण अविहिभिन्ने।

१. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को अभिन्न शस्त्र-अपरिणत कच्चे ताल-प्रलम्ब ग्रहण करना नही कल्पता है।

२. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को भिन्न-शस्त्रपरिणत कच्चा ताल-प्रलम्ब ग्रहण करना कल्पता है।

३ निर्ग्रन्थो को खण्ड-खण्ड किया हुआ या अखण्ड-पक्व (शस्त्रपरिणत) ताल-प्रलम्ब ग्रहण करना कल्पता है।

४ निर्ग्रन्थियो को अखण्ड पक्व (शस्त्रपरिणत) ताल-प्रलम्ब ग्रहण करना नही कल्पता है।

५ निर्ग्रन्थियो को खण्ड-खण्ड किया हुआ पक्व (शस्त्रपरिणत) ताल-प्रलम्ब ग्रहण करना कल्पता है। वह भी विधिपूर्वक भिन्न (अत्यन्त छोटे-छोटे खण्डकृत) हो तो ग्रहण करना कल्पता है, अविधि-भिन्न हो तो ग्रहण करना नही कल्पता है।

विवेचन—सूत्रपठित 'ताल-प्रलम्ब' पद सभी फलो का सूचक है। "एक के ग्रहण करने पर सभी सजातीय ग्रहण कर लिए जाते है"—इस न्याय के अनुसार 'ताल-प्रलम्ब' पद से 'ताल-फल' के अतिरिक्त केला, आम, अनार आदि फल भी ग्रहण करना अभीष्ट है।

इसी प्रकार 'प्रलम्ब' पद को अन्त दीपक (अन्त के ग्रहण से आदि एव मध्य का ग्रहण) मानकर मूल, कन्द, स्कन्ध आदि भी ग्रहण किये गये हैं।

प्रथम, द्वितीय सूत्र मे 'आम' पद का अपक्व अर्थ और 'अभिन्न' पद का शस्त्र-अपरिणत अर्थ एवं 'भिन्न' पद का शस्त्र-परिणत अर्थ अभीष्ट है।

तीसरे, चौथे और पांचवे सूत्र मे 'अभिन्न' पद का अखण्ड अर्थ एव 'पक्व' पद का शस्त्र-परिणत अर्थ अभीष्ट है।

भाष्य मे 'तालप्रलम्ब' पद से वृक्ष के दस विभागो को ग्रहण किया गया है, यथा—

मूले कंदे खंधे, तया य साले पवाल पत्ते य।
पुप्फे फले य बीए, पलंब सुत्तम्मि दस भेया॥

—बृहत्कल्प उद्दे १, भाष्य गा ८५४

इन सूत्रो का सयुक्त अर्थ यह है कि साधु और साध्वी पक्व या अपक्व और शस्त्र-अपरिणत १ मूल, २ कन्द, ३ स्कन्ध, ४ त्वक्, ५ शाल, ६ प्रवाल, ७ पत्र, ८ पुष्प, ९ फल और १० बीज को ग्रहण नही कर सकते हैं। किन्तु ये ही यदि शस्त्र-परिणत हो जाएँ तो साधु और साध्वी ग्रहण कर सकते हैं।

इन सूत्रो मे प्रयुक्त 'आम, पक्व, भिन्न एव अभिन्न' इन चारो पदो की भाष्य मे द्रव्य एव भाव से चौभगियाँ करके भी यही बताया गया है कि भाव से पक्व या भाव से भिन्न अर्थात् शस्त्रपरिणत तालप्रलम्ब हो तो भिक्षु को ग्रहण करना कल्पता है।

प्रथम सूत्र मे कच्चे तालप्रलम्ब शस्त्रपरिणत न हो तो अग्राह्य कहे हैं एव दूसरे सूत्र मे उन्ही को शस्त्रपरिणत (भिन्न) होने पर ग्राह्य कहा है।

जिस प्रकार दूसरे सूत्र मे द्रव्य और भाव से भिन्न होने पर कच्चे तालप्रलम्ब ग्राह्य कहे है उसी प्रकार तीसरे सूत्र मे द्रव्य और भाव से पक्व तालप्रलम्ब भिन्न या अभिन्न हो तो भिक्षु के लिये ग्राह्य कहे हैं। चौथे सूत्र मे द्रव्य और भाव से पक्व तालप्रलम्ब भी अभिन्न हो तो साध्वी को ग्रहण करने का निषेध किया गया है। पाचवे सूत्र मे द्रव्य और भाव से पक्व तालप्रलम्ब के बड-बडे लम्बे टुकडे लेने का साध्वी के लिये निषेध करके छोटे-छोटे टुकडे हो तो ग्राह्य कहे है।

अचित्त होते हुए भी अखण्ड या लम्बे खण्ड साध्वी को लेने के निषेध का कारण इस प्रकार है—

अभिन्न—अखण्ड केला आदि फल का तथा शकरकद, मूला आदि कन्द-मूल का लम्बा आकार देखकर किसी निर्ग्रन्थी के मन मे विकार भाव जागृत हो सकता है और वह उससे अनगक्रीडा भी कर सकती है, जिससे उसके सयम और स्वास्थ्य की हानि होना सुनिश्चित है। अतः निर्ग्रन्थी को अभिन्न फल या कन्द आदि लेने का निषेध किया गया है। साथ ही अविधिपूर्वक भिन्न कदली आदि फलो के, मूला आदि कन्दो के, ऐसे लम्बे खण्ड जिन्हे देखकर कामवासना का जागृत होना सम्भव हो, उन्हे लेने का भी निषेध किया गया है। किन्तु विधिपूर्वक भिन्न अर्थात् इतने छोटे-छोटे खण्ड किए हुए हो कि जिन्हे देखकर पूर्वोक्त विकारभाव जागृत न हो तो ऐसा फल या कन्द आदि साध्वी ग्रहण कर सकती है।

जो फल पककर वृक्ष से स्वय नीचे गिर पडता है अथवा पक जाने पर वृक्ष से तोड लिया जाता है, उसे द्रव्यपक्व कहते हैं। वह द्रव्यपक्व फल भी सचित्त-सजीव बीज, गुठली आदि से संयुक्त होता है। अत उसे जब शस्त्र से विदारित कर, गुठली आदि को दूरकर या जिसमे अनेक बीज हैं

उसे अग्नि आदि मे पकाकर उबालकर या भूनकर सर्वथा असदिग्ध रूप से अचित्त-निर्जीव कर लिया गया हो, तब वह भावपक्व—शस्त्र-परिणत कहा जाता है एव ग्राह्य होता है।

इससे विपरीत—अर्थात् छेदन-भेदन किये जाने पर या अग्नि आदि मे पकाने पर भी अर्द्धपक्व होने की दशा मे उसके सचित्त रहने की सम्भावना हो तो वह भाव से अपक्व—शस्त्र-अपरिणत कहा जाता है एव अग्राह्य होता है। विस्तृत विवेचन एव चौभगियो के लिये भाष्य एव वृत्ति का अवलोकन करना चाहिए।

ग्रामादि में साधु-साध्वी के रहने की कल्पमर्यादा

६. से १. गामंसि वा, २. नगरंसि वा, ३. खेडंसि वा, ४. कब्बडंसि वा, ५. मडंबंसि वा, ६. पट्टणसि वा, ७. आगरंसि वा, ८. दोणमुहंसि वा, ९. निगमंसि वा, १०. आसमंसि वा, ११. सन्निवेसंसि वा, १२. संवाहसि वा, १३. घोसंसि वा, १४. अंसियंसि वा, १५. पुडभेयणंसि वा, १६. रायहाणिसि वा, सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि, कप्पइ निग्गंथाण हेमन्त-गिम्हासु एगं मासं वत्थए।

७. से गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा, सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि, कप्पइ निग्गथाणं हेमन्त-गिम्हासु दो मासे वत्थए। अन्तो एगं मासं, बाहिं एगं मासं। अन्तो वसमाणाणं अन्तो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणाण बाहिं भिक्खायरिया।

८. से गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा, सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि, कप्पइ निग्गंथीणं हेमन्त-गिम्हासु दो मासे वत्थए।

९. से गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि, कप्पइ निग्गंथीणं हेमन्त-गिम्हासु चत्तारि मासे वत्थए। अन्तो दो मासे, बाहिं दो मासे। अन्तो वसमाणीणं अन्तो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणीण बाहिं भिक्खायरिया।

६ निर्ग्रन्थो को सपरिक्षेप और अबाहिरिक १ ग्राम, २ नगर, ३ खेट, ४ कर्बट, ५ मडब, ६ पत्तन, ७ आकर, ८ द्रोणमुख, ९ निगम, १० आश्रम, ११ सन्निवेश, १२ सम्बाध, १३ घोष, १४ अशिका, १५ पुटभेदन और १६ राजधानी मे हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे एक मास तक रहना कल्पता है।

७ निर्ग्रन्थो को सपरिक्षेप (प्राकार या वाड-युक्त) और सबाहिरिक (प्राकार के बाहर की बस्ती युक्त) ग्राम यावत् राजधानी मे हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे दो मास तक रहना कल्पता है। एक मास ग्राम आदि के अन्दर और एक मास ग्रामादि के बाहर। ग्राम आदि के अन्दर रहते हुए अन्दर ही भिक्षाचर्या करना कल्पता है। ग्राम आदि के बाहर रहते हुए बाहर ही भिक्षाचर्या करना कल्पता है।

८. निर्ग्रन्थियो को सपरिक्षेप और अबाहिरिक ग्राम यावत् राजधानी मे हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में दो मास तक रहना कल्पता है।

९. निर्ग्रन्थियो को सपरिक्षेप और सबाहिरिक ग्राम यावत् राजधानी मे हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे चार मास तक रहना कल्पता है। दो मास ग्राम आदि के अन्दर और दो मास ग्राम आदि के बाहर। ग्राम आदि के अन्दर रहते हुए अन्दर ही भिक्षाचर्या करना कल्पता है। ग्राम आदि के बाहर रहते हुए बाहर ही भिक्षाचर्या करना कल्पता है।

विवेचन—प्रत्येक जनपद मे ग्राम आदि सूत्रोक्त अनेक बस्तिया होती हैं। ये बस्तिया दो प्रकार की होती हैं—

१ जिस ग्राम आदि के चारो ओर पाषाण, ईंट, मिट्टी, काष्ठ, बास या काटो आदि का तथा खाई, तालाब, नदी, गर्त, पर्वत का प्राकार हो और उस प्राकार के अन्दर ही घर बसे हुए हो, बाहर न हो तो उस ग्राम आदि को 'सपरिक्षेप' और 'अबाहिरिक' कहा जाता है।

२ जिस ग्राम आदि के चारो ओर पूर्वोक्त प्रकार के प्राकारो मे से किसी प्रकार का प्राकार हो और उस प्राकार के बाहर भी घर बसे हुए हो, उस ग्राम आदि को 'सपरिक्षेप' और 'सबाहिरिक' कहा जाता है।

साधु-साध्वियाँ उक्त दोनो प्रकार की बस्तियो मे ठहरते हैं।

वर्षाकाल मे उनके लिए सर्वत्र चार मास तक रहने का विधान है किन्तु वर्षाकाल के अतिरिक्त आठ मास तक वे कहाँ कितने ठहरे ? इसका विधान उल्लिखित चार सूत्रो मे है।

सूत्र मे सपरिक्षेप सबाहिरिक ग्रामादि मे दुगुने कल्प तक रहने के लिये भिक्षाचर्या सम्बन्धी जो कथन है, उसका तात्पर्य यह है कि भिक्षु ग्रामादि के जिस विभाग मे रहे उसी विभाग मे गोचरी करे तो उसे प्रत्येक विभाग मे अलग-अलग कल्प काल तक रहना कल्पता है। किन्तु एक विभाग मे रहते हुए अन्य विभागो मे भी गोचरी करे तो उन विभागो मे अलग मासकल्प काल रहना नही कल्पता है।

सूत्र मे प्रयुक्त ग्रामादि शब्दो की व्याख्या—

नत्थेत्थ करो नगरं, खेडं पुणं होई धूलिपागारं।
कब्बडगं तु कुनगरं, मडंबगं सव्वतो छिन्नं ॥

जलपट्टणं च थलपट्टणं च, इति पट्टणं भवे दुविहं।
अयमाइ आगरा खलु, दोणमुहं जल-थलपहेणं ॥

निगमं नेगमवग्गो, वसइ रायहाणि जहिं राया।
तावसमाई आसम, निवेसो सत्थाइजत्ता वा ॥

संवाहो संवोढुं, वसति जहिं पव्वयाइविसमेसु।
घोसो उ गोउलं, अंसिया उ गामद्धमाईया ॥

णाणाविसागयाणं, भिज्जंति पुडा उ जत्थ भंडाणं।
पुडभेयणं तगं संकरो य, केसिंचि कायव्वो ॥

—बृह. भाष्य गाथा १०८९-१०९३

१. **ग्राम**—जहां अठारह प्रकार का कर लिया जाता है अथवा जहा रहने वालो की बुद्धि मद होती है उसे 'ग्राम' कहा जाता है।

२. **नगर**—जहा अठारह प्रकार के कर नही लिए जाते है वह 'नगर' कहा जाता है।

३. **खेड**—जहा मिट्टी का प्राकार हो वह खेड या 'खेडा' कहा जाता है।

४. **कर्बट**—जहा अनेक प्रकार के कर लिये जाते है ऐसा छोटा नगर कर्बट (कस्बा) कहा जाता है।

५. **मडंब**—जिस ग्राम के चारो ओर अढाई कोश तक अन्य कोई ग्राम न हो—वह मडम्ब कहा जाता है।

६. **पट्टण**—दो प्रकार के हैं—जहा जल मार्ग पार करके माल आता हो वह 'जलपत्तन' कहा जाता है। जहा स्थल मार्ग से माल आता हो वह 'स्थलपत्तन' कहा जाता है।

७. **आकर**—लोहा आदि धातुओ की खानो मे काम करने वालो के लिये वही पर बसा हुवा ग्राम आकर कहा जाता है।

८. **द्रोणमुख**—जहा जलमार्ग और स्थलमार्ग से माल आता हो ऐसा नगर दो मुह वाला होने से द्रोणमुख कहा जाता है।

९. **निगम**—जहा व्यापारियो का समूह रहता हो वह निगम कहा जाता है।

१०. **आश्रम**—जहा सन्यासी तपश्चर्या करते हो वह आश्रम कहा जाता है एव उसके आस-पास बसा हुआ ग्राम भी आश्रम कहा जाता है।

११. **निवेश**—व्यापार हेतु विदेश जाने के लिए यात्रा करता हुआ सार्थवाह (अनेक व्यापारियो का समूह) जहा पडाव डाले वह स्थान निवेश कहा जाता है। अथवा एक ग्राम के निवासी कुछ समय के लिए दूसरी जगह ग्राम बसावे—वह ग्राम भी निवेश कहा जाता है। अथवा सभी प्रकार के यात्री जहा-जहा विश्राम ले वे सब स्थान निवेश कहे जाते हैं। इसे ही आगम मे अनेक जगह सन्निवेश कहा है।

१२. **सम्बाध**—खेती करने वाले कृषक दूसरी जगह खेती करके पर्वत आदि विषम स्थानो पर रहते हो वह ग्राम सम्बाध कहा जाता है। अथवा व्यापारी दूसरी जगह व्यापार करके पर्वत आदि विषम स्थानो पर रहते हो, वह ग्राम सम्बाध कहा जाता है। अथवा जहा धान्य आदि के कोठार हो वहा बसे हुए ग्राम को भी सम्बाध कहा जाता है।

१३. **घोष**—जहा गायो का यूथ रहता हो वहा बसे हुए ग्राम को घोष (गोकुल) कहा जाता है।

१४. **अंशिका**—ग्राम का आधा भाग, तीसरा भाग या चौथा भाग जहा आकर बसे वह वसति 'अशिका' कही जाती है।

१५. **पुटभेदन**—अनेक दिशाओ से आए हुए माल की पेटियो का जहा भेदन (खोलना) होता है वह 'पुटभेदन' कहा जाता है।

१६. **राजधानी**—जहा रहकर राजा शासन करता हो वह राजधानी कही जाती है ।

१७. **सकर**—जो ग्राम भी हो, खेड भी हो, आश्रम भी हो ऐसा मिश्रित लक्षण वाला स्थान 'सकर' कहा जाता है । वह शब्द मूल मे नही है भाष्य मे है ।

ग्रामादि में साधु-साध्वी को एक साथ रहने का विधि-निषेध

१०. से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा, एगवगडाए, एगदुवाराए, एग-निक्खमण-पवेसाए, नो कप्पइ निग्गथाण य निग्गंथीण य एगयओ वत्थए ।

११. से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा, अभिनिव्वगडाए, अभिनिद्दुवाराए अभिनिक्खमण-पवेसाए, कप्पइ निग्गंथाण य निग्गथीण य एगयओ वत्थए ।

१०. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को एक वगडा, एक द्वार और एक निष्क्रमण-प्रवेश वाले ग्राम यावत् राजधानी मे (भिन्न-भिन्न उपाश्रयो मे भी) समकाल बसना नही कल्पता है ।

११. निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को अनेक वगडा, अनेक द्वार और अनेक निष्क्रमण-प्रवेश वाले ग्राम यावत् राजधानी मे समकाल बसना कल्पता है ।

विवेचन—ग्रामादि की रचना अनेक प्रकार की होती है, यथा—

१ एक विभाग वाले
२ अनेक विभाग वाले
३ एक द्वार वाले
४ अनेक द्वार वाले
५ एक मार्ग वाले
६ अनेक मार्ग वाले ।

द्वार एव मार्ग मे यह अन्तर समझना चाहिये कि 'द्वार' समय-समय पर बन्द किये जा सकते हैं एव खोले जा सकते है । किन्तु 'मार्ग' सदा खुले ही रहते है और उन पर कोई द्वार बने हुए नही होते हैं ।

जो ग्राम केवल एक ही विभाग वाला हो और उसमे जाने आने का मार्ग भी केवल एक ही हो और ऐसे ग्रामादि मे पहले भिक्षु ठहर चुके हो तो वहा साध्वियो को नही ठहरना चाहिये अथवा साध्विया ठहरी हुई हो तो वहा साधुओ को नही ठहरना चाहिये ।

जिस ग्रामादि मे अनेक विभाग हो एव अनेक मार्ग हो तो वहा साधु-साध्वी दोनो एक साथ अलग-अलग उपाश्रयो मे रह सकते हैं । कदाचित् एक विभाग या एक मार्ग वाले ग्रामादि मे साधु-साध्वी दोनो विहार करते हुए पहुँच जाए तो वहा पर आहारादि करके विहार कर देना चाहिये अर्थात् अधिक समय वहा दोनो को निवास नही करना चाहिये ।

ऐसे ग्राम यावत् राजधानी मे दोनो के ठहरने पर जिन दोषो के लगने की सम्भावना रहती है उनका वर्णन भाष्यकार ने विस्तारपूर्वक किया है । वह सक्षेप मे इस प्रकार है—

१. उच्चार-प्रस्रवणभूमि मे और स्वाध्यायभूमि मे आते-जाते समय तथा भिक्षा के समय गलियो मे या ग्राम के द्वार पर निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो का बार-बार मिलन होने से एक-दूसरे के साथ ससर्ग बढ़ता है और उससे रागभाव की वृद्धि होती है। अथवा उन्हे एक ही दिशा मे एक ही मार्ग से जाते-आते देखकर जनसाधारण को अनेक आशकाए उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।

"ससर्गजा दोष-गुणा भवन्ति" इस सूक्ति के अनुसार सयम की हानि सुनिश्चित है।

एक वगडा मे निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो के उपाश्रयो के द्वार एक-दूसरे के आमने-सामने हो।

एक उपाश्रय के द्वार के पार्श्वभाग मे दूसरे उपाश्रय का द्वार हो।

एक उपाश्रय के पृष्ठभाग मे दूसरे उपाश्रय का द्वार हो।

एक उपाश्रय का द्वार ऊपर हो और दूसरे उपाश्रय का द्वार नीचे हो।

तथा निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो के उपाश्रय समपक्ति मे हो तो भी जन-साधारण मे अनेक आशकाए उत्पन्न होती हैं तथा उनके सयम की हानि होने की सम्भावना रहती है।

सूत्राक ११ मे अनेक वगडा अनेक द्वार और अनेक आने-जाने के मार्ग वाले ग्राम आदि के विभिन्न उपाश्रयो मे निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो के समकाल मे रहने का विधान है। क्योकि अनेक आने-जाने के मार्ग वाले ग्राम आदि मे निर्ग्रन्थो तथा निर्ग्रन्थियो का बार-बार मिलन न होने से न सम्पर्क बढेगा और न रागभाव बढेगा, न जन-साधारण को किसी प्रकार की आशका उत्पन्न होगी। अत ऐसे ग्रामादि मे यथावसर साधु-साध्वी का समकाल मे रहना दोषरहित समझना चाहिये।

आपणगृह आदि मे साधु-साध्वियों के रहने का विधि-निषेध

१२. नो कप्पइ निग्गंथीणं १. आवणगिहंसि वा, २. रत्थामुहंसि वा, ३. सिंघाडगंसि वा, ४. तियंसि वा, ५. चउक्कंसि वा, ६. चच्चरंसि वा, ७. अन्तरावणंसि वा वत्थए।

१३. कप्पइ निग्गथाणं आवणगिहंसि वा जाव अन्तरावणंसि वा वत्थए।

१२ निर्ग्रन्थियो को १ आपणगृह, २. रथ्यामुख, ३ शृ गाटक, ४ त्रिक, ५ चतुष्क, ६ चत्वर अथवा ७ अन्तरापण मे रहना नही कल्पता है।

१३ निर्ग्रन्थो को आपणगृह यावत् अन्तरापण मे रहना कल्पता है।

विवेचन—१. हाट-बाजार को 'आपण' कहते हैं, उसके बीच मे विद्यमान गृह या उपाश्रय 'आपणगृह' कहा जाता है।

२ रथ्या का अर्थ गली या मोहल्ला है, जिस उपाश्रय या घर का मुख (द्वार) गली या मोहल्ले की ओर हो, वह 'रथ्यामुख' कहलाता है अथवा जिस घर के आगे से गली प्रारम्भ होती हो, उसे भी 'रथ्यामुख' कहते हैं।

३. सिंघाडे के समान त्रिकोण स्थान को 'शृ गाटक' कहते हैं।

४. तीन गली या तीन रास्तो के मिलने के स्थान को 'त्रिक' कहते हैं।

५. चार मार्गों के समागम को (चौराहे को) 'चतुष्क' कहते हैं।

६. जहां पर छह या अनेक रास्ते आकर मिले, अथवा जहां से छह या अनेक ओर रास्ते जाते हो, ऐसे स्थान को 'चत्वर' कहते हैं।

७ अन्तरापण का अर्थ हाट-बाजार का मार्ग है। जिस उपाश्रय के एक ओर अथवा दोनो ओर बाजार का मार्ग हो, उसे 'अन्तरापण' कहते हैं। अथवा जिस घर के एक तरफ दुकान हो और दूसरी तरफ निवास हो उसे भी 'अन्तरापण' कहते हैं।

ऐसे उपाश्रयो या घरो मे साध्वियो को नही रहना चाहिये। क्योकि इन स्थानो मे अनेक मनुष्यो का आवागमन रहता है। सहज ही उनकी दृष्टि साध्वियो पर पडती रहती है जिससे उनकी शीलरक्षा मे कई बाधाये उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। अत राजमार्ग या चौराहे आदि सूत्रोक्त स्थानों को छोडकर गली के अन्दर या सुरक्षित स्थानो मे साध्वियो का रहना निरापद होता है। साधु को ऐसे स्थानो मे रहने मे आपत्ति न होने से सूत्र मे विधान किया गया है। स्वाध्याय ध्यान आदि सयम योगो मे रुकावट आती हो तो साधु को भी ऐसे स्थानो मे नही ठहरना चाहिये।

बिना द्वार वाले स्थान में साधु-साध्वी के रहने का विधि-निषेध

१४. नो कप्पइ निग्गंथीणं अवंगुयदुवारिए उवस्सए वत्थए।

एगं पत्थारं अन्तो किच्चा, एगं पत्थारं बाहिं किच्चा, ओहाडिय चिलिमिलियागंसि एवं णं कप्पइ वत्थए।

१५. कप्पइ निग्गंथाणं अवंगुयदुवारिए उवस्सए वत्थए।

१४ निर्ग्रन्थियो को अपावृत (खुले) द्वार वाले उपाश्रय मे रहना नही कल्पता है।

किन्तु निर्ग्रन्थियो को अपावृतद्वार वाले उपाश्रय मे द्वार पर एक प्रस्तार (पर्दा) भीतर करके और एक प्रस्तार बाहर करके इस प्रकार चिलिमिलिका (जिसके बीच मे मार्ग रहे) बाधकर उसमे रहना कल्पता है।

१५ निर्ग्रन्थो को अपावृत्त द्वार वाले उपाश्रय मे रहना कल्पता है।

विवेचन—जिस उपाश्रय या गृह आदि का द्वार कपाट-युक्त न हो, ऐसे स्थान पर साध्वियो को ठहरने का जो निषेध किया है, उसका कारण यह है कि खुला द्वार देखकर रात्रि के समय चोर आदि आकर साध्वियो के वस्त्र-पात्रादि को ले जा सकते हैं। कामी पुरुष भी आ सकते है, वे अनेक प्रकार से साध्वियो को परेशान कर सकते हैं एव उनके साथ बलात्कार भी कर सकते हैं। कुत्ते आदि भी घुस सकते हैं, इत्यादि कारणो से कपाट-रहित द्वार वाले उपाश्रय या घर मे साध्वियो को ठहरने का निषेध किया गया है। किन्तु यदि अन्वेषण करने पर भी किसी ग्रामादि मे किवाडो वाला घर ठहरने को नही मिले और खुले द्वार वाले घर मे ठहरने का अवसर आवे तो उसके लिए प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि अन्दर बाहर इस तरह वस्त्र का पर्दा कर दे कि सहज किसी की दृष्टि न पडे और जाने-आने का मार्ग भी रहे।

भाष्य मे द्वार को ढकने की विधि इस तरह बताई गई है कि बास या खजूर की छिद्ररहित चटाई या सन-टाट आदि के परदे से द्वार को बाहरी ओर से और भीतरी ओर से भी बन्द करके ठहरना चाहिए। रात्रि के समय उन दोनो परदो को किसी खूटी आदि से ऊपर, बीच मे और नीचे इस प्रकार बाधे कि बाहर से कोई पुरुष प्रवेश न कर सके। फिर भी सुरक्षा के लिए बताया गया है कि उस द्वार पर सशक्त साध्वी बारी-बारी से रात भर पहरा देवे तथा रूपवती युवती साध्वियो को गीतार्थ और वृद्ध साध्वियो के मध्य-मध्य मे चक्रवाल रूप से स्थान देकर सोने की व्यवस्था गणिनी या प्रवर्तिनी को करनी चाहिए। गणिनी को सबके मध्य मे सोना चाहिए और बीच-बीच मे सबकी सभाल करते रहना चाहिए।

खुले द्वार वाले स्थान मे साधुओ को ठहरने का जो विधान किया गया है उसका कारण स्पष्ट है कि उनके उक्त प्रकार की आशका की सम्भावना नही है। यदि कही कुत्ते या चोर आदि की आशका हो तो साधु को भी यथायोग्य सुरक्षा कर लेनी चाहिये।

साधु-साध्वी को घटीमात्रक ग्रहण करने का विधि-निषेध

१६ कप्पइ निग्गथीणं अन्तोलित्तं घडिमत्तयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा।

१७. नो कप्पइ निग्गथाण अन्तोलित्तं घडिमत्तयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा।

१६ निर्ग्रन्थियो को अन्दर की ओर लेपयुक्त घटीमात्रक रखना और उसका उपयोग करना कल्पता है।

१७ निर्ग्रन्थो को अन्दर की ओर लेपयुक्त घटीमात्रक रखना और उसका उपयोग करना नही कल्पता है।

विवेचन—आगम मे तीन प्रकार के मात्रक रखने की आज्ञा है, यथा—

१ उच्चारमात्रक, २ प्रश्रवणमात्रक, ३. खेलमात्रक।

यहा भी एक प्रकार के मात्रक का वर्णन है। पूर्व के अनेक सूत्रो मे साध्वी के शीलरक्षा हेतु निषेध किये गये है और यहा भिक्षु के ब्रह्मचर्यरक्षा हेतु निषेध है।

घटीमात्रक एक प्रकार का प्रश्रवणमात्रक ही है। यद्यपि प्रश्रवणमात्रक तो साधु-साध्वी दोनों को रखना कल्पता है तथापि इस मात्रक का कुछ विशेष आकार होता है, उस आकार को बताने वाला "घटी" शब्द है जिसका टीकाकार ने इस प्रकार अर्थ किया है—

"घटीमात्रकं"—घटीसंस्थान मृन्मयभाजन विशेषं,

घटिका (घडिगा) के आकार वाला एक प्रकार का मिट्टी का पात्र, घटीमात्रक का अर्थ है।

जिस प्रकार तालप्रलम्ब के लम्बे टुकड़ो मे पुरुष चिह्न का आभास होने के कारण साध्वी को उनका निषेध किया गया है, उसी प्रकार घटी आकार वाले मात्रक के मुख से स्त्री-चिह्न का आभास

होने के कारण साधु के लिये इसका निषेध किया गया है और साध्वी के लिये बाधक न होने से विधान किया गया है।

"घट" शब्द का अर्थ "मिट्टी का घड़ा" होता है और "घटी" या "घटिका" शब्द से छोटा घडा या छोटी सुराही अर्थ होता है। यथा—

"घडिगा"—घटिका—मृन्मयकुल्लडिका। —सूय. पत्र ११८

—अल्पपरिचित सैद्धातिक शब्दकोष, पृ ३८१

भाष्य तथा टीका मे कपडे से मुख बधा होने का तथा मिट्टी के होने का जो कथन है उससे भी सुराही जैसा होना सम्भव है क्योकि सुराही जैसे छोटे मुख वाले पात्र के ही कपडा बाधा जाता है। अन्यथा तो पात्र या मात्रक कपडे से ढक कर ही रखे जाते हैं।

मिट्टी का होने से खुरदरा हो सकता है जो जल्दी न सूखने के कारण प्रश्रवण के उपयोगी नही होता है अत अन्दर चिकना बना करके ही साध्वी को रखना कल्पता है। वही पात्र अन्दर चिकना होने के कारण साधु के लिये आकार और स्पर्श दोनो से विकारजन्य हो जाता है। ऐसे ही मात्रक का यह विधि-निषेध समझना चाहिये।

भाष्य-टीका मे इसे सामान्य प्रश्रवणमात्रक बताकर साधु को रखना अनावश्यक ही कहा है। किन्तु सामान्य प्रश्रवणमात्रक के ग्रहण करने का आगम मे अनेक जगह उल्लेख है। अत. यहा ब्रह्मचर्यबाधक आकृतिविशेष वाला प्रश्रवणमात्रक ही समझना प्रसगसगत है।

चिलमिलिका (मच्छरदानी) ग्रहण करने का विधान

१८. कप्पइ निग्गथाण वा निग्गंथीण वा चेलचिलिमिलियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा।

१८ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को चेल-चिलिमिलिका रखना और उसका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन—चिलमिलिका यह देशी शब्द है, यह छोलदारी के आकार वाली एक प्रकार की वस्त्र-कुटी है। यह पाच प्रकार की होती है—

१. **सूत्रमयी**—कपास आदि के धागो से बनी हुई,
२. **रज्जुमयी**—ऊन आदि के मोटे धागो से बनी हुई,
३. **वल्कलमयी**—सन-पटसन आदि की छाल से बनी हुई,
४. **दण्डकमयी**—बास-वेत से बनी हुई,
५. **कटमयी**—चटाई से बनी हुई।

प्रकृत सूत्र मे वस्त्र से बनी चिलमिली को रखने का विधान किया गया है, अन्य का नही। क्योकि उनके भारी होने से विहार के समय साथ मे ले जाना सम्भव नही होता है या बहुश्रम-साध्य होता है। चिलमिलिका का प्रमाण पॉच हाथ लम्बी, तीन हाथ चौडी और तीन हाथ ऊँची बताया गया है। इसके भीतर एक साधु या साध्वी का सरक्षण भलीभाति हो सकता है।

निशीथसूत्र उ. १ मे सूत्र (धागो) से स्वय चिलमिलिका बनाने का प्रायश्चित्त कहा है और यहा पर वस्त्र की चिलमिलिका रखना कल्पनीय कहा है अत तैयार मिलने वाले वस्त्र से भिक्षु चिलमिलिका बनाकर रख सकता है अथवा वस्त्र की तैयार चिलमिलिका मिले तो भी भिक्षु ग्रहण करके रख सकता है। इस सूत्र मे धारण करने के लिये कही गई चिलमिलिका से मच्छरदानी का कथन किया गया है और सूत्र १४ मे एक प्रस्तार (चद्दर या पर्दा) द्वार के अन्दर एव एक बाहर बाधकर बीच मे मार्ग रखने रूप चिलमिलिका बनाना कहा गया है। वह दो पर्दों (चद्दरो) से बनाई गई चिलमिलिका प्रस्तुत सूत्र की चिलमिलिका (मच्छरदानी) से भिन्न है।

भाष्यकार ने प्रत्येक साधु और साध्वी को एक-एक चिलिमिलिका रखने का निर्देश किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि वर्षा आदि ऋतुओ मे जबकि डास, मच्छर, मक्खी, पतगे आदि क्षुद्र जन्तु आदि उत्पन्न होते हैं, तब रात्रि के समय चिलिमिलिका के अन्दर सोने से उनकी रक्षा होती है। इसी प्रकार पानी के बरसने पर अनेक प्रकार के जीवो से या विहार काल मे वनादि प्रदेशो मे ठहरने पर जगली जानवरो से आत्मरक्षा भी होती है। रोगी साधु की परिचर्या भी उसके लगाने से सहज मे होती है। मक्खो, मच्छर आदि के अधिक हो जाने पर आहार-पानी भी चिलमिलिका लगाकर करने से उन जीवो की रक्षा होती है।

पानी के किनारे खड़े रहने आदि का निषेध

१९. नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा दगतीरसि, १. चिट्ठित्तए वा, २. निसीइत्तए वा, ३. तुयट्टित्तए वा, ४. निद्दाइत्तए वा, ५. पयलाइत्तए वा, ६. असणं वा, ७. पाणं वा, ८. खाइम वा, ९. साइमं वा आहरित्तए, १०. उच्चार वा, ११. पासवण वा, १२. खेलं वा, १३. सिंघाण वा परिट्ठवेत्तए, १४. सज्झायं वा करित्तए, १५. धम्मजागरिय वा जागरित्तए, १६. काउसग्ग वा ठाइत्तए।

१९ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को दकतीर (जल के किनारे) पर १ खडा होना, २ बैठना, ३ शयन करना, ४. निद्रा लेना, ५. ऊघना, ६ अशन, ७ पान, ८ खादिम और ९ स्वादिम आहार का खाना-पीना, १०-११ मल-मूत्र, १२ श्लेष्म, १३ नासामल आदि का परित्याग करना, १४ स्वाध्याय करना, १५ धर्मजागरिका (धर्मध्यान) करना तथा १६ कायोत्सर्ग कर स्थित होना नही कल्पता है।

विवेचन—नदी या सरोवर आदि जलाशय के जिस स्थान से ग्रामवासी या वनवासी लोग पानी भर के ले जाते है और जहा पर गाय भैसे आदि पशु या जगली जानवर पानी पीने को आते हैं, ऐसे स्थान को 'दकतीर' कहते हैं। अथवा किसी भी जलयुक्त जलाशय के किनारे को 'दकतीर' कहते हैं।

ऐसे स्थान पर साधु या साध्वी का उठना-बैठना, खाना-पीना, मल-मूत्रादि करना, धर्मजागरण करना और ध्यानावस्थित होकर कायोत्सर्ग आदि करने का जो निषेध किया गया है, उसके अनेक कारण निर्युक्तिकार, भाष्यकार और टीकाकार ने बताये हैं, उनमे से कुछ इस प्रकार हैं—

१ जल भरने को आने वाली स्त्रियो को साधु के चरित्र मे शंका हो सकती है।

२ पानी पीने को आने वाले जानवर डरकर बिना पानी पिये ही वापस लौट सकते हैं, उनके पानी पीने मे अन्तराय होती है।

३ इधर-उधर भागने से 'जीवघात' की भी सम्भावना रहती है।

४ दुष्ट जानवर साधु को मार सकते है।

५ जल मे रहे जलचर जीव साधु को देखकर त्रस्त होते हैं।

६ वे जल मे इधर-उधर दौडते हैं, जिससे पानी के जीवो की विराधना होती है।

७ जल के किनारे पृथ्वी सचित्त होती है अत पृथ्वीकाय के जीवो की विराधना होती है।

८ साधु के कच्चा पानी पीने की या ग्रहण करने की लोगो को आशका होती है। इत्यादि कारणो से सूत्र मे जलस्थान के किनारे ठहरने का निषेध किया गया है।

सचित्र उपाश्रय मे ठहरने का निषेध

२०. नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा सचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए।

२१. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए।

२० निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को सचित्र उपाश्रय मे रहना नही कल्पता है।

२१ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को चित्र-रहित उपाश्रय मे रहना कल्पता है।

विवेचन—जिन उपाश्रयो की भित्तियो पर देव-देवियो, स्त्री-पुरुषो और पशु-पक्षियो के जोडो के अनेक प्रकार से क्रीडा करते हुए चित्र हो अथवा अन्य भी मनोरजक चित्र चित्रित हो, वहा साधु या साध्वी को नही ठहरना चाहिये, क्योकि उन्हे देखकर उनके मन मे विकारभाव जागृत हो सकता है तथा बारबार उधर दृष्टि जाने से स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिलेखन आदि सयमक्रियाओ मे एकाग्रता नही रहती है। अत सचित्र उपाश्रयो मे ठहरने का साधु-साध्वियो को निषेध किया गया है।

सागारिक की निश्रा लेने का विधान

२२ नो कप्पइ निग्गंथीणं सागारिय-अनिस्साए वत्थए।

२३. कप्पइ निग्गथीण सागारिय-निस्साए वत्थए।

२४. कप्पइ निग्गथाण सागारिय-निस्साए वा अनिस्साए वा वत्थए।

२२ निर्ग्रन्थियो को सागारिक की अनिश्रा से रहना नही कल्पता है।

२३ निर्ग्रन्थियो को सागारिक की निश्रा से रहना कल्पता है।

२४ निर्ग्रन्थो को सागारिक की निश्रा या अनिश्रा से रहना कल्पता है।

विवेचन—जैसे वृक्षादि के आश्रय के बिना लता पवन से प्रेरित होकर कम्पित और अस्थिर हो जाती है, उसी प्रकार शय्यातर की निश्रा अर्थात् सुरक्षा का उत्तरदायित्व मिले बिना श्रमणी भी

क्षुभित एव भयभीत हो सकती है, उसके शील की रक्षा पुरुष की निश्रा से भलीभांति हो सकती है। क्योकि क्षुद्र पुरुषो के द्वारा बलात्कार करने की आशका बनी रहती है। अत गुरुणी-प्रवर्तिनी से रक्षित होने पर भी श्रमणी को शय्यातर की निश्रा मे रहना आवश्यक बताया गया है।

किन्तु साधुवर्ग प्राय सशक्त, दृढचित्त एव निर्भय मनोवृत्ति वाला होता है तथा उसके ब्रह्मचर्य भग के विषय मे बलात्कार होना भी सम्भव नही रहता है। अत वह शय्यातर की निश्रा के बिना भी उपाश्रय मे रह सकता है। यदि चोर या हिंसक जीवो का या अन्य कोई उपद्रव हो तो साधु भी कभी शय्यातर से सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त करके ठहर सकता है।

गृहस्थ-युक्त उपाश्रय में रहने का विधि-निषेध

२५. नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा सागारिए उवस्सए वत्थए।

२६. नो कप्पइ निग्गंथाण इत्थि-सागारिए उवस्सए वत्थए।

२७ कप्पइ निग्गंथाण पुरिस-सागारिए उवस्सए वत्थए।

२८. नो कप्पइ निग्गथोण पुरिस-सागारिए उवस्सए वत्थए।

२९. कप्पइ निग्गथीण इत्थि-सागारिए उवस्सए वत्थए।

२५ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को सागारिक (गृहस्थ के निवास वाले) उपाश्रय मे रहना नही कल्पता है।

२६ निर्ग्रन्थो को स्त्री-सागारिक (केवल स्त्रियो के निवास वाले) उपाश्रय मे रहना नही कल्पता है।

२७ निर्ग्रन्थो को पुरुष-सागारिक (केवल पुरुषो के निवास वाले) उपाश्रय मे रहना कल्पता है।

२८ निर्ग्रन्थियो को पुरुष-सागारिक (केवल पुरुषो के निवास वाले) उपाश्रय मे रहना नही कल्पता है।

२९. निर्ग्रन्थियो को स्त्री-सागारिक (केवल स्त्रियो के निवास वाले) उपाश्रय मे रहना कल्पता है।

विवेचन—सागारिक उपाश्रय दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य-सागारिक और भाव-सागारिक।

जिस उपाश्रय मे स्त्री पुरुष रहते हो अथवा स्त्री-पुरुषो के रूप भित्ति आदि पर चित्रित हो, काष्ठ, पाषाणादिकी मूर्तिया स्त्री-पुरुषादि की हो, उनके शृगार के साधन वस्त्र, आभूषण, गन्ध, माला, अलंकार आदि रखे हो, जहा पर भोजन-पान की सामग्री रखी हुई हो, गीत, नृत्य, नाटक आदि होते हो, या वीणा, बासुरी, मृदगादि बाजे बजते हो, वह उपाश्रय स्वस्थान मे द्रव्य-सागारिक है और परस्थान मे भाव-सागारिक है।

स्वस्थान और परस्थान का अर्थ यह है कि यदि उस उपाश्रय मे पुरुषो के चित्र, मूर्तिया हो और पुरुषो के ही गीत, नृत्य, नाटकादि होते हो तो वह साधुओ के लिए द्रव्य-सागारिक है और साध्वियो के लिए भाव-सागारिक है ।

इसी प्रकार जिस उपाश्रय मे स्त्रियो के चित्र, मूर्ति आदि हो और उनके गीत, नृत्य, नाटकादि होते हो तो वह उपाश्रय पुरुषो के लिए भाव-सागारिक है और स्त्रियो के लिए द्रव्य-सागारिक है । साधु और साध्वियो को इन दोनो ही प्रकार के (द्रव्य-सागारिक और भाव-सागारिक) उपाश्रयो मे रहना योग्य नही है ।

यद्यपि प्रथम सूत्र मे द्रव्य और भावसागारिक उपाश्रयो मे रहने का जो स्पष्ट निषेध किया है वह उत्सर्गमार्ग है, किन्तु विचरते हुए साधु-साध्वियो को उक्त दोष-रहित निर्दोष उपाश्रय ठहरने को न मिले तो ऐसी दशा मे द्रव्य-सागारिक उपाश्रय मे साधु या साध्वी ठहर सकते है । किन्तु भाव-सागारिक उपाश्रय मे नही ठहर सकते, यह सूत्रचतुष्क मे बताया गया है ।

साराश यह है कि उत्सर्गमार्ग मे साधु-साध्वी को द्रव्य एव भावसागारिक उपाश्रय मे नही ठहरना चाहिये किन्तु अपवादमार्ग से द्रव्य-सागारिक उपाश्रय मे ठहर सकते है ।

प्रतिबद्धशय्या में ठहरने का विधि-निषेध

३०. नो कप्पइ निग्गथाणं पडिबद्ध-सेज्जाए वत्थए ।

३१. कप्पइ निग्गंथीणं पडिबद्ध-सेज्जाए वत्थए ।

३० निर्ग्रन्थो को प्रतिबद्धशय्या मे रहना नही कल्पता है ।

३१ निर्ग्रन्थियो को प्रतिबद्धशय्या मे रहना कल्पता है ।

विवेचन—प्रतिबद्ध उपाश्रय दो प्रकार का होता है— १ द्रव्य-प्रतिबद्ध, २ भाव-प्रतिबद्ध ।

१ जिस उपाश्रय मे छत के बलधारण अर्थात् छत के पाट गृहस्थ के घर से सम्बद्ध हो, उसे द्रव्यप्रतिबद्ध उपाश्रय कहा गया है ।

२ भावप्रतिबद्ध उपाश्रय चार प्रकार का होता है—

१ जहा पर स्त्री और साधुओ के मूत्रादि करने का स्थान एक ही हो ।
२ जहा स्त्री एव साधुओ के बैठने का स्थान एक ही हो ।
३ जहा पर सहज ही स्त्री का रूप दिखाई देता हो ।
४ जहा पर बैठने से स्त्री के भाषा, आभूषण एव मैथुन सम्बन्धी शब्द सुनाई देते हो ।

द्रव्य-प्रतिबद्ध उपाश्रय मे स्वाध्याय आदि की ध्वनि गृहस्थ को एव गृहस्थ के कार्यों की ध्वनि साधु को बाधक हो सकती है तथा एक दूसरे के कार्यों मे व्याघात भी हो सकता है ।

भाव-प्रतिबद्ध उपाश्रय सयम एव ब्रह्मचर्य के भावो मे बाधक बन सकता है । अत द्रव्य-भाव-प्रतिबद्धशय्या मे ठहरना योग्य नही है ।

यद्यपि उक्त दोष साधु-साध्वी दोनो के लिये समान हैं, फिर भी साध्वी के लिये सूत्र मे जो विधान किया है वह अपवाद स्वरूप है। क्योकि उन्हे गृहस्थ की निश्रायुक्त उपाश्रय मे ही ठहरना होता है। निश्रायुक्त उपाश्रय कभी अप्रतिबद्ध न मिले तो प्रतिबद्ध स्थान मे ठहरना उनको आवश्यक हो जाता है। ऐसे समय मे उन्हे किस विवेक से रहना चाहिए, इसकी विस्तृत जानकारी भाष्य से करनी चाहिये। विशेष परिस्थिति मे कदाचित् साधु को भी ऐसे स्थान मे ठहरना पड जाए तो उसकी विधि भी भाष्य मे बताई गई है। उत्सर्ग विधि से तो साधु-साध्वी को अप्रतिबद्ध शय्या मे ही ठहरना चाहिये।

प्रतिबद्ध मार्ग वाले उपाश्रय मे ठहरने का विधि-निषेध

३२. नो कप्पइ निग्गंथाणं गाहावइ-कुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतु वत्थए।

३३. कप्पइ निग्गथीण गाहावइ-कुलस्स मज्झंमज्झेणं गतु वत्थए।

३२ गृह के मध्य मे होकर जिस उपाश्रय मे जाने-आने का मार्ग हो उस उपाश्रय मे निर्ग्रन्थो को रहना नही कल्पता है।

३३ गृह के मध्य मे होकर जिस उपाश्रय मे जाने-आने का मार्ग हो उस उपाश्रय मे निर्ग्रन्थियो को रहना कल्पता है।

विवेचन—यदि कोई उपाश्रय ऐसे स्थान पर हो जहा कि गृहस्थ के घर के बीचोबीच होकर जाना-आना पडे और अन्य मार्ग नही हो, ऐसे उपाश्रय मे साधुओ को नही ठहरना चाहिए, क्योकि गृहस्थ के घर के बीच मे होकर जाने-आने पर उसकी स्त्री, बहिन आदि के रूप देखने, शब्द सुनने एव गृहस्थी के अनेक प्रकार के कार्यकलापो के देखने से साधुओ का चित्त विक्षोभ को प्राप्त हो सकता है। अथवा घर मे रहने वाली स्त्रिया क्षोभ को प्राप्त हो सकती है। फिर भी साध्वियो को ठहरने का जो विधान सूत्र मे है, उसका अभिप्राय यह है कि निर्दोष निश्रा युक्त उपाश्रय न मिले तो ऐसे उपाश्रय मे साध्विया ठहर सकती है।

पूर्व सूत्रद्वय मे प्रतिबद्ध स्थान का कथन किया है। प्रस्तुत सूत्रद्वय मे स्थान अप्रतिबद्ध होते हुए भी उसका मार्ग प्रतिबद्ध हो सकता है यह बताया गया है। साधु को ऐसे प्रतिबद्ध स्थानो का वर्जन करना अत्यन्त आवश्यक है और साध्वी को इतना आवश्यक नही है। इन सभी सूत्रो के विधि-निषेधो मे ब्रह्मचर्य की रक्षा का हेतु ही प्रमुख है।

स्वयं को उपशान्त करने का विधान

३४. भिक्खु य अहिगरणं कट्टु, तं अहिगरणं विओसवित्ता, विओसवियपाहुडे—

१. इच्छाए परो आढाएज्जा, इच्छाए परो णो आढाएज्जा।

२. इच्छाए परो अब्भुट्ठेज्जा, इच्छाए परो णो अब्भुट्ठेज्जा।

३. इच्छाए परो वन्देज्जा, इच्छाए परो नो वन्देज्जा।

४. इच्छाए परो संभुंजेज्जा, इच्छाए परो नो संभुंजेज्जा।

५. इच्छाए परो संवसेज्जा, इच्छाए परो नो संवसेज्जा ।

६. इच्छाए परो उवसमेज्जा, इच्छाए परो नो उवसमेज्जा ।

जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा, जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा; तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं ।

प०—से किमाहु भंते !

उ०—"उवसमसारं खु सामण्णं ।"

३४ भिक्षु किसी के साथ कलह हो जाने पर उस कलह को उपशान्त करके स्वयं सर्वथा कलहरहित हो जाए । जिसके साथ कलह हुआ है—

१ वह भिक्षु इच्छा हो तो आदर करे, इच्छा न हो तो आदर न करे ।
२ वह इच्छा हो तो उसके सन्मान में उठे, इच्छा न हो तो न उठे ।
३ वह इच्छा हो तो वन्दना करे, इच्छा न हो तो वन्दना न करे ।
४ वह इच्छा हो तो उसके साथ भोजन करे, इच्छा न हो तो न करे ।
५ वह इच्छा हो तो उसके साथ रहे, इच्छा न हो तो न रहे ।
६ वह इच्छा हो तो उपशान्त हो, इच्छा न हो तो उपशान्त न हो ।

जो उपशान्त होता है उसके संयम की आराधना होती है । जो उपशान्त नहीं होता है उसके संयम की आराधना नहीं होती है । इसलिए अपने आपको तो उपशान्त कर ही लेना चाहिए ।

प्र०—भन्ते ! ऐसा क्यों कहा ?

उ०—(हे शिष्य) उपशम ही श्रमण-जीवन का सार है ।

विवेचन—यद्यपि भिक्षु आत्मसाधना के लिये संयम स्वीकार कर प्रतिक्षण स्वाध्याय, ध्यान आदि संयम-क्रियाओं में अप्रमत्त भाव से विचरण करता है तथापि शरीर, आहार, शिष्य, गुरु, वस्त्र, पात्र, शय्या-संस्तारक आदि कई प्रमाद एवं कषाय के निमित्त संयमी जीवन में रहते हैं ।

प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव, क्षयोपशम, विवेक भी भिन्न-भिन्न होता है ।

क्रोध मान आदि कषायों की उपशान्ति भी सभी की भिन्न-भिन्न होती है ।

परिग्रहत्यागी होते हुए भी द्रव्यों एवं क्षेत्रों के प्रति ममत्व के अभाव में (अममत्व भाव में) भिन्नता रहती है ।

विनय, सरलता, क्षमा, शान्ति आदि गुणों के विकास में सभी को एक समान सफलता नहीं मिल पाती है ।

अनुशासन करने में एवं अनुशासन पालने में भी सभी की शान्ति बराबर नहीं रहती है ।

भाषा-प्रयोग का विवेक भी प्रत्येक का भिन्न-भिन्न होता है ।

इत्यादि कारणों से साधना की अपूर्ण अवस्था में प्रमादवश उदयभाव से भिक्षुओं के आपस में कभी कषाय या क्लेश उत्पन्न हो सकता है ।

भाष्यकार ने कलह उत्पत्ति के कुछ निमित्तकारण इस प्रकार बताये हैं—

१ शिष्यो के लिये, २ उपकरणो के लिये, ३ कटु वचन के उच्चारण से, ४. भूल सुधारने की प्रेरणा करने के निमित्त से, ५ परस्पर सयमनिरपेक्ष चर्चा—वार्ता एव विकथाओ के निमित्त से, ६ श्रद्धासम्पन्न विशिष्ट स्थापना कुलो मे गोचरी करने या नही करने के निमित्त से।

कलह उत्पन्न होने के बाद भी संयमशील मुनि के सज्वलन कषाय के कारण अशान्त अवस्था अधिक समय नही रहती है। वह सम्भल कर आलोचना प्रायश्चित्त कर शुद्ध हो जाता है।

किन्तु प्रस्तुत सूत्र मे एक विशिष्ट सम्भावना बताकर उसका समाधान किया गया है कि—कभी कोई भिक्षु तीव्र कषायोदय मे आकर स्वेच्छावश उपशान्त न होना चाहे तब दूसरे उपशान्त होने वाले भिक्षु को यह सोचना चाहिये कि क्षमापणा, शान्ति, उपशान्ति आत्मनिर्भर है, परवश नही। यदि योग्य उपाय करने पर भी दूसरा उपशान्त न हो और व्यवहार मे शान्ति भी न लावे तो उसके किसी भी प्रकार के व्यवहार से पुन अशान्त नही होना चाहिये। क्योकि स्वय के पूर्ण उपशान्त एव कषायरहित हो जाने से स्वय की आराधना हो सकती है और दूसरे के अनुपशान्त रहने पर उसकी ही विराधना होती है, दोनो की नही। अत भिक्षु के लिए यही जिनाज्ञा है कि वह स्वय पूर्ण उपशान्त हो जाए।

इस विषय मे प्रश्न उपस्थित किया गया है कि यदि अन्य भिक्षु उपशान्त न होवे और उक्त व्यवहार भी शुद्ध न करे तो अकेले को उपशान्त होना क्यो आवश्यक है? इसके उत्तर मे समझाया गया है कि कषायो की उपशान्ति करना यही सयम का मुख्य लक्ष्य है। इससे ही वीतरागभाव की प्राप्ति हो सकती है। प्रत्येक स्थिति मे शान्त रहना यही सयमधारण करने का एव पालन करने का सार है। अत· अपने सयम की आराधना के लिये स्वय को सर्वथा उपशात होना अत्यत आवश्यक समझना चाहिए।

विहार सम्बन्धी विधि-निषेध

३५. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वासावासासु चारए।

३६. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमन्त-गिम्हासु चारए।

३५ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को वर्षावास मे विहार करना नही कल्पता है।

३६ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे विहार करना कल्पता है।

विवेचन—वर्षाकाल मे पानी बरसने से भूमि सर्वत्र हरित तृणाकुरादि से व्याप्त हो जाती है। घास मे रहने वाले छोटे जन्तु एव भूमि मे रहनेवाले केचुआ, गिजाई आदि जीवो से एव अन्य भी छोटे-बडे त्रसजीवो से पृथ्वी व्याप्त हो जाती है, अत सावधानीपूर्वक विहार करने पर भी उनकी विराधना सम्भव है। इसके अतिरिक्त पानी के बरसने से मार्ग मे पड़ने वाले नदी-नाले भी जल-पूर से प्रवाहित रहते हैं, अत साधु-साध्वियो को उनके पार करने में बाधा हो सकती है। विहारकाल में पानी बरसने से उनके वस्त्र एव अन्य उपधि के भीगने की भी सम्भावना रहती है, जिससे अप्काय की

विराधना सुनिश्चित है, अत वर्षाकाल मे चार मास तक एक स्थान पर ही साधु-साध्वियो के रहने का विधान प्रथम सूत्र मे किया गया है।

द्वितीय सूत्र मे चातुर्मास पश्चात् आठ मास तक विचरण करने का कथन है। विचरण करने से सयम की उन्नति, धर्मप्रभावना, ब्रह्मचर्यसमाधि एव स्वास्थ्यलाभ होता है तथा जिनाज्ञा का पालन होता है।

जिस क्षेत्र में चातुर्मास या मासकल्प व्यतीत किया हो, वहा उसके बाद स्वस्थ अवस्था मे भी रहना या दुगुना समय अन्यत्र विचरण किये बिना आकर रहना निषिद्ध है और उसका प्रायश्चित्त-विधान भी है। अत ग्रीष्म एव हेमन्त ऋतु मे शक्ति के अनुसार विचरण करना आवश्यक है।

वैराज्य-विरुद्धराज्य में बारंबार गमनागमन का निषेध

३७. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गथीण वा वेरज्ज-विरुद्धरज्जंसि सज्जं गमण, सज्जं आगमणं, सज्जं गमणागमण करित्तए।

जो खलु निग्गंथो वा निग्गथी वा वेरज्ज-विरुद्धरज्जसि सज्जं गमणं, सज्जं आगमणं सज्जं गमणागमण करेइ, करेंतं वा साइज्जइ, से दुहओ वि अइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइय।

३७ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को वैराज्य और विरोधी राज्य मे शीघ्र जाना, शीघ्र आना, और शीघ्र जाना-आना नही कल्पता है।

जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी वैराज्य और विरोधी राज्य में शीघ्र जाना, शीघ्र आना और शीघ्र जाना-आना करते है तथा शीघ्र जाना-आना करने वालो का अनुमोदन करते है, वे दोनो (तीर्थंकर और राजा) की आज्ञा का अतिक्रमण करते हुए अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्तस्थान के पात्र होते हैं।

विवेचन—निर्युक्तिकार ने और तदनुसार टीकाकार ने वैराज्य के अनेक व्युत्पत्तिपरक अर्थ किये हैं—

१ जिस राज्य मे रहने वाले लोगो मे पूर्व-पुरुष-परम्परागत वैर चल रहा हो।

२ जिन दो राज्यो मे वैर उत्पन्न हो गया हो।

३. दूसरे राज्य के ग्राम-नगरादि को जलाने वाले जहा के राजा लोग हो।

४ जहा के मत्री सेनापति आदि प्रधान पुरुष राजा से विरक्त हो रहे हो, उसे पदच्युत करने के षड्यन्त्र मे सलग्न हो।

५ जहा का राजा मर गया हो या हटा दिया गया हो ऐसे अराजक राज्य को 'वैराज्य' कहते है।

जहा पर दो राजाओ के राज्य मे परस्पर गमनागमन प्रतिषिद्ध हो, ऐसे राज्यो को 'विरुद्धराज्य' कहते है।

इस प्रकार के वैराज्य और विरुद्धराज्य मे साधु-साध्वियों को विचरने का एव कार्यवशात् जाने-आने का निषेध किया है, क्योकि ऐसे राज्यो में जल्दी-जल्दी आने-जाने से अधिकारी लोग साधु को चोर, गुप्तचर या षड्यन्त्रकारी जानकर वध, बन्धन आदि नाना प्रकार के दु.ख दे सकते हैं। अत. ऐसे 'वैराज्य' और 'विरुद्धराज्य' मे गमनागमन करने वाला साधु राजा की मर्यादा का उल्लंघन तो करता ही है, साथ ही वह जिनेश्वर की आज्ञा का भी उल्लघन करता है और इसी कारण वह चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

निर्युक्तिकार सूत्र के 'गमन', 'आगमन' और 'गमनागमन' इन अशो की व्याख्या करते हुए कहते है कि विशेष कारणो से उक्त प्रकार के 'वैराज्य' 'विरुद्ध राज्य' मे जाना-आना भी पडे तो पहले सीमावर्ती 'आरक्षक' से पूछे कि हम अमुक कार्य से आपके राज्य के भीतर जाना चाहते है, अत जाने की स्वीकृति दीजिए। यदि वह स्वीकृति देने मे अपनी असमर्थता बतलावे तो उस राज्य के नगर-सेठ के पास सदेश भेजकर स्वीकृति मगावे। उसके भी असमर्थता प्रकट करने पर सेनापति से, उसके भी असामर्थ्य प्रकट करने पर मत्री से, उसके भी असामर्थ्य बताने पर राजा के पास सदेश भेजे कि—"हम अमुक कारण-विशेष से आपके राज्य मे प्रवेश करना चाहते हैं, अत जाने की स्वीकृति दीजिए और 'आरक्षक जनो' को आज्ञा दीजिए कि वे हमे राज्य मे प्रवेश करने दे।"

इसी प्रकार आते समय भी उक्त क्रम से ही स्वीकृति लेकर वापस आना चाहिए। निर्युक्तिकार ने गमनागमन के विशेष कारण इस प्रकार बताये हैं—

१ यदि किसी साधु के माता-पिता दीक्षा के लिए उद्यत हो तो उनको दीक्षा देने के लिए।

२ यदि शोक से विह्वल हो तो उनको सान्त्वना देने के लिए।

३ भक्तपान प्रत्याख्यान (समाधिमरण) का इच्छुक साधु अपने गुरु या गीतार्थ के पास आलोचना के लिए।

४ रोगी साधु की वैयावृत्य के लिए,

५ अपने पर क्रुद्ध साधु को उपशान्त करने के लिए,

६ वादियो द्वारा शास्त्रार्थ के लिए आह्वान करने पर शासन-प्रभावना के लिए,

७ आचार्य का अपहरण कर लिए जाने पर उनको मुक्त कराने के लिए तथा इसी प्रकार के अन्य कारण उपस्थित होने पर उक्त प्रकार से स्वीकृति लेकर साधु 'वैराज्य' एव 'विरुद्धराज्य' मे जा आ सकते हैं।

सूत्र मे "सज्ज" शब्द के द्वारा जो शीघ्र-शीघ्र जाने का निषेध किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि पुनः-पुन इस प्रकार आज्ञा लेकर जाने पर राजा या राजकर्मचारी रुष्ट या शकित हो सकते हैं। क्योकि आवश्यक कार्य से एक-दो बार जाना तो क्षम्य हो सकता है किन्तु बारम्बार जाना आपत्तिजनक होता है।

ऐसे समय मे अनेक कार्य करने आवश्यक हो तो पूर्ण विचार कर एक ही बार मे उन सभी कार्यों को सम्पन्न कर लेने का विवेक रखना चाहिये और सम्भव हो तो उस दिशा, राज्य या राजधानी में जाना ही नही चाहिये, यही उत्सर्गमार्ग है। अपवाद से जाना पडे तो बारम्बार नही जाना चाहिये, यह इस सूत्र का तात्पर्य है।

गोचरी आदि में निमन्त्रित वस्त्र आदि के ग्रहण करने की विधि

३८. निग्गंथं च णं गाहावइकुल पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठं केइ वत्थेण वा, पडिग्गहेण वा, कंबलेण वा, पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपायमूले ठवेत्ता, दोच्चंपि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए।

३९. निग्गंथं च णं बहिया वियारभूमिं वा, विहारभूमिं वा, निक्खंतं समाणं केइ वत्थेण वा, पडिग्गहेण वा, कंबलेण वा, पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपाय-मूले ठवित्ता दोच्चं पि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए।

४०. निग्गंथिं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठं केइ वत्थेण वा, पडिग्गहेण वा, कंबलेण वा, पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय पवत्तिणीपायमूले ठवित्ता, दोच्च पि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए।

४१. निग्गंथिं च णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खंतिं समाणिं केइ वत्थेण वा, पडिग्गहेण वा, कंबलेण वा, पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय पवित्तिणि-पायमूले ठवेत्ता, दोच्चंपि उग्गहमणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए।

३८ गृहस्थ के घर मे आहार के लिए प्रविष्ट निर्ग्रन्थ को यदि कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोञ्छन लेने के लिए कहे तो उन्हे "साकारकृत" ग्रहण कर, आचार्य के चरणो मे रखकर पुन उनकी आज्ञा लेकर उसे अपने पास रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है।

३९ विचारभूमि (मल-मूत्र विसर्जन-स्थान) या विहारभूमि (स्वाध्यायभूमि) के लिए (उपाश्रय से) बाहर निकले हुए निर्ग्रन्थ को यदि कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोञ्छन लेने के लिए कहे तो वस्त्रादि को "साकारकृत" ग्रहण कर उन्हे आचार्य के चरणो मे रखकर पुन उनकी आज्ञा लेकर उसे अपने पास रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है।

४० गृहस्थ के घर मे आहार के लिए प्रविष्ट निर्ग्रन्थी को यदि कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोञ्छन लेने के लिए कहे तो उन्हे "साकारकृत" ग्रहण कर, प्रवर्तिनी के चरणो मे रखकर उनसे पुन. आज्ञा लेकर उसे अपने पास रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है।

४१. विचारभूमि या स्वाध्याय भूमि के लिए (उपाश्रय से) बाहर जाती हुई निर्ग्रन्थी को यदि कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोञ्छन लेने के लिए कहे तो उन्हें "साकारकृत" ग्रहण कर, प्रवर्तिनी के चरणो मे रखकर पुन आज्ञा लेकर उसे अपने पास रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन—यदि आचार्य से गोचरी की अनुज्ञा लेकर साधु भिक्षार्थ किसी गृहस्थ के घर मे जावे और गृहस्वामिनी भक्त-पान देकर सूत्रोक्त वस्त्र, पात्रादि लेने के लिए कहे और भिक्षु को उनकी आवश्यकता हो तो यह कहकर लेना चाहिए कि "यदि हमारे आचार्य आज्ञा देंगे तो इसे रखेंगे अन्यथा

तुम्हारे ये वस्त्र-पात्रादि तुम्हे वापस लौटा दिए जायेंगे", इस प्रकार से कहकर ग्रहण करने को "साकारकृत" ग्रहण करना कहा जाता है। यदि वह साधु "साकारकृत" न कहकर उसे ग्रहण करता है और अपने उपयोग मे लेता है तो गृहस्थ के द्वारा दिये जाने पर भी वह चोरी का भागी होता है और प्रायश्चित्त का पात्र बनता है। इसका कारण यह है कि गोचरी के लिये आचार्यादि से आज्ञा लेकर जाने पर आहार ग्रहण की ही आज्ञा होती है, अत वस्त्रादि के लिये स्पष्ट कह कर अलग से आज्ञा लेना आवश्यक है।

साधु जिस वस्तु की आज्ञा लेकर जाता है वही वस्तु ग्रहण कर सकता है। अन्य वस्तु लेने के लिए गृहस्थ द्वारा कहने पर या आवश्यकता ज्ञात हो जाने पर आचार्यादि की स्वीकृति के आगार से ही ले सकता है। यदि वस्त्र आदि की आज्ञा लेकर गया हो तो 'साकारकृत' लेना आवश्यक नही होता है।

सूत्र-पठित "उवनिमतेज्जा" पद की निरुक्ति करते हुए कहा गया है कि "उप-समीपे आगत्य निमत्रयेत्।" अर्थात् भिक्षा के लिये आये हुए साधु को दाता कहे कि "आप इस वस्त्र या पात्रादि को स्वीकार करे।" तब साधु उससे (खासकर गृहस्वामिनी से) पूछे कि—'यह वस्त्रादि किसका है और कैसा है अर्थात् कहा से और क्यो लाया गया है?'

इन दो प्रश्नो का सन्तोषकारक उत्तर मिलने पर पुन तीसरा प्रश्न करे कि—"मुझे क्यो दिया जा रहा है?"

यदि उत्तर मिले कि —"आपके शरीर पर अति जीर्ण वस्त्र है, या पात्रादि टूटे-फूटे दिख रहे हैं, अत आपको धर्मभावना या कर्तव्य से प्रेरित होकर दिया जा रहा है।" तब उसे "साकारकृत" (आगार के साथ) ले लेवे। यदि सन्तोषकारक उत्तर न मिले तो न लेवे।

निर्युक्तिकार ने उक्त तीनो बातो को पूछने का अभिप्राय यह बताया है कि पहले दो प्रश्नो से तो उसकी कल्पनीयता ज्ञात हो जाती है और तीसरे प्रश्न से दातार के भाव ज्ञात हो जाते हैं।

यदि साधु बिना पूछे ही उस दिये जाने वाले वस्त्रादि को ग्रहण करता है और घर का पति, देवर या अन्य दासी-दास आदि चुपचाप दिये और लिये जाने को देखता है तो देने और लेने वाले के विषय मे वह अनेक प्रकार की आशकाए कर सकता है कि—"हमारे घर की इस स्त्री का और साधु का कोई पारस्परिक आकर्षण प्रतीत होता है अथवा इसके सन्तान नही है, अत यह साधु से सन्तानोत्पत्ति के विषय मे कोई मन्त्र, तन्त्र या भेषज प्रयोग चाहती है।" इस प्रकार की नाना शंकाओ से आक्रान्त होकर वह स्त्री की, साधु की या दोनो की ही निन्दा, मारपीट आदि कर सकता है।

यदि घर के किसी व्यक्ति ने ऐसी कोई बात नही देखी-सुनी है और देने वाली स्त्री सन्तानादि से हीन होने के कारण साधु से किसी विद्या, मन्त्रादि को चाहती है तो उस दी गयी वस्तु को लेकर चले जाने पर वह उपाश्रय मे जाकर पूछ सकती है कि—"मुझे अमुक कार्य की सिद्धि का उपाय बताओ।"

अथवा वह स्त्री यदि प्रोषितभर्तृका है या कामातुरा है या उपाश्रय मे जाकर अपनी दूषित भावना को पूर्ण करने के लिए भी कह सकती है। उसके ऐसा कहने पर साधु मन्त्रादि के विषय मे तो यह उत्तर दे कि—"गृहस्थो के लिए निमित्त (मन्त्रादि) का प्रयोग करना हमे नही कल्पता है।"

कामाभिलाषा प्रकट करने पर कुशीलसेवन के दोष बताकर कहे कि—"हम सयमी हैं, ऐसा पापाचरण करके अपने सयम का नाश नही करना चाहते हैं।" ऐसा कहने पर वह क्षुब्ध होकर साधु की अपकीर्ति भी कर सकती है, अपनी दी गई वस्तु वापस भी माग सकती है और इसी प्रकार के अन्य अनेक उपद्रव भी कर सकती है। इन सब कारणो से साधु को उक्त तीन प्रश्न पूछकर और दिये जाने वाले वस्त्र-पात्रादि के पूर्ण शुद्ध ज्ञात होने पर तथा दातार के विशुद्ध भावो को यथार्थ जानकर ही आगार के साथ लेना उचित है, अन्यथा नही।

साध्वी को भी इसी विधि का पालन करना चाहिए किन्तु यहा इतना विशेष ज्ञातव्य है कि प्रवर्तिनी उस साध्वी के द्वारा लाये गये वस्त्रादि को सात दिन तक अपने पास रखती है और उसकी यतना से परीक्षा करती है कि—"यह विद्या, समोहन-चूर्ण, मन्त्र आदि से तो मन्त्रित नही है?" यदि उसे वह निर्दोष प्रतीत हो तो वह लाने वाली साध्वी को या उसे आवश्यकता न होने पर अन्य साध्वी को दे देती है। वह यह भी देखती है कि देने वाला व्यक्ति युवा, विधुर, व्यभिचारी या दुराचारी तो नही है और जिसे दिया गया है, वह युवती और नवदीक्षिता तो नही है। यदि इनमे से कोई भी कारण दृष्टिगोचर हो तो प्रवर्तिनी उसे वापस करा देती है। यदि ऐसा कोई कारण नही हो तो उसे अन्य साध्वी को दे देती है। इतनी परीक्षा का कारण निर्युक्तिकार ने यह बताया है कि—"स्त्रिया प्रकृति से ही अल्पधैर्यवाली होती हैं और दूसरे के प्रलोभन से शीघ्र लुब्ध हो जाती हैं।"

यद्यपि सूत्र मे साध्वी को श्रावक से "साकारकृत" वस्त्रादि लेने का विधान है, पर भाष्यकार ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि—"उत्सर्गमार्ग तो यही है कि साध्वी किसी भी गृहस्थ से स्वय वस्त्रादि नही ले। जब भी उसे वस्त्रादि की आवश्यकता हो, वह अपनी प्रवर्तिनी से कहे अथवा गणधर या आचार्य से कहे। आचार्य गृहस्थ के यहा से वस्त्र लावे और सात दिन तक अपने पास रखे। तत्पश्चात् उसे धोकर किसी साधु को ओढावे। इस प्रकार परीक्षा करने पर यदि वह निर्दोष ज्ञात हो तो प्रवर्तिनी को दे और वह उसे लेकर उस साध्वी को दे जिसे उसकी आवश्यकता है। यदि कदाचित् गणधर या आचार्य समीप न हो तो प्रवर्तिनी गृहस्थ के यहा से वस्त्र लावे और उक्त विधि से परीक्षा कर साध्वी को देवे। यदि कदाचित् गोचरी, विचारभूमि या विहारभूमि को जाते आते समय कोई गृहस्थ वस्त्र लेने के लिए निमन्त्रित करे और साध्वी को वस्त्र लेना आवश्यक ही हो तो, उसे 'साकारकृत' लेकर प्रवर्तिनी को लाकर देना चाहिए और वह परीक्षा करके उस साध्वी को देवे।

यह विधि अपरिचित या अल्पपरिचित दाता की अपेक्षा से समझनी चाहिए। सुपरिचित एव विश्वस्त श्रावक-श्राविका से वस्त्रादि ग्रहण करने मे सूत्रोक्त विधि ही पर्याप्त होती है। भाष्योक्त विधि उसके लिये आवश्यक नही है ऐसा समझना चाहिए।

रात्रि में आहारादि की गवेषणा का निषेध एवं अपवाद विधान

४२. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेत्तए।

नऽन्नत्थ एगेणं पुव्वपडिलेहिएण सेज्जासंथारएणं।

४३. नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा राओ वा वियाले वा वत्थं वा, पडिग्गह वा, कम्बलं वा, पायपुंछणं वा पडिगाहेत्तए।

नऽन्नत्थ एगाए हरियाहडियाए,

सा वि य परिभुत्ता वा, धोया वा, रत्ता वा, घट्ठा वा, मट्ठा वा, संपधूमिया वा।

४२. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को रात्रि में या विकाल मे अशन, पान, खादिम और स्वादिम लेना नहीं कल्पता है।

केवल एक पूर्वप्रतिलेखित शय्यासस्तारक को छोडकर।

४३ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को रात्रि मे या विकाल मे वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोछन लेना नही कल्पता है।

केवल एक 'हृताहृतिका' को छोडकर।

वह परिभुक्त, धौत, रक्त, घृष्ट, मृष्ट या सम्प्रधूमित भी कर दी गयी हो तो भी रात्रि मे लेना कल्पता है।

विवेचन—कुछ आचार्य रात्रि का अर्थ सन्ध्याकाल करते हैं और कुछ आचार्य विकाल का अर्थ सन्ध्याकाल करते हैं। टीकाकार ने निरुक्तिकार के दोनो ही अर्थ सगत कहे हैं। अत· पूर्व प्रतिलेखित शय्यासस्तारक के अतिरिक्त रात्रि मे या सन्ध्या के समय भक्त-पान ग्रहण करना नही कल्पता है।

यद्यपि ४२ दोषो मे "रात्रिभोजन" का निषेध नही है, तथापि दशवैकालिकसूत्र के छज्जीव-निकाय नामक अध्ययन मे "राइभोयणवेरमण" नामक छठे व्रत का स्पष्ट विधान है। अतएव साधु को किसी भी प्रकार का भक्त-पान रात्रि मे लेना नही कल्पता है। इसके अतिरिक्त दिन के समय भी जिस स्थान पर अन्धकार हो वहा पर भी जब साधु को भोजन ग्रहण करना नही कल्पता है तो अन्धकार से परिपूर्ण रात्रि मे तो उसे ग्रहण करना कैसे कल्प सकता है ? कभी नही।

शंका—उक्त छट्ठे रात्रि-भक्त व्रत में रात मे खाने-पीने का निषेध किया है, पर रात में भक्त-पान को लाने मे क्या दोष है ?

समाधान—रात्रि मे गोचरी के लिए गमनागमन करने पर षट्कायिक जीवो की विराधना होती है, उनकी विराधना से सयम की विराधना होती है और सयम की विराधना से आत्म-विराधना होती है। इसके अतिरिक्त रात मे आते-जाते हुए को कोई चोर समझकर पकड ले, गृहस्थ के घर जाने पर वहा अनेक प्रकार की आशकाए हो जाएँ, इत्यादि कारणो से रात्रि मे गोचरी के लिए गमना-गमन करने पर अनेक दोष सम्भव है। अत रात्रि मे भक्त-पान लाना भी नही चाहिए। दशवै अ ६ में रात्रि मे आहार ग्रहण करने के दोष बताये हैं एव निशीथ उ १० मे उनके प्रायश्चित्त भी कहे हैं।

शंका—जब रात्रि मे अशनादि ग्रहण करने का सर्वथा निषेध है तो पूर्वप्रतिलेखित शय्या-संस्तारक को छोडकर ऐसा विधान सूत्र मे क्यों किया गया ?

समाधान—उत्सर्गमार्ग तो यही है कि—रात मे किसी भी पदार्थ को ग्रहण नही करना चाहिए। किन्तु यह सूत्र अपवादमार्ग का प्ररूपक है। इसका अभिप्राय यह है कि मार्ग भूलने या मार्ग अधिक लम्बा निकल जाने आदि कारणो से स्थविरकल्पी भिक्षु सूर्यास्त बाद भी योग्य स्थान पर पहुंच

कर ठहरते है तब उन्हे ठहरने के लिये मकान एवं जीवरक्षा आदि कारणो से पाट सस्तारक आदि रात्रि एव विकाल मे ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है।

सूर्यास्त-पूर्व मकान मिल जाने पर भी कभी आवश्यक पाट गृहस्थ की दुकान आदि से रात्रि के एक दो घटे बाद भी मिलना सम्भव हो तो वह भी रात्रि मे ग्रहण किया जा सकता है।

ऐसी परिस्थितियो की अपेक्षा से ही यह विधान समझना चाहिए।

दूसरे सूत्र से रात्रि मे वस्त्रादि ग्रहण करने का निषेध किया गया है किन्तु ग्रामानुग्राम विचरते समय कोई चोर आदि किसी साधु या साध्वी के किसी वस्त्र आदि को छीन ले जावे या उपाश्रय से चुरा ले जावे। कुछ समय बाद ले जाने वाले को यह सद्‌बुद्धि पैदा हो कि—"मुझे साधु या साध्वी का यह वस्त्र आदि चुराना या छीनना नही चाहिए था।" तदनन्तर वह सन्ध्या या रात के समय आकर दे या साधु को दिखाई देने योग्य स्थान पर रख दे तो ऐसे वस्त्र आदि के ग्रहण करने को "हृताहृतिका" कहते है। पहले हरी गयी, पीछे आहृत की गयी वस्तु "हृताहृतिका" कही जाती है।

वह हृताहृतिक वस्त्र आदि कैसा हो, इसका स्पष्टीकरण सूत्र मे परिभुक्त आदि पदो से किया गया है, जिनका अर्थ इस प्रकार है—

परिभुक्त—उस वस्त्र आदि को ले जाने वाले ने यदि उसे ओढने आदि के उपयोग मे ले लिया हो।

धौत—जल से धो लिया हो।

रक्त—पाच प्रकार के रगो मे से किसी रग मे रग लिया हो।

घृष्ट—वस्त्र आदि पर के चिह्न-विशेषो को घिसकर मिटा दिया हो।

मृष्ट—मोटे या खुरदरे कपडे आदि को द्रव्य-विशेष से युक्त कर कोमल बना दिया हो।

सम्प्रधूमित—सुगन्धित धूप आदि से सुवासित कर दिया हो।

इन उक्त प्रकारो मे से किसी भी प्रकार का वस्त्र आदि यदि ले जाने वाला व्यक्ति रात मे लाकर भी वापस दे तो साधु और साध्वी उसे ग्रहण कर सकते है।

अपने अपहृत वस्त्र आदि के अतिरिक्त यदि कोई नवीन वस्त्र, पात्र, पादप्रोछन आदि सन्ध्या-काल या रात्रि मे लाकर दे तो उसे लेना साधु या साध्वी को नही कल्पता है।

सूत्र मे "हरियाहडियाए" ऐसा पाठ है, जिसका निर्युक्तिकार ने "हरिऊण य आहडिया, छूढा हरिएसु वाऽऽहट्टु" इस प्रकार से उसके दो अर्थ किये हैं।

प्रथम अर्थ के अनुसार वह स्वय आकर दे और दूसरे अर्थ के अनुसार वह यदि "हरितकाय" (वृक्ष-झाडी आदि) पर डाल जाए और जिसका वह वस्त्रादि हो उसे चन्द्र के प्रकाश आदि मे दिख जाए तो साधु या साध्वी सन्ध्या या रात के समय जाकर उसे ला सकता है।

अथवा उसे कोई अन्य पुरुष उठाकर और यह अमुक साधु या साध्वी का है, ऐसा समझ करके लाकर दे तो जिसका वह वस्त्रादि है, वह उसे ग्रहण कर सकता है। "हृताहृतिका" शब्द स्त्रीलिंग है इसलिए सूत्र में "सा वि य परिभुत्ता" आदि स्त्रीलिंग वाची पाठ है। इसका अर्थ है "चोरी मे गई हुई वस्तु।"

रात्रि में गमनागमन का निषेध

४४. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा अद्धाणगमणं एत्तए।

४५. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा सखडिं वा संखडिपडियाए एत्तए।

४४. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को रात्रि मे या विकाल मे मार्ग-गमन करना नही कल्पता है।

४५. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को रात्रि मे या विकाल मे सखडि के लिये सखडी-स्थल पर (अन्यत्र) जाना भी नही कल्पता है।

विवेचन—प्रथम सूत्र मे रात्रि या सन्ध्याकाल मे साधु और साध्वियो को विहार करने का सर्वथा निषेध किया गया है, क्योकि उस समय गमन करने पर मार्ग पर चलने वाले जीव दृष्टिगोचर नही होते है। अत. ईर्यासमिति का पालन नही हो सकता है और उसके पालन न होने से सयम की विराधना होती है तथा उत्तरा अ २६ मे ईर्यासमिति का काल दिन का ही कहा है, रात्रि का नही, इस मर्यादा का उल्लघन भी होता है। इसके अतिरिक्त पैरो मे काटे आदि लगने से, ठोकर खाकर गिरने से या गड्ढे मे पड जाने से आत्म-विराधना भी होती है, सांप आदि के द्वारा डसने की या शेर-चीते आदि के द्वारा खाये जाने की भी सम्भावना रहती है, इसलिए रात्रि मे गमन करने का सर्वथा निषेध किया गया है।

दूसरे सूत्र मे सखडी मे जाने का निषेध किया है।

भोज या जीमनवार-विशेष को सखडी कहते हैं, जो एक दिन का या अनेक दिन का भी होता है। उसमे मुख्य दिन आसपास के सभी ग्रामवासियो को आने के लिए निमन्त्रण दिया जाता है। ऐसे क्षेत्र मे रहे हुए भिक्षु को उस दिन अन्यत्र कहीं भिक्षा प्राप्त नही होती है। ऐसी परिस्थिति मे दो कोस के भीतर की सखडी मे से जनसमूह के आने के पूर्व भिक्षु गोचरी ला सकता है।

आचाराग श्रु २, अ १, उ २ में दो कोस उपरान्त संखडी मे जाने का निषेध है तथा निमन्त्रण देने पर भी सखडियो मे जाने का एव वहा ठहरने का भी निषेध है। अत. उक्त परिस्थिति के कारण दो कोस के भीतर की सखडी मे से भिक्षा लाने के सकल्प से कोई भिक्षु सूर्योदय पूर्व अपने स्थान से निकलकर वहा सूर्योदय बाद भिक्षा ग्रहण करने हेतु जाना चाहे तो उसका प्रस्तुत सूत्र मे निषेध किया गया है। अत उक्त सखडी मे कभी जाना आवश्यक हो तो भिक्षु दिन मे ही विवेकपूर्वक जा सकता है।

सूत्र मे रात्रि शब्द के साथ विकाल शब्द के प्रयोग से यह बताया गया है कि सूर्योदय पूर्व उषाकाल में एव सूर्यास्त बाद सन्ध्याकाल मे भी भिक्षु को विहार एव सखडी के लिये गमनागमन नही करना चाहिए।

रात्रि में स्थंडिल एवं स्वाध्याय-भूमि में अकेले जाने का निषेध

४६. नो कप्पइ निग्गंथस्स एगाणियस्स राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

कप्पइ से अप्पबिइयस्स वा अप्पतइयस्स वा राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

४७. नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

कप्पइ से अप्पबिइयाए वा अप्पतइयाए वा अप्पचउत्थीए वा राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

४६ अकेले निर्ग्रन्थ को रात्रि मे या विकाल मे उपाश्रय से बाहर की विचारभूमि या विहारभूमि मे जाना-आना नही कल्पता है।

उसे एक या दो निर्ग्रन्थो को साथ लेकर रात्रि मे या विकाल मे उपाश्रय की सीमा से बाहर की विचारभूमि या विहारभूमि मे जाना-आना कल्पता है।

४७ अकेली निर्ग्रन्थी को रात्रि मे या विकाल मे उपाश्रय से बाहर की विचारभूमि या विहारभूमि मे जाना-आना नही कल्पता है।

एक, दो या तीन निर्ग्रन्थियो को साथ लेकर रात्रि मे या विकाल मे उपाश्रय से बाहर की विचारभूमि या विहारभूमि मे जाना-आना कल्पता है।

विवेचन—मल-मूत्र त्यागने के स्थान को—'विचारभूमि' कहते है और स्वाध्याय के स्थान को 'विहारभूमि' कहते हैं।

रात्रि के समय या सन्ध्याकाल मे यदि किसी साधु को मल-मूत्र-विसर्जन के लिए जाना आवश्यक हो तो उसे अपने स्थान से बाहर विचारभूमि मे अकेला नही जाना चाहिए।

इसी प्रकार उक्त काल मे यदि स्वाध्यायार्थ विहारभूमि मे जाना हो तो उपाश्रय से बाहर अकेले नही जाना चाहिए। किन्तु वह एक या दो साधुओ के साथ जा सकता है।

उपाश्रय का भीतरी भाग एव उपाश्रय के बाहर सौ हाथ का क्षेत्र उपाश्रय की सीमा मे गिना गया है, उससे दूर (आगे) जाने की अपेक्षा से सूत्र मे 'बहिया' शब्द का प्रयोग किया गया है।

स्वाध्याय के लिये या मल-विसर्जन के लिये दूर जाकर पुन आने मे समय अधिक लगता है। इस कारण से अकेले जाने मे अनेक आपत्तियो एव आशकाओ की सम्भावना रहती है। यथा—

१ प्रबल मोह के उदय से या स्त्रीउपसर्ग से पराजित होकर अकेला भिक्षु ब्रह्मचर्य खडित कर सकता है। २. सर्प आदि जानवर के काटने से, मूर्च्छा आने से या कोई टक्कर लगने से कही गिरकर पड सकता है। ३ चोर, ग्रामरक्षक आदि पकड सकते हैं एव मारपीट कर सकते हैं। ४. स्वय भी कही भाग सकता है। ५. अथवा आयु समाप्त हो जाए तो उसके मरने की बहुत समय तक किसी को जानकारी भी नही हो पाती है इत्यादि कारणो से रात्रि मे अकेले भिक्षु को मल त्यागने एव स्वाध्याय करने के लिए उपाश्रय की सीमा से बाहर नही जाना चाहिये। उपाश्रय की सीमा मे जाने पर उक्त

दोषो की सम्भावना प्राय नही रहती है । क्योकि वहा तो अन्य साधुओ का जाना-आना बना रहता है एव कोई आवाज होने पर भी सुनी जा सकती है ।

साधुओ की सख्या अधिक हो और मकान छोटा हो अथवा उपाश्रय में अस्वाध्याय का कोई कारण हो जाए तो रात्रि मे स्वाध्याय के लिये अन्यत्र गमनागमन किया जाता है, अन्यथा रात्रि मे ईर्या का काल न होने से गमनागमन करने का निषेध ही है ।

उपाश्रय की याचना करते समय ही उसके मल-मूत्र त्यागने की भूमि से सम्पन्न होने का अवश्य ध्यान रखना चाहिए, ऐसा आचा श्रु २, अ २, उ २ मे तथा दशवै अ. ८, गा ५२ मे विधान है । मल-मूत्र आदि शरीर के स्वाभाविक वेगो को रोका नही जा सकता है इसलिए रात्रि मे भी किसी साधु को बाहर जाना पडता है ।

भाष्यकार ने बताया है कि यदि साधु भयभीत होने वाला न हो एव उपर्युक्त दोषो की सम्भावना न हो तो साथ के साधुओ को सूचित करके सावधानी रखते हुए अकेला भी जा सकता है । दो साधु है और एक बीमार है अथवा तीन साधु है, एक बीमार है और एक को उसकी सेवा मे बैठना आवश्यक है तो उसे सूचित करके सावधानी रखते हुए अकेला भी जा सकता है । अनेक कारणो से अथवा अभिग्रह, पडिमा आदि धारण करने से एकाकी विचरण करने वाले भी कभी रात्रि मे बाहर जाना आवश्यक हो तो सावधानी रखकर जा सकते हैं । किन्तु उत्सर्गविधि से सूत्र में कहे अनुसार एक या दो साधुओ को साथ मे लेकर ही जाना चाहिए । एक से अधिक साधुओ को साथ ले जाने का कारण यह है कि कही अत्यधिक भयजनक स्थान होते हैं ।

साध्वी को तो दिन मे भी गोचरी आदि कही भी अकेले जाने का निषेध ही है । अत. रात्रि मे तो इसका ध्यान रखना अधिक आवश्यक है । दो से अधिक साध्वियो के जाने का अर्थात् तीन या चार के जाने का कारण केवल भयजनक स्थिति या भयभीत होने की प्रकृति ही समझना चाहिये । शेष विवेचन भिक्षु सम्बन्धी विवेचन के समान ही समझना चाहिए । किन्तु साध्वियो को किसी प्रकार के अपवाद मे भी अकेले जाना उचित नही है, अत कोई विशेष परिस्थिति हो तो श्राविका या श्रावक को साथ मे लेकर जाना ही श्रेयस्कर होता है ।

अन्य किसी विशेष परिस्थिति मे साधु-साध्वी उच्चारमात्रक मे मलविसर्जन कर प्रात काल भी परठ सकते है एव यथायोग्य प्रायश्चित्त ग्रहण कर सकते हैं ।

आर्यक्षेत्र में विचरण करने का विधान

४८. कप्पइ निग्गथाण वा निग्गंथीण वा—पुरत्थिमेणं जाव अंगमगहाओ एत्तए, दक्खिणेणं जाव कोसम्बीओ एत्तए, पच्चत्थिमेण जाव थूणाविसयाओ एत्तए, उत्तरेणं जाव कुणालाविसयाओ एत्तए । एयावयाव कप्पइ, एयावयाव आरिए खेत्ते । नो से कप्पइ एत्तो बहिं, तेण परं जत्थ नाण-दंसण-चरित्ताइ उस्सप्पन्ति । त्ति बेमि ।

४८. निर्ग्रन्थों को और निर्ग्रन्थियो को पूर्व दिशा मे अग-मगध तक, दक्षिण दिशा मे कोशाम्बी तक, पश्चिम दिशा मे स्थूणा देश तक और उत्तर दिशा मे कुणाल देश तक जाना कल्पता है । इतना ही आर्यक्षेत्र है । इससे बाहर जाना नही कल्पता है । तदुपरान्त जहा ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की वृद्धि होती हो वहा विचरण करे ।

विवेचन—इस भरतक्षेत्र के साढे पच्चीस आर्यदेश प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद मे बताये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. मगध, २ अग, ३. बग, ४ कलिग, ५ काशी, ६ कौशल, ७ कुरु, ८ सौर्य, ९. पाचाल, १० जागल, ११. सौराष्ट्र, १२. विदेह, १३ वत्स, १४ सडिब्भ, १५ मलय, १६. बच्छ, १७. अच्छ, १८. दशार्ण, १९ चेदि, २० सिन्धु-सौवीर, २१ सूरसेन, २२ भृग २३ कुणाल, २४. कोटिवर्ष, २५ लाढ और केकय अर्ध।

प्रकृत सूत्र मे इनकी सीमा रूप से, पूर्व दिशा मे– अगदेश (जिसकी राजधानी चम्पा नगरी रही है) से मगधदेश (जिसकी राजधानी राजगृह रही है) तक।

दक्षिण दिशा मे—वत्सदेश (जिसकी राजधानी कोशाम्बी रही है) तक। पश्चिम दिशा मे—स्थूणादेश तक। उत्तर दिशा में—कुणाल देश (जिसकी राजधानी श्रावस्ती नगरी रही है) तक जाने का विधान साधु-साध्वियो के लिए किया गया है। इसका कारण यह बतलाया गया है कि इन चारो दिशाओ की सीमा के भीतर ही तीर्थकरो के जन्म निष्क्रमण आदि की महिमा होती है, यही पर केवलज्ञान दर्शन को उत्पन्न करने वाले सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थकरादि महापुरुष धर्म का उपदेश देते है, यही पर भव्यजीव प्रतिबोध को प्राप्त होते है और यही पर जिनवरो से धर्मश्रवण कर अपना सशय दूर करते हैं।

इसके अतिरिक्त यहा पर साधु-साध्वियो को भक्त-पान एव उपधि सुलभता से प्राप्त होती है और यहा के श्रावक जन या अन्य लोग साधु-साध्वियो के आचार-विचार के ज्ञाता होते है। अत उन्हे इन आर्यक्षेत्रो मे ही विहार करना चाहिए।

सूत्र मे निश्चित शब्दो मे कहा गया है कि 'इतना ही आर्य क्षेत्र है और इतना ही विचरना कल्पता है, इनके बाहर विचरना नही कल्पता है।' इसका तात्पर्य यह है कि यह शाश्वत आर्यक्षेत्र है।

कदाचित् कोई राजा आदि की सत् प्रेरणा से अनार्यक्षेत्र का जनसमुदाय आर्य स्वभाव मे परिणत हो भी जाए तो अल्पकालीन परिवर्तन आ सकता है। उसी तरह आर्यक्षेत्र मे भी अल्पकालीन परिवर्तन होकर जनसमुदाय अनार्य स्वभाव मे परिणत हो सकता है, इसी कारण से अन्तिम सूत्राश मे यह कहा गया है कि—'क्षेत्रमर्यादा एव कल्पमर्यादा इस प्रकार से होते हुए भी जब जहा विचरण करने से सयम गुणो का विकास हो वही विचरण करना चाहिए।'

क्योकि कभी अनार्यक्षेत्र मे किसी के सयमगुणो की वृद्धि एव जिनशासन की प्रभावना हो सकती है और कभी कही आर्यक्षेत्र मे भी सयमगुणो की हानि हो सकती है। इसलिए सूत्र मे क्षेत्र-सीमा का कथन करके सयमवृद्धि का लक्ष्य रखकर विचरने का विशेष विधान किया है।

भाष्य और टीका मे बताया गया है कि सप्रति राजा की प्रेरणा एव प्रयत्नो से अनार्यक्षेत्र मे भी साधु-साध्वी विचरने लगे थे।

आर्यक्षेत्र मे भी जहा लम्बे मार्ग हो, लम्बी अटवी हो, जिनको पार करने मे अनेक दिन लगते हो तो उन क्षेत्रो में विचरण करने का आचा श्रु २, अ. ३ में निषेध किया गया है और उनमे विचरण करने से होने वाले दोषो का स्पष्टीकरण भी किया है, अत आर्यक्षेत्र के भी ऐसे विभागो मे साधु-साध्वी को नही जाना चाहिए।

इस सूत्र से एवं आचारागसूत्र से यह निर्णय हो जाता है कि सयमोन्नति का मुख्य लक्ष्य रखते हुए एव अपनी क्षमता का ध्यान रखते हुए किसी भी क्षेत्र मे विचरण किया जा सकता है, किन्तु सामान्यतया आर्यक्षेत्र से बाहर विचरण करने का निषेध ही समझना चाहिए।

सूत्र मे आर्यक्षेत्र के चारो दिशाओ के किनारे पर आए देशो के नाम कहे गए हैं, किन्तु दक्षिण दिशा मे कच्छ देश न कहकर वहा की प्रसिद्ध नगरी 'कोसम्बी' का कथन किया गया है।

थूणा देश का नाम एव उसकी मुख्य नगरी का नाम उपर्युक्त पच्चीस आर्यक्षेत्रो मे नही है, इसका कारण नामो की अनेकता या भिन्नता होना ही है।

प्रथम उद्देशक का सारांश

सूत्र १-५ वनस्पति के मूल से लेकर बीज पर्यन्त दस विभागो मे जितने खाने योग्य विभाग हैं वे अचित्त होने पर ग्रहण किये जा सकते हैं किन्तु साध्वी कन्द, मूल, फल आदि के अविधि से किए गए बडे-बडे टुकडे अचित्त होने पर भी ग्रहण नही कर सकती है।

६-९ ग्राम, नगर आदि मे एक मास रहना कल्पता है। यदि उसके उपनगर आदि हो तो उनमे अलग-अलग अनेक मासकल्प तक ठहरा जा सकता है, किन्तु जहा रहे वही भिक्षा के लिये भ्रमण करना चाहिए, अन्य उपनगरो मे नही।

१०-११ एक परिक्षेप एव एक गमनागमन के मार्ग वाले ग्रामादि मे साधु-साध्वी को एक काल मे नही रहना चाहिए, किन्तु उसमे अनेक मार्ग या द्वार हो तो वे एक काल में भी रह सकते हैं।

१२-१३ पुरुषो के अत्यधिक गमनागमन वाले तिराहे, चौराहे या बाजार आदि मे बने हुए उपाश्रयो मे साध्वियो को नही रहना चाहिए, किन्तु साधु उन उपाश्रयो मे ठहर सकते हैं।

१४-१५ द्वार-रहित स्थान मे साध्वियो को नही ठहरना चाहिए, परिस्थितिवश यदि ठहरना पडे तो पर्दा लगाकर द्वार को बन्द कर लेना चाहिए। किन्तु ऐसे स्थानो पर भिक्षु ठहर सकते है।

१६-१७ सुराही के आकार का प्रश्रवण-मात्रक साध्वी रख सकती है, किन्तु साधु नही रख सकता है।

१८ साधु-साध्वी को वस्त्र की चिलमिलिका (मच्छरदानी) रखना कल्पता है।

१९ पानी के किनारे साधु-साध्वी को बैठना आदि क्रियाए नही करनी चाहिए।

२०-२१ चित्रों से युक्त मकान मे नही ठहरना चाहिए।

२२-२४ साध्वियो को शय्यातर के सरक्षण मे ही ठहरना चाहिए, किन्तु भिक्षु बिना सरक्षण के भी ठहर सकता है।

सूत्र २५-२९　स्त्री-पुरुषो के निवास से रहित मकान मे ही साधु-साध्वियो को ठहरना चाहिए। केवल पुरुषो के निवास वाले मकान मे भिक्षु और केवल स्त्रियो के निवास वाले मकान मे साध्विया ठहर सकती हैं।

३०-३१　द्रव्य या भावप्रतिबद्ध उपाश्रय मे भिक्षु को रहना नही कल्पता है, कदाचित् साध्विया रह सकती हैं।

३२-३३　प्रतिबद्धमार्ग वाले उपाश्रय मे भिक्षु को रहना नही कल्पता है, साध्विया कदाचित् रह सकती हैं।

३४　किसी के साथ क्लेश हो जाए तो उसके उपशान्त न होने पर भी स्वय को सर्वथा उपशान्त होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा सयम की आराधना नही होती है।

३५-३६　साधु-साध्वियो को चातुर्मास मे एक स्थान पर ही रहना चाहिये तथा हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे शक्ति के अनुसार विचरण करते रहना चाहिए।

३७　जिन राज्यो मे परस्पर विरोध चल रहा हो वहा बारम्बार गमनागमन नही करना चाहिए।

३८-४१　साधु या साध्विया गोचरी आदि के लिये गये हो और वहा कोई वस्त्रादि लेने के लिए कहे तो आचार्यादि की स्वीकृति की शर्त रखकर ही ग्रहण करे। यदि वे स्वीकृति दे तो रखे, अन्यथा लौटा देवें।

४२-४३　साधु-साध्विया रात्रि मे आहार, वस्त्र, पात्र, शय्या-सस्तारक ग्रहण न करे। कभी विशेष परिस्थिति मे शय्या-संस्तारक ग्रहण किया जा सकता है तथा चुराये गये वस्त्र, पात्रादि कोई पुन लाकर दे तो उन्हे रात्रि मे भी ग्रहण किया जा सकता है।

४४-४५　रात्रि मे या विकाल मे साधु-साध्वियो को विहार नही करना चाहिए तथा दूर क्षेत्र मे होने वाला सखडी मे आहार ग्रहण करने के लिये भी रात्रि मे नही जाना चाहिये।

४६-४७　साधु-साध्वियो को रात्रि मे उच्चार-प्रश्रवण या स्वाध्याय के लिये उपाश्रय से कुछ दूर अकेले नही जाना चाहिए, किन्तु दो या तीन-चार को साथ लेकर जा सकते हैं।

४८　चारो दिशाओ मे जो आर्यक्षेत्रो की सीमा सूत्र मे बताई गई है, उसके भीतर ही साधु-साध्वियो को विचरना चाहिए। किन्तु सयम की उन्नति के लिए विवेकपूर्वक किसी भी योग्य क्षेत्र मे विचरण किया जा सकता है।

उपसंहार

इस उद्देशक मे—

सूत्र १-५　वनस्पति विभागो के (ताल-प्रलम्ब के) अनेक खाद्य पदार्थों के कल्प्याकल्प्य का,

६-९　कल्पकाल की मर्यादा का,

१०-११　एक काल मे साधु-साध्वियो के रहने के योग्यायोग्य ग्रामादि का,

सूत्र	विषय
१२-१५, २०, २१, २५-३३	अनेक प्रकार के कल्प्याकल्प्य उपाश्रयो का,
१६-१७	घटीमात्रक के (मिट्टी की घटिका की आकृति वाले मात्रक के) कल्प्याकल्प्य का,
१८	चिलमिलिका (मच्छरदानी) रखने का,
१९	जल के किनारे खडे रहना आदि का,
२२-२४	शय्यातर का सरक्षण ग्रहण करने—न करने का,
३४	क्लेश को पूर्णत उपशान्त करने का,
३५-३६, ४८	विचरण काल का एव विचरण के क्षेत्रो की मर्यादा का,
३७	विरोधी राज्यो के बीच गमनागमन न करने का,
३८-४१	गोचरी आदि के लिये गये हुए साधु-साध्वियो को वस्त्रादि लेने की विधि का,
४२-४३	रात्रि मे आहारादि ग्रहण न करने का,
४४	रात्रि मे विहार न करने का,
४५	रात्रि मे दूरवर्ती सखडि (जीमनवार) के लिये न जाने का,
४६-४७	रात्रि मे उपाश्रय की सीमा के बाहर अकेले न जाने,
	इत्यादि भिन्न-भिन्न विषयो का वर्णन किया गया है।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

दूसरा उद्देशक

धान्ययुक्त उपाश्रय में रहने के विधि-निषेध

१. उवस्सयस्स अंतोवगडाए १. सालीणि वा, २. वीहीणि वा, ३. मुग्गाणि वा, ४. मासाणि वा, ५. तिलाणि वा, ६. कुलत्थाणि वा, ७. गोधूमाणि वा, ८. जवाणि वा, ९. जवजवाणि वा, उक्खित्ताणि वा, विक्खित्ताणि वा, विइगिण्णाणि वा, विप्पइण्णाणि वा नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए।

२. अह पुण एवं जाणेज्जा—नो उक्खित्ताइं, नो विक्खित्ताइं, नो विइकिण्णाइं, नो विप्पइण्णाइं।

रासिकडाणि वा, पुंजकडाणि वा, भित्तिकडाणि वा, कुलियाकडाणि वा, लंछियाणि वा, मुद्दियाणि वा, पिहियाणि वा।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमन्त-गिम्हासु वत्थए।

३. अह पुण एवं जाणेज्जा—नो रासिकडाइं, नो पुंजकडाइं, नो भित्तिकडाइं, नो कुलियाकडाइं।

कोट्ठाउत्ताणि वा, पल्लाउत्ताणि वा, मंचाउत्ताणि वा, मालाउत्ताणि वा, ओलित्ताणि वा, विलित्ताणि वा, पिहियाणि वा, लंछियाणि वा, मुद्दियाणि वा।

कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा वासावासं वत्थए।

१ उपाश्रय के भीतरी भाग (सीमा) मे १ शालि, २ व्रीहि, ३. मूग, ४ उडद, ५. तिल, ६ कुलथ, ७ गेहू, ८ जौ या ९. ज्वार अव्यवस्थित रखे हो या जगह-जगह रखे हो, या बिखरे हुए हो या अत्यधिक बिखरे हुए हो तो निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को वहा 'यथालन्दकाल' तक भी रहना नही कल्पता है।

२ यदि यह जाने कि (उपाश्रय मे शालि यावत् ज्वार) उत्क्षिप्त, विक्षिप्त, व्यतिकीर्ण और विप्रकीर्ण नही है,

किन्तु राशीकृत, पुंजकृत, भित्तिकृत, कुलिकाकृत, लांछित, मुद्रित या पिहित है तो इन्हे हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे वहा रहना कल्पता है।

३ यदि यह जाने कि (उपाश्रय के भीतर शालि यावत् ज्वार) राशिकृत, पुंजीकृत, भित्तिकृत या कुलिकाकृत नही हैं,

किन्तु कोठे मे या पल्य मे भरे हुए हैं, मच पर या माले पर सुरक्षित हैं, मिट्टी या गोबर से लिपे हुए हैं, ढके हुए, चिह्न किये हुए या मुहर लगे हुए हैं तो उन्हे वहा वर्षावास में रहना कल्पता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रो मे धान्य रखे हुए मकानो की तीन स्थितियो का कथन किया गया है। प्रथम स्थिति है—जिस मकान मे सर्वत्र धान्य बिखरा हुआ हो, वह मकान पूर्णतया अकल्पनीय होता

है। दूसरी स्थिति है—जिस मकान मे धान्य व्यवस्थित रखा हुआ है उसमे हेमन्त या ग्रीष्म ऋतु मे विचरण करते हुए ठहरा जा सकता है। तीसरी स्थिति है—जिस मकान मे धान्य सर्वथा व्यवस्थित रखा हुआ हो वहा चातुर्मास किया जा सकता है।

प्रथम सूत्र मे प्रयुक्त 'यथालदकाल' की व्याख्या इस प्रकार है—

गाहा—**तिविह च अहालंद, जहन्नय मज्झिमं च उक्कोस।**
उदउल्ल च जहण्णं, पणगं पुण होइ उक्कोसं॥

—बृह. भाष्य ३३०३

यथालन्द नाम कालविशेष का है। वह तीन प्रकार का होता है—१ जघन्य, २ मध्यम, ३ उत्कृष्ट।

गीले हाथ की रेखा के सूखने मे जितना समय लगता है, उतने समय को जघन्य यथालन्दकाल कहते हैं।

पाच दिन-रात को उत्कृष्ट यथालन्दकाल कहते है। बृहत्कल्प सूत्र उद्दे ३ मे तथा उववाईसूत्र मे इससे २९ दिन ग्रहण किये गये हैं और इन दोनो के मध्यवर्ती काल को मध्यम यथालन्दकाल कहते है।

जिस उपाश्रय मे पूर्वोक्त प्रकार से कोई भी धान्य बिखरे हुए पड़े हो वहा पर जघन्य यथालन्द-काल भी रहना नही कल्पता है। क्योकि उनके ऊपर से जाने-आने मे सचित्त बीजो की विराधना होती है और धान्यो पर चलते हुए कभी फिसलकर गिरने से आत्म-विराधना भी सम्भव है, अत. साधु-साध्वियो को वहा क्षणभर भी नही ठहरना चाहिए।

कदाचित् प्रयत्न करने पर भी अन्य उपाश्रय न मिले तो रजोहरणादि से प्रमार्जन करके यतनापूर्वक वहा पर ठहरा जा सकता है। फिर उसका यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार कर लेना चाहिए।

मकान के जिस विभाग मे साधु को ठहरना हो या गमनागमन करना हो उसके लिये यहा 'अतोवगडाए' शब्द का प्रयोग किया गया है।

दूसरे सूत्र मे निर्दिष्ट शालि, व्रीहि आदि धान्य मकान मे बिखरे हुए नही हैं, किन्तु उनकी गोलाकार राशि बनी हुई है, लम्बी राशि बनी हुई है, भित्ति के सहारे रखे हुए है, कुलिका—मिट्टी से बने गोल या चौकोर पात्र मे रखे हुए है, एकत्र करके भस्म (राख) आदि से लाछित (चिह्नित) किये हुए है, गोबर आदि से मुद्रित (लिम्पित) हैं, बास से बनी चटाई, टोकरी या थाली वस्त्र आदि से पिहित—ढके हुए हैं तो शीत एव ग्रीष्मकाल मे अपने कल्प के अनुसार वैसे मकान मे साधु और साध्वियो को ठहरना कल्पता है, किन्तु वर्षाकाल मे वैसे मकान मे ठहरना नही कल्पता है।

तीसरे सूत्र में निर्दिष्ट शालि, व्रीहि आदि धान्य मकान की सीमा के भीतर राशि रूप मे या भित्ति आदि के सहारे नही रखे हैं, किन्तु किसी कोठा या कोठी के भीतर अच्छी तरह से सुरक्षित रखे हुए हैं। यथा—

पल्यागुप्त—काठ, वश-दल आदि से निर्मित और गोबर-मिट्टी आदि से लिपे हुए गोलाकार

बनाये गये धान्य रखने के पात्र-विशेष को पल्य कहते हैं। ऐसे पल्य के भीतर सुरक्षित रखे हुए धान्य को 'पल्यागुप्त' कहते हैं।

मंचागुप्त—तीन या चार खम्भो के ऊपर बनाये गये मचान पर बास की खपच्चियो से निर्मित गोलाकार और चारो ओर से गोबर-मिट्टी से लिप्त ऐसे मच मे सुरक्षित रखे गये धान्य को 'मचागुप्त' कहते हैं।

मालागुप्त—मकान के ऊपर की मजिल के द्वार आदि को अच्छी तरह बन्द करके रखे गये धान्य को 'मालागुप्त' कहते हैं।

इन स्थानो मे धान्य को रख कर उसे मिट्टी से छाब दिया गया है, गोबर से लीपा गया है, ढका हुआ है, चिह्नित किया गया है और मूद दिया गया है, जिसके भीतर रखा गया धान्य स्वय बाहर नही निकल सकता है और वर्षाकाल मे जिसके बाहर निकाले जाने की सभावना भी नही है, ऐसे मकान मे साधु या साध्विया चौमासे मे ठहर सकते हैं, किन्तु भाष्यकार कहते है कि उक्त प्रकार के मकानो मे ठहरने का विधान केवल गीतार्थ साधु और साध्वियो के लिए ही है, अगीतार्थ साधु-साध्वियो के लिये नही है तथा अन्य स्थान न मिलने पर ही ऐसे स्थान मे ठहरने का विधान है। अगीतार्थ साधु गीतार्थ साधु के नेतृत्व मे रह सकते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

सुरायुक्त मकान मे रहने का विधि-निषेध व प्रायश्चित्त

४ उवस्सयस्स अंतोवगडाए सुरा-वियड-कुम्भे वा सोवीर-वियड-कुम्भे वा उवनिक्खित्ते सिया, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गथीण वा अहालंदमवि वत्थए।

हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

४ उपाश्रय के भीतर सुरा और सौवीर से भरे कुम्भ रखे हुए हो तो निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को वहा 'यथालन्दकाल' भी रहना नही कल्पता है।

कदाचित् गवेषणा करने पर अन्य उपाश्रय न मिले तो उक्त उपाश्रय मे एक या दो रात रहना कल्पता है, किन्तु एक या दो रात्रि से अधिक रहना नही कल्पता है।

जो वहा एक या दो रात से अधिक रहता है, वह मर्यादा-उल्लघन के कारण दीक्षा-छेद या तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन—चावल आदि की पीठी से जो मदिरा बनायी जाती है वह 'सुरा' कही जाती है और दाख-खजूर आदि से जो मद्य बनाया जाता है वह 'सौवीर मद्य' कहा जाता है। ये दोनो ही प्रकार के मद्य जिस स्थान पर घड़ो मे रखे हुए हो, ऐसे स्थान पर अगीतार्थ साधु-साध्वी को यथालन्दकाल भी नही रहना चाहिए। यदि रहता है तो वह लघुचौमासी प्रायश्चित्त का पात्र होता है। क्योकि ऐसे स्थान मे ठहरने पर कभी कोई साधु सुरापान कर सकता है, जिससे अनेक दोष होना सम्भव हैं और वहा ठहरने पर जनसाधारण को शका भी उत्पन्न हो सकती है।

अन्य स्थान के न मिलने पर वहा एक रात विश्राम किया जा सकता है। अधिक आवश्यक हो तो दो रात्रि भी विश्राम किया जा सकता है। यह आपवादिक विधान गीतार्थों के लिये है अथवा गीतार्थ के नेतृत्व मे अगीतार्थों के लिये भी है।

दो रात्रि से अधिक रहने पर सूत्रोक्त मर्यादा का उल्लघन होता है और उसका तप या छेद रूप प्रायश्चित्त आता है।

'से सतरा छेए वा परिहारे वा' इस सूत्राश की टीका इस प्रकार है—

'से'—तस्य संयतस्य, 'स्वांतरात्'—स्वस्वकृतं यदन्तरं-त्रिरात्र—चतुःरात्रादि कालं प्रवस्थानरूपं, तस्मात्, 'छेदो वा'—पञ्च रात्रि दिवादिः, 'परिहारो वा'—मासलघुकादितपोविशेषो भवति इति सूत्रार्थः।

इस टीका का भावार्थ यह है कि उस सयत के द्वारा तीन चार आदि दिनो के अवस्थान रूप किए हुए अपने दोष के कारण उसे तप रूप या छेद रूप यथोचित प्रायश्चित्त आता है।

किन्तु 'से सतरा' शब्द का जितने दिन रहे उतने ही दिन का प्रायश्चित्त आवे ऐसा अर्थ करना उचित नही है। क्योकि टीकाकार ने ऐमा अर्थ कही भी नही किया है। अत· टीकाकारसम्मत अर्थ ही करना चाहिए।

जलयुक्त उपाश्रय में रहने का विधि-निषेध और प्रायश्चित्त

५. उवस्सयस्स अतोवगडाए सीओदग-वियडकुम्भे वा उसिणोदग-वियडकुम्भे वा उवनिक्खित्ते सिया, नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा अहालन्दमवि वत्थए।

हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एव से कप्पइ एगराय वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ पर एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

५ उपाश्रय के भीतर अचित्त शीतल जल या उष्ण जल के भरे हुए कुम्भ रखे हों तो निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को वहा 'यथालन्दकाल' भी रहना नही कल्पता है।

कदाचित् गवेषणा करने पर भी अन्य उपाश्रय न मिले तो उक्त उपाश्रय मे एक या दो रात रहना कल्पता है, किन्तु एक या दो रात्रि से अधिक रहना नही कल्पता है।

जो वहा एक या दो रात से अधिक रहता है वह मर्यादा-उल्लघन के कारण दीक्षा-छेद या तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन—अग्नि पर उबालने से या क्षार आदि पदार्थों से जिसके वर्णादि का परिवर्तन हो गया है ऐसे प्रासुक ठण्डे जल के भरे हुए घडे को शीतोदकविकृतकुम्भ कहते हैं। इसी प्रकार प्रासुक उष्ण जल के भरे हुए घडे को उष्णोदकविकृतकुम्भ कहते हैं।

जिस उपाश्रय मे ऐसे (एक या दोनो ही प्रकार के) जल से भरे घडे रखे हो, वहा पर साधु और साध्वियो को 'यथालन्दकाल' भी नही रहना चाहिए। विशेष विवेचन पूर्व सूत्र के अनुसार समझ लेना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में सचित्त पानी का कथन न होकर अचित्त पानी का कथन है। इसका तात्पर्य यही है कि साधु के द्वारा अचित्त पानी का सहज ही उपयोग किया जा सकता है। सचित्त पानी का साधु द्वारा पीना सहज सम्भव नही है।

अचित्त जल युक्त स्थान मे ठहरने पर किसी भिक्षु को रात्रि मे प्यास लग जाए, उस समय वह यदि उस जल को पी ले तो उसका रात्रिभोजनविरमणव्रत खडित हो जाता है, अत. ऐसे शका के स्थानो मे ठहरने का निषेध किया है।

सूत्र मे शीतल एव उष्ण जल के साथ 'वियड' शब्द का प्रयोग है, अन्य आगमो मे यह भिन्न-भिन्न अर्थ मे एव विशेषण के रूप मे प्रयुक्त है। इस विषय की विशेष जानकारो के लिये निशीथ उ १९ सूत्र १-७ का विवेचन देखें।

अग्नि या दीपक युक्त उपाश्रय में रहने के विधि-निषेध और प्रायश्चित्त

६. उवस्सयस्स अंतोवगडाए, सव्वराइए जोई झियाएज्जा, नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा अहालंदमवि वत्थए।

हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगराय वा दुराय वा वत्थए। नो से कप्पइ पर एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा पर वसइ, से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

७. उवस्सयस्स अंतोवगडाए, सव्वराइए पईवे दिप्पेज्जा, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए।

हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुराय वा वत्थए। नो से कप्पइ पर एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा पर वसइ, से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

६ उपाश्रय के भीतर सारी रात अग्नि जले तो निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को वहा 'यथालन्दकाल' भी रहना नही कल्पता है।

कदाचित् गवेषणा करने पर भी अन्य उपाश्रय न मिले तो उक्त उपाश्रय मे एक या दो रात रहना कल्पता है, किन्तु एक या दो रात्रि से अधिक रहना नही कल्पता है।

जो वहा एक या दो रात से अधिक रहता है, वह मर्यादा-उल्लघन के कारण दीक्षा-छेद या तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

७ उपाश्रय के भीतर सारी रात दीपक जले तो निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को वहा 'यथालन्दकाल' भी रहना नही कल्पता है।

कदाचित् गवेषणा करने पर भी अन्य उपाश्रय न मिले तो उक्त उपाश्रय मे एक या दो रात रहना कल्पता है, किन्तु एक या दो रात्रि से अधिक रहना नही कल्पता है।

जो वहा एक या दो रात से अधिक रहता है वह मर्यादा उल्लघन के कारण दीक्षा-छेद या तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन—जिस मकान में सारी रात या दिन-रात अग्नि जलती है, उस (कुम्भकारशाला या लोहारशाला आदि) मे भिक्षु को ठहरना नही कल्पता है। यदि ठहरने के स्थान मे एव गमनागमन के मार्ग में अग्नि नही जलती हो, किन्तु अन्यत्र कही भी जलती हो तो वहा ठहरना कल्पता है।

इसी प्रकार सम्पूर्ण रात्रि या दिन-रात जहा दीपक जलता है, वह स्थान भी अकल्पनीय है।

अग्नि या दीपक युक्त स्थान में ठहरने के दोष—

१ अग्नि के या दीपक के निकट से गमनागमन करने मे अग्निकाय के जीवो की विराधना होती है। २. हवा से कोई उपकरण अग्नि मे पडकर जल सकता है। ३ दीपक के कारण आने वाले त्रस जीवो की विराधना होती है। ४ शीतनिवारण करने का सकल्प उत्पन्न हो सकता है।

आचा श्रु २, अ २, उ ३ मे भी अग्नियुक्त स्थान मे ठहरने का निषेध है एव निशीथ उ १६ मे इसका प्रायश्चित्त विधान है।

इन आगमस्थलो मे अल्पकालीन अग्नि या दीपक का निषेध नही किया है, किन्तु इसी सूत्र के प्रथम उद्देशक मे पुरुष सागारिक उपाश्रय मे साधु को एव स्त्री सागारिक उपाश्रय मे साध्वी को ठहरने का विधान है। जहा अग्नि या दीपक जलने की सम्भावना भी रहती है। अत इन सूत्रो से सम्पूर्ण रात्रि अग्नि जलने वाले स्थानो का निषेध समझना चाहिए।

अन्य विवेचन पूर्व सूत्र के समान समझना चाहिए।

खाद्यपदार्थयुक्त मकान मे रहने के विधि-निषेध और प्रायश्चित्त

८. उवस्सयस्स अतोवगडाए पिण्डए वा, लोयए वा, खीरं वा, दहिं वा, नवणीय वा, सप्पि वा, तेल्ले वा, फाणिय वा, पूवं वा, सक्कुली वा, सिहरिणी वा उक्खित्ताणि वा, विक्खित्ताणि वा, विइगिण्णाणि वा, विप्पइण्णाणि वा, नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा अहालदमवि वत्थए।

९. अह पुण एवं जाणेज्जा—नो उक्खित्ताइ, नो विक्खित्ताइ, नो विइकिण्णाइ, नो विप्पइण्णाइं।

रासिकडाणि वा, पुंजकडाणि वा, भित्तिकडाणि वा, कुलियाकडाणि वा, लंछियाणि वा, मुद्दियाणि वा, पिहियाणि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीणं वा हेमंत-गिम्हासु वत्थए।

१०. अह पुण एवं जाणेज्जा—नो रासिकडाइ जाव नो कुलियाकडायं, कोट्ठाउत्ताणि वा, पल्लाउत्ताणि वा, मंचाउत्ताणि वा, मालाउत्ताणि वा, कुंभिउत्ताणि वा, करभि-उत्ताणि वा, ओलित्ताणि वा, विलित्ताणि वा, पिहियाणि वा, लंछियाणि वा, मुद्दियाणि वा कप्पइ निग्गथाण वा निग्गंथीण वा वासावासं वत्थए।

८. उपाश्रय के भीतर में पिण्डरूप खाद्य, लोचक-मावा आदि, दूध, दही, नवनीत, घृत, तेल,

गुड, मालपुए, पूडी और श्रीखण्ड-उत्क्षिप्त, विक्षिप्त, व्यतिकीर्ण और विप्रकीर्ण हो तो निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को वहा 'यथालन्दकाल' रहना भी नही कल्पता है ।

९ यदि यह जाने कि (उपाश्रय मे पिण्डरूप खाद्य यावत् श्रीखण्ड) उत्क्षिप्त, विक्षिप्त, व्यतिकीर्ण या विप्रकीर्ण नही है ।

किन्तु राशीकृत, पु जकृत, भित्तिकृत, कुलिकाकृत तथा लाछित मुद्रित या पिहित है तो निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को वहा हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे रहना कल्पता है ।

१० यदि यह जाने कि (उपाश्रय के भीतर पिण्डरूप खाद्य यावत् श्रीखण्ड) राशीकृत यावत् कुलिकाकृत नही है ।

किन्तु कोठे मे या पल्य मे भरे हुए है, मच पर या माले पर सुरक्षित हैं, कुम्भी या बोधी मे धरे हुए है, मिट्टी या गोबर से लिप्त है, ढके हुए, चिह्न किये हुए है या मुहर लगे हुए है तो उन्हे वहा वर्षावास रहना कल्पता है ।

विवेचन—सूत्र १-३ मे धान्ययुक्त उपाश्रय मकान का वर्णन है और इन तीन सूत्रो मे खाद्य-पदार्थयुक्त मकान का वर्णन है । धान्य तो भूमि पर बिखरे हुए हो सकते है, किन्तु ये खाद्यपदार्थ बर्तन आदि मे इधर-उधर अव्यवस्थित पडे होते हैं ।

खाद्यपदार्थयुक्त उपाश्रय मे ठहरने पर लगने वाले दोष

१ खाद्य पदार्थों वाले मकान मे कीडियो की उत्पत्ति ज्यादा होती है । २ चूहे बिल्ली आदि भी भ्रमण करते है । ३ असावधानी से पशु-पक्षी आकर खा सकते है । ४ उन्हे खाते हुए रोकने एव हटाने मे अन्तराय दोष लगता है एव न हटाने पर मकान का स्वामी रुष्ट हो सकता है अथवा साधु के ही खाने की आशका कर सकता है । ५ कभी कोई क्षुधातुर या रसासक्त भिक्षु का मन खाने के लिये चलित हो सकता है एव खा लेने पर अदत्त दोष लगता है । ६ खाद्य पदार्थों की सुगन्ध या दुर्गन्ध से अनेक शुभाशुभ सकल्प हो सकते है, जिससे कर्मबन्ध होता है ।

अन्य विवेचन सूत्र १-३ के समान समझना चाहिये ।

साधु-साध्वी के धर्मशाला आदि में ठहरने का विधि-निषेध

११. नो कप्पइ निग्गथीणं अहे आगमणगिहंसि वा, वियडगिहंसि वा, वंसीमूलंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, अब्भावगासियंसि वा वत्थए ।

१२. कप्पइ निग्गंथाणं अहे आगमणगिहंसि वा, वियडगिहंसि वा, वंसीमूलंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, अब्भावगासियंसि वा वत्थए ।

११ निर्ग्रन्थियो को आगमनगृह मे, चारो ओर से खुले घर मे, छप्पर के नीचे अथवा बास की जाली युक्त गृह मे, वृक्ष के नीचे या आकाश के नीचे (खुले स्थानो मे) रहना नही कल्पता है ।

१२ निर्ग्रन्थो को आगमनगृह (धर्मशाला) मे, चारो ओर से खुले घर मे, छप्पर के नीचे अथवा बास की जाली युक्त गृह मे, वृक्ष के नीचे या आकाश के नीचे (खुले स्थानो मे) रहना कल्पता है।

विवेचन—१. आगमनगृह—जहा पर पथिको का आना-जाना हो ऐसे देवालय, सभा, धर्मशाला, सराय या मुसाफिरखाना आदि को 'आगमनगृह' कहते है।

२. **विवृतगृह**—केवल ऊपर से ढके हुए और दो, तीन या चारो ओर से खुले स्थान को 'विवृतगृह' कहते हैं।

३. **वंशीमूल**—बास की चटाई आदि से ऊपर की ओर से ढके और आगे की ओर से खुले ऐसे दालान, ओसारा, छपरी आदि को वशीमूल कहते है। अथवा चौतरफ बास की जाली से युक्त स्थान को 'वशीमूल' कहते है।

४ **वृक्षमूल**—वृक्ष के तल भाग को 'वृक्षमूल' कहते है।

५. **अभ्रावकाश**—खुले आकाश को या जिसका अधिकाश ऊपरी भाग खुला हो ऐसे स्थान को 'अभ्रावकाश' कहते है।

ऐसे स्थान पर साध्वियो को किसी भी ऋतु मे नही ठहरना चाहिए क्योकि ये पूर्णत असुरक्षित स्थान है। ऐसे स्थानो पर ठहरने से ब्रह्मचर्य व्रत भग होने की सम्भावना रहती है।

विहार करते समय कभी सूर्यास्त का समय आ जाए और योग्य स्थान न मिले तो साध्वी को सूर्यास्त के बाद भी योग्य स्थान मे पहुँचना अत्यन्त आवश्यक होता है।

साधुओ को ऐसे स्थान मे ठहरने का सूत्र मे जो विधान किया गया है, उसका कारण यह है कि पुरुषो मे स्वाभाविक ही भयसज्ञा अल्प होती है तथा ब्रह्मचर्यरक्षा के लिये भी उन्हे सुरक्षित स्थान की इतनी आवश्यकता नही होती है।

सामान्य स्थिति मे तो स्थविरकल्पी भिक्षु को सूत्रोक्त स्थानो के अतिरिक्त अन्य ऐसे स्थानो मे ही ठहरना चाहिए, जहा ठहरने पर बाल, ग्लान आदि सभी भिक्षुओ के सयम, स्वाध्याय, आहार आदि का भलीभाति निर्वाह हो सके।

पूर्व सूत्र मे 'वियड' शब्द अचित्त अर्थ मे प्रयुक्त है और प्रस्तुत सूत्र मे गृह के एक या अनेक दिशा मे खुले होने के अर्थ मे प्रयुक्त है। आगमो मे शब्दप्रयोग की यह विलक्षण शैली है।

अनेक स्वामियों वाले मकान की आज्ञा लेने की विधि

१३. एग सागारिए पारिहारिए।

दो, तिण्णि, चत्तारि, पंच सागारिया पारिहारिया।

एगं तत्थ कप्पाग ठवइत्ता अवसेसे निव्विसेज्जा।

१३. मकान का एक स्वामी पारिहारिक होता है।

जिस मकान के दो, तीन, चार या पाच स्वामी हो, वहा एक को कल्पाक=शय्यातर मान

करके शेष को शय्यातर नही मानना चाहिए अर्थात् उनके घरो मे आहारादि लेने के लिए जा सकते हैं।

विवेचन—अगार घर का पर्यायवाची है। घर या वसति के स्वामी को 'सागारिक' कहते हैं। सागारिक मनुष्य को ही शय्यातर, शय्याकर, शय्यादाता और शय्याधर भी कहते हैं।

जो साधु-साध्वियो को शय्या अर्थात् ठहरने का स्थान, वसति या उपाश्रय देकर अपनी आत्मा को ससार-सागर से तारता है, उसे शय्यातर कहते हैं।

शय्या-वसति आदि को जो बनवाता है, उसे शय्याकर कहते है।

जो साधुओ को ठहरने का स्थान रूप शय्या देता है, उसे शय्यादाता कहते है।

जो वसति या उपाश्रय की छान-छप्पर आदि के द्वारा उसका धारण या सरक्षण करता है अथवा साधुओ को दी गई शय्या के द्वारा नरक मे जाने से अपनी आत्मा को धारण करता है, अर्थात् बचाता है, उसे शय्याधर कहते है।

यह शय्यातर सागारिक जिस साधु या साध्वी को ठहरने के लिए वसति या उपाश्रय रूप शय्या दे, साधु को उसके घर का भक्त-पान ग्रहण करने का आगम मे निषेध किया गया है, अत उसे पारिहारिक कहते है।

यदि किसी स्थानक या मकान के अनेक (मनुष्य) स्वामी हो तो वे सभी पारिहारिक होते है, अत. उस स्थान के सभी स्वामियो मे से किसी एक को 'कल्पाक' (शय्यातर) स्थापित करके जिससे आज्ञा प्राप्त करे उसके घर का भक्त-पान आदि ग्रहण नही करे। उसके सिवाय जितने भी स्वामी उस स्थानक या मकान के भागीदार या हिस्सेदार है, उनको शय्यातर रूप से न माने अर्थात् उनके घरो से आहार-पानी ग्रहण किया जा सकता है।

सूत्रोक्त 'निव्विसेज्जा' इस प्राकृत पद के टीकाकार ने दो प्रकार से अर्थ किये है—

१. **निर्विशेत्-विसर्जयेत्-शय्यातरत्वेन न गणयेत्।**

अथवा—२. **निर्विशेत्-प्रविशेत् आहारार्थं तेषां (शेषाणां) गृहेषु अनुविशेत्।**

इसके अतिरिक्त भाष्यकार ने शय्या कितने प्रकार की होती है, कौन-कौन सागारिक माने जाएँ, सागारिक के पिण्ड से भक्त-पान, वस्त्र, पात्रादि का भी ग्रहण अभीष्ट है इत्यादि अनेक ज्ञातव्य बातो की विस्तृत व्याख्या की है, जिसका साराश निशीथ उद्देशक २, सूत्र ४६ मे दिया गया है। जिज्ञासु पाठक वही देखे।

अनेक स्वामियो मे से एक को शय्यातर करके फिर कुछ दिन बाद दूसरे को भी शय्यातर—कल्पाक बनाया जा सकता है। जिससे अनेक को शय्यादान का एव आहारादि दान का लाभ प्राप्त हो सकता है। यह भी इस सूत्र से फलित होता है।

संसृष्ट असंसृष्ट शय्यातरपिंडग्रहण के विधि-निषेध

१४. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिण्डं बहिया अनीहडं, असंसट्ठं वा संसट्ठं वा पडिगाहित्तए।

१५. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिण्डं बहिया नीहडं असंसट्ठं पडिगाहित्तए।

१६. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिण्डं बहिया नीहडं संसट्ठं पडिगाहित्तए।

१७. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिण्ड बहिया नीहडं-असंसट्ठ संसट्ठ कारित्तए।

१८. जे खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा सागारियपिण्डं बहिया नीहडं असंसट्ठं संसट्ठं कारेइ कारंतं वा साइज्जइ। से दुहओ विइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

१४ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियों को सागारिकपिण्ड (शय्यातरपिण्ड) जो कि बाहर नही निकाला गया है, वह चाहे अन्य किसी के आहार मे मिश्रित किया हो या नही किया हो तो भी लेना नही कल्पता है।

१५ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को सागारिकपिण्ड जो बाहर तो निकाला गया है, किन्तु अन्य के आहार मे मिश्रित नही किया गया है तो लेना नही कल्पता है।

१६ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को सागारिकपिण्ड जो घर के बाहर भी ले जाया गया है और अन्य के आहार मे मिश्रित भी कर लिया गया है तो ग्रहण करना कल्पता है।

१७ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को घर से बाहर ले जाया गया सागारिकपिण्ड जो अन्य के आहार मे मिश्रित नही किया गया है, उसे मिश्रित कराना नही कल्पता है।

१८ जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी घर के बाहर ले जाये गये एव अन्य के आहार मे अमिश्रित सागारिकपिण्ड को मिश्रित करवाता है या करवाने वाले का अनुमोदन करता है, वह लौकिक और लोकोत्तर दोनो मर्यादा का अतिक्रमण करता हुआ चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन—पूर्व सूत्र मे अनेक स्वामियो वाले मकान की आज्ञा लेने के सम्बन्ध मे एव शय्या के आज्ञादाता का आहार आदि न लेने का तथा अन्य स्वामियो के घरो से आहारादि लेने का विधान किया गया है। इन सूत्रों मे अनेक व्यक्तियो का आहार एक स्थान पर एकत्रित हो एव उनमे शय्यातर का भी आहारादि हो तो वह आहार कहा किस स्थिति मे अग्राह्य होता है और कैसा ग्राह्य होता है इत्यादि विधान किया गया है।

अनेक व्यक्तियो का सयुक्त आहारस्थान यदि शय्यातर के घर की सीमा मे हो और वहा शय्यातर का आहार अलग पडा हो अथवा सब के आहार मे मिला दिया गया हो तो भी साधु को ग्रहण करना नही कल्पता है। यह प्रथम सूत्र का आशय है।

अनेक व्यक्तियो का सम्मिलित आहार शय्यातर के घर की सीमा से बाहर हो एव वहा शय्यातर का आहार अलग रखा हो तो उसमे से लेना नही कल्पता है। यह दूसरे सूत्र का आशय है।

किन्तु अन्य सभी के सम्मिलित आहार मे शय्यातर का आहार मिश्रित कर दिया गया हो और जिस हेतु से आहार सम्मिलित किया गया हो उन देवताओ का नैवेद्य निकाल दिया गया हो, ब्राह्मण आदि को जितना देना है उतना दे दिया गया हो, उसके बाद भिक्षु लेना चाहे तो ले सकता है। क्योंकि अब उस आहार मे शय्यातर के आहार का अलग अस्तित्व भी नही है एव उसका स्वामित्व भी नही रहा है अत उस मिश्रित एव परिशेष आहार मे से भिक्षु को ग्रहण करने मे शय्यातरपिण्डग्रहण का दोष नही लगता है। यह तीसरे सूत्र का आशय है।

विहार आदि किसी भी कारण से उक्त असंसृष्ट आहार को ग्रहण करने हेतु ससृष्ट करवाना भिक्षु को नही कल्पता है। यह चौथे सूत्र का आशय है।

उक्त असंसृष्ट आहार आदि को ससृष्ट करवाना सयम-मर्यादा से विपरीत है एव लोगो को भी अप्रीतिकारक होता है। अत ऐसा करने पर भिक्षु लौकिक व्यवहार एव सयम-मर्यादा का उल्लघन करने वाला होता है। इसलिए उसे प्रायश्चित्त आता है। यह पाचवे सूत्र का आशय है।

शय्यातर के असंसृष्ट आहार को या उसके घर की सीमा मे रहे आहार को ग्रहण करने पर यदि वह भद्रप्रकृति वाला हो तो पुन पुन इस निमित्त से आहार देने का प्रयास कर सकता है। यदि वह तुच्छ प्रकृति वाला हो तो रुष्ट हो सकता है, जिससे वध-बधन या शय्या देने का निषेध कर सकता है। घर की सीमा से बाहर रहे हुए ससृष्ट आहार मे उक्त दोष की सम्भावना नही होती है। अत ग्राह्य कहा गया है।

शय्यातर के घर आये या भेजे गये आहार के ग्रहण का विधि-निषेध

१९. सागारियस्स आहडिया सागारिएण पडिग्गहिया, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२०. सागारियस्स आहडिया सागारिएण अपडिग्गहिया, तम्हा दावए, एव से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२१. सागारियस्स नीहडिया परेण अपडिग्गहिया, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२२. सागारियस्स नीहडिया परेण पडिग्गहिया, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१९ अन्य घर से आये हुए आहार को सागारिक ने अपने घर पर ग्रहण कर लिया है और वह उसमे से साधु को दे तो लेना नही कल्पता है।

२० अन्य घर से आये हुए आहार को सागारिक ने अपने घर पर ग्रहण नही किया है और यदि आहार लाने वाला उस आहार मे से साधु को दे तो लेना कल्पता है।

२१ सागारिक के घर से अन्य घर पर ले जाये गये आहार को उस गृहस्वामी ने यदि स्वीकार नही किया है तो उस आहार मे साधु को दे तो लेना नही कल्पता है।

२२. सागारिक के घर से अन्य घर ले जाये गये आहार को उस गृहस्वामी ने स्वीकार कर लिया है। यदि वह उस आहार मे मे साधु को दे तो लेना कल्पता है।

विवेचन—दूसरो के घर से शय्यातर के घर पर लाई जा रही खाद्यसामग्री 'आहृतिका' कही गई है और शय्यातर की जो खाद्यसामग्री अन्य के घर ले जाई जा रही हो वह 'निहृतिका' कही गई है। ऐसी शय्यातर सम्बन्धी आहृतिका एव निहृतिका सामग्री साधु किस स्थिति मे ग्रहण कर सकता है, यह इन चार सूत्रो मे बताया गया है।

ये आहृतिका निहृतिका किसी त्यौहार या महोत्सव के निमित्त से हो सकती है। यदि आहृतिका या निहृतिका सामग्री मे से कोई व्यक्ति साधु को ग्रहण करने के लिए कहे तो शय्यातर की आहृतिका का आहार जब तक शय्यातर के स्वामित्व मे नही हुआ है, तब तक ग्रहण किया जा सकता है।

शय्यातर की निहृतिका का आहार दूसरे के ग्रहण करने के बाद उससे लिया जा सकता है। शय्यातर की निहृतिका बाटने वाले से आहार नही लिया जा सकता है, किन्तु शय्यातर की आहृतिका बाटने वाले से उसका आहार लिया जा सकता है।

पूर्व सूत्र मे शय्यातर का आहार अन्य अनेक लोगो के आहार के साथ अलग या मिश्रित शय्यातर के घर की सीमा मे या अन्यत्र कही हो, उसी का कथन है और इन सूत्रो मे शय्यातर के घर मे हो या अन्यत्र हो, शय्यातर का हो या अन्य का हो, दिया जाने वाला हो या लिया जाने वाला हो, वह आहार जब तक शय्यातर के स्वामित्व मे नही हुआ है या अन्य ने अपने स्वामित्व मे ले लिया है तो उस आहार को ग्रहण किया जा सकता है और वह आहार जब तक शय्यातर के स्वामित्व मे है या अन्य का लाया गया आहार उसने स्वीकार कर लिया है तो वह आहार साधु ग्रहण नही कर सकता है इत्यादि कथन है। दोनो प्रकरणो मे यह अन्तर समझना चाहिये।

आहृतिका एव निहृतिका बाटने वाला जहा हो उस समय भिक्षु भी सहजरूप मे वहा गोचरी के लिये भ्रमण करते हुए पहुच जाये और बाटने वाला या लेने वाला निमन्त्रण करे इस अपेक्षा से यह सूत्रोक्त कथन है, ऐसा समझना चाहिये।

शय्यातर के अंशयुक्त आहार-ग्रहण का विधि-निषेध

२३. सागारियस्स अंसियाओ—१. अविभत्ताओ, २. अव्वोच्छिन्नाओ, ३. अव्वोगडाओ, ४. अनिज्जूढाओ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए।

२४. सागारियस्स अंसियाओ—विभत्ताओ, वोच्छिन्नाओ, वोगडाओ, निज्जूढाओ तम्हा दावए एव से कप्पइ पडिगाहेत्तए।

२३ सागारिक तथा अन्य व्यक्तियो के सयुक्त आहारादि का यदि— १ विभाग निश्चित नही किया गया हो, २ विभाग न किया गया हो, ३ सागारिक का विभाग अलग निश्चित न किया गया हो, ४ विभाग बाहर निकालकर अलग न कर दिया हो, ऐसे आहार मे से साधु को कोई दे तो लेना नही कल्पता है।

२४. सागारिक के अश युक्त आहारादि का यदि—१ विभाग निश्चित हो, २ विभाग कर दिया हो, ३. सागारिक का विभाग निश्चित कर दिया हो, ४ उस विभाग को बाहर निकाल दिया गया हो तो शेष आहार मे से साधु को कोई दे तो लेना कल्पता है।

विवेचन—सूत्र मे प्रयुक्त पदो का अर्थ इस प्रकार है—

१. **अविभक्त**—विभक्त का अर्थ पृथक्करण या विभाजन है, जब तक सागारिक का भाग उस सम्मिलित भोज्यसामग्री मे से पृथक् रूप से निश्चित नही किया जाय, तब तक वह 'अविभक्त' है।

२. **अव्यवच्छिन्न**—व्युच्छिन्न या व्यवच्छिन्न का अर्थ सम्बन्धविच्छेद है। जब तक सागारिक के अश का सम्बन्ध-विच्छेद न हो जाय, तब तक वह 'अव्यवच्छिन्न' है।

३. **अव्याकृत**—व्याकृत का अर्थ भाग के स्पष्टीकरण का है कि इतना अश तुम्हारा है और इतना अश मेरा है, जब तक ऐसा निर्धारण नही हो जाय तब तक वह 'अव्याकृत' कहलाता है।

४. **अनिर्यूढ**—निर्यूढ का अर्थ 'पृथक् निर्धारित अश से अलग करना' है। जब तक सागारिक का अश उस सम्मिलित भोजन मे से निकाल न दिया जाय, तब तक वह 'अनिर्यूढ' कहलाता है।

इस प्रकार पूरे सूत्र का समुच्चय अर्थ यह होता है कि शय्यातर सहित अनेक व्यक्तियो की खाद्यसामग्री मे से सागारिक का अश जब तक अविभाजित है, अव्यवच्छिन्न है, अनिर्णीत है और अनिष्कासित है, तब तक उस भोजन के आयोजको मे से यदि कोई व्यक्ति साधु को कुछ अश देता है तो वह उनके लिए ग्राह्य नही है। किन्तु जब सागारिक का अश विभाजित, व्यवच्छिन्न, निर्धारित और निष्कासित हो जाता है, तब उस सम्मिलित भोज्य-सामग्री मे से दिया गया भक्त-पिण्ड साधु के लिये ग्राह्य है और वह उसे ले सकता है।

यहा यह भी बताया गया है कि अनेक जनो के द्वारा सम्मिलित बनाये गये भोजन के अतिरिक्त सम्मिलित तैयार किया गया गुड, तेल, घी आदि सभी इसी के अन्तर्गत है। उनमे से भी जब तक सागारिक का भाग निकाल कर सर्वथा पृथक् न कर दिया जावे तब तक वे पदार्थ भी साधु के लिए अग्राह्य ही हैं।

पूर्व सूत्रो मे वर्णित ससृष्ट असंसृष्ट आहार मे किसी का स्वामित्व नही रहता है और न वह विभक्त होता है। किन्तु प्रस्तुत सूत्रकथित आहार मे स्वामित्व भी होता है, वह विभक्त होकर शय्यातर को मिलने वाला भी होता है। यह इन दोनो प्रकरणो मे अन्तर है।

शय्यातर के पूज्यजनों को दिये गये आहार के ग्रहण करने का विधि-निषेध

२५. सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए, तं सागारिओ देइ, सागारियस्स परिजणो देइ तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए।

२६. सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए, सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए, त नो सागारिओ देइ, नो सागारियस्स परिजणो देइ, सागारियस्स पूया देइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए।

२७. सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए, तं सागारिओ देइ, सागारियस्स परिजणो देइ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए।

२८. सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए, सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए, निसट्ठे अपाडिहारिए, तं नो सागारिओ देइ, नो सागारियस्स परिजणो देइ, सागारियस्स पूया देइ, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए।

२५ सागरिक ने अपने पूज्य पुरुषो को सम्मानार्थ भोजन दिया हो, पूज्य पुरुषो द्वारा वह आहार सागारिक के उपकरणो मे बनाया गया हो और प्रातिहारिक हो, ऐसे आहार मे से यदि सागारिक दे या उसके परिजन दे तो साधु को लेना नही कल्पता है।

२६. सागारिक ने अपने पूज्य पुरुषो को सम्मानार्थ भोजन दिया हो, पूज्य पुरुषो द्वारा वह आहार सागारिक के उपकरणो मे बनाया गया हो और प्रातिहारिक हो, ऐसे आहार मे से न सागारिक दे और न सागारिक के परिजन दे, किन्तु सागारिक के पूज्य पुरुष दे तो भी साधु को लेना नही कल्पता है।

२७ सागारिक ने अपने पूज्य पुरुषो को सम्मानार्थ भोजन दिया हो, पूज्य पुरुषो द्वारा वह आहार सागारिक के उपकरणो मे बनाया गया हो और अप्रतिहारिक हो, ऐसे आहार मे से सागारिक दे या उसके परिजन दे तो साधु को लेना नही कल्पता है।

२८ सागारिक ने अपने पूज्य पुरुषो को सम्मानार्थ भोजन दिया हो, पूज्य पुरुषो द्वारा वह आहार सागारिक के उपकरणो मे बनवाया गया हो और अप्रतिहारिक हो, ऐसे आहार मे से न सागारिक दे और न सागारिक के परिजन दे किन्तु सागारिक के पूज्य पुरुष दे तो लेना कल्पता है।

विवेचन—शय्यातर के नाना, मामा, बहनोई, जमाई, विद्यागुरु, कलाचार्य, स्वामी या मेहमान आदि पूज्य जनो के निमित्त से जो भक्त-पान बनाया जाता है, उसे पूज्य-भक्त कहते है।

वह शय्यातर के घर से लाकर जहा पूज्य जन ठहरे हो वहा उन्हे भोजनार्थ समर्पण किया गया हो, बाजार आदि से मगाकर पूज्य जनो के पास भेट रूप भेजा गया हो, शय्यातर के भाजनो मे (बर्तनो मे) पकाया गया हो, उसके पात्र से निकाला गया हो और प्रातिहारिक हो अर्थात् पूज्य जनो को खिलाने के पश्चात् जो भोजन बचे, वह वापस लाकर सोपना, ऐसा कहकर सेवक या कुटुम्बीजन द्वारा भेजा गया हो, ऐसे सभी आहार पूज्य-भक्त कहे जाते हैं।

इसी प्रकार सागारिक के पूज्य जनो के लिए बनाये गये या लाये गये वस्त्र-पात्र, कम्बलादि भी पूज्य उपकरण कहलाते हैं। ऐसे पूज्य जन-निमित्त वाले भक्त-पिण्ड और उपकरण को चाहे शय्यातर स्वय साधु के लिए दे, उसके स्वजन-परिजन दे या उक्त पूज्य जन दे तो भी साधु-साध्वी को वह आहार आदि लेना नही कल्पता है। क्योकि शेष आहार पुन शय्यातर को लौटाने का होने से उसमे शय्यातर के स्वामित्व का सम्बन्ध रहता है।

यदि वह आहार पूज्य जनो को अप्रातिहारिक दे दिया गया हो अर्थात् खाने के बाद शेष रहा आहार शय्यातर को पुन नही लौटाना हो तो वैसे आहार को ग्रहण किया जा सकता है।

यदि उस आहार को शय्यातर या उसके परिजन दे तो नही लिया जा सकता है, किन्तु अन्य पूज्य जन आदि दे तो लिया जा सकता है।

इन सूत्रो से यह भी फलित होता है कि शय्यातर के स्वामित्व से रहित आहार भी शय्यातर के हाथ से या उसके पुत्र, पौत्र, स्त्री, पुत्रवधू आदि के हाथ से नही लिया जा सकता है, किन्तु विवाहित लडकियो के हाथ से वह आहार लिया जा सकता है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के लिए कल्पनीय वस्त्र

२९. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—इमाइं पंच वत्थाइ धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तं जहा—१. जंगिए, २. भंगिए, ३ साणए, ४. पोत्तए, ५. तिरीडपट्टे नामं पंचमे।

२९ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को पाच प्रकार के वस्त्रो को रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है। यथा—

१ जागमिक, २. भागिक, ३ सानक, ४ पोतक, ५ तिरीटपट्टक।

विवेचन—१. जागमिक—भेड आदि के बालो से बने वस्त्र को 'जागमिक' कहते हैं।

२ भागिक—अलसी आदि की छाल से बने वस्त्र को 'भागिक' कहते है।

३. शाणक—सन (जूट) से बने वस्त्रो को 'शाणक' कहते है।

४ पोतक—कपास से बने वस्त्र को 'पोतक' कहते हैं।

५. तिरीटपट्टक—तिरीट (तिमिर) वृक्ष की छाल से बने वस्त्र को 'तिरीटपट्टक' कहते हैं।

ये पाच प्रकार के वस्त्र साधु के लिए कल्पनीय है।

ऐसा सूत्र-निर्देश होने पर भी भाष्यकार ने इनमे से साधु-साध्वी के लिए दो सूती और एक ऊनी ऐसे तीन वस्त्रो को रखने का ही निर्देश किया है।

जगम का अर्थ त्रसजीव है। त्रसजीव दो प्रकार के होते हैं—विकलेन्द्रिय और पचेन्द्रिय।

कोशा, रेशम और मखमल विकलेन्द्रियप्राणिज वस्त्र हैं। इनका उपयोग साधु के लिए सर्वथा वर्जित है, क्योकि ये उन प्राणियो का घात करके निकाले गये धागो से बनते है।

पचेन्द्रियजीवो के चर्म से निर्मित वस्त्र भी साधु-साध्वी के लिये निषिद्ध हैं। किन्तु उनके केशो से निर्मित ऊनी वस्त्रो का उपयोग साधु-साध्वी कर सकते है। क्योकि भेड आदि के केश काटने मे उन प्राणियो का घात नही होता है। अपितु ऊन काटने के बाद उनको हल्केपन का ही अनुभव होता है। आचा श्रु २, अ ५, उ १ मे तथा ठाणाग अ ५, उ ३ मे भी ये वस्त्र कल्पनीय बताये है।

आचारागसूत्र मे यह भी कहा गया है कि—'जो भिक्षु तरुण स्वस्थ एव समर्थ हो वह इनमे से एक ही जाति के वस्त्र रखे, अनेक जाति के नही रखे। अन्य सामान्य भिक्षु एक या अनेक जाति के वस्त्र रख सकते हैं।

इन पांच जाति के वस्त्रो मे से जब जहा जो सुलभ एव कल्पनीय प्राप्त हो उसे ग्रहण किया जा सकता है। प्राथमिकता सूती एव ऊनी इन दो को ही दी जानी चाहिए।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के लिए कल्पनीय रजोहरण

३०. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइ पंच रयहरणाइ धारित्तए वा परिहारित्तए वा, तं जहा—१. ओण्णिए, २. उट्टिए, ३. साणए, ४. वच्चाचिप्पए, ५. मुंजचिप्पए नामं पंचमे।

त्ति बेमि।

३०. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को इन पाच प्रकार के रजोहरणो को रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है। यथा—

१ और्णिक, २ औष्ट्रिक, ३ सानक, ४ वच्चाचिप्पक, ५ मुंजचिप्पक।

विवेचन—जिसके द्वारा धूलि आदि द्रव्य-रज और कर्म-मलरूप भाव-रज दूर की जाए उसे 'रजोहरण' कहते हैं।

द्रव्यरजोहरण—गमनागमन करते हुए पैरो पर लगी रज या मकान मे आई रज इससे प्रमार्जन करके दूर को जाती है, अत यह 'द्रव्यरजोहरण' है।

भावरजोहरण—भूमिगत, शरीर या वस्त्र-शय्यादि पर चढे हुए कीडे-मकोडे आदि को कष्ट पहुँचाए बिना रजोहरण से दूर किया जा सकता है, अत जीवरक्षा का साधन होने से यह 'भावरजोहरण' है।

यह रजोहरण पाच प्रकार का होता है—

१ और्णिक—जो भेड आदि की ऊन से बनाया जाए वह "और्णिक" है।

२ औष्ट्रिक—जो ऊँट के केशो से बनाया जाय वह 'औष्ट्रिक' है।

३ शानक—जो सन के वल्कल से बनाया जाय वह 'शानक' है।

४ वच्चाचिप्पक—वच्चा का अर्थ डाभ या घास है, उसे कूटकर और कर्कश भाग दूरकर बनाये गये रजोहरण को 'वच्चाचिप्पक' कहते है।

५ मुंजचिप्पक—मुंज को कूटकर तथा उसके कठोर भाग को दूर करके बनाए गए रजोहरण को 'मुंजचिप्पक' कहते है।

स्थानाग अ ५, उ ३ मे भी रजोरहण के ये पाच प्रकार कहे हैं।

इन पाचो मे पूर्व-पूर्व के कोमल होते है और उत्तर-उत्तर के कर्कश। अत सबसे कोमल होने से और्णिक रजोहरण ही प्रशस्त या उत्तम माना गया है। उसके अभाव मे औष्ट्रिक और उसके अभाव मे शानक रजोहरण का भाष्यकार ने स्पष्ट निर्देश किया है। यदि किसी देश-विशेष मे उक्त तीनो ही प्रकार के रजोहरण उपलब्ध न हो तो वैसी दशा मे ही वच्चाचिप्पक और उसके भी अभाव मे मुंजचिप्पक रजोहरण ग्रहण करने का विधान है।

विपरीत क्रम से रजोहरण के ग्रहण करने पर लघुमासिक प्रायश्चित्त का निर्देश किया है। साधु-साध्वी के सयम की रक्षा के लिए तथा शारीरिक रज को दूर करने के लिए एक रजोहरण रखना आवश्यक होता है।

दूसरे उद्देशक का सारांश

सूत्र १-३ जिस मकान मे धान्य बिखरा हुआ हो उसमे नही ठहरना किन्तु व्यवस्थित राशीकृत हो तो मासकल्प एव मुहरबन्द हो तो पूरे चातुर्मास भी रहा जा सकता है।

४-७ जिस मकान की सीमा मे मद्य के घडे या अचित्त शीत या उष्ण जल के घडे भरे हुए पडे हो अथवा अग्नि या दीपक सम्पूर्ण रात्रि जलते हो तो वहा साधु-साध्वी को नही ठहरना चाहिए, किन्तु अन्य मकान के अभाव मे एक या दो रात्रि ठहरा जा सकता है।

८-१० जिस मकान की सीमा मे खाद्य पदार्थ के बर्तन यत्र-तत्र पडे हो वहा नही ठहरना चाहिए किन्तु एक किनारे पर व्यवस्थित रखे हो तो मासकल्प एव मुहरबन्द हो तो पूरे चातुर्मास भी रहा जा सकता है।

११-१२ धर्मशाला एव असुरक्षित स्थानो मे साध्वियो को नही ठहरना चाहिए, किन्तु अन्य स्थान के अभाव मे साधु वहाँ ठहर सकते है।

१३ शय्या के अनेक स्वामी हो तो एक को आज्ञा लेकर उसे शय्यातर मानना एव अन्य के घरो से आहारादि ग्रहण करना।

१४-१६ शय्यादाता एव अन्य का आहार किसी स्थान पर सगृहीत किया गया हो तो शय्यातर के घर की सीमा मे और सीमा से बाहर अलग रखे हुए शय्यातर के आहार मे से ग्रहण करना नही कल्पता है। किन्तु शय्यादाता के घर की सीमा के बाहर एव अन्य सगृहीत आहार मे शय्यातर का आहार मिला दिया गया हो तो ग्रहण किया जा सकता है।

१७-१८ साधु-साध्वी को शय्यादाता के अलग रखे हुए आहार को अन्य आहार मे मिलवाना नही कल्पता है एव ऐसा करने पर उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१९-२२ शय्यादाता की आहृतिका एव निहृतिका का आहार उसके आधीन हो तब तक ग्रहण नही किया जा सकता है। अन्य के आधीन हो तब ग्रहण किया जा सकता है।

२३-२४ शय्यातर के स्वामित्व वाले आहारादि पदार्थो मे से जब शय्यातर के स्वामित्व का अश पूर्ण विभक्त होकर अलग कर दिया जावे तब शेष आहार मे से ग्रहण करना कल्पता है, किन्तु शय्यातर का अश पूर्णत अलग न किया हो तो उसमे से ग्रहण करना नही कल्पता है।

सूत्र २५-२८	शय्यादाता के पूज्य पुरुषो को सर्वथा समर्पित किए गए आहार मे से ग्रहण करना कल्पता है, किन्तु 'प्रातिहारिक' दिया गया हो तो उसमे से लेना नही कल्पता है तथा वह आहार शय्यादाता के या उसके पारिवारिक सदस्यो के हाथ से लेना नही कल्पता है।
२९-३०	साधु-सध्विया पाच जाति के वस्त्र एव पाच जाति के रजोहरण मे से किसी भी जाति का वस्त्र या रजोहरण ग्रहण कर सकते है।

उपसंहार

इस उद्देशक मे—

१-१०	धान्य, सुरा, जल, अग्नि, दीपक एव खाद्य पदार्थ युक्त मकान के कल्प्याकल्प्य का,
११-१२	असुरक्षित स्थानो के कल्प्याकल्प्य का,
१३	एक शय्या स्वामी की आज्ञा लेने का,
१४-२८	शय्यातर के स्वामित्व वाले आहार के कल्प्याकल्प्य का,
२९-३०	कल्पनीय वस्त्र एव रजोहरण की जातियो का,

इत्यादि विषयो का वर्णन किया गया है।

।। द्वितीय उद्देशक समाप्त ।।

तीसरा उद्देशक

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी को परस्पर उपाश्रय में खड़े रहने आदि का निषेध

१. नो कप्पइ निग्गंथाणं, निग्गंथीण उवस्सयंसि—१. चिट्ठित्तए वा, २. निसीइत्तए वा, ३. तुयट्टित्तए वा, ४. निद्दाइत्तए वा, ५. पयलाइत्तए वा, ६. असणं वा, ७. पाणं वा, ८. खाइमं वा, ९. साइम वा आहार आहारित्तए, १०. उच्चारं वा, ११. पासवणं वा, १२. खेलं वा, १३. सिंघाण वा परिट्ठवित्तए, १४ सज्झायं वा करित्तए, १५. झाणं वा झाइत्तए, १६. काउसग्गं वा (करित्तए) ठाइत्तए।

२. नो कप्पइ निग्गंथीण निग्गंथाणं उवस्सयंसि चिट्ठित्तए वा जाव काउस्सग्ग वा ठाइत्तए।

१ निर्ग्रन्थो को निर्ग्रन्थियो के उपाश्रय मे—१ खडे रहना, २ बैठना, ३ लेटना, ४ निद्रा लेना, ५. ऊघ लेना, ६. अशन, ७ पान, ८ खादिम, ९ स्वादिम का आहार करना, १० मल, ११ मूत्र, १२ कफ और, १३ नाक का मैल परठना, १४ स्वाध्याय करना, १५ ध्यान करना तथा १६ कायोत्सर्ग कर स्थित होना नही कल्पता है।

२ निर्ग्रन्थियो को निर्ग्रन्थो के उपाश्रय मे खडे रहना यावत् कायोत्सर्ग कर स्थित होना नही कल्पता है।

विवेचन—सामान्यत साधुओ को साध्वियो के उपाश्रय मे तथा साध्वियो को साधुओ के उपाश्रय मे नही जाना चाहिए। यदि कारणवश जाना पडे तो उन्हे खडे-खडे ही कार्य करके शीघ्र वापस लौट आना चाहिए और वहा पर सूत्रोक्त कार्य नही करने चाहिए। क्योकि अधिक समय तक ठहरने पर लोगो मे नाना प्रकार की आशकाए उत्पन्न होती है, अधिक परिचय बढने से ब्रह्मचर्य मे भी दूषण लगना सम्भव है और साधु-साध्वियो का एक-दूसरे के उपाश्रय मे खान-पान या मल-मूत्रादि का विसर्जन लोक-निन्दित है।

साध्वियो को साधु के पास स्वाध्याय सुनाने एव परस्पर वाचना देने का व्यव उ ७ मे कथन है, अत उस हेतु साध्वियो का साधुओ के उपाश्रय मे आना-जाना आगमसम्मत है तथा सेवा आदि कार्यो से भी एक-दूसरे के उपाश्रय मे आने-जाने का ठाणाग सूत्र मे कथन किया गया है।

साधु-साध्वी को चर्म ग्रहण के विधि-निषेध

३. नो कप्पइ निग्गंथीणं सलोमाइ चम्माइ अहिट्ठित्तए।

४. कप्पइ निग्गंथाण सलोमाइ चम्माइ अहिट्ठित्तए, से वि य परिभुत्ते, नो चेव णं अपरिभुत्ते, से वि य पाडिहारिए, नो चेव णं अपाडिहारिए, से वि य एगराइए, नो चेव णं अणेगराइए।

५. नो कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा कसिणाइं चम्माइं धारेत्तए वा, परिहरित्तए वा।

६ कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अकसिणाइं चम्माइं धारेत्तए वा, परिहरित्तए वा।

३ निर्ग्रन्थियो को रोम-सहित चर्म का उपयोग करना नही कल्पता है।

४ निर्ग्रन्थो को रोम-सहित चर्म का उपयोग करना कल्पता है।

वह भी काम मे लिया हुआ हो, नया न हो।

लौटाया जाने वाला हो, न लौटाया जाने वाला नही हो।

केवल एक रात्रि मे उपयोग करने के लिए लाया जाय पर अनेक रात्रियो मे उपयोग करने के लिए न लाया जाय।

५ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को अखण्ड चर्म रखना या उसका उपयोग करना नही कल्पता है।

६ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को चर्मखण्ड रखना या उसका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन--साधु-साध्वी की सामान्य उपधि मे वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि का कथन मिलता है। चर्म के उपकरण सामान्य रूप से तो साधु-साध्वी को रखना नही कल्पता है, किन्तु रोग आदि के कारण चर्म रखना आवश्यक हो तो रोमरहित चर्मखण्ड रखना कल्पता है। इसका कारण यह है कि खून या मल आदि के कपडे बारम्बार धोने की परिस्थिति मे चर्मखण्ड के उपयोग से सुविधा रहती है। रोगी को भी कष्ट कम होता है।

अखण्ड चर्म का निषेध इसलिये है कि हाथ पाव आदि के विभाग से युक्त अधिक लम्बा चौडा चमडा अनावश्यक होता है। मर्यादित कटा हुवा चर्म ही उपयुक्त रहता है।

सरोमचर्म मे तो जीवोत्पत्ति की आशका रहती है, अत वह साधु-साध्वियो के लिये अग्राह्य होता है। सूत्र मे जो साधु के लिये अनेक मर्यादाओ मे युक्त सरोमचर्म ग्रहण करने का विधान है, इससे भी सरोमचर्म का अग्राह्य होना ध्वनित होता है।

किसी साधु के चर्मरोग या अर्श आदि के कारण बैठने मे या सोने मे भी अत्यन्त पीडा होती हो तो रोमरहित चर्म की अपेक्षा रोमसहित चर्म अधिक उपयोगी होता है, इसलिये विशेष कारण से उसके ग्रहण करने का विधान किया गया है। साथ ही जीवोत्पत्ति से होने वाली विराधना से बचने के लिए कुछ मर्यादाए कही गई हैं, जिनका तात्पर्य इस प्रकार है--

लुहार, सुनार आदि जो दिन भर चर्म पर बैठकर अग्नि के पास काम करते है, उस सरोमचर्म में कुछ समय तक जीवोत्पत्ति की सम्भावना नही रहती है। अत सदा काम आने वाले, सरोमचर्म को प्रातिहारिक रूप मे ग्रहण करने की आज्ञा दी गई है। ज्यादा दिन रखने पर अग्नि की गर्मी न मिलने से उस सरोमचर्म मे जीवोत्पत्ति होने की सम्भावना रहती है। अत अधिक रखने का निषेध किया गया है।

साध्वी को सरोमचर्म ग्रहण करने का जो निषेध किया गया है उसका कारण यह है कि उनको ऐसे चर्म की गवेषणा करना एव इतनी मर्यादाओ का पालन करना कठिन है तथा सरोमचर्म मे पुरुष जैसे स्पर्श का अनुभव होने की सम्भावना से वह उनके ब्रह्मचर्य मे भी बाधक हो सकता है।

रोमरहित चर्मखण्ड रखने के अनेक कारण भाष्य मे कहे हैं। वे इस प्रकार हैं—सधिवात मे, अतिशीत काल एव अति उष्ण काल मे न चल सकने पर, दृष्टि मन्द हो जाय या पैरो मे छाले पड जाएँ इत्यादि कारणो से चर्मखण्ड रखे जा सकते है। भाष्य मे कृत्स्न अकृत्स्न चर्म के अनेक प्रकार से उनके उपयोग एव परिस्थितियो का वर्णन किया है। इसकी जानकारी के लिये भाष्य का अध्ययन करना आवश्यक है।

साधु-साध्वी द्वारा वस्त्र ग्रहण करने के विधि-निषेध

७. नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा—कसिणाइ वत्थाइ धारेत्तए वा, परिहरित्तए वा।

८. कप्पइ निग्गथाण वा, निग्गथीण वा अकसिणाइं वत्थाइ धारेत्तए वा, परिहरित्तए वा।

९. नो कप्पइ निग्गथाण वा, निग्गथीण वा– अभिन्नाइ वत्थाइ धारेत्तए वा, परिहरित्तए वा।

१०. कप्पइ निग्गथाण वा, निग्गथीण वा— भिन्नाइ वत्थाइ धारेत्तए वा, परिहरित्तए वा।

७ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को कृत्स्न वस्त्रो का रखना या उपयोग करना नही कल्पता है।

८ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को अकृत्स्न वस्त्रो का रखना या उपयोग करना कल्पता है।

९ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को अभिन्न वस्त्रो का रखना या उपयोग करना नही कल्पता है।

१० निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को भिन्न वस्त्रो का रखना या उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन—इन सूत्रो मे कृत्स्न-अकृत्स्न एव अभिन्न-भिन्न दोनो ही पद शब्द की अपेक्षा एकार्थक है। इनके पृथक्-पृथक् सूत्र कहने का कारण यह है कि कृत्स्न सूत्रो मे वस्त्र के वर्ण एव मूल्य आदि रूप भावकृत्स्न का वर्णन है एव अभिन्न सूत्रो मे अखण्ड थान या अति लम्बे-चौडे वस्त्र रूप द्रव्य-कृत्स्न का कथन है।

भाष्यकार ने इस कृत्स्न अर्थात् अखण्ड वस्त्र की विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा है कि कृत्स्न वस्त्र द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का होता है। उनमे से द्रव्य कृत्स्न के भी दो भेद हैं—सकल-द्रव्यकृत्स्न और प्रमाण-द्रव्यकृत्स्न।

जो वस्त्र अपने आदि और अन्त भाग से युक्त हो, किनारीवाला हो, कोमल स्पर्शयुक्त हो और काजल, काले-पीले धब्बे आदि से रहित हो, उसे द्रव्य की अपेक्षा सकलकृत्स्न कहते है।

इसके भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन भेद है।

मुखवस्त्रिकादि जघन्य द्रव्यकृत्स्न है, चोलपट्टादि मध्यम और चादर उत्कृष्ट द्रव्यकृत्स्न है।

जो वस्त्र मर्यादित लम्बाई-चौडाई के प्रमाण से अधिक लम्बे-चौडे होते है, उन्हे द्रव्य की अपेक्षा प्रमाण-कृत्स्न कहते हैं।

जो वस्त्र जिस क्षेत्र में दुर्लभ हो, उसे क्षेत्रकृत्स्न कहते हैं। एक देश का बना वस्त्र दूसरे देश मे प्राय बहुमूल्य एव दुर्लभ होता है।

जो वस्त्र जिस काल मे महगा मिले उसे कालकृत्स्न कहते है। जैसे ग्रीष्मकाल मे सूती, रेशमी आदि पतले वस्त्र और शीतकाल मे मोटे ऊनी गरम वस्त्र तथा वर्षाकाल मे रगीन वस्त्र बहुमूल्य हो जाते हैं।

भावकृत्स्न के दो भेद हैं—वर्णयुत और मूल्ययुत। इनमे वर्णयुत वस्त्र के कृष्ण, नील आदि वर्णों की अपेक्षा पांच भेद होते हैं।

मूल्ययुत वस्त्र भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का होता है।

जहा पर जिसका मूल्य कम हो वहा वह जघन्य और जहा उसी का मूल्य अधिक हो, वहा वही उत्कृष्ट मूल्य का जानना चाहिए।

जो वस्त्र सर्वत्र समान मूल्य से उपलब्ध हो वह मध्यम मूल्य वाला कहलाता है।

अथवा जिस वस्त्र के धारण करने से रागभाव उत्पन्न हो उसे भावकृत्स्न कहते हैं। अर्थात् अति चमक-दमक वाले रमणीय वस्त्र।

उक्त चारो ही प्रकार के कृत्स्नवस्त्र साधु या साध्वियो के लिए रखना या पहरना अयोग्य है।

इनके रखने या पहरने के दोषो का निर्देश करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि प्रमाणातिरिक्त वस्त्रो के रखने पर मार्ग-गमनकाल मे भार वहन करना पडता है।

अखण्ड, बहुमूल्य सूक्ष्म वस्त्रो को चोर-डाकू चुरा सकते हैं या अन्य कोई भी असयमी छीन सकता है।

एक राज्य से दूसरे राज्य मे प्रवेश करने पर चुगी वाले कर माग सकते हैं या वस्त्र छीन सकते हैं।

श्रावक ऐसे वस्त्रो को साधु के समीप देखकर उनसे घृणा या निन्दा कर सकता हैं।

इत्यादि कारणो से चारो ही प्रकार के कृत्स्नवस्त्र साधु-साध्वी को नही कल्पते हैं। किन्तु जो द्रव्य से अल्प या प्रमाणोपेत हो, क्षेत्र और काल से सर्वत्र सुलभ हो और भाव से जो बहुमूल्य न हो, ऐसा वस्त्र ही उनको धारण करना चाहिए।

साधु-साध्वी को अवग्रहानन्तक और अवग्रहपट्टक धारण करने के विधि-निषेध

११ नो कप्पइ निग्गंथाणं उग्गहणन्तग वा, उग्गहपट्टग वा धारित्तए वा, परिहरित्तए वा।

१२. कप्पइ निग्गथीण उग्गहणन्तगं वा, उग्गहपट्टग वा धारित्तए वा, परिहरित्तए वा।

११ निर्ग्रन्थों को अवग्रहानन्तक और अवग्रहपट्टक रखना या उसका उपयोग करना नही कल्पता है।

१२ निर्ग्रन्थियो को अवग्रहानन्तक और अवग्रहपट्टक रखना या उसका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन—गुप्त अग के ढकने वाले लगोट या कौपीन को अवग्रहानन्तक कहते हैं और उसके भी ऊपर उसे आच्छादन करने वाले वस्त्र को अवग्रहपट्टक कहते हैं।

प्रथम सूत्र मे साधुओ के लिए इन दोनो का निषेध किया गया है और दूसरे सूत्र मे साध्वियो के लिए इन दोनों के रखने और पहिनने का विधान किया गया है।

यद्यपि सूत्र मे उक्त दोनो उपकरण भिक्षु को रखने का स्पष्ट निषेध है, तथापि भाष्यकार ने लिखा है कि यदि किसी साधु को भगन्दर, अर्श आदि रोग हो जाए तो उस अवस्था मे अन्य वस्त्रो को रक्त-पीप से बचाने के लिए वह अवग्रहपट्टक रख सकता है।

साध्वियो को दोनो उपकरण रखने का और पहिनने का कारण यह है कि ऋतुकाल मे साध्वियो को ओढने-पहिनने के वस्त्र रक्त-रजित न हो, अत उस समय उक्त दोनो वस्त्रो को उपयोग मे लाने और शेष काल मे समीप रखने का विधान किया गया है। विहार आदि मे शीलरक्षा के लिये भी इन उपकरणो का पहनना आवश्यक होता है।

प्रश्न—साध्वियो के लिए कितने वस्त्र-पात्रादि रखने का विधान है ?

उत्तर—निर्युक्ति और भाष्यकार ने २५ प्रकार की उपधि रखने का निर्देश किया है—

उनके नाम इस प्रकार है—१ पात्र, २ पात्रबन्ध, ३ पात्रस्थापन, ४ पात्रकेसरिका, ५ पटलक, ६ रजस्त्राण, ७ गोच्छक, ८-१० तीन चादर (प्रच्छादक वस्त्र), ११ रजोहरण, १२ मुखवस्त्रिका, १३ मात्रक, १४ कमढक (चोलपट्टकस्थानीय वस्त्र, शाटिका), १५ अवग्रहानन्तक (गुह्यस्थानाच्छदक-लगोटी), १६ अवग्रहपट्टक (लगोटी के ऊपर कमर पर लपेटने का वस्त्र), १७ अर्द्धोरुक (आधी जाघो को ढकने वाला जाघिया जैसा वस्त्र), १८ चलनिका (अर्धोरुक से बडा, घुटनो को भी ढकने वाला वस्त्र), १९ अभ्यन्तर निवसिनी (आधे घुटनो को ढकने वाली), २० बहिर्निवसनी (पैर की एडियो को ढकने वाली), २१ कचुक (चोली), २२ औपकक्षिकी (चोली के ऊपर बाधी जाने वाली), २३ वैकक्षिकी (कचुक और औपकक्षिकी को ढकने वाली), २४ सघाटी (वसति मे पहने जाने वाली), २५ स्कन्धकरणी (कन्धे पर डालने का वस्त्र)। इस प्रकार आर्यिकाओ के २५ उपधि या उपकरण होते हैं।

भाष्यकार ने स्कन्धकरणी के साथ रूपवती साध्वियो को कुब्ज-करणी रखने या बाधने का भी विधान किया है। इसका अभिप्राय यह है कि रूपवती साध्वी को देखकर कामुक पुरुष चल-चित्त हो सकते हैं, अत रूपवती साध्वी को विकृतरूपा बनाने के लिए पीठ पर वस्त्रो की पोटली रखकर बाध देते है, जिससे कि वह कुबडी-सी दिखने लगे। इसी कारण इस उपधि का नाम कुब्ज-करणी रखा गया है।

इसके अतिरिक्त साधु और साध्वी कम से कम और अधिक से अधिक कितने वस्त्र-उपधि रख सकते है, भाष्यकार ने इसका तथा अन्य अनेक ज्ञातव्य विषयो का और करणीय कार्यों का भी वर्णन किया है। वह सब विशेष जिज्ञासु जनो को सभाष्य बृहत्कल्पसूत्र से जानना चाहिए।

साध्वी को अपनी निश्रा से वस्त्र ग्रहण करने का निषेध

१३. निग्गथीए य गाहावइकुल पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठाए चेलट्ठे समुप्पज्जेज्जा नो से कप्पइ अप्पणो निस्साए चेल पडिग्गाहेत्तए।

कप्पइ से पवत्तिणी-निस्साए चेलं पडिग्गाहित्तए।

नो य से तत्थ पवत्तिणी सामाणा सिया, जे से तत्थ सामाणे आयरिए वा, उवज्झाए वा, पवत्तए वा, थेरे वा, गणी वा, गणहरे वा, गणावच्छेइए वा, ज च अन्नं पुरओ कट्टु विहरइ।

कप्पइ से तन्नीसाए चेलं पडिग्गाहेत्तए।

१३ गृहस्थ के घर मे आहार के लिए गई हुई निर्ग्रन्थियो को यदि वस्त्र की आवश्यकता हो तो अपनी निश्रा से वस्त्र लेना नही कल्पता है।

किन्तु प्रवर्तिनी की निश्रा से वस्त्र लेना कल्पता है।

यदि वहा प्रवर्तिनी विद्यमान न हो तो जो आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणधर या गणावच्छेदक हो अथवा जिनकी प्रमुखता से विचरण कर रही हो, उनकी निश्रा से वस्त्र लेना कल्पता है।

विवेचन—यदि कोई साध्विया भक्त-पान लेने के लिए गृहस्थ के घर गई हो और उनमे से किसी एक को वस्त्र की आवश्यकता हो तो उसे अपनी निश्रा से अर्थात् 'यह वस्त्र मै मेरे लिए ग्रहण कर रही हू' इस प्रकार कहकर गृहस्थ से वस्त्र लेना नही कल्पता है। किन्तु वह प्रवर्तिनी की निश्रा से ग्रहण कर सकती है, अर्थात् वह गृहस्थ से वस्त्र लेते समय स्पष्ट शब्दो मे कहे कि—'मैं प्रवर्तिनी की निश्रा से इसे ग्रहण करती हू, वे इसे स्वीकार कर किसी साध्वी को देगी तो रखा जाएगा अन्यथा आपको वापस लौटा दिया जाएगा।' ऐसा कहकर ही वह गृहस्थ से वस्त्र को ग्रहण कर सकती है, अन्यथा नही। यदि उसकी प्रवर्तिनी उपाश्रय मे या उस ग्राम मे न हो तो जो आचार्य या उपाध्याय आदि सूत्रोक्त साधुजन समीप मे हो, उनकी निश्रा से वह वस्त्र को ग्रहण कर सकती है।

सूत्रोक्त आचार्य आदि का स्वरूप इस प्रकार है—

१. आचार्य—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—इन पाच आचारो का स्वय पालन करे और आज्ञानुवर्ती शिष्यो से पालन करावे, जो साधुसघ का स्वामी और सघ के अनुग्रह-निग्रह, सारण-वारण और धारण मे कुशल हो, लोक-स्थिति का वेत्ता हो, आचारसम्पदा आदि आठ सम्पदाओ से युक्त हो। व्यव उ ३, सूत्र ५ कथित गुणो का एव सूत्रो का धारक हो।

२. उपाध्याय—जो स्वय द्वादशागश्रुत का विशेषज्ञ हो, अध्ययनार्थ आने वाले शिष्यो को आगमो का अभ्यास करानेवाला हो और व्यव उ ३, सू ३ मे कहे गये गुणो का एव सूत्रो का धारक हो।

३. प्रवर्तक—जो साधुओ की योग्यता या रुचि देखकर उनको आचार्य-निर्दिष्ट कार्यों मे तथा तप, सयम, योग, वैयावृत्य, सेवा, शुश्रूषा, अध्ययन-अध्यापन आदि मे नियुक्त करे।

४. स्थविर—जो साधुओ के सयम मे शैथिल्य देखकर या उन्हे सयम से विचलित देखकर इस लोक और परलोक सम्बन्धी अपायो (अनिष्ट या दोषो) का उपदेश करे और उन्हे अपने कर्तव्यो मे स्थिर करे।

५. गणी—जो कुछ साधुओ के गण का स्वामी हो और साध्वियो की देख-रेख एव व्यवस्था

करने वाला हो। अथवा जो मुख्य आचार्य की निश्रा मे अनेक आचार्य होते हैं, उन्हे गणी कहा जाता है।

६. गणधर—जो कुछ साधुओ का प्रमुख बनकर विचरण करता हो।

७. गणावच्छेदक—जो साधुजनो के भक्त-पान, स्थान, औषधोपचार, प्रायश्चित्त आदि की व्यवस्था करने वाला हो।

उक्त सातो पदवीधारको के क्रम का निरूपण करते हुए बताया गया है कि साध्वी को स्वय की निश्रा से वस्त्र नही लेना चाहिए, किन्तु अपनी प्रवर्तिनी की निश्रा से लेना चाहिए। यदि वह न हो तो सघ के आचार्य की निश्रा से लेवे। उनके अभाव मे उपाध्याय की निश्रा से लेवे। इस प्रकार पूर्व-पूर्व पदधारको के अभाव मे उत्तर-उत्तर पदधारको की निश्रा से वस्त्र को लेवे। यदि उक्त पदधारको मे से कोई भी समीप न हो तो जो और कोई भी गीतार्थ साधु या साध्वी हो, उसकी निश्रा से वस्त्र लेवे। किन्तु साध्वी को स्वय की निश्रा से वस्त्र नही लेना चाहिए।

दीक्षा के समय ग्रहण करने योग्य उपधि का विधान

१४. निग्गथस्स ण तप्पढमयाए सपव्वयमाणस्स कप्पइ रयहरण-गोच्छग-पडिग्गहमायाए तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए सपव्वइत्तए।

से य पुव्वोवट्ठिए सिया, एवं से नो कप्पइ रयहरण-गोच्छग-पडिग्गहमायाए तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए सपव्वइत्तए।

कप्पइ से अहापरिग्गहिएहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए।

१५. निग्गंथीए य तप्पढमयाए सपव्वयमाणीए कप्पइ रयहरण-गोच्छग-पडिग्गहमायाए चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए सपव्वइत्तए।

सा य पुव्वोवट्ठिया सिया एवं से नो कप्पइ रयहरण-गोच्छग-पडिग्गहमायाए चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए।

कप्पइ से अहापरिग्गहिएहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए।

१४ गृहवास त्यागकर सर्वप्रथम प्रव्रजित होने वाले निर्ग्रन्थ को रजोहरण, गोच्छक, पात्र तथा तीन अखण्ड वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है।

यदि वह पहले दीक्षित हो चुका हो तो उसे रजोहरण, गोच्छक, पात्र तथा तीन अखण्ड वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना नही कल्पता है।

किन्तु पूर्वगृहीत वस्त्रो को लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है।

१५ गृहवास त्यागकर सर्वप्रथम प्रव्रजित होने वाली निर्ग्रन्थी को रजोहरण, गोच्छक, पात्र तथा चार अखण्ड वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है।

यदि वह पहले दीक्षित हो चुकी हो तो उसे रजोहरण, गोच्छक, पात्र तथा चार अखण्ड वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना नही कल्पता है।

किन्तु पूर्वग्रहीत वस्त्रो को लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है ।

विवेचन—सामायिकचारित्र एव छेदोपस्थापनीयचारित्र ग्रहण करने वाला भिक्षु किन-किन उपधियो को लेकर दीक्षा ले, यह इस सूत्र मे बताया गया है।

जो सर्वप्रथम दीक्षित हो रहा है उसे अपने अभिभावको द्वारा या सगे-सम्बन्धियो द्वारा दिये हुए रजोहरण, गोच्छक (प्रमार्जनिका), पात्र और तीन कृत्स्नवस्त्र लेकर दीक्षा लेना चाहिए।

एक हाथ चौडे और चौबीस हाथ लम्बे थान को कृत्स्नवस्त्र माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि वह रजोहरण आदि उपकरणो के साथ कुल बहत्तर हाथ लम्बे हो, ऐसे तीन थान लेकर के दीक्षित होवे । इसके पश्चात् जब उसकी बडी दीक्षा हो या किसी व्रत-विशेष मे दूषण लग जाने पर या किसी महाव्रत की विराधना हो जाने पर पुन दीक्षा के लिए आचार्य के सम्मुख उपस्थित हो तो वह अपने पूर्वगृहीत वस्त्र-पात्रादि के साथ ही दीक्षा ले सकता है, अर्थात् पहले के वस्त्र-पात्रादि को छोडकर नवीन वस्त्र-पात्रादि के लेने की उसे आवश्यकता नही है। उपधि सम्बन्धी विस्तृत जानकारी के लिए निशीथ उ १६, सू ३९ का विवेचन देखे । दीक्षा लेने वाली साध्वी के उपकरणो का वर्णन भी इसी प्रकार है किन्तु तीन कृत्स्नवस्त्र के स्थान पर उनके चार कृत्स्नवस्त्र होते हैं। क्योकि उनके वस्त्र सम्बन्धी उपकरण कुछ अधिक होते हैं। तीन या चार अखण्ड वस्त्र का स्पष्टार्थ भाष्य टीका मे उपलब्ध नही है। अत भिन्न-भिन्न अर्थों की परम्पराएँ प्रचलित है। ७२ हाथ वस्त्र माप की कल्पना भी अधिक प्राचीन नही है तथापि आगम-आशय के अधिक निकट है ऐसा प्रतीत होता है।

प्रथम द्वितीय समवसरण में वस्त्र ग्रहण करने का विधि निषेध

१६ नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—पढमसमोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं पडिगाहेत्तए।

१७ कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—दोच्चसमोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं पडिगाहेत्तए।

१६ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को प्रथम समवसरण मे वस्त्र ग्रहण करना नही कल्पता है।

१७ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को द्वितीय समवसरण मे वस्त्र ग्रहण करना कल्पता है।

विवेचन--समवसरण शब्द का अर्थ है--सर्व ओर से आना। चातुर्मास करने के लिए साधु-साध्विया किसी एक योग्य स्थान पर आकर स्थित होते है, अत उसे प्रथम समवसरण कहा जाता है और वर्षाकाल या चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् के काल को द्वितीय समवसरण कहा जाता है।

जिस स्थान पर साधु और साध्वियो को चातुर्मास करना है उस स्थान पर आने के पश्चात् पूरे वर्षाकाल तक अर्थात् आषाढ शुक्ला पूर्णिमा से लेकर कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा तक गृहस्थो से वस्त्र लेना नही कल्पता है। किन्तु वर्षाकाल के बाद दूसरे समवसरण मे अर्थात् मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा से लेकर आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा पर्यन्त आठ मास तक जिस देश और जिस काल मे उन्हे यदि वस्त्रो की आवश्यकता हो तो गृहस्थो से ले सकते हैं।

चातुर्मास सम्बन्धी अन्य सभी ज्ञातव्य बातो का विशद वर्णन निर्युक्तिकार और भाष्यकार ने किया है।

यथारत्नाधिक वस्त्र ग्रहण का विधान

१८. कप्पइ निग्गथाण वा निग्गंथोण वा—अहाराइणियाए चेलाइ पडिग्गाहित्तए ।

१८ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को चारित्रपर्याय के क्रम से वस्त्र-ग्रहण करना कल्पता है ।

विवेचन—जिस साधु या साध्वी की चारित्रपर्याय अधिक हो उसे रात्निक या रत्नाधिक कहते हैं । जब कभी साधु या साध्वी वस्त्रो को गृहस्थ से लेव तो उन्हे चारित्रपर्याय की हीनाधिकता के क्रमानुसार ही ग्रहण करना चाहिए । अर्थात् जो साधु या साध्वी सबसे अधिक चारित्रपर्याय वाले हैं, उन्हे सर्वप्रथम वस्त्र प्रदान करना चाहिए । तत्पश्चात् उनसे कम चारित्रपर्याय वाले को और तदनन्तर उनसे कम चारित्रपर्याय वाले को देना चाहिए । यहा पर वस्त्र पद देशामर्शक है, अत पात्रादि अन्य उपधियो को भी चारित्रपर्याय की हीनाधिकता से लेना और देना चाहिए । क्योकि व्युत्क्रम से देने या लेने मे रत्नाधिको का अविनय, आशातना आदि होती है, जो साधु-मर्यादा के प्रतिकूल है । व्युत्क्रम से देने और लेने वाले साधु-साध्वियो के लिए भाष्यकार ने प्रायश्चित्त का विधान किया है ।

यथारत्नाधिक शय्या-संस्तारक ग्रहण का विधान

१९. कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा अहारायणियाए सेज्जा-सथारए पडिग्गाहित्तए ।

१९ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को चारित्रपर्याय के क्रम से शय्या-सस्तारक ग्रहण करना कल्पता है ।

विवेचन—शय्या का अर्थ वसति या उपाश्रय है । उसमे ठहरने पर साधुओ या साध्वियो के बैठने योग्य स्थान एव पाट, घास आदि को सस्तारक कहते हैं । इन्हे भी चारित्रपर्याय की हीनाधिकता के क्रम से ग्रहण करना चाहिए ।

निर्युक्तिकार और भाष्यकार ने यथारात्निक शय्या-सस्तारक का विधान करते हुए इतना और स्पष्ट किया है कि आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तक इन तीन गुरुजनो की क्रमश शय्या-सस्तारक के पश्चात् ज्ञानादि सम्पदा को प्राप्त करने के लिए जो अन्य गण से साधु आया हुआ है, उसके शय्या-सस्तारक को स्थान देना चाहिए । उसके बाद ग्लान (रुग्ण) साधु को, तत्पश्चात् अल्प उपधि (वस्त्र) वाले साधु को, उसके बाद कर्मक्षयार्थ उद्यत साधु को, तदनन्तर जिसने रातभर वस्त्र नही ओढने का अभिग्रह लिया है ऐसे साधु को, तदनन्तर स्थविर को, तदनन्तर गणी, गणधर, गणावच्छेदक और अन्य साधुओ को शय्या-सस्तारक के लिए स्थान ग्रहण करना चाहिए ।

यहा इतना और विशेष बताया गया है कि नवदीक्षित या अल्प आयु वाले साधु को रत्नाधिक साधु के समीप सोने का स्थान देना चाहिए, जो रात मे उसकी सार-सम्भाल कर सके ।

इसी प्रकार वैयावृत्य करने वाले साधु को ग्लान साधु के समीप स्थान देना चाहिए, जिससे वह रोगी साधु की यथासमय परिचर्या कर सके ।

तथा शास्त्राभ्यास करने वाले शैक्ष साधु को उपाध्याय आदि, जिसके समीप वह अध्ययन करता हो, के पास स्थान देना चाहिए जिससे कि वह जागरणकाल मे अपने पाठ-परिवर्तनादि करते समय उनसे सहयोग प्राप्त कर सके ।

यथारत्नाधिक कृतिकर्म करने का विधान

२०. कप्पइ निग्गंथाण या निग्गंथीण वा—अहाराइणियाए किइकम्मं करेत्तए।

२०. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को चारित्रपर्याय के क्रम से वन्दन करना कल्पता है।

विवेचन—प्रात सायकाल आदि समयो मे प्रतिक्रमण आदि प्रारम्भ करने के पूर्व गुरु एव रत्नाधिको का जो विनय, वन्दन आदि किया जाता है, उसे 'कृतिकर्म' कहते हैं। इसके दो भेद हैं—अभ्युत्थान और वन्दनक।

आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुजनो के एव जो दीक्षा-पर्याय मे ज्येष्ठ हैं, उनके गमन-आगमन काल मे उठकर खड़े होना 'अभ्युत्थान कृतिकर्म' है।

प्रात काल, सायकाल एव प्रतिक्रमण करते समय तथा किसी प्रश्न आदि के पूछते समय गुरुजनो को वन्दना करना, हाथ जोडकर मस्तक पर अजलि लगाकर नमस्कार आदि करना 'वन्दनक कृतिकर्म' है।

भाष्यकार ने कहा है कि यथाजात बालक के समान सरल भाव से प्रत्येक दिशा मे तीन-तीन आवर्त करते हुए मस्तक से पचाग नमस्कार करना चाहिए।

प्रदक्षिणा देने की तरह दोनो हाथ सयुक्त करके घुमाने को 'आवर्त' कहते है।

शुद्ध मन, वचन, काया से भक्ति प्रकट करने के लिये ये आवर्त किये जाते हैं।

चारो दिशाओ मे आवर्त करने का अभिप्राय यह है कि उस-उस दिशा में जहा पर जो भी पच परमेष्ठी, गुरुजन एव रत्नाधिक साधु विद्यमान है, उन्हे भी मै त्रियोग की शुद्धि एव भक्ति से वन्दन एव नमस्कार करता हूँ। इसी प्रकार गुरुजनो के समीप आने पर भी साधु और साध्वियो को दीक्षापर्याय के अनुसार उन्हे वन्दन करना चाहिए।

इस कृतिकर्म के विषय मे सम्प्रदाय-भेद से अनेक प्रकार की व्याख्याए उपलब्ध है। उन्हे जानकर सम्प्रदाय के अनुसार यथारत्नाधिक का कृतिकर्म करना आवश्यक बताया गया है। भाष्यकार ने कृतिकर्म के ३२ दोषो का भी विशद वर्णन किया है और अन्त मे लिखा है कि इन सब दोषो से रहित कृतिकर्म करना चाहिए, अन्यथा वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

गृहस्थ के घर में ठहरने आदि का निषेध

२१. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—अंतरगिहंसि—

१. चिट्ठित्तए वा, २. निसीइत्तए वा, ३. तुयट्टित्तए वा, ४. निद्दाइत्तए वा, ५. पयलाइत्तए वा, ६. असणं वा, ७. पाणं वा, ८. खाइमं वा, ९. साइमं वा आहारमाहरित्तए, १०. उच्चारं वा, ११. पासवणं वा, १२. खेलं वा, १३. सिंघाणं वा परिट्ठवेत्तए, १४. सज्झायं वा करित्तए, १५. झाणं वा झाइत्तए, १६. काउसग्गं वा ठाइत्तए।

अह पुण एवं जाणेज्जा—वाहिए, जराजुण्णे, तवस्सी, दुब्बले, किलंते, मुच्छेज्ज वा, पवडेज्ज वा एवं से कप्पइ अंतरगिहंसि चिट्ठित्तए वा जाव काउसग्गं वा ठाइत्तए।

२१ निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियो को गृहस्थ के घर के भीतर—

१. ठहरना , २. बैठना, ३. सोना, ४ निद्रा लेना, ५. ऊघ लेना, ६. अशन, ७ पान, ८. खादिम, ९ स्वादिम-आहार करना, १० मल, ११. मूत्र, १२. खेकार, १३. श्लेष्म परिष्ठापन करना, १४. स्वाध्याय करना, १५ ध्यान करना, १६ कायोत्सर्ग कर स्थित होना नही कल्पता है।

यहा यह विशेष जाने कि जो भिक्षु व्याधिग्रस्त हो, वृद्ध हो, तपस्वी हो, दुर्बल हो, थकान या घबराहट से युक्त हो, वह यदि मूर्च्छित होकर गिर पडे तो उसे गृहस्थ के घर मे ठहरना यावत् कायोत्सर्ग करके स्थित होना कल्पता है।

विवेचन—भिक्षार्थ निकले हुए साधु को गृहस्थ के घर मे ठहरना, बैठना आदि सूत्रोक्त कार्य नहीं करना चाहिए, क्योकि वहा पर उक्त कार्य करने से गृहस्थो को नाना प्रकार की शकाए उत्पन्न हो सकती हैं। यह उत्सर्गमार्ग है।

अपवाद रूप मे बताया गया है कि यदि कोई साधु रोगी हो, अतिवृद्ध हो, तपस्या से जर्जरित या दुर्बल हो, या मूर्च्छा आ जाए, गिर पडने की सम्भावना हो तो वह कुछ क्षणो के लिए गृहस्थ के घर मे ठहर सकता है।

भाष्यकार ने कुछ और भी कारण ठहरने के बताये है। जैसे किसी रोगी के लिए औषधि लेने के लिए किसी घर मे कोई साधु जावे और औषधदाता घर से बाहर हो, उस समय घर वाले कहे—'कुछ समय ठहरिए, औषधदाता आने ही वाले हैं,' अथवा घर मे प्रवेश करने के पश्चात् पानी बरसने लगे या उसी मार्ग से राजा आदि की सवारी या किसी की बारात आदि निकलने लगे तो साधु वहा ठहर सकता है।

गृहस्थ के घर में मर्यादित वार्ता का विधान

२२. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गथीण वा अंतरगिहंसि जाव चउगाह वा पचगाह वा आइक्खित्तए वा, विभावित्तए वा, किट्टत्तए वा, पवेइत्तए वा।

नन्नत्थ एगनाएणं वा, एगवागरणेण वा, एगगाहाए वा, एगसिलोएण वा; से वि य ठिच्चा, नो चेव ण अठिच्चा।

२२ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को गृहस्थ के घर मे चार या पाच गाथाओ द्वारा कथन करना, उनका अर्थ करना, धर्माचरण का फल कहना एव विस्तृत विवेचन करना नही कल्पता है।

किन्तु आवश्यक होने पर केवल एक उदाहरण, एक प्रश्नोत्तर, एक गाथा या एक श्लोक द्वारा कथन करना कल्पता है।

वह भी खडे रहकर कथन करे, बैठकर नही।

विवेचन—गोचरी के लिए गये हुए साधु या साध्विया गृहस्थ के घर में खडे होकर गाथा, श्लोक आदि का उच्चारण ही न करे। यह उत्सर्गमार्ग है।

भाष्यकार ने इसका कारण बताया है कि जहा पर साधु खडा होगा वहा से यदि किसी की

कोई वस्तु चोरी चली जायेगी तो उसका स्वामी यह लाछन लगा सकता है कि यहा पर अमुक साधु या साध्विया खड़े रहे थे। अत. वे ही मेरी अमुक वस्तु ले गये हैं, इत्यादि।

इसके अतिरिक्त किसी गृहस्थ के विवादास्पद प्रश्न के उत्तर मे वहा आक्षेप-व्याक्षेप मे समय व्यतीत होगा। उससे उसके साथी साधु, जो कि एक मण्डली मे बैठकर भोजन करते हैं, प्रतीक्षा करते रहेगे, अत उनके यथासमय भोजन न कर सकने से वह अन्तराय का भागी होगा।

दूसरे, यदि वह किसी रोगी साधु से यह कहकर आया है कि—"आज मैं तुम्हारे लिए शीघ्र योग्य भक्त-पान लाऊगा", फिर वाद-विवाद मे पडकर समय पर वापस नही पहुँच सकने से वह भूख-प्यास से पीड़ित होकर और अधिक सताप को प्राप्त होगा, इत्यादि कारणो से गोचरी को गये हुए साधु और साध्वियो को कही भी अधिक वार्तालाप नही करना चाहिए अन्यथा वह चतुर्लघु से लेकर यथासम्भव अनेक प्रायश्चित्तो का पात्र होता है।

अपवाद रूप में यह बताया गया है कि गोचरी को गये साधु या साध्वी से यदि कोई जिज्ञासु पूछे कि 'धर्म का लक्षण क्या है ?' तब वह **"अहिंसा परमो धर्मः"** इतना मात्र सक्षिप्त उत्तर देवे।

यदि कोई पुन· पूछे कि धर्म की कुछ व्याख्या कीजिए, तब इतना मात्र कहे कि "अपने लिए जो तुम इष्ट या अनिष्ट मानते हो वह दूसरे के लिए भी वैसा ही समझो", बस इतना ही जैनशासन का सार है।

यदि जिज्ञासु उक्त कथन की पुष्टि मे कोई प्रमाण पूछे तो उक्त अर्थ-द्योतक एक गाथा कहे। यथा—

"सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधइ॥

—दशवै अ. ४, गा ९

वह भी खडा-खडा ही कहे, बैठकर नही। अन्यथा उपर्युक्त दोषो के कारण वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

गृहस्थ के घर में मर्यादित धर्मकथा का विधान

२३. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अंतरगिहंसि, इमाइं पंच महव्वयाइं सभावणाइं आइक्खित्तए वा, विभावित्तए वा, किट्टित्तए वा, पवेइत्तए वा।

नन्नत्थ एगनाएण वा जाव एगसिलोएण वा; से वि य ठिच्चा, नो चेव णं अठिच्चा।

२३. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियों को गृहस्थ के घर मे भावना सहित पाचो महाव्रतो का कथन, अर्थ-विस्तार या महाव्रताचरण के फल का कथन करना एव विस्तृत विवेचन करना नही कल्पता है।

किन्तु आवश्यक होने पर केवल एक उदाहरण यावत् एक श्लोक से कथन करना कल्पता है। वह भी खडे रहकर किन्तु बैठकर नही।

विवेचन—पूर्व सूत्र में किसी के द्वारा पूछे जाने पर वार्तालाप करने का विधि-निषेध किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में महाव्रतों के कथन का विधि-निषेध किया गया है।

साधु और साध्वियो को गृहस्थ के घर मे पाचो महाव्रतो का उनकी भावनाओ के साथ आख्यान—मूल पाठ का उच्चारण, विभावन—अर्थ का प्रतिपादन, कीर्तन—लौकिक लाभो का वर्णन और प्रवेदन—स्वर्ग-मोक्षादि पारलौकिक फल को प्रकट करना नही कल्पता है।

भाष्यकार ने इसका कारण बताते हुए कहा है कि यदि साधु महाव्रतो का विस्तार से उपदेश करने लग जाए और उसे सुनने वाली गर्भिणी स्त्री जब तक वहा बैठी रहती है तब तक गर्भस्थ जीव के आहार-पान के निरोध से यदि कुछ अनिष्ट हो जाए तो वह उपदेष्टा उसकी हिंसा का भागी होता है।

अथवा उसी समय कोई घर की स्त्री दीर्घशका-निवारणार्थ चली जाए और उससे द्वेष रखने वाली उसकी सौत या अन्य विद्वेषिणी स्त्री उसके बच्चे को मार कर साधु या साध्वी के सम्मुख लाकर पटक दे और चिल्लाने लगे कि इस साधु ने इसको मार डाला है। ऐसे अवसर पर लोगो को साधु के विषय में प्राणघात करने की आशका हो सकती है। इसी प्रकार कभी किसी के पूछने पर साधु ने कहा हो कि उसे गृहस्थ के घर पर उपदेश देना नही कल्पता है, पीछे किसी के यहा उपदेश दे तो मृषावाद का भी दोष लगता है।

साधु के उपदेश-काल मे घर की दासी अवसर पाकर किसी आभूषणादि को चुरा ले जाए, पीछे साधु के चले जाने पर गृहस्वामी उस साधु पर चोरी का दोष लगा दे।

किसी स्त्री का पति विदेश गया हो और वह उपदेश सुनने के छल से कुछ देर साधु को ठहरा करके मैथुन-सेवन की प्रार्थना करे और साधु विचलित हो जाए अथवा वह स्त्री अच्छे वस्त्र-पात्रादि देने का प्रलोभन देकर साधु को प्रलोभित करे, इत्यादि कारणो से साधु के महाव्रतो मे ही दोष लगता है।

अत सूत्र मे गृहस्थ के घर पर पाचो महाव्रतो के आख्यान, विभावनादि विस्तृत प्रवचन का निषेध किया है। यदि कभी कोई रुग्ण-जिज्ञासु महाव्रतो के स्वरूप आदि के विषय मे पूछे तो उसे विवेकपूर्वक एक गाथा से या एक श्लोक से अर्थात् सक्षिप्त रूप मे कथन करे, वह भी खडे रहकर ही करना चाहिए बैठकर नही। क्योकि गोचरी गया हुआ भिक्षु खडा तो रहता ही है। वहा बैठना ही अनेक शकाओ का स्थान होता है। अत बैठने का सर्वथा निषेध किया गया है।

गृहस्थ का शय्या-संस्तारक लौटाने का विधान

२४. नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं सेज्जासंथारयं आयाए अपडिहट्टु संपव्वइत्तए।

२४ प्रातिहारिक शय्या-सस्तारक जो ग्रहण किया है उसे उसके स्वामी को सौपे विना ग्रामान्तर गमन करना निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को नही कल्पता है।

विवेचन—साधु के पूर्ण शरीर-प्रमाण पीठ-फलक-तृण आदि को 'शय्या' कहते है और अढाई हाथ प्रमाण वाले पीठ-फलक-तृण आदि को "सस्तारक" कहते हैं।

जो शय्या-सस्तारक गृहस्थ के घर से वापस लौटाने को कहकर लाये जाते हैं, उन्हे "प्रातिहारिक" कहते हैं। साधु जब किसी ग्राम मे पहुचता है तो अपने योग्य शय्या-सस्तारक सागा-

रिक के अतिरिक्त अन्य किसी गृहस्थ के घर से वापस सौपने को कहकर लाता है। वह शय्या-सस्तारक उस गृहस्थ को सौपे विना ग्रामान्तर जाना साधु या साध्वी के लिए उचित नही है। यदि वह विना लौटाए जाता है तो प्रायश्चित्त का पात्र होता है। विना सौंपे ही विहार कर जाने पर साधु की अप्रतीति एवं निन्दा होती है, जिससे पुन वहा शय्या-सस्तारक मिलना दुर्लभ होता है।

यहा शय्या-सस्तारक पद उपलक्षण रूप है। अत. वापस सौपने को कहकर जो भी वस्तु गृहस्थ के घर से साधु या साध्वी लावे, उसे वापस सौप करके ही अन्यत्र विहार करना चाहिए।

शय्यातर का शय्या-संस्तारक व्यवस्थित करके लौटाने का विधान

२५. नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गंथीण वा—सागारियसंतियं सेज्जासंथारयं आयाए अविकरणं कट्टु संपव्वइत्तए।

२६. कप्पइ निग्गथाण वा निग्गंथीण वा—सागारियसंतियं सेज्जासंथारयं आयाए विकरणं कट्टु संपव्वइत्तए।

२५ सागारिक का शय्या-सस्तारक जो ग्रहण किया गया है, उसे यथावस्थित किये विना ग्रामान्तर गमन करना निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को नही कल्पता है।

२६ सागारिक का शय्या-सस्तारक जो ग्रहण किया है, उसे व्यवस्थित करके ग्रामान्तर गमन करना निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को कल्पता है।

विवेचन—शय्यातर के शय्या-सस्तारक जहा पर जिस प्रकार से थे, उन्हे उसी प्रकार से करके सौपने को "विकरण" कहते है।

यदि उसी स्थान पर न रखे और उसी प्रकार से व्यवस्थित करके न सौपे तो इसे "अविकरण" कहते है।

इस सूत्र द्वारा यह निर्देश किया गया है कि शय्यातर के शय्या-सस्तारक जहा जैसे रखे हुए थे, जाते समय उन्हे उसी स्थान पर और उसी प्रकार से व्यवस्थित करके ग्रामान्तर के लिए विहार करना चाहिए। अन्यथा वे साधु-साध्वी प्रायश्चित्त के पात्र होते है।

आचा श्रु २, अ २, उ ३ मे शय्या-सस्तारक लौटाने की विधि बताई है। उसका तात्पर्य यह है कि उनकी अच्छी तरह ऊपर नीचे प्रतिलेखन कर लेना चाहिए। आवश्यक हो तो खंखेरना या धूप मे आतापित करना चाहिए। इस प्रकार सर्वथा जीवरहित होने पर लौटाना चाहिए।

पाट आदि उपयोग लेने से मलीन हो जाएँ तो उन्हे धोकर एव पोंछकर साफ करके देना चाहिए। यदि वे कुछ टूट-फूट जाएँ या खराब हो जाएँ तो उन्हे विवेकपूर्वक सूचना करते हुए लौटाना चाहिए।

भाष्य मे बताया गया है—जिस बास की कबिया आदि को बाधा हो अथवा बधे हुए को खोला हो तो उन्हे पुन: पूर्व अवस्था मे करके लौटाना चाहिए।

इन सभी विधानो का आशय यह है कि व्यवस्थित लौटाने से साधु-साध्वी की प्रतीति रहती है एव शय्या-सस्तारक की सुलभता रहती है तथा तीसरे महाव्रत का शुद्ध रूप से पालन होता है।

खोए हुए शय्या-संस्तारक के अन्वेषण करने का विधान

२७. इस खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारिए वा सागारियसंतिए वा सेज्जासंथारए विप्पणसेज्जा, से य अणुगवेसियव्वे सिया ।

से य अणुगवेसमाणे लभेज्जा तस्सेव पडिवायव्वे सिया ।

से य अणुगवेसमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ दोच्चंपि उग्गहं अणुण्णवेत्ता परिहारं परिहरित्तए ।

२७. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो का प्रातिहारिक या सागारिक शय्या-सस्तारक यदि गुम हो जाए तो उसका उन्हे अन्वेषण करना चाहिए ।

अन्वेषण करने पर यदि मिल जाए तो उसी को दे देना चाहिए ।

अन्वेषण करने पर कदाचित् न मिले तो पुन आज्ञा लेकर अन्य शय्या-सस्तारक ग्रहण करके उपयोग मे लेना कल्पता है ।

विवेचन—निर्युक्तिकार ने बताया है कि साधु गृहस्थ के घर से जो भी शय्या-सस्तारक आदि माग कर लावे उसकी रक्षा के लिए सावधानी रखनी चाहिए और उपाश्रय को सूना नही छोडना चाहिए ।

गोचरी आदि के लिए बाहर जाना हो तो किसी न किसी को उपाश्रय की रक्षा के लिए नियुक्त करके जाना चाहिए। यदि कायिकी बाधा के निवारणार्थ इधर-उधर जाने पर या पठन-पाठनादि मे चित्त लगा रहने पर कोई चुराकर ले जाए, अथवा गृहस्थ के घर से लाते समय या वापस देते समय हाथ से छीनकर कोई भाग जाए या बाहर धूप मे रखने पर कोई उठा ले जाए इत्यादि किसी भी कारण से शय्या-सस्तारक खो जाए तो साधु उसकी गवेषणा तत्काल करे ।

अन्वेषण करते हुए यदि ले जाने वाला मिल जावे तो उससे उसे देने के लिए कहे—'हे भद्र ! यह मैं किसी गृहस्थ से माग कर लाया हूँ, आप यदि ले आये है तो हमे वापस देवे ।" यदि उसके भाव नही देने के हो तो उसे धार्मिक वाक्य कहकर दे देने के लिए उत्साहित करे ।

यदि फिर भी न देना चाहे तो उसे पारितोषिक आदि दिलाने का आश्वासन दे ।

यदि वह राज्याधिकारी हो और मागने पर भी न दे तो उसके लिए साधु यथोचित उपायो से जहा तक सम्भव हो उसे वापस लाने का प्रयत्न करे ।

यदि फिर भी वह न दे तो ऊपर के अधिकारियो तक सूचना भिजवाकर वापस मांगने का प्रयत्न करे । फिर भी न मिले या ले जाने वाले का पता न लगे तो जिस गृहस्थ के यहा से वह शय्या-सस्तारकादि लाया है उसको उसके अपहरण की बात कहे ।

यदि वह किसी प्रकार से उसे वापस ले आवे तो उसको दूसरी बार आज्ञा लेकर उपयोग मे ले । यदि उसे भी वह न मिले तो दूसरे शय्या-सस्तारक की याचना करे ।

यदि वह साधु ऐसा यथोचित विवेक-अन्वेषण नही करता है तो प्रायश्चित्त का पात्र होता है ।

अन्त में भाष्यकार ने यह भी लिखा है कि शय्या-संस्तारक का स्वामी राजा के द्वारा देश से निकाल दिया गया हो या वह अपने कुटुम्ब परिवार को लेकर अन्यत्र चला गया हो, अथवा कालधर्म को प्राप्त हो गया हो, अथवा रोग, वृद्धावस्था आदि के कारण साधु स्वयं गवेषणा करने मे असमर्थ हो या इसी प्रकार का और कोई कारण हो जाए तो वैसी अवस्था मे खोए गए शय्या-संस्तारक की गवेषणा नही करता हुआ भी साधु प्रायश्चित्त का भागी नही होता है।

आगन्तुक श्रमणों को पूर्वाज्ञा में रहने का विधान

२८. जद्दिवसं च णं समणा निग्गंथा सेज्जासंथारयं विप्पजहंति, तद्दिवसं च णं अवरे समणा निग्गंथा हव्वमागच्छेज्जा, सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहे।

२९. अत्थि या इत्थ केइ उवस्सयपरियावन्नय अचित्ते परिहरणारिहे, सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ, अहालंदमवि उग्गहे।

२८ जिस दिन श्रमण-निर्ग्रन्थ शय्या-संस्तारक छोडकर विहार कर रहे हो उसी दिन या उसी समय दूसरे श्रमण-निर्ग्रन्थ आ जावे तो उसी पूर्व ग्रहीत आज्ञा से जितने भी समय रहना हो, शय्या-संस्तारक को ग्रहण करके रह सकते है।

२९ यदि उपयोग मे आने योग्य कोई अचित्त उपकरण उपाश्रय मे हो तो उसका भी उसी पूर्व की आज्ञा से जितने काल रहना हो, उपयोग किया जा सकता है।

विवेचन—जिस उपाश्रय मे साधु मासकल्प या वर्षाकल्प तक की आज्ञा लेकर रहे हैं, वहा से वे जिस दिन विहार करे उसी दिन अन्य साधु उस उपाश्रय मे ठहरने के लिए आ जावे तो वे 'यथालन्दकाल' तक उपाश्रय के स्वामी की आज्ञा लिए बिना ठहर सकते है, उनके लिए उतने काल तक पूर्व मे रहने वाले साधुओ के द्वारा गृहीत अवग्रह ही माना जाएगा।

पहले ठहरे हुए साधुओ के द्वारा ली गई आज्ञा मे उनके साधर्मिक साधुओ के ठहरने की आज्ञा निहित रहती है। अत उनके साथ कोई भी साधु कभी भी आकर ठहर सकते हैं। उनके लिये पुन. आज्ञा लेने की आवश्यकता नही होती है। उनके आने के बाद पहले ठहरे हुए साधु विहार कर जाएँ तो वे अपने कल्पानुसार वहा रुक सकते है। यथालन्दकाल का यहा 'यथायोग्य कल्पानुसार समय' ऐसा अर्थ होता है।

यदि पहले ठहरे हुए साधुओ ने विहार कर मालिक को मकान सुपुर्द कर दिया हो, उसके बाद कोई साधु आवें तो उन्हे पुन' आज्ञा लेना आवश्यक होता है।

यदि मकान मालिक ने साधु-सख्या या मकान की सीमा बताकर ही आज्ञा दी हो तो उससे ज्यादा साधु आवे या मकान की सीमा से अधिक जगह का उपयोग करना हो तो पुन' आज्ञा लेना आवश्यक होता है। यदि पूर्वस्थित साधुओ की आज्ञा में ही ठहरा जाए तो उपाश्रय मे रहे अतिरिक्त शय्या-संस्तारक आदि भी उसी पूर्वस्थितों की आज्ञा से ग्रहण किये जा सकते हैं और यथायोग्य समय तक उनका उपयोग कर सकते है।

सूत्र में 'अचित्त' शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि उपाश्रय मे तो कई सचित्त पदार्थ भी हो सकते है। भिक्षु को सचित्त अथवा जीवयुक्त उपकरण लेना नही कल्पता है, अत. अचित्त और उपयोग मे आने योग्य उपकरण हो तो ही भिक्षुओ की पूर्वगृहीत आज्ञा से ग्रहण किये जा सकते हैं। यदि यह ज्ञात हो जाए कि इन उपकरणो की पूर्व भिक्षुओ ने स्वामी से आज्ञा नही ली है तो आगन्तुक भिक्षु को उनकी आज्ञा लेना आवश्यक होता है। सूत्र का आशय यह है कि पूर्व भिक्षुओ ने जिस मकान की एव जिन उपकरणो की आज्ञा ले रखी है उनकी पुन आज्ञा लेने की आवश्यकता नही होती है।

स्वामी-रहित घर की पूर्वाज्ञा एवं पुनः आज्ञा का विधान

३०. से वत्थूसु—अव्वावडेसु, अव्वोगडेसु, अपरपरिग्गहिएसु, अमरपरिग्गहिएसु सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहे।

३१. से वत्थूसु—वावडेसु, वोगडेसु, परपरिग्गहिएसु, भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चपि उग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया अहालन्दमवि उग्गहे।

३० जो घर काम मे न आ रहा हो, कुटुम्ब द्वारा विभाजित न हो, जिस पर किसी अन्य का प्रभुत्व न हो अथवा किसी देव द्वारा अधिकृत हो तो उसमे भी उसी पूर्वस्थित साधुओ की आज्ञा से जितने काल रहना हो, ठहरा जा सकता है।

३१ वही घर आगन्तुक भिक्षुओ के ठहरने के बाद मे काम मे आने लगा हो, कुटुम्ब द्वारा विभाजित हो गया हो या अन्य से परिगृहीत हो गया हो तो भिक्षु भाव अर्थात् सयममर्यादा के लिये जितने समय रहना हो उसकी दूसरी बार आज्ञा ले लेनी चाहिये।

विवेचन—१. अव्यापृत—जो घर जीर्ण-शीर्ण होने से या गिर जाने से किसी के द्वारा उपयोग मे नही आ रहा है, उसे 'अव्यापृत' कहते है।

२. अव्याकृत—जो घर अनेक स्वामियो का होने से किसी के द्वारा अपने अधीन नही किया गया है, उसे 'अव्याकृत' कहते है।

३. अपरपरिगृहीत—जो घर गृहस्वामी ने छोड दिया हो और अन्य किसी व्यक्ति के द्वारा परिगृहीत नही है, किन्तु बिना स्वामी का है, उसे 'अपरपरिगृहीत' कहते हैं।

४. अमरपरिगृहीत—जो घर किसी कारण-विशेष से निर्माता के द्वारा छोड दिया गया है और जिसमे किसी यक्ष आदि देव ने अपना निवास कर लिया है, उसे 'अमरपरिगृहीत' कहते हैं।

उक्त स्थान से साधु विहार कर अन्यत्र जाने वाले है। उस समय आने वाले साधुओ को उसमे ठहरने के लिए पुन आज्ञा लेने की आवश्यकता नही है, क्योकि पूर्वस्थित साधुओ के द्वारा ली गई अनुज्ञा ही आज्ञा मानी जाती है।

आगन्तुक साधुओ के ठहरने पर देवता ने उस मकान को छोड दिया हो और उसके बाद उस मकान का कोई वास्तविक मालिक आ जावे तो वास्तविक मालिक की पुन. आज्ञा लेना आवश्यक

है। संयममर्यादा में सूक्ष्म अदत्त का भी सेवन करना उचित नही होता है, अज्ञात मालिक के समय ली गई आज्ञा से ज्ञात मालिक के समय ठहरने पर अदत्त का सेवन होता है। अतः वास्तविक मालिक के आ जाने पर उसकी आज्ञा ले लेना चाहिए।

पूर्वाज्ञा से मार्ग आदि में ठहरने का विधान

३२. से अणुकुड्डेसु वा, अणुभित्तीसु वा, अणुचरियासु वा, अणुफरिहासु वा, अणुपंथेसु वा, अणुमेरासु वा, सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ। अहालंदमवि उग्गहे।

३२ मिट्टी आदि से निर्मित दीवाल के पास, ईंट आदि से निर्मित दीवाल के पास, चरिका (कोट और नगर के बीच के मार्ग) के पास, खाई के पास, सामान्य पथ के पास, बाड़ या कोट के पास भी उसी पूर्वस्थित साधुओ की आज्ञा से जितने काल रहना हो, ठहरा जा सकता है।

विवेचन—मार्ग मे कोट आदि के किनारे या किसी के मकान की दीवार के पास ठहरना हो तो उसके मालिक की, राहगीर की अथवा शक्रेन्द्र की आज्ञा लेनी चाहिये। वहा बैठे साधुओ के उठने के पूर्व अन्य साधु आ जाएँ तो वे उसी आज्ञा मे ठहर सकते हैं। उनको पुन किसी की आज्ञा लेना आवश्यक सही है। यहा भाष्य मे मकान की दीवाल के पास कितनी जगह का स्वामित्व किसका होता है, उसका अनेक विभागो से अलग-अलग माप बताया है। शेष भूमि राजा के स्वामित्व की होना बताया है।

सेना के समीपवर्ती क्षेत्र में गोचरी जाने का विधान एवं रात रहने का प्रायश्चित्त

३३. से गामस्स वा जाव रायहाणीए वा बहिया सेण्णं सन्निविट्ठं पेहाए कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तद्दिवसं भिक्खायरियाए गंतूण पडिनियत्तए नो से कप्पइ तं रयणि तत्थेव उवाइणावेत्तए।

जो खलु निग्गंथे वा निग्गंथी वा तं रयणि तत्थेव उवाइणावेइ, उवाइणावेंतं वा साइज्जइ।

से दुहओ वि अइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

३३ ग्राम यावत् राजधानी के बाहर शत्रुसेना का पडाव हो तो निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को भिक्षाचर्या के लिये बस्ती मे जाकर उसी दिन लौटकर आना कल्पता है किन्तु उन्हे वहा रात रहना नही कल्पता है।

जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी वहा रात रहते है या रात रहने वाले का अनुमोदन करते हैं, वे जिनाज्ञा और राजाज्ञा दोनो का अतिक्रमण करते हुए चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त को प्राप्त होते हैं।

विवेचन—सेना के पडाव के निकट से साधु को गमनागमन करने का आचा श्रु २, अ ३ मे निषेध किया है और यहां विहारादि मे अत्यन्त आवश्यक होने पर सेना के पडाव को पार कर ग्रामादि के भीतर गोचरी जाने का विधान हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि सेना के पडाव के समय में जहा भिक्षाचरो को केवल भिक्षा लेकर आने की ही छूट हो और अन्यों के लिये प्रवेश बन्द हो तब भिक्षु को भिक्षा लेकर के शीघ्र ही लौट

जाना चाहिये, अन्दर नही ठहरना चाहिये। अन्दर ठहरने पर राजाज्ञा एव जिनाज्ञा का उल्लघन होने से वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

अवग्रहक्षेत्र का प्रमाण

३४. से गामंसि वा जाव सन्निवेससि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सव्वओ समंता सक्कोसं जोयणं उग्गहं ओगिण्हित्ताण चिट्ठित्तए।

३४. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को ग्राम यावत् सन्निवेश मे चारो ओर से एक कोस सहित एक योजना का अवग्रह ग्रहण करके रहना कल्पता है अर्थात् एक दिशा मे ढाई कोस जाना-आना कल्पता है।

विवेचन—उपाश्रय से किसी भी एक दिशा मे भिक्षु को अढाई कोस तक जाना-आना कल्पता है, इससे अधिक क्षेत्र मे जाना-आना नही कल्पता है।

यद्यपि गोचरी के लिये भिक्षु को दो कोस तक ही जाना कल्पता है तथापि ढाई कोस कहने का आशय यह है कि दो कोस गोचरी के लिये गये हुए भिक्षु को वहा कभी मल-मूत्र की बाधा हो जाए तो बाधानिवारण के लिये वहा से वह आधा कोस और आगे जा सकता है। तब कुल अढाई कोस एक दिशा मे गमनागमन होता है। पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण यो दो-दो दिशाओ के क्षेत्र का योग करने पर पाच कोश अर्थात् सवा योजन का अवग्रहक्षेत्र होता है। उसे ही सूत्र मे सकोस योजन अवग्रहक्षेत्र कहा है।

तीसरे उद्देशक का सारांश

सूत्र १-२ साधु को साध्वी के उपाश्रय मे और साध्वी को साधु के उपाश्रय मे बैठना, सोना आदि प्रवृत्तिया नही करनी चाहिये।

३-६ रोमरहित चर्मखण्ड आवश्यक होने पर साधु-साध्वी ग्रहण कर सकते है, किन्तु सरोमचर्म उन्हे नही कल्पता है। आगाढ परिस्थितिवश गृहस्थ के सदा उपयोग मे आने वाला सरोमचर्म एक रात्रि के लिये साधु ग्रहण कर सकता है किन्तु साध्वी के लिये तो उसका सर्वथा निषेध है।

७-१० बहुमूल्य वस्त्र एव अखण्ड थान या आवश्यकता से अधिक लम्बा वस्त्र साधु-साध्वी को नही रखना चाहिये।

११-१२ गुप्ताग के निकट पहने जाने वाले लगोट जाघिया आदि उपकरण साधु को नही रखना चाहिये किन्तु साध्वी को ये उपकरण रखना आवश्यक है।

१३ साध्वी को अपनी निश्रा से वस्त्र ग्रहण नही करना चाहिये किन्तु अन्य प्रवर्तिनी आदि की निश्रा से वह वस्त्र की याचना कर सकती है।

सूत्र १४-१५ दीक्षा लेते समय साधु-साध्वी को रजोहरण गोच्छग (प्रमार्जनिका) एवं आवश्यक पात्र ग्रहण करने चाहिये तथा मुहपत्ति चद्दर चोलपट्टक आदि के लिये भिक्षु अधिकतम तीन थान के माप जितने वस्त्र ले सकता है एव साध्वी चार थान के माप जितने वस्त्र ले सकती है।

१६-१७ साधु-साध्वी को चातुर्मास मे वस्त्र ग्रहण नही करना चाहिये किन्तु हेमन्त ग्रीष्म ऋतु मे वे वस्त्र ले सकते है।

१८-१९-२० स्वस्थ साधु-साध्वी को वस्त्र एव शय्या-सस्तारक दीक्षापर्याय के अनुक्रम से ग्रहण करने चाहिये एव वन्दना भी दीक्षापर्याय के क्रम से करनी चाहिये।

२१-२३ स्वस्थ साधु-साध्वी को गृहस्थ के घर मे बैठना आदि सूत्रोक्त कार्य नहीं करने चाहिये तथा वहा अमर्यादित वार्तालाप या उपदेश भी नही देना चाहिये। आवश्यक हो तो खडे-खडे ही मर्यादित कथन किया जा सकता है।

२४-२६ शय्यातर एव अन्य गृहस्थ के शय्या-सस्तारक को विहार करने के पूर्व अवश्य लौटा देना चाहिये तथा जिस अवस्था मे ग्रहण किया हो, वैसा ही व्यवस्थित करके लौटाना चाहिये।

२७ शय्या-सस्तारक खो जाने पर उसकी खोज करना एव न मिलने पर उसके स्वामी को खो जाने की सूचना देकर अन्य शय्या-सस्तारक ग्रहण करना। यदि खोज करने पर मिल जाए तो आवश्यकता न रहने पर लौटा देना चाहिये।

२८-३२ साधु-साध्वी उपाश्रय मे, शून्य गृह मे या मार्ग आदि में कही पर भी आज्ञा लेकर ठहरे हो और उनके विहार करने के पूर्व ही दूसरे साधु विहार करके आ जाएँ तो वे उसी पूर्वगृहीत आज्ञा से वहा ठहर सकते है किन्तु नवीन आज्ञा लेने की आवश्यकता नही होती।

यदि शून्य गृह का कोई स्वामी प्रकट हो जाए तो पुन उसकी आज्ञा लेना आवश्यक होता है।

३३ ग्रामादि के बाहर सेना का पडाव हो तो भिक्षा के लिये साधु-साध्वी अन्दर जा सकते है, किन्तु उन्हे वहा रात्रिनिवास करना नही कल्पता है। रात्रिनिवास करने पर गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

३४ साधु-साध्वी जिस उपाश्रय मे ठहरे हो, वहा से किसी भी एक दिशा मे अढाई कोस तक गमनागमन कर सकते है, उससे अधिक नही।

उपसंहार

इस उद्देशक मे—

१-२ साधु-साध्वियो को एक-दूसरे के उपाश्रय में बैठने आदि के निषेध का,

३-६ चर्म ग्रहण के कल्प्याकल्प्य का,

सूत्र ७-१०,१३,

१६,१७	वस्त्र-ग्रहण के कल्प्याकल्प्य का,
११-१२	गुप्तांग आवरक वस्त्रो के कल्प्याकल्प्य का,
१४-१५	दीक्षा-समय ग्रहण करने के कल्पनीय उपकरणो का,
१८-२०	दीक्षापर्याय के क्रम से वन्दन आदि का,
२१-२३	गृहस्थ के घर बैठने या वार्तालाप आदि के कल्प्याकल्प्य का,
२४-२७	शय्या-सस्तारक सम्बन्धी विधियो का,
२८-३२	नये आये साधुओ को पूर्वाज्ञा मे ठहरने का,
३३	सेना के पडाव वाले ग्रामादि से भिक्षा लाने का,
३४	उपाश्रय से गमनागमन के क्षेत्रावग्रह का,

इत्यादि विभिन्न विषयो का वर्णन है ।

।। तीसरा उद्देशक समाप्त ।।

चौथा उद्देशक

अनुद्घातिक प्रायश्चित्त के स्थान

१. तओ अणुग्घाइया पण्णत्ता, तं जहा—

१. हत्थकम्मं करेमाणे, २. मेहुणं पडिसेवमाणे, ३. राइभोयणं भुंजमाणे।

१ अनुद्घातिक प्रायश्चित्त के योग्य ये तीन कहे गये हैं, यथा—

१ हस्तकर्म करने वाला, २ मैथुन सेवन करने वाला, ३. रात्रिभोजन करने वाला।

विवेचन—जिस दोष की सामान्य तप से शुद्धि की जा सके, उसे उद्घातिक प्रायश्चित्त कहते हैं और जिस दोष की विशेष तप से ही शुद्धि की जा सके, उसे अनुद्घातिक प्रायश्चित्त कहते हैं।

हस्तकर्म करने वाला, स्त्री के साथ सभोग करने वाला और रात्रिभोजन करने वाला भिक्षु महापाप करने वाला होता है, क्योकि इनमे से दो ब्रह्मचर्य महाव्रत को भग करने वाले हैं और अन्तिम रात्रिभक्तविरमण नामक छठे व्रत को भग करने वाला है। अतः ये तीनो ही अनुद्घातिक प्रायश्चित्त के पात्र होते है।

भगवतीसूत्र श. २५, उ ६, सू. १९५ मे तथा उववाईसूत्र ३० मे प्रायश्चित्त के दस भेद बताये गये है—

१ आलोचना, २ प्रतिक्रमण, ३. तदुभय, ४. विवेक, ५ व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९ अनवस्थाप्य, १० पाराञ्चिक। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१ आलोचना—स्वीकृत व्रतों को यथाविधि पालन करते हुए भी छद्मस्थ होने के कारण व्रतो मे जो अतिक्रम आदि दोष लगा हो, उसे गुरु के सम्मुख निवेदन करना।

२. प्रतिक्रमण—अपने कर्तव्य का पालन करते हुए भी जो भूले होती हैं उनका "मिच्छा मे दुक्कडं होज्जा" उच्चारण कर अपने दोष से निवृत्त होना।

३. तदुभय—मूलगुण या उत्तरगुणो में लगे अतिचारों की निवृत्ति के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना।

४. विवेक—गृहीत भक्त-पान आदि के सदोष ज्ञात होने पर उसे परठना।

५. व्युत्सर्ग—गमनागमन करने पर, निद्रावस्था में बुरा स्वप्न आने पर, नौका आदि से नदी पार करने पर इत्यादि प्रवृत्तियो के बाद निर्धारित श्वासोच्छ्वास काल-प्रमाण काया का उत्सर्ग करना अर्थात् खडे होकर ध्यान करना।

६ तप—प्रमाद-विशेष से अनाचार के सेवन करने पर गुरु द्वारा दिये गये तप का आचरण करना।

इसके दो भेद हैं—उद्घातिम अर्थात् लघुप्रायश्चित्त और अनुद्घातिम अर्थात् गुरुप्रायश्चित्त। इन दोनो के भी मासिक और चातुर्मासिक के भेद से दो-दो भेद होते हैं।

यदि राजसत्ता या प्रेतबाधा आदि से परवश होने पर व्रत-विराधना हो तो--

१ लघुमासतप (उद्घातिम) प्रायश्चित्त मे जघन्य ४, मध्यम १५ और उत्कृष्ट २७ एकासन करना आवश्यक है।

२. गुरुमासतप (अनुद्घातिम) प्रायश्चित्त मे क्रमश ४ नीवी, १५ नीवी और ३० नीवी करना आवश्यक है।

३ लघुचातुर्मासिक तप मे क्रमश ४ आयबिल, ६० नीवी और १०८ उपवास करना आवश्यक है।

४ गुरुचातुर्मासिक तप मे क्रमशः ४ उपवास, ४ बेले और १२० उपवास या ४ मास का दीक्षाछेद आवश्यक है।

यदि आतुरता से जानबूझ कर व्रत-विराधना हो तो--

१ लघुमास मे जघन्य ४, मध्यम १५ और उत्कृष्ट २७ आयंबिल करना आवश्यक है।

२ गुरुमास मे जघन्य ४, मध्यम १५ और उत्कृष्ट ३० आयबिल करना आवश्यक है।

३ लघुचातुर्मासिक मे जघन्य ४ उपवास, मध्यम ४ बेले और उत्कृष्ट १०८ उपवास करना आवश्यक है।

४ गुरुचातुर्मासिक मे जघन्य ४ बेले, ४ दिन का दीक्षा-छेद, मध्यम मे ४ तेले तथा ६ दिन का दीक्षा-छेद और उत्कृष्ट मे १२० उपवास तथा ४ मास का दीक्षा-छेद आवश्यक है।

यदि मोहनीयकर्म के प्रबल उदय से व्रत की विराधना हुई है तो--

१ लघुमासप्रायश्चित्त मे जघन्य ४ उपवास, मध्यम १५ उपवास और उत्कृष्ट २७ उपवास करना आवश्यक है।

२ गुरुमासप्रायश्चित्त मे जघन्य ४ उपवास, मध्यम १५ उपवास और उत्कृष्ट ३० उपवास करना आवश्यक है।

३ लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त मे जघन्य ४ बेले, पारणे मे आयबिल, मध्यम मे ४ तेले, पारणे मे आयबिल और उत्कृष्ट १०८ उपवास और पारणे मे आयंबिल करना आवश्यक है।

४ गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त मे जघन्य ४ तेले, पारणे में आयबिल या ४० दिन का दीक्षा-छेद, मध्यम १५ तेले, पारणे मे आयबिल या ६० दिन का दीक्षा-छेद और उत्कृष्ट १२० उपवास और पारणे मे आयबिल या मूल (नई दीक्षा) या १२० दिन का छेद प्रायश्चित्त आवश्यक है।

भगवान् महावीर के शासन मे उत्कृष्ट प्रायश्चित्त छह मास का होता है, इससे अधिक प्रायश्चित्त देना आवश्यक हो तो दीक्षा-छेद का प्रायश्चित्त दिया जाता है। लघु छह मास मे १६५ उपवास और गुरु छह मास मे १८० उपवासो का विधान है।

प्रायश्चित्त देने वाले आचार्यादि शिष्य की शक्ति और व्रत-भग की परिस्थिति को देखकर यथायोग्य हीनाधिक प्रायश्चित्त भी देते हैं।

७. छेद—अनेक व्रतों की विराधना करने वाले और बिना कारण अपवादमार्ग का सेवन करने वाले साधु की दीक्षा का छेदन करना 'छेद प्रायश्चित्त' है। यह प्रायश्चित्त भी छह मास का होता है। इससे अधिक प्रायश्चित्त देना आवश्यक होने पर मूल (नई दीक्षा का) प्रायश्चित्त दिया जाता है।

८. मूल—जो साधु-साध्वी जानबूझ कर द्वेषभाव से किसी पचेन्द्रिय प्राणी का घात कर. इसी प्रकार मृषावाद आदि पापो का अनेक बार सेवन करे और स्वत. आलोचना न करे तो उसकी पूर्व-गृहीत दीक्षा का समूल छेदन करना 'मूल प्रायश्चित्त' है। ऐसे प्रायश्चित्त वाले को पुन. दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक होता है।

९ अनवस्थाप्य—हिंसा, चोरी आदि पाप करने पर जिसकी शुद्धि मूल प्रायश्चित्त से भी सम्भव न हो, उसे गृहस्थवेष धारण कराये बिना पुन. दीक्षित न करना 'अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त' है। इसमे अल्प समय के लिये भी गृहस्थवेष धारण कराना आवश्यक होता है।

१० पाराञ्चिक—अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त से भी जिसकी शुद्धि सम्भव न हो, ऐसे विषय कषाय या प्रमाद की तीव्रता से दोष सेवन करने वाले को जघन्य एक वर्ष और उत्कृष्ट बारह वर्ष तक गृहस्थवेश धारण कराया जाता है एवं साधु के सब व्रत-नियमो का पालन कराया जाता है। उसके पश्चात् नवीन दीक्षा दी जाती है, उसे पाराञ्चिक प्रायश्चित्त कहते हैं।

पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के स्थान

२ **तओ पारंचिया पण्णत्ता, तं जहा—**

१ दुट्ठे पारंचिए, २ पमत्ते पारंचिए, ३ अन्नमन्नं करेमाणे पारंचिए।

पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के योग्य ये तीन कहे गए हैं, यथा—

१ दुष्ट पाराञ्चिक, २ प्रमत्त पाराञ्चिक, ३. परस्पर मैथुनसेवी पाराञ्चिक।

विवेचन—पाराञ्चिक शब्द का निरुक्त है—जिस प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्ध किया हुआ साधु ससार-समुद्र को पार कर सके। अथवा प्रायश्चित्त के दस भेदो मे जो अन्तिम प्रायश्चित्त है और सबसे उत्कृष्ट है—उसे पाराञ्चिक प्रायश्चित्त कहते है।

इस सूत्र मे पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के तीन स्थान कहे गये हैं। उनमे प्रथम दुष्ट पाराञ्चिक है। इसके दो भेद हैं—कषायदुष्ट और विषयदुष्ट।

१ कषायदुष्ट—जो क्रोधादि कषायो की प्रबलतावश किसी साधु आदि का घात कर दे वह कषायदुष्ट है।

२. विषयदुष्ट—जो इन्द्रियो की विषयासक्ति से साध्वी आदि स्त्रियो में आसक्त हो जाय और उनके साथ विषयसेवन करे, उसे विषयदुष्ट कहते हैं।

प्रमत्त पाराञ्चिक पांच प्रकार के होते हैं—

१. मद्य-प्रमत्त—मदिरा आदि नशीली वस्तुओ के सेवन करने वाले मद्य-प्रमत्त कहे गए हैं।

२ विषय-प्रमत्त—इन्द्रियो के विषय-लोलुपी विषय-प्रमत्त कहे गए हैं।

३. कषाय-प्रमत्त—कषायों की प्रबलता वाले कषाय-प्रमत्त कहे गए हैं।

४. विकथा-प्रमत्त—स्त्रीकथा, राजकथा आदि क्रियाएँ करने वाले विकथा-प्रमत्त कहे गए हैं।

५. निद्रा-प्रमत्त—स्त्यानर्द्धि-निद्रा वाले निद्रा-प्रमत्त कहे गए हैं।

जो व्यक्ति घोर निद्रा में से उठकर नही करने योग्य भयकर कार्यों को करके पुन: सो जाता है और जागने पर उसे अपने द्वारा किये गये दुष्कर कार्यों की कुछ भी स्मृति नही रहती है, ऐसे व्यक्ति को निद्रा-प्रमत्त कहते हैं।

जो साधु किसी दूसरे साधु के साथ अनग-क्रीड़ा रूप मैथुन करता है, वे दोनो ही पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

इस प्रकार दुष्ट, प्रमत्त और परस्पर मैथुनसेवी की शुद्धि पाराञ्चिक प्रायश्चित्त से होती है।

अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के स्थान

३ तओ अणवट्ठप्पा पण्णत्ता, तं जहा—

१ साहम्मियाण तेण्णं करेमाणे, २ अन्नधम्मियाणं तेण्ण करेमाणे, ३ हत्थादालं दलमाणे।

अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त योग्य ये तीन कहे गये हैं, यथा—

१ सार्धमिको की चोरी करने वाला, २ अन्यधार्मिकों की चोरी करने वाला,

३ अपसे हाथो से प्रहार करने वाला।

विवेचन—इस सूत्र मे बताया गया है—

१ जो साधु अपने समान धर्म वाले साधर्मीजनो के वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि की चोरी करता है।

२ जो अन्यधार्मिक जनो के अर्थात् बौद्ध, साख्य आदि मतो के मानने वाले साधु आदि के वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि की चोरी करता है।

३ जो अपने हाथ से दूसरे को ताडनादि करता है, मुट्ठी, लकडी आदि से मारता है या मन्त्र-तन्त्र आदि से किसी को पीड़ित करता है।

इन तीनो को अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त आता है।

दीक्षा आदि के अयोग्य तीन प्रकार के नपुंसक

४-९ तओ नो कप्पंति पव्वावेत्तए, तं जहा—

१ पण्डए, २ वाइए, ३. कीवे।

एवं मुण्डावेत्तए, सिक्खावेत्तए, उवट्ठावेत्तए, संभुंजित्तए, संवासित्तए।

इन तीन को प्रव्रजित करना नही कल्पता है, यथा—

१. पण्डक—महिला सदृश स्वभाव वाला जन्म-नपुंसक,

२ वातिक—कामवासना का दमन न कर सकने वाला

३ क्लीब—असमर्थ।

इसी प्रकार मुण्डित करना, शिक्षित करना, उपस्थापित करना, एक मण्डली में साथ बिठाकर आहार करना तथा साथ रखना नही कल्पता है ।

विवेचन—१. पण्डक—जो जन्म से नपु सक होता है, उसे 'पण्डक' कहते हैं ।

२. वातिक—जो वातरोगी है अर्थात् कामवासना का निग्रह करने में असमर्थ होता है, उसे 'वातिक' कहते हैं ।

३. क्लीब—असमर्थ या पुरुषत्वहीन कायर पुरुष को 'क्लीब' कहते हैं ।

ये तीनो ही प्रकार के नपु सक दीक्षा देने के योग्य नही है, क्योकि ऐसे व्यक्तियो को दीक्षित करने से प्रवचन का उपहास और निर्ग्रन्थ धर्म की निन्दा आदि अनेक दोष होते हैं ।

यदि पूरी जानकारी किए बिना उक्त प्रकार के नपु सको को दीक्षा दे दी गई हो और बाद मे उनका नपु सकपन ज्ञात हो तो उसे मुण्डित नही करे अर्थात् उनके केशो का लु चन नही करे ।

यदि केशलु चन के पश्चात् नपु सकपन ज्ञात हो तो उन्हे महाव्रतो मे उपस्थापित न करे अर्थात् बडी दीक्षा न दे ।

यदि बडी दीक्षा के पश्चात् उनका नपु सकपन ज्ञात हो तो उनके साथ एक मण्डली में बैठकर खान-पान न करे ।

यदि इसके पश्चात् उनका नपु सकपन ज्ञात हो तो उन्हें सोने-बैठने के स्थान पर एक साथ न सुलावे-बिठावे ।

अभिप्राय यह है कि उक्त तीनो प्रकार के नपु सक किसी भी प्रकार से दीक्षा देने योग्य नही है । कदाचित् दीक्षित हो भी जाय तो ज्ञात होने पर सघ मे रखने योग्य नही होते हैं ।

वाचना देने के योग्यायोग्य के लक्षण

१०. तओ नो कप्पंति वाइत्तए, तं जहा—

१. अविणीए, २ विगइ-पडिबद्धे, ३. अविओसवियपाहुडे ।

११ तओ कप्पंति वाइत्तए, तं जहा—

१ विणीए, २ नो विगइ-पडिबद्धे, ३ विओसवियपाहुडे ।

१० तीन को वाचना देना नही कल्पता है, यथा—

१ अविनीत—विनयभाव न करने वाले को,

२ विकृति-प्रतिबद्ध—विकृतियो मे आसक्त रहने वाले को,

३. अनुपशातप्राभृत—अनुपशान्त क्रोध वाले को ।

११. इन तीनो को वाचना देना कल्पता है, यथा—

१. विनीत—सूत्रार्थदाता के प्रति वन्दनादि विनय करने वाले को,

२. विकृति-अप्रतिबद्ध—विकृतियो मे आसक्त न रहने वाले को,

३. उपशान्तप्राभृत—उपशान्त क्रोध वाले को ।

विवेचन—१ अविनीत—जो विनय-रहित है, आचार्य या दीक्षाज्येष्ठ साधु आदि के आने-जाने पर अभ्युत्थान, सत्कार-सम्मान आदि यथोचित विनय को नही करता है, वह 'अविनीत' कहा गया है।

२ विकृति-प्रतिबद्ध—जो दूध, दही आदि रसों में गृद्ध है, उन रसो के नही मिलने पर सूत्रार्थ आदि के ग्रहण करने मे मन्द उद्यमी रहता है, वह 'विकृति-प्रतिबद्ध' कहा गया है।

३. अव्यवशमितप्राभृत—अल्प अपराध करने पर जो अपराधी पर प्रचण्ड क्रोध करता है और क्षमा-याचना कर लेने पर भी बार-बार उस पर क्रोध प्रकट करता रहता है, उसे 'अव्यवशमित-प्राभृत' कहते हैं।

ये तीन प्रकार के साधु सूत्र-वाचना और उभय-वाचना के अयोग्य हैं, क्योकि विनय से ही विद्या की प्राप्ति होती है, अविनयी शिष्य को विद्या पढाना व्यर्थ या निष्फल तो जाता है, प्रत्युत कभी-कभी दुष्फल भी देता है।

जो दूध-दही आदि विकृतियो मे आसक्त है, उसके हृदय मे दी गई वाचना स्थिर नही रह सकती है अत उसे भी वाचना देना व्यर्थ है।

जिसके स्वभाव मे उग्रता है, जरा-सा भी अपराध हो जाने पर जो अपराधी पर भारी रोष प्रकट करता है, क्षमा माग लेने पर भी बार-बार दोहराता है, ऐसे व्यक्ति को भी वाचना देना व्यर्थ होता है। ऐसे व्यक्ति से लोग इस जन्म मे भी स्नेह करना छोड देते है और परभव के लिए भी वह तीव्र वैरानुबन्ध करता है, इसलिए उक्त तीनो ही प्रकार के शिष्य सूत्र, अर्थ या दोनो की वाचना के लिए अयोग्य कहे गये हैं।

किन्तु जो विनय-सम्पन्न हैं, दूध, दही आदि विगयो के सेवन मे जिनकी आसक्ति नही है और जो क्षमाशील हैं, ऐसे शिष्यो को ही सूत्र की, उसके अर्थ की तथा दोनो की वाचना देना चाहिए, क्योकि उनको दी गई वाचना श्रुत का विस्तार करती है, ग्रहण करने वाले का इहलोक और परलोक सुधारती है और जिनशासन की प्रभावना करती है। सूत्रोक्त दोष वाला भिक्षु सयम आराधना के भी अयोग्य होता है। उसे दीक्षा भी नही दी जा सकती है। दीक्षा देने के बाद इन अवगुणो के ज्ञात होने पर उसे वाचना के लिए उपाध्याय के पास नही रखना चाहिए किन्तु प्रवर्तक एव स्थविर के नेतृत्व मे अन्य अध्ययन शिक्षाए एव आचारविधि का ज्ञान कराना चाहिए। ऐसा करने पर यदि उक्त योग्यता प्राप्त हो जाए तो वाचना के लिए उपाध्याय के पास रखा जा सकता है। योग्य न बनने पर सदा अगीतार्थ रहता है और दूसरो के अनुशासन मे रहते हुए सयम पालन करता है।

जो गच्छप्रमुख सूत्रोक्त विधि का पालन न करते हुए योग्य-अयोग्य के निर्णय किए बिना सभी को इच्छित वाचना देते है—उपाध्याय आदि वाचना देने वाले की नियुक्ति नही करते हैं अथवा उनके प्रति विनय-प्रतिपत्ति आदि के पालन की व्यवस्था भी नही करते हैं। इस प्रकार वाचना सम्बन्धी सूत्र-विधानो का यथार्थ पालन नही करने से वे गच्छप्रमुख निशीथ उ १९ के अनुसार प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं। ये प्रायश्चित्त इस प्रकार हैं—

१ आगमनिर्दिष्ट क्रम से वाचना न दे किन्तु स्वेच्छानुसार किसी भी सूत्र की वाचना दे या दिलवाए।

२ आचारांग सूत्र की वाचना दिए बिना छेदसूत्रों की वाचना दे या दिलवावे ।
३. अविनीत या अयोग्य साधुओं को कालिकश्रुत की वाचना दे ।
४. विनयवान् योग्य साधुओं को यथासमय वाचना देने का ध्यान न रखे ।
५ विगयो का त्याग नही करने वाले एव कलह को उपशान्त नही करने वाले को वाचना दे ।
६ सोलह वर्ष से कम उम्र वाले को कालिकश्रुत (अंगसूत्र या छेदसूत्र) की वाचना दे ।
७ समान योग्यता वाले साधुओं मे से किसी को वाचना दे, किसी को न दे ।
८. स्वगच्छ के या अन्यगच्छ के शिथिलाचारी साधु को वाचना दे ।

९ मिथ्यामत वाले गृहस्थ को वाचना दे या उसे वाचना लेने वालो में बिठावे तो इनको लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है । —निशीथ उ. १९, सूत्र १६-३५

शिक्षा-प्राप्ति के योग्यायोग्य के लक्षण

१२ तओ दुस्सन्नप्पा पण्णत्ता, तं जहा—

१. दुट्ठे, २ मूढे, ३. वुग्गाहिए ।

१३. तओ सुसन्नप्पा पण्णत्ता, तं जहा—

१ अदुट्ठे, २ अमूढे, ३ अवुग्गाहिए ।

१२ ये तीन दु सज्ञाप्य (दुर्बोध्य) कहे गये हैं, यथा—
१ दुष्ट—तत्त्वोपदेष्टा के प्रति द्वेष रखने वाला,
२ मूढ—गुण और दोषो से अनभिज्ञ,
३ व्युद्ग्राहित—अधश्रद्धा वाला दुराग्रही ।

१३ ये तीन सुसज्ञाप्य (सुबोध्य) कहे गए है, यथा—
१ अदुष्ट—तत्त्वोपदेष्टा के प्रति द्वेष न रखने वाला,
२ अमूढ—गुण और दोषो का ज्ञाता,
३ अव्युद्ग्राहित—सम्यक् श्रद्धा वाला ।

विवेचन—१. 'दुष्ट' जो शास्त्र की प्ररूपणा करने वाले गुरु आदि से द्वेष रखे अथवा यथार्थ प्रतिपादन किये जाने वाले तत्त्व के प्रति द्वेष रखे, उसे 'दुष्ट' कहते हैं ।

२ मूढ—गुण और अवगुण के विवेक से रहित व्यक्ति को 'मूढ' कहते हैं ।

३ व्युद्ग्राहित—विपरीत श्रद्धा वाले अत्यन्त कदाग्रही पुरुष को 'व्युद्ग्राहित' कहते हैं ।

ये तीनो ही प्रकार के साधु दु सज्ञाप्य है अर्थात् इनको समझाना बहुत कठिन है, समझाने पर भी ये नही समझते हैं, इन्हे शिक्षा देने या समझाने से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता है । अत: ये सूत्रवाचना के पूर्ण अयोग्य होते हैं । किन्तु जो द्वेषभाव से रहित हैं, हित-अहित के विवेक से युक्त है और विपरीत श्रद्धा वाले या कदाग्रही नही हैं, वे शिक्षा देने के योग्य होते हैं । ऐसे व्यक्तियो को ही

श्रुत एव अर्थ की वाचना देनी चाहिए। क्योंकि ये प्रतिपादित तत्त्व को सरलता से या सुगमता से ग्रहण करते है।

ग्लान को मैथुनभाव का प्रायश्चित्त

१४. निग्गंथिं च णं गिलायमाणिं पिया वा माया वा पुत्तो वा पलिस्सएज्जा, त च निग्गंथी साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

१५. निग्गंथ च गिलायमाण माया वा भगिणी वा धूया वा पलिस्सएज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासिय परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

१४. ग्लान निर्ग्रन्थी के पिता, भ्राता या पुत्र गिरती हुई निर्ग्रन्थी को हाथ का सहारा दे, गिरी हुई को उठावे, स्वत उठने-बैठने मे असमर्थ को उठावे बिठावे, उस समय वह निर्ग्रन्थी मैथुन-सेवन के परिणामो से पुरुषस्पर्श का अनुमोदन करे तो वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

१५ ग्लान निर्ग्रन्थ की माता, बहिन या बेटी गिरते हुए निर्ग्रन्थ को हाथ का सहारा दे, गिरे हुए को उठाएँ, स्वत बैठने-उठने मे असमर्थ को उठाएँ, बिठाएँ, उस समय वह निर्ग्रन्थ मैथुनसेवन के परिणामो से स्त्रीस्पर्श का अनुमोदन करे तो वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन—साध्वी के लिए पुरुष के शरीर का स्पर्श और साधु के लिए स्त्री के शरीर का स्पर्श ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए सर्वथा वर्जित है।

बीमारी आदि के समय भी साध्वी की साध्वी और साधु की साधु ही परिचर्या करे, यही जिन-आज्ञा है। किन्तु कदाचित् ऐसा अवसर आ जाय कि कोई साध्वी शरीर-बल के क्षीण होने से कही पर आते या जाते हुए गिर जाय और उसे देखकर उस साध्वी का पिता, भाई या पुत्रादि कोई भी पुरुष उसे उठाए, बिठाए या अन्य शरीर-परिचर्या करे तब उसके शरीर के स्पर्श से यदि साध्वी के मन मे काम-वासना जागृत हो जाय तो उसके लिए चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त कहा गया है।

इसी प्रकार बीमारी आदि से क्षीणबल कोई साधु कही गिर जाय और उसकी माता, बहिन या पुत्री आदि कोई भी स्त्री उसे उठाए, तब उसके स्पर्श से यदि साधु के मन मे काम-वासना जग जाय तो वह साधु गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र कहा गया है।

यहा प्रायश्चित्त कहने का तात्पर्य यह है कि वह रुग्ण साधु या साध्वी स्पर्शपरिचारणा का अनुभव करे तो वे उक्त प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

प्रथम प्रहर के आहार को चतुर्थ प्रहर में रखने का निषेध

१६. नो कप्पइ निग्गथाण वा, निग्गथीण वा असणं वा जाव साइमं वा, पढमाए पोरिसीए पडिग्गाहेत्ता, पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावेत्तए।

से य आहच्च उवाइणाविए सिया तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं अणुप्पदेज्जा, एगन्ते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया।

तं अप्पणा भुंजमाणे, अन्नेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।

निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को प्रथम पौरुषी में ग्रहण किए हुए अशन यावत् स्वादिम को अन्तिम पौरुषी तक अपने पास रखना नही कल्पता है।

कदाचित् वह आहार रह जाय तो उसे स्वयं न खाए और न अन्य को दे किन्तु एकान्त और सर्वथा अचित्त स्थडिलभूमि का प्रतिलेखन एव प्रमार्जन कर उस आहार को परठ देना चाहिए।

यदि उस आहार को स्वय खाए या अन्य को दे तो वह उद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन—पौरुषी का अर्थ है प्रहर। दिन के प्रथम प्रहर मे लाया गया आहार चतुर्थ प्रहर तक रखना योग्य नही है। इसके पूर्व ही साधु और साध्वियो को उसे काम मे ले लेना चाहिए।

यदि भूल आदि से कभी रह जाय तो कालातिक्रम हो जाने पर साधु-साध्वी न स्वयं उसे खाएँ, न दूसरो को खिलाएँ, किन्तु किसी एकान्त, प्रासुक भूमि पर प्रतिलेखन और प्रमार्जन करके यथाविधि परठ दे।

यदि वे ऐसा नही करते है और उसे स्वय खाते हैं या दूसरे साधु-साध्वियो को देते हैं तो वे लघु-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या मे इतना और स्पष्ट किया है कि जिनकल्पी साधु को तो जिस प्रहर में वह गोचरी लावे उसी प्रहर में उसे खा लेना चाहिए। अन्यथा वह संग्रहादि दोष का भागी होता है। किन्तु जो गच्छवासी (स्थविरकल्पी) साधु है, वे प्रथम प्रहर मे लायी गई गोचरी को तीसरे प्रहर तक सेवन कर सकते हैं। उसके पश्चात् सेवन करने पर वे सूत्रोक्त प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

सूत्र मे चारो प्रकार के आहार का कथन है, इसलिए भिक्षु आहार के सिवाय पानी, फल, मेवे एवं मुखवास भी चौथे प्रहर मे नही रख सकते हैं। यदि चारो प्रकार के आहार दूसरे प्रहर में लाये गये हो तो उन्हे चतुर्थ प्रहर तक रख सकते हैं और उपयोग मे ले सकते हैं। औषध-भेषज भी तीन प्रहर से अधिक नही रख सकते हैं। ऐसा भी इस सूत्र के विधान से समझना चाहिए। लेप्य पदार्थों के लिए पाचवें उद्देशक मे निषेध एव अपवाद बताया गया है।

दो कोस से आगे आहार ले जाने का निषेध

१७ नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असणं वा जाव साइमं वा, परं अद्धजोयणमेराए उवाइणावेत्तए।

से य आहच्च उवाइणाविए सिया, तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं अणुप्पदेज्जा, एगन्ते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया।

तं अप्पणा भुंजमाणे, अन्नेसिं वा दलमाणे, आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ।

१७. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को अशन यावत् स्वादिम आहार अर्धयोजन की मर्यादा से आगे रखना नही कल्पता है ।

कदाचित् वह आहार रह जाय तो उस आहार को स्वय न खाए और न अन्य को दे, किन्तु एकान्त और सर्वथा अचित्त भूमि का प्रतिलेखन एव प्रमार्जन कर उस आहार को यथाविधि परठ देना चाहिए ।

यदि उस आहार को स्वय खाए या अन्य निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को दे तो उसे उद्घातिक-चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ।

विवेचन—भिक्षु अपने उपाश्रय से दो कोस दूर के क्षेत्र से अशनादि ला सकता है एव विहार करके किसी भी दिशा मे दो कोस तक आहार-पानी आदि ले जा सकता है । उसके आगे भूल से ले भी जाए तो जानकारी होने पर उसे खाना या पीना नही कल्पता है, किन्तु परठना कल्पता है । आगे ले जाने पर आहारादि सचित्त या दूषित तो नही हो जाते हैं, किन्तु यह आगमोक्त क्षेत्र-सीमा होने से इसका पालन करना आवश्यक है ।

दो कोस के चार हजार धनुष होते है, जिसके चार माइल या सात किलोमीटर लगभग क्षेत्र होता है । इतने क्षेत्र से आगे आहार-पानी एव औषध-भेषज कोई भी खाद्यसामग्री नही ले जानी चाहिए ।

अनाभोग से ग्रहण किये अनेषणीय आहार की विधि

१८ निग्गंथेण य गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए अणुप्पविट्ठेणं अन्नयरे अचित्ते अणेसणिज्जे पाणभोयणे पडिगाहिए सिया ।

अत्थि य इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्ठावियए, कप्पइ से तस्स दाउं वा अणुप्पदाउं वा ।

नत्थि य इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्ठावियए, तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं दावए, एगन्ते बहुफासुए पएसे पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया ।

१८. आहार के लिए गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट निर्ग्रन्थ के द्वारा कोई दोषयुक्त अचित्त आहार-पानी ग्रहण हो जाय तो—

वह आहार यदि कोई वहाँ अनुपस्थापित शिष्य हो तो उसे देना या एषणीय आहार देने के बाद मे देना कल्पता है ।

यदि कोई अनुपस्थापित शिष्य न हो तो उस अनेषणीय आहार को न स्वय खाए और न अन्य को दे किन्तु एकान्त और अचित्त प्रदेश का प्रतिलेखन और प्रमार्जन कर यथाविधि परठ देना चाहिए ।

विवेचन—इत्वरिक दीक्षा देने के पश्चात् जब तक यावज्जीवन की दीक्षा नहीं दी जाता है, तब तक उस नवदीक्षित साधु को 'अनुपस्थापित शैक्षतर' कहा जाता है ।

छोटी दीक्षा के पश्चात् बड़ी दीक्षा देकर महाव्रतो मे उपस्थापित करने का जघन्य काल सात दिन है और उत्कृष्ट काल छह मास है। ऐसे अनुपस्थापित नवदीक्षित साधु को असावधानी से आया हुआ अनेषणीय अचित्त आहार सेवन करने के लिए दिया जा सकता है। यहाँ अनेषणीय से एषणा सम्बन्धी दोष से युक्त आहार समझना चाहिए।

यद्यपि नवदीक्षित अनुपस्थापित शिष्य भी सयमी गिना जाता है। तथापि पुन· उपस्थापन करना निश्चित होने से उसे उस आहार के खाने पर अलग से कोई प्रायश्चित्त नही आता है। अत. परठने योग्य आहार को उसे देने का सूत्र मे विधान किया गया है।

यदि साधु-मण्डली मे ऐसा कोई नवदीक्षित अनुपस्थापित शिष्य न हो तो उस दोषयुक्त आहार को न स्वय खाए और न दूसरो को दे, किन्तु प्रासुक अचित्त स्थान पर सूत्रोक्तविधि से परठ देना चाहिए।

सूत्र मे 'दाउ' पद है, उसका अभिप्राय है एक बार देना और 'अणुप्पदाउ' पद का अभिप्राय है—निमन्त्रण करना या अनेक बार थोडा-थोडा करके देना।

औद्देशिक आहार के कल्प्याकल्प्य का विधान

१९ जे कडे कप्पट्ठियाण, कप्पइ से अकप्पट्ठियाणं नो से कप्पइ कप्पट्ठियाणं।
जे कडे अकप्पट्ठियाणं नो से कप्पइ कप्पट्ठियाणं, कप्पइ से अकप्पट्ठियाणं।
कप्पे ठिया कप्पट्ठिया, अकप्पे ठिया अकप्पट्ठिया।

१९. जो आहार कल्पस्थितो के लिए बनाया गया है, वह अकल्पस्थितो को लेना कल्पता है किन्तु कल्पस्थितो को लेना नही कल्पता है।

जो आहार अकल्पस्थितो के लिए बनाया गया है, वह कल्पस्थितो को नही कल्पता है किन्तु अन्य अकल्पस्थितो को कल्पता है।

जो कल्प मे स्थित है वे कल्पस्थित कहे जाते है और जो कल्प मे स्थित नही हैं वे अकल्पस्थित कहे जाते है।

विवेचन— जो साधु आचेलक्य आदि दस प्रकार के कल्प मे स्थित होते हैं और पचयाम रूप धर्म का पालन करते है, ऐसे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं को कल्पस्थित कहते हैं।

जो आचेलक्यादि दश प्रकार के कल्प मे स्थित नही है किन्तु कुछ ही कल्पो में स्थित हैं और चातुर्याम रूप धर्म का पालन करते हैं, ऐसे मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरो के साधु अकल्पस्थित कहे जाते हैं।

जो आहार गृहस्थो ने कल्पस्थित साधुओं के लिए बनाया है, उसे वे नही ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु अकल्पस्थित साधु ग्रहण कर सकते हैं। इसी प्रकार जो आहार अकल्पस्थित जिन साधुओ के लिए बनाया गया है, उसे अकल्पस्थित अन्य साधु तो ग्रहण कर सकते हैं किन्तु कल्पस्थित साधु ग्रहण नही कर सकते हैं।

१० कल्प (साधु के आचार) इस प्रकार हैं—

१. **अचेलकल्प**—अमर्यादित वस्त्र न रखना, किन्तु मर्यादित वस्त्र रखना, रंगीन वस्त्र न रखना, किन्तु स्वाभाविक रग का अर्थात् सफेद रग का वस्त्र रखना और मूल्यवान् चमकीले वस्त्र न रखना किन्तु अल्पमूल्य के सामान्य वस्त्र रखना।

२. **औद्देशिककल्प**—अन्य किसी भी साधर्मिक या साभोगिक साधुओ के उद्देश्य से बनाया गया आहार आदि औद्देशिक दोष वाला होता है। ऐसे आहार आदि को ग्रहण नही करना।

३. **शय्यातरपिंडकल्प**—शय्यादाता का आहारादि ग्रहण नही करना।

४ **राजपिंडकल्प**—मूर्धाभिषिक्त राजाओ का आहारादि नही लेना।

५ **कृतिकर्मकल्प**—रत्नाधिक को वदन आदि विनय-व्यवहार करना।

६ **व्रतकल्प**—पाच महाव्रतो का पालन करना अथवा चार याम का पालन करना। चार याम मे चौथे और पाचवे महाव्रत का सम्मिलित नाम "बहिद्धादाण" है।

७ **ज्येष्ठकल्प**—जिसकी बडी दीक्षा पहले हुई हो वह ज्येष्ठ कहा जाता है और साध्वियो के लिये सभी साधु ज्येष्ठ होते हैं। अत: उन्हे ज्येष्ठ मानकर व्यवहार करना।

८ **प्रतिक्रमणकल्प**—नित्य नियमित रूप से दैवसिक एव रात्रिक प्रतिक्रमण करना।

९ **मासकल्प**—हेमत-ग्रीष्म ऋतु मे विचरण करते हुए किसी भी ग्रामादि में एक मास से अधिक नही ठहरना तथा एक मास ठहरने के बाद वहाँ दो मास तक पुन आकर नही ठहरना। साध्वी के लिए एक मास के स्थान पर दो मास का कल्प समझना।

१० **चातुर्मासकल्प**—वर्षाऋतु मे चार मास तक एक ही ग्रामादि मे स्थित रहना किन्तु विहार नही करना। चातुर्मास के बाद उस ग्राम मे नही रहना एव आठ मास [बाद में चातुर्मास काल आ जाने से बारह मास] तक पुन वहाँ आकर नही रहना।

ये दस कल्प प्रथम एव अतिम तीर्थंकर के साधु-साध्वियो को पालन करना आवश्यक होता है। मध्यम तीर्थंकरो के साधु-साध्वियो को चार कल्प का पालन करना आवश्यक होता है, शेष छह कल्पो का पालन करना आवश्यक नही होता।

चार आवश्यक कल्प—१. शय्यातरपिंडकल्प, २ कृतिकर्मकल्प, ३. व्रतकल्प, ४. ज्येष्ठकल्प।

छह ऐच्छिक कल्प

१. **अचेल**—अल्प मूल्य या बहुमूल्य, रगीन या स्वाभाविक, किसी भी प्रकार के वस्त्र अल्प या अधिक परिमाण मे इच्छानुसार या मिले जैसे ही रखना।

२ **औद्देशिक**—स्वय के निमित्त बना हुआ आहारादि नही लेना किन्तु अन्य किसी भी साधर्मिक साधु के लिये बने आहारादि इच्छानुसार लेना।

३. **राजपिंड**—मूर्धाभिषिक्त राजाओ का आहार ग्रहण करने मे इच्छानुसार करना।

४ **प्रतिक्रमण**—नियमित प्रतिक्रमण इच्छा हो तो करना किन्तु पक्खी चातुर्मासिक और सावत्सरिक प्रतिक्रमण अवश्य करना।

५. मासकल्प—किसी भी ग्रामादि मे एक मास या उससे अधिक इच्छानुसार रहना या कभी भी वापिस वहा आकर ठहरना।

६. चातुर्मासकल्प—इच्छा हो तो चार मास एक जगह ठहरना किन्तु सवत्सरी के बाद कार्तिक सुदी पूनम तक एक जगह ही स्थिर रहना। उसके बाद इच्छा हो तो विहार करना, इच्छा न हो तो न करना।

श्रुतग्रहण के लिये अन्यगण में जाने का विधि-निषेध

२० भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गण उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता—

१ आयरियं वा, २ उवज्झायं वा ३, पवत्तयं वा, ४ थेरं वा, ५ गणिं वा ६ गणहरं वा, ७, गणावच्छेइयं वा अन्नं गण उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरिय वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

ते य से वियरेज्जा, एव से कप्पइ अन्न गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं गण उवसपज्जित्ताणं विहरित्तए।

२१ गणावच्छेयए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए—

नो से कप्पइ गणावच्छेयत्तं अनिक्खिवित्ता अन्न गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

कप्पइ से गणावच्छेइयत्त निक्खिवित्ता अन्नं गण उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरिय वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्न गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरिय वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसपज्जित्ताणं विहरित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्न गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

२२ आयरिय-उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गण उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए—

नो से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

कप्पइ से आयरिय-उवज्झायत्तं निक्खिवित्ता अन्न गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

२०. यदि कोई भिक्षु स्वगण को छोडकर अन्यगण को (श्रुतग्रहण करने के लिये) स्वीकार करना चाहे तो उसे—

१. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. प्रवर्तक, ४. स्थविर, ५. गणी, ६ गणधर या ७. गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्य गण को स्वीकार करना नही कल्पता है।

किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्यगण को स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दे तो अन्यगण को स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दे तो अन्यगण को श्रुत ग्रहण के लिये स्वीकार करना नही कल्पता है।

२१. यदि गणावच्छेदक स्वगण को छोडकर श्रुतग्रहण के लिये अन्य गण को स्वीकार करना चाहे तो—

उसे अपने पद का त्याग किए विना अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना नही कल्पता है।

उसे अपने पद को त्याग करके अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना कल्पता है।

आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे विना उसे अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना नही कल्पता है।

किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दे तो उसे अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दे तो उसे अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना नही कल्पता है।

२२ आचार्य या उपाध्याय यदि स्वगण को छोडकर अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना चाहे तो—

उन्हे अपने पद को त्याग किए विना अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना नही कल्पता है।

अपने पद को त्याग करके अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना कल्पता है।

आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे विना उन्हे अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना नही कल्पता है।

किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो उन्हें अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना कल्पता है ।

यदि वे आज्ञा न दें तो उन्हें अन्यगण को श्रुतग्रहण के लिये स्वीकार करना नही कल्पता है ।

विवेचन—इस सूत्र में यह विधान है कि यदि कोई साधु ज्ञानादि की प्राप्ति या विशेष सयम की साधना हेतु अल्पकाल के लिये किसी अन्यगण के आचार्य या उपाध्याय की उपसपदा स्वीकार करना चाहे तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आचार्य की स्वीकृति ले । आचार्य समीप मे न हो तो उपाध्याय की, उनके अभाव मे प्रवर्तक की, उनके अभाव में स्थविर की, उनके अभाव मे गणी की, उनके अभाव मे गणधर की और उनके अभाव मे गणावच्छेदक की स्वीकृति लेकर के ही अन्यगण मे जाना चाहिए । अन्यथा वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है ।

अध्ययन आदि की समाप्ति के बाद पुन वह भिक्षु स्वगच्छ के आचार्य के पास आ जाता है । क्योकि वह सदा के लिये नही गया है । सदा के लिये जाने का विधान आगे के सूत्रो मे किया गया है ।

आचार्य, उपाध्याय या गणावच्छेदक आदि पदवीधर भी विशिष्ट अध्ययन हेतु अन्य आचार्य या उपाध्याय के पास जाना चाहे तो वे भी जा सकते है किन्तु गच्छ की व्यवस्था बराबर चल सके, ऐसी व्यवस्था करके अन्य योग्य भिक्षु को अपना पद सौप कर और फिर उनकी आज्ञा लेकर के ही जा सकते है किन्तु आज्ञा लिये बिना वे भी नही जा सकते हैं ।

पद सौपने एव आज्ञा लेने के कारण इस प्रकार हैं—

१ अध्ययन करने मे समय अधिक भी लग सकता है ।

२ गच्छ की चिंता से मुक्त होने पर ही अध्ययन हो सकता है ।

३ गच्छ की व्यवस्था के लिये, विनयप्रतिपत्ति के लिये एव कार्य की सफलता के लिये आज्ञा लेना आवश्यक होता है ।

अध्ययन समाप्त होने पर पुन. स्वगच्छ मे आकर पद ग्रहण कर सकते हैं ।

यहा इतना विशेष ज्ञातव्य है कि आचार्यादि की स्वीकृति मिलने पर साधु तो अकेला भी विहार कर अन्यगण मे जा सकता है, किन्तु साध्वी अकेली नही जा सकती है । उसे स्वीकृति मिलने पर भी कम से कम एक अन्य साध्वी के साथ ही अन्यगण मे जाना चाहिए । आचार्य आदि की आज्ञा लेना या अन्य आवश्यक विधि का पालन करना साधु के समान ही जानना चाहिए । विशेष यह है कि प्रवर्तिनी की आज्ञा भी लेना आवश्यक होता है ।

सांभोगिक-व्यवहार के लिए अन्यगण में जाने की विधि

२३. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइय वा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

ते य से वियरेज्जा एव से कप्पइ अन्नं गण संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा एव से नो कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा एव से कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

जत्थुत्तरियं धम्मविणय नो लभेज्जा, एव से नो कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता-णं विहरित्तए।

२४ गणावच्छेइए य गणाओ अवक्कम इच्छेज्जा अन्नं गण सभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताण विहरित्तए।

नो से कप्पइ गणावच्छेइयत्त अनिक्खिवित्ता अन्नं गण सभोगपडियाए उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए।

कप्पइ से गणावच्छेइयत्तं निक्खिवित्ता अन्न गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता ण विहरित्तए।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइय वा अन्न गण संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताण विहरित्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरिय वा जाव गणावच्छेइय वा अन्नं गण सभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

ते य से वियरेज्जा एव से कप्पइ अन्न गणं संभोगपडियाए उवसपज्जित्ताण विहरित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा एव से नो कप्पइ अन्नं गणं सभोगपडियाए उवसपज्जित्ताण विहरित्तए।

जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा, एव से कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताण विहरित्तए।

जत्थुत्तरिय धम्मविणय नो लभेज्जा एव से नो कप्पइ अन्नं गण सभोगपडियाए उवसपज्जित्ता-णं विहरित्तए।

२५ आयरिय-उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताण विहरित्तए।

नो से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता अन्न गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता-णं विहरित्तए।

कप्पइ से आयरिय-उवज्झायत्तं निक्खिवित्ताणं अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताण विहरित्तए।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरिय वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

ते य से वियरेज्जा, एव से कप्पइ अन्नं गण संभोगपडियाए उवसपज्जित्ताणं विहरित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा, एव से नो कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

जत्थुत्तरिय धम्मविणय लभेज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

जत्थुत्तरिय धम्मविणय नो लभेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता-ण विहरित्तए।

२३. भिक्षु यदि स्वगण से निकलकर अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार स्वीकार करना चाहे तो--

आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे विना अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नही कल्पता है।

किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछ कर अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दे तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दे तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नही कल्पता है।

यदि वहा सयमधर्म की उन्नति होती हो तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

किन्तु जहा सयमधर्म की उन्नति न होती हो, वहाँ अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नही कल्पता है।

२४. गणावच्छेदक यदि स्वगण से निकलकर अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार स्वीकार करना चाहे तो—

गणावच्छेदक पद का त्याग किये बिना अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नही कल्पता है।

किन्तु गणावच्छेदक का पद छोडकर अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नही कल्पता है।

किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दे तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नही कल्पता है।

यदि वहां सयमधर्म की उन्नति होती हो तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

किन्तु जहा सयम-धर्म की उन्नति न होती हो तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नही कल्पता है।

२५. आचार्य या उपाध्याय यदि स्वगण से निकलकर अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना चाहे तो—

आचार्य, उपाध्याय पद का त्याग किये विना अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नही कल्पता है।

किन्तु उन्हे अपने पदो का त्याग करके अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे विना अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नही कल्पता है।

किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दे तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नही कल्पता है।

यदि वहां सयमधर्म की उन्नति होती हो तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

किन्तु जहा सयमधर्म की उन्नति न होती हो तो अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नही कल्पता है।

विवेचन—साधु मण्डली मे एक साथ बैठना-उठना, खाना-पीना तथा अन्य दैनिक कर्त्तव्यों का एक साथ पालन करना "सभोग" कहलाता है।

समवायागसूत्र के समवाय १२ मे संभोग के बारह भेद बतलाये गये हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. उपधि—वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों को परस्पर देना-लेना।

२ श्रुत—शास्त्र की वाचना देना-लेना।

३ भक्त-पान—परस्पर आहार-पानी या औषध का लेन-देन करना।

४. अञ्जलिप्रग्रह—संयमपर्याय मे ज्येष्ठ साधुओ के पास हाथ जोड़कर खड़े रहना या उनके सामने मिलने पर मस्तक झुका कर हाथ जोड़ना ।

५ दान—शिष्य का देना-लेना ।

६ निमन्त्रण—शय्या, उपधि, आहार, शिष्य एव स्वाध्याय आदि के लिए निमत्रण देना ।

७ अभ्युत्थान—दीक्षापर्याय मे किसी ज्येष्ठ साधु के आने पर खड़े होना ।

८ कृतिकर्म—अजलिग्रहण, आवर्तन, मस्तक झुका कर हाथ जोड़ना एव सूत्रोच्चारण कर विधिपूर्वक वन्दन करना ।

९. वैयावृत्य—अंग-मर्दन आदि शारीरिक सेवा करना, आहार आदि लाकर के देना, वस्त्रादि सीना या धोना, मल-मूत्र आदि परठना एव ये सेवाकार्य अन्य भिक्षु से करवाना ।

१० समवसरण—एक ही उपाश्रय मे बैठना सोना रहना आदि प्रवृतिया करना ।

११ सन्निषद्या—एक आसन पर बैठना अथवा बैठने के लिए आसन देना ।

१२. कथा-प्रबन्ध—सभा मे एक साथ बैठकर या खड़े रहकर प्रवचन देना ।

एक गण के या अनेक गणो के साधुओ मे ये बारह ही प्रकार के परस्पर व्यवहार विहित होते है, वे परस्पर "साम्भोगिक" साधु कहे जाते हैं ।

जिन साधुओ मे "भक्त-पान" के अतिरिक्त ग्यारह व्यवहार होते हैं, वे परस्पर अन्य-साम्भोगिक साधु कहे जाते है । आचार-विचार लगभग समान होने से वे समनोज्ञ साधु भी कहे जाते हैं ।

समनोज्ञ साधुओ के साथ ही ये ग्यारह या बारह प्रकार के व्यवहार किये जाते हैं किन्तु असमनोज्ञ अर्थात् पार्श्वस्थादि एव स्वच्छदाचारी के साथ ये बारह प्रकार के व्यवहार नही किये जाते है । लोकव्यवहार या अपवाद रूप मे गीतार्थ के निर्णय से उनके साथ कुछ व्यवहार किये जा सकते है । उनका कोई प्रायश्चित्त नही है । अकारण या गीतार्थ के अभाव मे ये व्यवहार करने पर प्रायश्चित्त आता है ।

गृहस्थ के साथ ये सभी व्यवहार नही किये जाते हैं ।

साध्वियो के साथ उत्सर्गविधि से छह व्यवहार ही होते हैं एव छह व्यवहार आपवादिक स्थिति मे किये जा सकते हैं ।

उत्सर्ग व्यवहार	अपवाद व्यवहार
१. श्रुत (दूसरा)	१. उपधि (पहला)
२ अजलिप्रग्रह (चौथा)	२. भक्त-पान (तीसरा)
३ शिष्यदान (पांचवां)	३ निमन्त्रण (छठा)
४ अभ्युत्थान (सातवा)	४ वैयावृत्य (नवमा)
५ कृतिकर्म (आठवां)	५. समवसरण (दसवां)
६ कथा-प्रबन्ध (बारहवां)	६ सन्निषद्या (ग्यारहवां)

ये बारह व्यवहार गृहस्थ के साथ करने पर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त आता है ।

स्वच्छंदाचारी के साथ ये व्यवहार करने पर गुरुचौमासी और पार्श्वस्थादि के साथ करने पर लघुचौमासी या लघुमासिक प्रायश्चित्त आता है।

साध्वियों के साथ अकारण आपवादिक व्यवहार करने पर लघुचौमासी और गीतार्थ की आज्ञा के विना करने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

अन्य साम्भोगिक समनोज्ञ भिक्षुओ के साथ भक्त-पान का व्यवहार करने से लघुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

भाष्यकार ने यह भी कहा है कि लोक-व्यवहार या आपवादिक स्थिति मे गीतार्थ की निश्रा से भी जो आवश्यक व्यवहार (अजलिप्रग्रह आदि) पार्श्वस्थादि के साथ नही करता है, वह भी प्रायश्चित्त का भागी होता है एव ऐसा करने से जिनशासन की अभक्ति और अपयश होता है।

पूर्व सूत्रत्रिक मे अध्ययन करने के लिये अल्पकालीन उपसपदा हेतु अन्य गच्छ मे जाने का कथन है और इन सूत्रों मे सदा के लिये एक माडलिक आहार आदि सम्भोग स्वीकार करके अन्य गच्छ मे रहने के लिये जाने का वर्णन है।

आज्ञा प्राप्त करना और अन्य योग्य भिक्षु को पदवी देना यह पूर्व सूत्रो के समान ही इनमे भी आवश्यक है।

इन सूत्रो मे आज्ञाप्राप्ति के बाद भी एक विकल्प अधिक रखा गया है—

यथा—"**धम्मुत्तरियं धम्म-विणयं लभेज्जा एव से कप्पइ।**

सूत्र-पठित इस वाक्य से यह सूचित किया गया है कि जब कोई साधु यह देखे कि इस सघ मे रहते हुए, एक मण्डली मे खान-पान एव अन्य कृतिकर्म करते हुए भाव-विशुद्धि के स्थान पर सक्लेश-वृद्धि हो रही है और इस कारण से मेरे ज्ञान दर्शन चारित्र आदि की समुचित साधना नही हो रही है, तब वह अपने को सक्लेश से बचाने के लिए तथा ज्ञान-चारित्रादि की वृद्धि के लिए अन्यगण मे, जहा पर कि अधिक धर्मलाभ की सम्भावना हो, जाने की इच्छा करे तो वह जिसकी निश्रा मे रह रहा है, उसकी अनुज्ञा लेकर जा सकता है।

किन्तु जिस गच्छ मे जाने से वर्तमान अवस्था से सयम की हानि हो, वैसे गच्छ मे जाने की जिनाज्ञा नही है एव जाने पर- -निशीथ उ १६ मे कथित प्रायश्चित्त आता है। अत सयमधर्म की उन्नति हो वैसे गच्छ मे जाने का ही सकल्प करना चाहिए।

आचार्य आदि को वाचना देने के लिये अन्यगण में जाने का विधि-निषेध

२६. **भिक्खू य इच्छेज्जा अन्न आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।**

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

नो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवेत्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

कप्पइ से तेसिं कारणं दीवेत्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

२७. गणावच्छेइए य इच्छेज्जा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए, नो से कप्पइ गणावच्छेइयत्तं अनिक्खिवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

कप्पइ से गणावच्छेइयत्तं निक्खिवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

ते य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

नो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवेत्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

कप्पइ से तेसिं कारणं दीवेत्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

२८. आयरिय-उवज्झाए य इच्छेज्जा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए, नो से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

कप्पइ से आयरिय-उवज्झायत्तं निक्खिवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

ते य से वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

नो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवेत्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

कप्पइ से तेसिं कारणं दीवेत्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

२९. भिक्षु यदि अन्य गण के आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए (या उनका नेतृत्व करने के लिए) जाना चाहे तो—

अपने आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए जाना नहीं कल्पता है।

किन्तु अपने आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है।

उन्हें कारण बताये बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है।

किन्तु उन्हे कारण बताकर ही अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

२७ गणावच्छेदक यदि अन्यगण के आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये (या उनका नेतृत्व करने के लिये) जाना चाहे तो—

उसे अपना पद छोड़े बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नही कल्पता है ।

किन्तु अपना पद छोडकर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

अपने आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नही कल्पता है ।

किन्तु अपने आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछ कर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

यदि वे आज्ञा दे तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

यदि वे आज्ञा न दे तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नही कल्पता है ।

उन्हे कारण बताए बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नही कल्पता है ।

किन्तु उन्हे कारण बताकर ही अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

२८ आचार्य या उपाध्याय अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये (या उनका नेतृत्व करने के लिये) जाना चाहे तो—

उन्हे अपना पद छोडे बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नही कल्पता है ।

किन्तु अपना पद छोडकर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

उन्हे अपने आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नही कल्पता है ।

किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

यदि वे आज्ञा दे तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है ।

यदि वे आज्ञा न दे तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नही कल्पता है ।

उन्हे कारण बताए बिना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नही कल्पता है।

किन्तु उन्हे कारण बताकर ही अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।

विवेचन—प्रथम सूत्रत्रिक मे अध्ययन हेतु कुछ समय के लिये अन्य गण मे जाने की विधि कही है।

द्वितीय सूत्रत्रिक मे सयम-समाधि एव चित्त-समाधि हेतु संभोग के लिये अन्य गण मे जाने की विधि कही है।

तृतीय सूत्रत्रिक मे 'उद्दिसावित्तए' क्रिया का प्रयोग करके अन्य आचार्य, उपाध्याय को अपनी उपसपदा धारण करवाने के लिये जाने का कथन किया गया है।

इस तृतीय सूत्रत्रिक मे 'जत्थुत्तरिय धम्मविणय लभेज्जा' यह विकल्प न होने से अन्यगण में सदा के लिए सर्वथा जाने का कथन नही है।

सदा के लिए जाने का कथन दूसरे त्रिक मे किया गया है और अध्ययन करने के लिए उपसपदा धारण करना प्रथम त्रिक मे कहा गया है। अत. इस तृतीय त्रिक में अध्ययन करवाने (आदि) के लिये अन्य गण मे जाने का अर्थ करना ही प्रसगसगत है।

सूत्र मे अतिम विकल्प है—

'कप्पइ तेसिं कारण दीवेत्ता' इसका तात्पर्य यह है कि अध्ययन कराने के लिये जाने मे ऐसा क्या विशिष्ट कारण है, इसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक होता है। क्योकि विशिष्ट कारणयुक्त परिस्थिति न हो तो अध्ययन कराने वाले का जाना व्यावहारिक रूप से शोभाजनक नही है किन्तु अध्ययन करने वाले का आना ही उचित होता है।

अध्ययन कराने हेतु जाने के कुछ कारण—

१ किसी गच्छ के नये बनाये गये आचार्य को श्रुत-अध्ययन करना आवश्यक हो एवं गच्छ का भार अन्य को सौप कर आना सभव न हो।

२ किसी गच्छ का नया बनाया गया आचार्य किसी का पुत्र-पौत्र-दुहित्र आदि हो एव उसके अध्ययनार्थ आने की परिस्थिति न हो।

३. किसी गच्छ का आचार्य किसी विकट या उलझनभरी परिस्थिति मे हो और वह किसी साधु का पूर्व उपकारी हो।

इत्यादि परिस्थितियो मे किसी का जाना आवश्यक हो सकता है। इसी आशय से इस तृतीय सूत्रत्रिक का कथन किया गया है, ऐसा समझना उचित है।

काल-गत भिक्षु के शरीर को परठने की विधि

२९. भिक्खू य राओ वा वियाले वा आहच्च वीसुंभेज्जा, तं च सरीरगं केइ वेयावच्चकरे भिक्खू इच्छेज्जा एगंते बहुफासुए पएसे परिट्ठवेत्तए।

अत्थि य इत्थ केइ सागारियसंतिए उवगरणजाए अचित्ते परिहरणारिहे कप्पइ से सागारिकडं गहाय तं सरीरगं एगंते बहुफासुए पएसे परिट्ठवेत्ता तत्थेव उवनिक्खिवियव्वे सिया ।

२९ यदि किसी भिक्षु का रात्रि मे या विकाल मे निधन हो जाय तो उस मृत भिक्षु के शरीर को कोई वैयावृत्य करने वाला साधु एकान्त मे सर्वथा अचित्त प्रदेश पर परठना चाहे तब—

यदि वहा उपयोग मे आने योग्य गृहस्थ का अचित्त उपकरण अर्थात् वहन योग्य काष्ठ हो तो उसे प्रातिहारिक (पुन: लौटाने का कहकर) ग्रहण करे और उससे मृत भिक्षु के शरीर को एकान्त मे सर्वथा अचित्त प्रदेश पर परठ कर उस वहन-काष्ठ को यथास्थान रख देना चाहिए ।

विवेचन—भिक्षु जहा पर मासकल्प आदि रहा हो वहा उस निवासकाल मे यदि भक्त-प्रत्याख्यानी साधु का, रुग्ण साधु का अथवा साप आदि के काटने से किसी अन्य साधु का मरण हो जाय तो उस शव को वसति या उपाश्रय मे अधिक समय रखना उचित नही है, क्योकि भाष्यकार कहते हैं कि जिस समय मरण हो उसी समय उस शव को बाहर कर देना चाहिए । अत वहा वैयावृत्य करने वाले साधु यदि चाहे तो वे रात्रि मे भी परठने योग्य भूमि पर ले जाकर परठ सकते हैं । परठने के लिये प्रातिहारिक उपकरण की याचना करने का सूत्र मे विधान किया गया है । अत उस ग्रामादि मे या उपाश्रय मे वहनकाष्ठ या बास अथवा डोलो अथवा आदि जो भी मिल जाए उसका उपयोग किया जा सकता है एव पुन उस उपकरण को लौटाया जा सकता है ।।

पादपोपगमन सथारा वाले के शरीर का दाहसस्कार तो किया ही नही जाता है । किन्तु भक्तप्रत्याख्यान सथारे मे दाहसस्कार का विकल्प भी है ।

जहा कोई भी दाहसस्कार करने वाले न हो वहा साधु द्वारा इस सूत्रोक्त विधि के अनुसार किया जाता है, ऐसा समझना चाहिए । क्योकि भिक्षु तो दाहसस्कार की आरभजन्य प्रवृति का सकल्प भी नही कर सकते ।

किन्तु जहा श्रावकसघ हो या अन्य श्रद्धालु गृहस्थ हो वहा वे सासारिक कृत्य समझकर कुछ लौकिक क्रियाएँ करे तो भिक्षु उससे निरपेक्ष रहते है ।

तीर्थंकर एव अन्य अनेक कालधर्मप्राप्त भिक्षुओ के दाहसस्कार किये जाने का वर्णन आगमो मे भी है । अत भक्तप्रत्याख्यानमरण वाले भिक्षुओ की अन्तिम क्रियाओ के दोनो ही विकल्प हो सकते हैं, यथा—

१ साधु के द्वारा परठना या २ गृहस्थ द्वारा दाहसस्कार करना ।

भाष्यकार ने शव को परठने योग्य दिशाओ का भी वर्णन किया है । साधुओ के निवासस्थान से दक्षिण-पश्चिमदिशा (नैऋत्यकोण) शव के परठने के योग्य शुभ बतलायी है । इस दिशा मे परठने पर सघ मे समाधि रहती है । यदि उक्त दिशा मे परठने योग्य स्थान न मिले तो दक्षिणदिशा मे शव को परठे और उसमे योग्य स्थान न मिलने पर दक्षिण-पूर्वदिशा मे परठे । शेष सब दिशाए शव-परित्याग करने के लिए अशुभ बतलायी गई हैं । उन दिशाओ मे शव परठने पर सघ मे कलह, भेद और रोगादि की उत्पत्ति सूचित की गई है ।

यदि शव को रात्रि मे रखना पडे तो सघ के साधु रात्रि भर जागरण करते हैं, शव मे कोई भूत-प्रेत प्रविष्ट न हो जाय इसके लिए हाथ और पैर के दोनो अगुष्ठो को डोरी से बाध देते हैं, मुख-वस्त्र (मु हपत्ति) से मुख को ढक देते हैं और अगुली के मध्य भाग का छेदन कर देते हैं, क्योंकि क्षत-देह में भूत-प्रेतादि प्रवेश नही करते है।

शव को ले जाते समय आगे की तरफ पाव करना, परठते समय मु हपत्ति, रजोहरण, चोलपट्टक ये तीन उपकरण अवश्य रखना, इत्यादि बातो का भाष्य मे विस्तार से वर्णन किया गया है।

व्यव उद्दे ७ मे विहार करते हुए मार्ग मे कालधर्मप्राप्त भिक्षु के शरीर को परठने की विधि का वर्णन किया गया है और यहा उपाश्रय मे काल करने वाले भिक्षु के शरीर को परठने का वर्णन है।

कलह करनेवाले भिक्षु से सम्बन्धित विधि-निषेध

३०. भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवेत्ता,
नो से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा,
नो से कप्पइ बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा,
नो से कप्पइ गामाणुगामं दूइज्जित्तए,
गणाओ वा गणं संकमित्तए, वासावासं वा वत्थए।

जत्थेव अप्पणो आयरिय-उवज्झाय पासेज्जा बहुस्सुय-बब्भागम, कप्पइ से तस्संतिए आलोइत्तए, पडिक्कमित्तए, निन्दित्तए, गरिहित्तए, विउट्टित्तए, विसोहित्तए, अकरणाए अब्भुट्ठित्तए, अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जित्तए।

से य सुएण पट्ठविए आइयव्वे सिया, से य सुएण नो पट्ठविए नो आइयव्वे सिया।
से य सुएण पट्ठविज्जमाणे नो आइयइ, से निज्जूहियव्वे सिया।

३० यदि कोई भिक्षु कलह करके उसे उपशान्त न करे तो—
उसे गृहस्थो के घरो मे भक्त-पान के लिए निष्क्रमण-प्रवेश करना नही कल्पता है।
उसे उपाश्रय से बाहर स्वाध्यायभूमि मे या उच्चार-प्रस्रवणभूमि मे जाना-आना नही कल्पता है।
उसे ग्रामानुग्राम विहार करना नही कल्पता है।
उसे एक गण से गणान्तर मे सक्रमण करना और वर्षावास रहना नही कल्पता है।

किन्तु जहा अपने बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ आचार्य और उपाध्याय हो उनके समीप आलोचना करे, प्रतिक्रमण करे, निन्दा करे, गर्हा करे, पाप से निवृत्त हो, पाप-फल से शुद्ध हो, पुन पापकर्म न करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो और यथायोग्य तप रूप प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

वह प्रायश्चित्त यदि श्रुतानुसार दिया जाए तो उसे ग्रहण करना चाहिए किन्तु श्रुतानुसार न दिया जाए तो उसे ग्रहण नही करना चाहिये।

यदि श्रुतानुसार प्रायश्चित्त दिये जाने पर भी जो स्वीकार न करे तो उसे गण से निकाल देना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में तीव्र कषाय एव बहुत बड़े कलह की अपेक्षा से कथन किया गया है।

ऐसी स्थिति मे भिक्षु का मन उद्विग्न हो जाता है, चेहरा सतप्त हो जाता है तथा बोलने का विवेक भी नही रहता है। अतः उसे सूत्र-निर्दिष्ट कार्यों से उपाश्रय के बाहर जाना उचित नही है। किन्तु कषाय भावों की उपशाति होने पर ही गोचरी आदि के लिए जाना उचित है।

सर्वप्रथम कषाय को उपशात करना और उसके बाद आचार्य आदि जो भी बहुश्रुत वहा हों, उनके पास आलोचना (प्रायश्चित) करके कलह से निवृत्त होना आवश्यक है।

कलह से निवृत्त नही होने पर वह सयमभाव से भी च्युत हो जाता है और क्रमश· अधिक से अधिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

कभी दुराग्रह एव अनुपशात होने पर अनुशासन के लिये उसे आलोचना किये बिना प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। यदि समझाने पर भी वह न समझे एव प्रायश्चित्त या अनुशासन स्वीकार न करे तो उसे गच्छ से अलग कर देने का भी सूत्र मे विधान किया गया है अर्थात् उसके साथ माडलिक आहार एव वदना आदि व्यवहार नही रखा जाता है।

सूत्र मे विनय, अनुशासन एव उपशाति के विधान [के साथ और न्यायसगत सूचना की गई है—प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाला भिक्षु बहुश्रुत हो एव प्रायश्चित्तदाता निष्पक्ष भाव न रखकर आगम विपरीत प्रायश्चित्त उसे देने का निर्णय करे तो वह उस प्रायश्चित्त को अस्वीकार कर सकता है।

सूत्र के इस निर्देश से यह स्पष्ट होता है कि सूत्रविपरीत आज्ञा किसी की भी हो, उसे अस्वीकार करने से जिनाज्ञा की विराधना नही होती है, किन्तु अगीतार्थ अथवा अबहुश्रुत के लिए यह विधान नही है।

परिहार-कल्पस्थित भिक्षु को वैयावृत्य करने का विधान

३१. परिहारकप्पट्ठियस्स णं भिक्खुस्स कप्पइ आयरिय-उवज्झायाणं तद्दिवसं एगगिहंसि पिंडवाय दवावेत्तए।

तेण पर नो से कप्पइ असण वा जाव साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा कप्पइ से अन्नयरं वेयावडियं करेत्तए, तं जहा—

उट्ठावण वा, निसीयावणं वा, तुयट्टावणं वा, उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाणाणं विगिंचणं वा विसोहण वा करेत्तए।

अह पुण एवं जाणेज्जा-छिन्नावाएसु पथेसु आउरे, झिंझिए, पिवासिए, तवस्सी, दुब्बले, किलंते, मुच्छेज्ज वा, पवडेज्ज वा, एवं से कप्पइ असणं वा जाव साइमं वा दाऊं वा अणुप्पदाऊं वा।

३१ जिस दिन परिहारतप स्वीकार करे उस दिन परिहारकल्पस्थित भिक्षु को एक घर से आहार दिलाना आचार्य या उपाध्याय को कल्पता है।

उसके बाद उसे अशन यावत् स्वादिम देना या बार-बार देना नही कल्पता है, किन्तु आवश्यक होने पर वैयावृत्य करना कल्पता है, यथा—

परिहारकल्प-स्थित भिक्षु को उठावे, बिठावे, करवट बदलावे, उसके मल-मूत्र, श्लेष्म, कफ आदि परठे, मल-मूत्रादि से लिप्त उपकरणो को शुद्ध करे।

यदि आचार्य या उपाध्याय यह जाने कि ग्लान, बुभुक्षित, तृषित, तपस्वी, दुर्बल एव क्लान्त होकर गमनागमन-रहित मार्ग मे कही मूर्च्छित होकर गिर जाएगा तो उसे अशन यावत् स्वादिम देना या बार-बार देना कल्पता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र मे परिहारकल्प-स्थित साधु के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह बतलाया गया है। यहा यह विशेष ज्ञातव्य है कि जो साधु सघ के साधुओ के या गृहस्थों के साथ कलह करे, सयम की विराधना करे और आचार्य के द्वारा प्रायश्चित्त दिये जाने पर भी उसे स्वीकार न करे, ऐसे साधु को परिहारतपरूप प्रायश्चित्त दिया जाता है। उसकी विधि यह है—

प्रशस्त द्रव्य क्षेत्र काल भाव मे उसे परिहारतप में स्थापित करना।

तप की निर्विघ्न समाप्ति के लिए पच्चीस श्वासोच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना अथवा मन मे चतुर्विशति-स्तवन का चिन्तन करना। तत्पश्चात् चतुर्विशतिस्तव को प्रकट बोलकर चतुर्विध सघ को परिहारतप वहन कराने की जानकारी देना।

जिस दिन उस साधु को परिहार तप मे स्थापित किया जाता है उस दिन जहा पर किसी उत्सव आदि के निमित्त से सरस आहार बना हो, वहा पर आचार्य उसे साथ ले जाकर मनोज्ञ भक्त-पान दिलाते है, जिससे जनसाधारण को यह ज्ञात हो जाता है कि—इसे कोई विशिष्ट तप वहन कराया जा रहा है किन्तु गच्छ से अलग करना आदि कोई असद्व्यवहार नही किया जा रहा है। उसके पश्चात् न आचार्य ही उसे भक्त-पान प्रदान करते हैं और न सघ के साधु ही। किन्तु जो साधु उसकी वैयावृत्य के लिए आचार्य द्वारा नियुक्त किया जाता है, वह उसके खान-पान एव समाधि का ध्यान रखता है।

परिहारतप करने वाला साधु जब स्वय उठने-बैठने एव चलने-फिरने आदि कार्य करने मे असमर्थ हो जाता है, तो उसकी वैयावृत्य करने वाला साधु उसकी सहायता करता है और गोचरी लाने मे असमर्थ हो जाने पर भक्त-पान लाकर के उसे देता है। परिहारतपस्थित साधु तप के पूर्ण होने तक मौन धारण किये रहता है और अपने मन मे अपने दोषो का चिन्तन करता हुआ तप को पूर्ण करता है।

परिहारतप एक प्रकार से सघ से बहिष्कृत करने का सूचक प्रायश्चित्त है, फिर भी उसके साथ कैसी सहानुभूति रखी जानी चाहिए, यह इस सूत्र मे तथा विवेचन मे प्रतिपादन किया गया है।

परिहारिक तप सम्बन्धी अन्य विवेचन निशीथ उ. ४ तथा उ २० मे भी किया गया है।

महानदी पार करने के विधि-निषेध

३२. णो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वियंजियाओ पंच महण्णवाओ महाणईओ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा, तं जहा—

१. गंगा, २. जउणा, ३. सरयू, ४. एरावई (कोसिया), ५. मही।

अह पुण एवं जाणेज्जा एरावई कुणालाए जत्थ चक्किया एगं पायं जले किच्चा, एगं पायं थले किच्चा, एवं णं कप्पइ अंतोमासस्स दुक्खुत्तो वा, तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा।

जत्थ एवं नो चक्किया एवं णं नो कप्पइ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा, तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा।

३२ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को महानदी के रूप मे कही गई, गिनाई गई प्रसिद्ध और बहुत जल वाली ये पाच महानदिया एक मास मे दो या तीन बार तैरकर पार करना या नौका से पार करना नही कल्पता है। वे ये हैं—

१ गगा, २ जमुना, ३ सरयु, ४ ऐरावती (कोशिक) और ५ मही।

किन्तु यदि जाने कि कुणाला नगरी के समीप जो ऐरावती नदी है वह एक पैर जल मे और एक पैर स्थल (आकाश) मे रखते हुए पार की जा सकती है तो उसे एक मास मे दो या तीन बार उतरना या पार करना कल्पता है।

यदि उक्त प्रकार से पार न की जा सके तो उस नदी को एक मास मे दो या तीन बार उतरना या पार करना नही कल्पता है।

विवेचन—जिन नदियो मे निरन्तर जल बहता रहता है और अगाध जल होता है वे 'महानदिया' कही जाती हैं। भारतवर्ष मे सूत्रोक्त पाच के अतिरिक्त सिन्धु, ब्रह्मपुत्रा आदि अनेक नदिया हैं, उन सबका महार्णव और महानदी पद से सग्रह कर लिया गया है।

सूत्र मे प्रयुक्त 'उत्तरित्तए' पद का अर्थ है—स्वय जल मे प्रवेश करके पार करना तथा 'सतरित्तए' पद का अर्थ है—नाव आदि मे बैठकर पार करना।

साधु के स्वय जल मे प्रवेश करके पार करने पर जलकायिक जीवो की विराधना होती ही है और नदी के तल मे स्थित कण्टक आदि पैर मे लगते हैं। कभी जलप्रवाह के वेग से बह जाने पर आत्म-विराधना भी हो सकती है।

नाव आदि से पार करने पर जल के जीवो की विराधना के साथ-साथ षट्कायिक जीवो की विराधना भी होती है और नाविक के सहयोग पर निर्भर रहना पड़ता है। नाविक नदी पार कराने के पहिले या पीछे शुल्क मागे तो देने की समस्या भी उत्पन्न होती है, इत्यादि अनेक दोषो की सभावना रहती है।

यदि विशेष कारण से पार जाने-आने का अवसर आ जाय तो एक मास मे एक बार ही पार करना चाहिए, क्योकि सूत्र मे दो या तीन बार नावादि से पार उतरने का स्पष्ट निषेध किया है।

अन्य विवेचन के लिए निशीथ. उद्दे १२ सूत्र ४४ का विवेचन देखें।

कुणाला नगरी और ऐरावती नदी का निर्देश उपलक्षण रूप है, अतः जहा साधुगण मासकल्प या वर्षाकल्प से रह रहे हो और उस नगर के समीप भी कोई ऐसी उथली नदी हो, जिसका कि जल

जंघार्ध प्रमाण बहता हो तो तथा उसके जल में एक पैर रखते हुए और एक पैर जल से ऊपर करते हुए चलना सम्भव हो तो साधु अन्य निर्दोष मार्ग के निकट न होने पर जा सकता है।

यतना से नदी पार करने पर कायोत्सर्ग का प्रायश्चित्त करना आवश्यक है एवं जीव-विराधना के कारण निशीथ उ १२ के अनुसार चातुर्मासिक प्रायश्चित्त भी आता है।

घास से ढकी हुई छत वाले उपाश्रय में रहने के विधि-निषेध

३३. से तणेसु वा, तणपुंजेसु वा, पलालेसु वा, पलालपुंजेसु वा, अप्पंडेसु जाव मक्कडासंताणएसु, अहे सवणमायाए नो कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा, तहप्पगारे उवस्सए हेमंत-गिम्हासु वत्थए।

३४. से तणेसु वा तणपुंजेसु वा, जाव मक्कडासंताणएसु उप्पिं सवणमायाए, कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए हेमंत-गिम्हासु वत्थए।

३५. से तणेसु वा, तणपुंजेसु वा जाव मक्कडासंताणएसु अहे रयणिमुक्कमउडेसु, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए।

३६. से तणेसु वा, तणपुंजेसु वा जाव मक्कडासंताणएसु उप्पिं रयणिमुक्कमउडेसु, कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए।

३३ जो उपाश्रय तृण तृणपुंज पराल या परालपुंज से बना हो और वह अंडे यावत् मकडी के जालो से रहित हो तथा उस उपाश्रय के छत की ऊंचाई कानो से नीची हो तो ऐसे उपाश्रय मे निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को हेमन्त व ग्रीष्म ऋतु मे रहना नही कल्पता है।

३४. जो उपाश्रय तृण या तृणपुंज से बना हो यावत् मकडी के जालों से रहित हो तथा उस उपाश्रय की छत की ऊंचाई कानो से ऊंची हो तो ऐसे उपाश्रय में निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को हेमन्त तथा ग्रीष्म ऋतु मे रहना कल्पता है।

३५ जो उपाश्रय तृण या तृणपुंज से बना हो यावत् मकडी के जालो से रहित हो किन्तु उपाश्रय के छत की ऊंचाई खड़े व्यक्ति के सिर से ऊपर उठे सीधे दोनो हाथो जितनी ऊंचाई से नीची हो तो ऐसे उपाश्रय मे निर्ग्रन्थ एव निर्ग्रन्थियो को वर्षावास में रहना नही कल्पता है।

३६. जो उपाश्रय तृण या तृणपुंज से बना हो यावत् मकडी के जालो से रहित हो और उस उपाश्रय के छत की ऊंचाई खडे व्यक्ति के सिर से ऊपर उठे सीधे दोनो हाथो जितनी ऊंचाई से अधिक हो, ऐसे उपाश्रय मे निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियो को वर्षावास में रहना कल्पता है।

विवेचन—उपर्युक्त चार सूत्रों मे से प्रथम सूत्र मे यह बतलाया गया है कि जिस उपाश्रय की छत सूखे घास या सूखे धान्य आदि के पलाल भूसा-फूस आदि से बनी हो, जिसमे अण्डे न हो, त्रस जीव भी न हो, हरित अंकुर भी न हो, ओसबिन्दु भी न हो और कीड़ी-मकोडी के घर भी न हों, लीलन-फूलन या कीचड आदि भी न हो और मकड़ी का जाला आदि भी न हो। किन्तु उस छत की

ऊंचाई साधु के कानो से नीची हो तो ऐसे उपाश्रय मे साधु या साध्वियो को हेमन्त और ग्रीष्म काल में भी नहीं रहना चाहिए।

दूसरे सूत्र में बतलाया है—

उक्त प्रकार के उपाश्रय की ऊचाई यदि साधु के कानो से ऊची हो तो उसमे साधु और साध्विया हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे ठहर सकते है।

तीसरे सूत्र में यह बतलाया है कि उक्त प्रकार के शुद्ध उपाश्रय की ऊचाई यदि रत्नि-मुक्तमुकुट से नीची हो तो उस उपाश्रय मे वर्षावास बिताना साधु-साध्वियो को नही कल्पता है।

चौथे सूत्र में यह बताया गया है कि यदि छत की ऊचाई रत्नि-मुक्तमुकुट से ऊची हो तो उसमें साधु-साध्वी वर्षावास रह सकते हैं।

रत्नि नाम हाथ का है। दोनो हाथो को ऊचा करके दोनो अजलियो को मिलाने पर मुकुट जैसा आकार हो जाता है, अतः उसे रत्नि-मुक्तमुकुट कहते हैं।

कान की ऊचाई से भी कम ऊचाई वाले घास की छत वाले मकान मे खडे होने पर घास के स्पर्श से घास या मिट्टी आदि के कण बार-बार नीचे गिरते रहते हैं। अत वहा हेमन्त ग्रीष्म ऋतु मे एक-दो रात रह कर विहार कर देना चाहिए।

चातुर्मास मे लम्बे समय तक रहना निश्चित्त होता है। इतने लम्बे समय मे हाथ ऊचे करने का अनेक बार प्रसग आ सकता है, अत. हाथ ऊचे करने पर घास का स्पर्श न हो इतने ऊचे घास की छत वाले मकान मे चातुर्मास किया जा सकता है।

नीची छत वाले उपाश्रय मे रहने के निषेध का कारण भाष्य मे यह भी बतलाया है कि साधु-साध्वियो को इतने नीचे उपाश्रय मे आते-जाते झुकना पड़ेगा, भीतर भी सीधी रीति से नही खडा हो सकने के कारण वन्दनादि करने मे भी बाधा आएगी। सीधे खड़े होने पर सिर के टकराने का या ऊपर रहने वाले बिच्छू आदि के डक लगने की सम्भावना रहती है।

सूत्र-पठित "अप्पडेसु अप्पपाणेसु" आदि पदो मे 'अल्प' शब्द अभाव अर्थ मे है।

बीज या मृत्तिकादि से युक्त तृणादि वाले उपाश्रय मे ठहरने पर चतुर्लघुक और अनन्तकाय-पनक आदि युक्त उपाश्रय मे ठहरने पर चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है।

इसी प्रकार प्रतिपादित ऊचाई से नीचे उपाश्रय मे रहने पर भी चतुर्लघु प्रायश्चित्त आता है।

भाष्यकार ने यह भी बताया है कि वर्षावास मे उक्त प्रकार के उपाश्रय मे रहते हुए यदि तृणाच्छादन मे साप का निवास प्रतीत हो तो उसे विद्या से मत्रित कर दे। यदि ऐसा न कर सके तो उक्त आच्छादान के नीचे चदोवा बधवा दे। ऐसा भी सम्भव न हो तो ऊपर बांस की चटाई लगा देना चाहिए, जिससे कि ऊपर से साप द्वारा लटककर काटने का भय न रहे, यदि चटाई लगाना भी सम्भव न हो तो रहने वाले साधुओ को चिलमिलिका का उपयोग करना चाहिए।

उपर्युक्त सर्व कथन उस उपाश्रय या वसति का है, जो कि घास-फूस आदि से निर्मित और आच्छादित है या जिसके ऊपरी भाग मे घास आदि रखा हो, किन्तु पत्थर आदि से निर्मित मकान मे रहने का कोई निषेध नही है। फिर भी योग्य ऊंचाई वाले मकान मे रहना संयम एव शरीर के

लिये समाधिकारक होता है। इसलिए योग्य ऊंचाई वाली छत हो, ऐसे मकान मे ही यथासम्भव ठहरना चाहिए।

चौथे उद्देशक का सारांश

सूत्र १	हस्तकर्म, मैथुनसेवन एव रात्रिभोजन का अनुद्घातिक प्रायश्चित्त आता है।
२	तीन प्रकार के दोष सेवन करने पर पाराचिक प्रायश्चित्त आता है।
३	तीन प्रकार के दोष सेवन करने पर अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त आता है।
४-९	तीन प्रकार के नपुसको को दीक्षित, मुंडित या उपस्थापित करना आदि नही कल्पता।
१०-११	तीन अवगुण वाले को वाचना नही देना चाहिए, किन्तु तीन गुण वाले को वाचना देना योग्य है।
१२-१३	तीन प्रकार के व्यक्तियो को समझाना कठिन होता है और तीन प्रकार के व्यक्तियो को समझाना सरल होता है।
१४-१५	सेवा करने वाले के अभिप्राय से स्पर्श आदि करने पर भिक्षु मैथुन सेवन के सकल्प युक्त सुखानुभव करे तो उसे चतुर्थ व्रत के भग होने का प्रायश्चित्त आता है।
१६	प्रथम प्रहर मे ग्रहण किया आहार-पानी चतुर्थ प्रहर मे नही रखना।
१७	दो कोस से आगे आहार-पानी नही ले जाना।
१८	अनाभोग से ग्रहण किये अनेषणीय आहारादि को नही खाना, किन्तु अनुपस्थापित नवदीक्षित भिक्षु खा सकता है।
१९	प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओ को कोई भी औद्देशिक आहार ग्रहण करना नही कल्पता है, अन्य तीर्थंकर के साधुओ को कल्पता है।
२०-२८	अन्य गण मे अध्ययन करने हेतु, गणपरिवर्तन करने हेतु एव अध्ययन कराने हेतु जाना हो तो आचार्य आदि की आज्ञा लेकर सूत्रोक्त विधि से कोई भी साधु या पदवीधर जा सकता है।
२९	कालधर्मप्राप्त भिक्षु को उसके साधर्मिक साधु प्रतिहारिक उपकरण लेकर गाव के बाहर एकान्त मे परठ सकते हैं।
३०	क्लेश को उपशात किये बिना भिक्षु को गोचरी आदि नही जाना चाहिये। क्लेश को उपशात करने पर यथोचित प्रायश्चित्त ही देना एव लेना चाहिए।
३१	आचार्य परिहारतप वहन करने वाले को साथ ले जाकर एक दिन गोचरी दिलवाए, बाद मे आवश्यक होने पर ही वैयावृत्य आदि कर सकते हैं।
३२	अधिक प्रवाह वाली नदियो को एक मास में एक बार से अधिक बार पार नही करना चाहिए, किन्तु जंघार्ध प्रमाण जलप्रवाह वाली नदी को सूत्रोक्त विधि से एक मास मे अनेक बार भी पार किया जा सकता है।

सूत्र ३३-३६ घास के बने मकानो की ऊचाई कम हो तो वहां नही ठहरना चाहिए, किन्तु अधिक ऊचाई हो तो ठहरा जा सकता है ।

उपसंहार

इस उद्देशक मे—

सूत्र १-३	अनुद्घातिक, पाराचिक, अनवस्थाप्य प्रायश्चित्तो का,
४-१३	दीक्षा, वाचना एव शिक्षा के योग्यायोग्यो का,
१४-१५	मैथुन भावो के प्रायश्चित्त का,
१६-१७	आहार के क्षेत्र, काल की मर्यादा का,
१८	अनैषणीय आहार के उपयोग का,
१९	कल्पस्थित अकल्पस्थित के कल्पनीयता का,
२०-२८	अध्ययन आदि के लिए अन्य गण मे जाने का,
२९	कालधर्मप्राप्त भिक्षु को एकान्त मे परठने का,
३०	क्लेश युक्त भिक्षु के रखने योग्य विवेक का,
३१	परिहारतप वाले भिक्षु के प्रति कर्त्तव्यो का,
३२	नदी पार करने के कल्प्याकल्प्य का,
३३-३६	घास वाले मकानो के कल्प्याकल्प्य का,

इत्यादि विषयो का कथन किया गया है ।

॥ चौथा उद्देशक समाप्त ॥

पांचवां उद्देशक

विकुर्वित दिव्य शरीर के स्पर्श से उत्पन्न मैथुनभाव का प्रायश्चित्त

१. देवे य इत्थिरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं पडिग्गाहिज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा मेहुण-पडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

२. देवे य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं पडिग्गाहिज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

३. देवी य इत्थिरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं पडिग्गाहेज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा मेहुण-पडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

४. देवी य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं पडिग्गाहेज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा मेहुण-पडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

१ यदि कोई देव विकुर्वणाशक्ति से स्त्री का रूप बनाकर निर्ग्रन्थ का आलिंगन करे और निर्ग्रन्थ उसके स्पर्श का अनुमोदन करे तो (मैथुनसेवन नही करने पर भी) भावो से मैथुनसेवन के दोष को प्राप्त होता है। अत वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

२ यदि कोई देव विकुर्वणा शक्ति से पुरुष का रूप बनाकर निर्ग्रन्थी का आलिगन करे और निर्ग्रन्थी उसके स्पर्श का अनुमोदन करे तो (मैथुनसेवन नही करने पर भी) भावो से मैथुनसेवन के दोष को प्राप्त होती है। अत वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

३ यदि कोई देवी विकुर्वणा शक्ति से स्त्री का रूप बनाकर निर्ग्रन्थ का आलिगन करे और निर्ग्रन्थ उसके स्पर्श का अनुमोदन करे तो (मैथुनसेवन नही करने पर भी) भावो से मैथुनसेवन के दोष को प्राप्त होता है। अत वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

४ यदि कोई देवी पुरुष का रूप बनाकर निर्ग्रन्थी का आलिगन करे और निर्ग्रन्थी उसके स्पर्श का अनुमोदन करे तो (मैथुनसेवन नही करने पर भी) भावो से मैथुनसेवन के दोष को प्राप्त होती है। अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

विवेचन—इन चार सूत्रो मे केवल मैथुनभावों का प्रायश्चित्त कहा गया है।

किसी निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी को देखकर कोई देव या देवी मनुष्य या मानुषी का रूप बनाकर मैथुन के संकल्पो से निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी का आलिगन आदि करे और इससे विचलित होकर निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी आलिंगनादि से सुखानुभव करे या मैथुनसेवन की अभिलाषा करे तो वे गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त के भागी होते है।

तात्पर्य यह है कि देव या देवी के विकुर्वित स्त्री रूप के स्पर्श का अनुमोदन करने से साधु को प्रायश्चित्त आता है और देव या देवी के विकुर्वित पुरुष रूप के स्पर्श का अनुमोदन करने से साध्वी को प्रायश्चित्त आता है।

कलहकृत आगंतुक भिक्षु के प्रति कर्तव्य

५. भिक्खु य अहिगरण कट्टु तं अहिगरणं अविओसवेत्ता इच्छेज्जा अन्नं गण उवसंपज्जित्ताण विहरित्तए कप्पइ तस्स पंच राइंदिय छेयं कट्टु परिणिव्वाविय-परिणिव्वाविय दोच्च पि तमेव गणं पडिनिज्जाएयव्वे सिया, जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया।

५ भिक्षु कलह करके उसे उपशान्त किये बिना अन्यगण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो उसे पाच दिन-रात की दीक्षा का छेद देकर और सर्वथा शान्त-प्रशान्त करके पुन. उसी गण मे लौटा देना चाहिये अथवा जिस गण से वह आया है, उस गण को जिस प्रकार से प्रतीति हो उसी तरह करना चाहिए।

विवेचन -इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि यदि कोई भिक्षु किसी कारण से क्रोधित होकर अन्यगण मे चला जावे तो उस गण के स्थविरो को चाहिए कि उसे उपदेश देकर शान्त करे और पाच दिन की दीक्षा का छेदन कर पूर्व के गण मे वापिस भेज दे। जिससे उस गण के निर्ग्रन्थ भिक्षुओ को यह विश्वास हो जाए कि अब इस निर्ग्रन्थ भिक्षु का क्रोध उपशान्त हो गया है।

यदि उपाध्याय किसी कारण से क्रोधित होकर अन्यगण मे चले जाएँ तो उस गण के स्थविर उन्हे भी कोमल वचनो से प्रशान्त करे और उनकी दश अहोरात्र प्रमाण दीक्षा का छेदन कर उन्हे पूर्व के गण मे लौटा दें।

यदि आचार्यादि भी क्रोधित होकर अन्यगण मे चले जाएँ तो उन्हे भी उस गण के स्थविर कोमल वचनो से शान्त करे और उनकी पन्द्रह अहोरात्र प्रमाण दीक्षा का छेदन कर उन्हे पूर्व के गण मे लौटा दे।

कषाय का व्यापक प्रभाव बताते हुए भाष्यकार ने कहा कि देशोन कोटि (करोड) पूर्वकाल तक तपश्चरण करके जिस चारित्र का उपार्जन किया है वह एक मुहूर्त प्रमाण काल तक की गई कषाय से नष्ट हो जाता है। अत निर्ग्रन्थ भिक्षु को कषाय नही करना चाहिए। यदि कदाचित् कषाय उत्पन्न हो जाए तो उसे तत्काल शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अपने गण को छोडकर अन्य गण मे आये हुए भिक्षु आदि समझाने पर भी पुन. अपने गण मे जाना न चाहे तो उस गण के स्थविर सामान्य भिक्षु की दश अहोरात्र, उपाध्याय की पन्द्रह अहोरात्र और आचार्य की बीस अहोरात्र दीक्षा का छेदन कर अपने गण मे रख सकते है, किन्तु रखने के पूर्व सम्भव हो तो उस गण से उसकी जानकारी एव स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिए।

रात्रिभोजन के अतिचार का विवेक एवं प्रायश्चित्तविधान

६. भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमिय-संकप्पे संथडिए निव्वितिगिच्छे असणं वा जाव साइमं वा पडिग्गाहेत्ता आहारं आहारेमाणे अह पच्छा जाणेज्जा—

अणुग्गए सूरिए, अत्थमिए वा से जं च आसयंसि, जं च पाणिंसि, जं च पडिग्गहे तं विगिंचमाणे वा, विसोहेमाणे वा णो अइक्कमइ ।

तं अप्पणा भुंजमाणे, अन्नेसिं वा दलमाणे, राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

७. भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे संथडिए विइगिच्छासमावण्णे असण वा जाव साइम वा पडिग्गाहित्ता आहारं आहारेमाणे अह पच्छा जाणेज्जा—

अणुग्गए सूरिए, अत्थमिए वा से ज च आसयंसि, ज च पाणिंसि, जं च पडिग्गहे तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ ।

तं अप्पणा भुंजमाणे, अन्नेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

८ भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे असंथडिए निव्वितिगिच्छे असणं वा जाव साइमं वा पडिग्गाहेत्ता आहार आहारेमाणे अह पच्छा जाणेज्जा—

अणुग्गए सूरिए, अत्थमिए वा से जं च आसयंसि, जं च पाणिंसि, जं च पडिग्गहे तं विगिंचमाणे वा, विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ ।

त अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाण अणुग्घाइय ।

९ भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे असंथडिए विइगिच्छासमावण्णे असणं वा जाव साइम वा पडिग्गाहेत्ता आहारं आहारेमाणे अह पच्छा जाणेज्जा—

अणुग्गए सूरिए, अत्थमिए वा से ज च आसयंसि, ज च पाणिंसि, जं च पडिग्गहे तं विगिंचमाणे वा, विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ ।

तं अप्पणा भुंजमाणे, अन्नेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाण अणुग्घाइयं ।

६. सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्व भिक्षाचर्या करने की प्रतिज्ञा वाला तथा सूर्योदय या सूर्यास्त के सम्बन्ध मे असदिग्ध-समर्थ-भिक्षु अशन यावत् स्वादिम ग्रहण कर आहार करता हुआ यदि यह जाने कि—

सूर्योदय नही हुआ है अथवा सूर्यास्त हो गया है, तो उस समय जो आहार मुह में है, हाथ मे है, पात्र मे है उसे परठ दे तथा मुख आदि की शुद्धि कर ले तो वह जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है ।

यदि उस आहार को वह स्वयं खावे या अन्य निर्ग्रन्थ को दे तो उसे रात्रिभोजनसेवन का दोष लगता है । अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है ।

७ सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्व भिक्षाचर्या करने की प्रतिज्ञा वाला किन्तु सूर्योदय या सूर्यास्त के सम्बन्ध मे सदिग्ध-समर्थ-भिक्षु अशन यावत् स्वादिम ग्रहण कर आहार करता हुआ यदि यह जाने कि—

सूर्योदय नही हुआ है या सूर्यास्त हो गया है, तो उस समय जो आहार मु ह में है, हाथ मे है, पात्र मे है उसे परठ दे तथा मुख आदि की शुद्धि कर ले तो वह जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

यदि उस आहार को वह स्वय खावे या अन्य निर्ग्रन्थ को दे तो उसे रात्रिभोजनसेवन का दोष लगता है अत. वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

८. सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्व भिक्षाचर्या करने की प्रतिज्ञा वाला तथा सूर्योदय या सूर्यास्त के सम्बन्ध मे असदिग्धअ-समर्थ-भिक्षु अशन यावत् स्वादिम ग्रहण कर आहार करता हुआ यदि यह जाने कि—सूर्योदय नही हुआ है या सूर्यास्त हो गया है तो उस समय जो आहार मु ह मे है, हाथ मे है, पात्र मे है उसे परठ दे तथा मुख आदि की शुद्धि कर ले तो वह जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

यदि उस आहार को वह स्वय खावे या अन्य निर्ग्रन्थ को दे तो उसे रात्रिभोजनसेवन का दोष लगता है। अत वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

९ सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्व भिक्षाचर्या करने की प्रतिज्ञा वाला किन्तु सूर्योदय या सूर्यास्त के सम्बन्ध मे सदिग्ध-असमर्थ-भिक्षु अशन यावत् स्वादिम ग्रहण कर आहार करता हुआ यह जाने कि 'सूर्योदय नही हुआ है या सूर्यास्त हो गया है तो उस समय जो आहार मु ह मे है, हाथ मे है, पात्र मे है उसे परठ दे तथा मुख आदि की शुद्धि कर ले तो वह जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

यदि उस आहार को वह स्वय खावे या अन्य निर्ग्रन्थ को दे तो उसे रात्रिभोजनसेवन का दोष लगता है। अत वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन—प्रस्तुत इन चार सूत्रो मे—

प्रथम सूत्र सस्तृत एव निर्विचिकित्स निर्ग्रन्थ की अपेक्षा से कहा गया है।

द्वितीय सूत्र सस्तृत एव विचिकित्स निर्ग्रन्थ की अपेक्षा से कहा गया है।

तृतीय सूत्र असस्तृत एव निर्विचिकित्स निर्ग्रन्थ की अपेक्षा से कहा गया है।

चतुर्थ सूत्र असस्तृत एव विचिकित्स निर्ग्रन्थ की अपेक्षा से कहा गया है।

संस्तृत—शब्द का अर्थ है- समर्थ, स्वस्थ और प्रतिदिन पर्याप्तभोजी भिक्षु।

असंस्तृत—शब्द का अर्थ है--असमर्थ, अस्वस्थ तथा तेला आदि तपश्चर्या करने वाला तपस्वी भिक्षु।

असस्तृत तीन प्रकार के होते हैं—१. तप-असस्तृत, २. ग्लान-असस्तृत, ३ अध्वान-असस्तृत।

१ तप-असस्तृत—तपश्चर्या करने से जो निर्ग्रन्थ असमर्थ हो गया है।

२ ग्लान-असस्तृत—रोग आदि से जो निर्ग्रन्थ अशक्त हो गया है।

३ अध्वान-असस्तृत—मार्ग की थकान से जो निर्ग्रन्थ क्लान्त हो गया है।

विचिकित्स—पद का का अर्थ है सूर्योदय हुआ या नही अथवा सूर्यास्त हुआ या नही, इस प्रकार के सशय वाला भिक्षु ।

निर्विचिकित्स—पद का अर्थ है सशयरहित—अर्थात् 'सूर्योदय हो गया है' या 'सूर्यास्त नही हुआ है'—इस प्रकार के निश्चय वाला निर्ग्रन्थ ।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिया एक देश से अन्य देश मे जाते समय बीच मे पडने वाले बडे अरण्य-प्रदेशो मे आत्मसुरक्षा के लिए कदाचित सार्थवाहो के साथ विहार करें । वह सार्थवाह जहा सूर्यास्त हो वही पडाव डालकर ठहर जावे । सूर्योदय होते ही आगे चल देवे । ऐसे पड़ावो पर सामने से आने-जाने वाले सार्थवाह भी कभी-कभी एक साथ ही ठहर जावे । उस समय मेघाच्छन्न आकाश मे सूर्य न दिखने पर सूर्योदय का भ्रम हो जाने से सार्थवाह आगे के लिए प्रस्थान कर दे तब नया आने वाला सार्थवाह निर्ग्रन्थो या निर्ग्रन्थियो को आहार देना चाहे तो 'सूर्योदय हो गया है' इस सकल्प से आहारादि लेना सम्भव है और उसका सेवन करना भी सम्भव है ।

उसी समय बादल दूर हो जाए और उषाकालीन प्रभा दिख जाए या सूर्योदय होता हुआ दिख जाए तो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी को वह आहार परठ देना चाहिए । अन्यथा वह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त का भागी होता है । अन्य विवेचन निशीथ उ १०, सूत्र २८ मे देखें । वहा भी ये चार सूत्र इसी प्रकार के कहे गये है ।

उद्गाल सम्बन्धी विवेक एवं प्रायश्चित्त-विधान

१० इह खलु निग्गंथस्स वा निग्गंथीए वा राओ वा वियाले वा सपाणे सभोयणे उग्गाले आगच्छेज्जा, तं विगिचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ ।

त उग्गलित्ता पच्चोगिलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

१० यदि किसी निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी को रात्रि मे या विकाल (सन्ध्या) मे पानी और भोजन सहित उद्गाल आये तो उस समय वह उसे थूक दे और मुह शुद्ध कर ले तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही रहता है ।

यदि वह उद्गाल को निगल जावे तो उसे रात्रि-भोजनसेवन का दोष लगता है और वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है ।

विवेचन—जब कभी कोई साधु मात्रा से अधिक खा-पी लेता है, तब उसे उद्गाल आता है और पेट का अन्न और पान मुख मे आ जाता है । इसलिए गुरुजनो का उपदेश है कि साधु को सदा मात्रा से कम ही खाना-पीना चाहिए ।

कदाचित् साधु के अधिक मात्रा में आहार-पान हो जाए और रात मे या सायकाल मे उद्गाल आ जाए तो उसे सूत्रोक्त विधि के अनुसार वस्त्र आदि से मुख को शुद्ध कर लेना चाहिए । जो उस उगाल आये भक्त-पान को वापस निगल जाता है वह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त का भागी होता है । इस विषय को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने एक रूपक दिया है ।

जैसे कडाही में मात्रा से कम दूध आदि ओटाया या रांधा जाता है तो वह उसके भीतर ही उबलता पकता रहता है, बाहर नही आता किन्तु जब कडाही में भर-पूर दूध या अन्य कोई पदार्थ भर कर ओंटाया या पकाया जाता है तब उसमे उबाल आकर कड़ाही से बाहर निकल जाता है और कभी तो वह चूल्हे की आग तक को बुझा देता है ।

इसी प्रकार मर्यादा से अधिक आहार करने मे उद्गाल आ जाता है और कम आहार करने से उद्गाल नही आता है । ऐसा ही प्रायश्चित्तसूत्र निशीथ उ १० मे भी है ।

संसक्त आहार के खाने एवं परठने का विधान

११. निग्गंथस्स य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतो पडिग्गहंसि पाणाणि वा, बीयाणि वा, रए वा परियावज्जेज्जा, तं च संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहित्तए वा, तं पुव्वामेव विगिंचिय विसोहिय, तओ संजयामेव भुंजेज्ज वा, पिएज्ज वा ।

तं च नो संचाएइ विगिंचित्तए वा, विसोहित्तए वा, तं नो अप्पणो भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं दावए, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया ।

११. गृहस्थ के घर मे आहार-पानी के लिए प्रविष्ट हुए साधु के पात्र मे कोई प्राणी, बीज या सचित्त रज पड जाए और यदि उसे पृथक् किया जा सके, विशोधन किया जा सके तो उसे पहले पृथक् करे या विशोधन करे, उसके बाद यतनापूर्वक खावे या पीवे ।

यदि उसे पृथक् करना या विशोधन करना सम्भव न हो तो उसका न स्वय उपभोग करे और न दूसरो को दे, किन्तु एकात और प्रासुक स्थडिल-भूमि मे प्रतिलेखन प्रमार्जन करके परठ दे ।

विवेचन—गोचरी के लिए गए हुए साधु या साध्वी को सर्वप्रथम आहार देने वाले व्यक्ति के हाथ मे लिए हुए अन्नपिड का निरीक्षण करना चाहिए कि यह शुद्ध है या नही । जीवादि तो उसमे नही हैं ? यदि शुद्ध एव जीवरहित दिखे तो ग्रहण करे, अन्यथा नही । देख कर या शोध कर यतना से ग्रहण करते हुए उक्त अन्न-पिंड के पात्र मे दिये जाने पर पुन देखना चाहिए कि पात्र मे अन्नपिड देते समय कोई मक्खी आदि तो नही दब गई है, या ऊपर से आकर तो नही बैठ गई है, या अन्य कीड़ी आदि तो नही चढ़ गई है ? यदि साधु या साध्वी इस प्रकार सावधानीपूर्वक निरीक्षण न करे तो लघुमास के प्रायश्चित्त का पात्र होता है ।

कदाचित् गृहस्थ द्वारा आहार देते समय साधु का उपयोग अन्यत्र हो और गृहस्थ के घर से निकलते ही उसका ध्यान आहार की ओर जावे कि मैं पात्र मे लेते समय जीवादि का निरीक्षण नही कर पाया हू तो सात कदम जाए जितने समय के भीतर ही किसी स्थान पर खडे होकर उसका निरीक्षण करना चाहिए । यदि उपाश्रय समीप हो तो वहा जाकर निरीक्षण करना चाहिए और निरीक्षण करने पर यदि त्रस प्राणी चलते-फिरते दीखे तो उन्हे यतना से एक-एक करके बाहर निकाल देना चाहिए । इसी प्रकार यदि आहार में मृत जीव दीखे या सचित्त बीजादि दीखे अथवा सचित्त-पत्रादि से मिश्रित आहार दीखे और उनका निकालना सभव हो तो विवेकपूर्वक निकाल देना चाहिए । यदि उनका निकालना सभव न हो तो उसे एकान्त निर्जीव भूमि पर परठ देना चाहिए ।

भाष्यकार ने यह भी कहा है कि परठते समय साधु इस बात का भी ध्यान रखे कि जिस गृहस्थ के यहा से आहार लाये हैं वह देख तो नही रहा है ? उसकी आंखो से ओझल ही परठना चाहिए। अन्यथा वह निन्दा करेगा कि देखो ये साधु कैसे उन्मत्त हैं जो ऐसे दुर्लभ आहार को ग्रहण करके भी फेंक देते हैं।

इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि कोई भी सचित्त पदार्थ या सचित्तमिश्रित खाद्य पदार्थ असावधानी से ग्रहण कर लिया जाए और सचित्त पदार्थ शोधन हो सके तो उनका शोधन करके अचित्त आहार खाया जा सकता है। यदि सचित्त पदार्थ ऐसे मिश्रित हो कि उनका निकालना सम्भव न हो तो वह मिश्रित आहार भी परठ देना चाहिए।

जैसे—१ दही मे प्याज के टुकडे, २ शक्कर मे नमक, ३. सूखे ठंडे चूरमे आदि मे गिरे हुए खशखश आदि के बीज, ४ घेवर या फीणी आदि मे कीड़ियो आदि का निकालना सम्भव कम होता है और फूलन एव रसज जीवो से ससक्त आहार भी शुद्ध नही हो सकता है, अत· ये परठने योग्य हैं।

सचित्त जल-बिन्दु गिरे आहार को खाने एवं परठने का विधान

१२ निग्गथस्स य गाहावइकुल पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतो पडिग्गहंसि दए वा, दगरए वा, दगफुसिए वा परियावज्जेज्जा से य उसिणभोयणजाए परिभोत्तव्वे सिया।

से य सीयभोयणजाए तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं दावए, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया।

१२ गृहस्थ के घर मे आहार-पानी के लिए प्रविष्ट साधु के पात्र मे यदि सचित्त जल, जल-बिन्दु या जलकण गिर जाए और वह आहार उष्ण हो तो उसे खा लेना चाहिए।

वह आहार यदि शीतल हो तो न खुद खावे न दूसरो को दे किन्तु एकान्त और प्रासुक स्थडिलभूमि मे परठ देना चाहिए।

विवेचन—पूर्व सूत्र मे ससक्त आहार सम्बन्धी विधि का कथन किया गया है और प्रस्तुत सूत्र मे यह बताया गया है कि वर्षा से या अन्य किसी की असावधानी से ग्रहण किए हुए आहार पर सचित्त पानी या पानी की बूंदे अथवा बारीक छींटे उछलकर गिर जाएँ तो भिक्षु यह जानकारी करे कि वह आहार उष्ण है या शीतल ? यदि उष्ण है तो पानी की बूंदे अचित्त हो जाने से उस आहार को खाया जा सकता है। यथा—खीचडी, दूध, दाल आदि गर्म पदार्थ।

यदि ग्रहण किया हुआ भोजन शीतल है तो उसे नही खाना चाहिये किन्तु परठ देना चाहिए, यथा—खाखरा रोटी आदि।

इस सूत्र के भाष्य—गाथा. ५९१०-५९१२ मे स्पष्टीकरण करते हुए शीतल आहार की मात्रा एव स्पर्श आदि के विकल्प (भग) किए हैं एव गिरी हुई पानी की बूंदो आदि को खाद्य पदार्थ से शस्त्रपरिणत होने या नही होने की अवस्थाए बताई गई हैं। उनका साराश यह है—'व्याख्यातो विशेषप्रतिपत्तिः' अत. पानी की मात्रा एव शीत या उष्ण आहार की मात्रा और स्पर्श आदि के

अनुपात से पानी के अचित्त होने का स्वत: निर्णय करना चाहिए एव अचित्त हो जाए तो खाना चाहिए और सचित्त रहे तो परठ देना चाहिए ।

आगमो मे अनेक खाद्य पदार्थों के अश युक्त पानी को अचित्त एवं ग्राह्य बताया गया है, अत· शीतल आहार पर गिरी हुई पानी की बू दो के शस्त्रपरिणत होने की पूर्ण सम्भावना रहती है । जिस प्रकार गर्म आहार पर गिरी बू दे अचित्त हो जाने के कारण वह आहार खाया जा सकता है, वैसे ही कालान्तर से वह शीतल आहार भी खाया जाए तो उसमें कोई दोष नही है ।

उष्ण आहार मे पानी की बू दो का तत्काल अचित्त हो जाना निश्चित है और शीतल आहार मे गिरी पानी की बू दो का अचित्त होना अनिश्चित है अथवा कालान्तर मे अचित्त होती हैं । इसी कारण से सूत्र मे दोनो के विधानो मे अन्तर किया गया है ।

पशु-पक्षी के स्पर्शादि से उत्पन्न मैथुनभाव के प्रायश्चित्त

१३. निग्गंथीए य राओ वा वियाले वा उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा विसोहेमाणीए वा अन्नयरे पसुजाइए वा पक्खिजाइए वा अन्नयरं इंदियजायं परामुसेज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा हत्थकम्म-पडिसेवणपत्ता आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

१४. निग्गंथीए य राओ वा वियाले वा उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा अन्नयरे पसुजाइए वा पक्खिजाइए वा अन्नयरंसि सोयंसि ओगाहेज्जा तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाण अणुग्घाइयं ।

१३. यदि कोई निर्ग्रन्थी रात्रि मे या विकाल मे मल-मूत्र का परित्याग करे या शुद्धि करे उस समय किसी पशु-पक्षी से निर्ग्रन्थी की किसी इन्द्रिय का स्पर्श हो जाए और उस स्पर्श का वह (यह सुखद स्पर्श है इस प्रकार) मैथुनभाव से अनुमोदन करे तो उसे हस्तकर्म दोष लगता है, अत वह अनुद्घातिक मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है ।

१४ यदि कोई निर्ग्रन्थी रात्रि मे या विकाल मे मल-मूत्र का परित्याग करे या शुद्धि करे, उस समय कोई पशु-पक्षी निर्ग्रन्थी के किसी श्रोत का अवगाहन करे और उसका वह 'यह अवगाहन सुखद है' इस प्रकार मैथुनभाव से अनुमोदन करे तो (मैथुनसेवन नही करने पर भी) उसे मैथुन-सेवन का दोष लगता है । अत वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है ।

विवेचन—ये दोनो सूत्र ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा के लिए कहे गये है, यदि कोई साध्वी रात्रि या सन्ध्या के समय मल-मूत्र परित्याग कर रही हो और उस समय कोई वानर, हरिण, श्वान आदि पशु या मयूर, हस आदि पक्षी अकस्मात् आकर साध्वी के किसी अग का स्पर्श करे और साध्वी उस स्पर्श के सुखद होने का अनुभव करे तो वह हस्तमैथुन-प्रतिसेवना की पात्र होती है और उसे इसका प्रायश्चित्त गुरुमासिक तप बतलाया गया है ।

यदि उक्त पशु या पक्षियो मे से किसी के अंग उस साध्वी के गुह्य प्रदेश में प्रविष्ट हो जाए और उससे वह रति-सुख का अनुभव करे तो वह मैथुन-प्रतिसेवना की पात्र होती है । उसकी शुद्धि के लिए गुरुचातुर्मासिक तप का विधान किया गया है ।

भाष्यकार लिखते हैं कि जहा पर वानरादि का या मयूरादि पक्षियो का संचार अधिक हो ऐसे स्थान पर साध्वियों को अकेले मल-मूत्र परित्याग के लिए नही जाना चाहिए। यदि जाना भी पड़े तो दण्ड को हाथ में लिए हुए किसी दूसरी साध्वी के साथ जाना चाहिए जिससे उन पशु-पक्षियो के समीप आने पर उनका निवारण किया जा सके। दिन मे भी साध्वियों को मल-मूत्र परित्याग के लिए दण्ड हाथ मे लेकर जाना चाहिए।

साध्वी को एकाकी गमन करने का निषेध

१५. नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

१६. नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

१७ नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए गामाणुगामं दूइज्जित्तए, वासावासं वा वत्थए।

१५. अकेली निर्ग्रन्थी को आहार के लिए गृहस्थ के घर मे आना-जाना नही कल्पता है।

१६. अकेली निर्ग्रन्थी को शौच के लिए तथा स्वाध्याय के लिए उपाश्रय से बाहर आना-जाना नही कल्पता है।

१७. अकेली निर्ग्रन्थी को एक गाव से दूसरे गाव विहार करना तथा वर्षावास करना नही कल्पता है।

विवेचन—निर्ग्रन्थी को किसी स्थान पर अकेले रहना या अकेले कही आना-जाना योग्य नही है, क्योकि स्त्री को अकेले देखकर दुराचारी मनुष्य के द्वारा आक्रमण और बलात्कार की सम्भावना रहती है। इसी कारण गोचरी के लिए उसे किसी गृहस्थ के घर मे भी अकेले नही जाना चाहिए।

मल-परित्याग के लिए ग्रामादि के बाहर जो भी स्थान हो, उसे 'विचारभूमि' कहते हैं और स्वाध्याय के लिये जो भी शांत स्थान हो उसे 'विहारभूमि' कहते है। इन भूमियों पर अकेले जाना, ग्रामानुग्राम विहार करना और अकेले किसी स्थान पर वर्षावास करना भी साध्वी के लिए निषिद्ध है।

साध्वी को वस्त्र-पात्ररहित होने का निषेध

१८. नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए होत्तए।

१९. नो कप्पइ निग्गंथीए अपाइयाए होत्तए।

१८. निर्ग्रन्थी को वस्त्ररहित होना नही कल्पता है।

१९ निर्ग्रन्थी को पात्ररहित होना नही कल्पता है।

विवेचन—साध्वी के लिए अचेल होना और जिनकल्पी होना भी निषिद्ध है। सर्वज्ञप्ररूपित धर्म मे अचेल रहना विहित है फिर भी साध्वी के लिए लोकापवाद पुरुषाकर्षण आदि अनेक कारणों से वस्त्ररहित होना सर्वथा निषिद्ध है।

भक्त-पानादि के पात्र नही रखने पर साध्वी के आहार-नीहार का करना सम्भव नहीं है।

वस्त्र त्यागकर कायोत्सर्ग करना भी साध्वी के लिए निषिद्ध है, क्योंकि उस दशा में काम-प्रेरित तरुण जनो के द्वारा उपसर्गादि की सम्भावना रहती है।

साध्वी को प्रतिज्ञाबद्ध होकर आसनादि करने का निषेध

२० नो कप्पइ निग्गंथीए वोसट्ठकाइयाए होत्तए।

२१ नो कप्पइ निग्गंथीए बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय-पगिज्झिय सूराभिमुहीए एगपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावेत्तए।

कप्पइ से उवस्सयस्स अंतोवगडाए संघाडिपडिबद्धाए पलंबियबाहुयाए समतलपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावेत्तए।

२२. नो कप्पइ निग्गंथीए ठाणाइयाए होत्तए।

२३ नो कप्पइ निग्गंथीए पडिमट्ठाइयाए होत्तए।

२४ नो कप्पइ निग्गंथीए उक्कुडुयासणियाए होत्तए।

२५ नो कप्पइ निग्गंथीए निसज्जियाए होत्तए।

२६. नो कप्पइ निग्गंथीए वीरासणियाए होत्तए।

२७ नो कप्पइ निग्गंथीए दण्डासणियाए होत्तए।

२८. नो कप्पइ निग्गंथीए लगण्डसाइयाए होत्तए।

२९. नो कप्पइ निग्गंथीए ओमंथियाए होत्तए।

३० नो कप्पइ निग्गंथीए उत्ताणियाए होत्तए।

३१ नो कप्पइ निग्गंथीए अम्बखुज्जियाए होत्तए।

३२ नो कप्पइ निग्गंथीए एगपासियाए होत्तए।

२० निर्ग्रन्थी को सर्वथा शरीर वोसिराकर रहना नहीं कल्पता है।

२१. निर्ग्रन्थी को ग्राम यावत् राजधानी के बाहर भुजाओं को ऊपर की ओर करके, सूर्य की ओर मुंह करके तथा एक पैर से खडे होकर आतापना लेना नही कल्पता है।

किन्तु उपाश्रय के अन्दर पर्दा लगाकर के भुजाए नीचे लटकाकर दोनो पैरो को समतल करके खड़े होकर आतापना लेना कल्पता है।

२२. निर्ग्रन्थी को खड़े होकर कायोत्सर्ग करने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

२३. निर्ग्रन्थी को एक रात्रि आदि कायोत्सर्ग करने का अभिग्रह करना नही कल्पता है।

२४. निर्ग्रन्थी को उत्कुटुकासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नही कल्पता है।

२५. निर्ग्रन्थी को निषद्याओ से स्थित रहने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

२६. निर्ग्रन्थी को वीरासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नही कल्पता है।

२७ निर्ग्रन्थी को दण्डासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नही कल्पता है।

२८. निर्ग्रन्थी को लकुटासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नही कल्पता है।

२९. निर्ग्रन्थी को अधोमुखी सोकर स्थित रहने का अभिग्रह करना नही कल्पता है।

३०. निर्ग्रन्थी को उत्तानासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नही कल्पता है।

३१. निर्ग्रन्थी को आम्र-कुब्जिकासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नही कल्पता है।

३२. निर्ग्रन्थी को एक पार्श्व से शयन करने का अभिग्रह करना नही कल्पता है।

विवेचन—शरीर को सर्वथा वोसिराकर मनुष्य तिर्यंच या देव सम्बन्धी उपसर्ग सहन करना साध्वी के लिये निषिद्ध है।

साध्वी यदि आतापना लेना चाहे तो ग्रामादि के बाहर न जाकर अपने उपाश्रय के अन्दर ही सूत्रोक्त विधि से आतापना ले सकती है।

समय निश्चित कर लम्बे काल के लिये खड़े रहकर कायोत्सर्ग करना भी साध्वी के लिये निषिद्ध है।

भिक्षु की १२ प्रतिमाए, मोयपडिमा आदि प्रतिमाए, जो एकाकी रहकर की जाती हैं, वे भी साध्वी के लिये निषिद्ध है।

समय निश्चित करके पाच प्रकार के निषद्यासन से भी बैठना साध्वी को निषिद्ध है।

पाच प्रकार की निषद्या इस प्रकार है—

१. समपादपुता—जिसमें दोनों पैर पुत-भाग का स्पर्श करे, २. गो-निषद्यका—गाय के समान बैठना। ३. हस्तिशुण्डिका—दोनो पुतो के बल बैठकर एक पैर हाथी की सूंड के समान उठाकर बैठना। ४. पर्यंका—पद्मासन से बैठना और ५. अर्धपर्यंका—अर्ध पद्मासन अर्थात् एक पैर के ऊपर दूसरा पैर रखकर बैठना।

साध्वियों को इन पाचों ही प्रकार की निषद्याओं से अभिग्रह करके बैठने का निषेध किया गया है।

सूत्र २६ से ३३ तक कहे गये आठ आसन भी साध्वी को समय निश्चित करके करना निषिद्ध है। इन आसनो का स्वरूप दशा. दशा. ७ मे किया गया है, वहा से समझा जा सकता है।

भाष्यकार ने इन सभी साधनाओ के निषेध का कारण यह बताया है कि उस दशा मे कामप्रेरित तरुण जनों के द्वारा उपसर्गादि की सम्भावना रहती है। निश्चित समय पूर्ण होने के पूर्व वह सम्भल कर सावधान नही हो सकती है।

समय निर्धारित किये बिना साध्वी किसी भी आसन से खड़ी रहे, बैठे या सोए तो उसका इन सूत्रो मे निषेध नही है। भाष्य मे भी कहा है—

> **वीरासण गोदोही मुत्तु सव्वे वि ताण कप्पंति।**
> **ते पुण पडुच्च चेट्ठ, सुत्ता उ अभिग्गहं पप्पा॥ ५९५६॥**

वीरासन और गोदोहिकासन को छोड़कर प्रवृत्ति की अपेक्षा सभी आसन साध्वी को करने कल्पते हैं। सूत्रो मे जो निषेध किया है वह अभिग्रह की अपेक्षा से किया है।

वीरासन और गोदुहिकासन ये स्त्री की शारीरिक समाधि के अनुकूल नही होते है, इसी कारण से भाष्यकार ने निषेध किया है।

यद्यपि अभिग्रह आदि साधनाए विशेष निर्जरा के स्थान हैं, फिर भी साध्वी के लिये ब्रह्मचर्य महाव्रत की सुरक्षा मे बाधक होने से इनका निषेध किया गया है। भाष्य मे विस्तृत चर्चा सहित इस विषय को स्पष्ट किया गया है तथा वहा अगीतार्थ भिक्षुओ को भी इन अभिग्रहो के धारण करने का निषेध किया है।

आकुंचनपट्टक के धारण करने का विधि-निषेध

३३. नो कप्पइ निग्गंथीण आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा, परिहरित्तए वा।

३४. कप्पइ निग्गंथाणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा, परिहरित्तए वा।

३३. निर्ग्रन्थियो को आकुंचनपट्टक रखना या उपयोग मे लेना नही कल्पता है।

३४. निर्ग्रन्थो को आकुंचनपट्टक रखना या उपयोग मे लेना कल्पता है।

विवेचन—'आकुंचनपट्टक' का दूसरा नाम 'पर्यस्तिकापट्टक' है। यह चार अगुल चौडा एव शरीरप्रमाण जितना सूती वस्त्र का होता है। भीत आदि का सहारा न लेना हो तब इसका उपयोग किया जाता है।

जहां दीवार आदि पर उदई आदि जीवो की सम्भावना हो और वृद्ध ग्लान आदि का अवलम्बन लेकर बैठना आवश्यक हो तो इस पर्यस्तिकापट्ट से कमर को एवं घुटने ऊचे करके पैरों को बाँध देने पर आराम कुर्सी के समान अवस्था हो जाती है और दीवार का सहारा लेने के समान शरीर को आराम मिलता है।

पर्यस्तिकापट्टक लगाकर इस तरह बैठना गर्वयुक्त आसन होता है। साध्वी के लिये इस प्रकार बैठना शरीर-संरचना के कारण लोक निन्दित होता है, इसलिये सूत्र मे उनके लिये पर्यस्तिकापट्टक का निषेध किया गया है।

भाष्यकार ने बताया है कि अत्यन्त आवश्यक होने पर साध्वी को पर्यस्तिकापट्टक लगाकर उसके ऊपर वस्त्र ओढ़कर बैठने का विवेक रखना चाहिए। साधु को भी सामान्यतया पर्यस्तिकापट्टक नहीं लगाना चाहिये, क्योकि विशेष परिस्थिति मे उपयोग करने के लिये यह औपग्रहिक उपकरण है।

अवलम्बनयुक्त आसन के विधि-निषेध

३५. नो कप्पइ निग्गंथीणं सावस्सयंसि आसणंसि आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा।

३६. कप्पइ निग्गंथाणं सावस्सयंसि आसणंसि आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा।

३५ निर्ग्रन्थी को सावश्रय (अवलम्बनयुक्त) आसन पर बैठना या शयन करना नही कल्पता है।

३६ निर्ग्रन्थ को सावश्रय आसन पर बैठना या शयन करना कल्पता है।

विवेचन—पूर्वोक्त सूत्रो मे अवलम्बन लेने के लिये पर्यस्तिकापट्टक का कथन किया गया है और इन सूत्रो मे अवलम्बनयुक्त कुर्सी आदि आसनो का वर्णन है। आवश्यक होने पर भिक्षु इन साधनो का उपयोग कर सकता है। इनके न मिलने पर पर्यस्तिकापट्ट का उपयोग किया जाता है। जिन भिक्षुओ को पर्यस्तिकापट्ट की सदा आवश्यकता प्रतीत होवे उसे अपने पास रख सकते हैं। क्योंकि कुर्सी आदि साधन सभी क्षेत्रो मे उपलब्ध नही होते।

पूर्वोक्त दोषो के कारण ही साध्वी को अवलम्बनयुक्त इन आसनो का निषेध किया गया है।

साधु-साध्वी कभी सामान्य रूप से भी कुर्सी आदि उपकरण उपयोग मे लेना आवश्यक समझे तो अवलम्बन लिये बिना वे उनका विवेक पूर्वक उपयोग कर सकते हैं।

सविसाण पीठ आदि के विधि-निषेध

३७. नो कप्पइ निग्गंथीणं सविसाणंसि पीढंसि वा फलगंसि वा आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा।

३८. कप्पइ निग्गंथाणं सविसाणंसि पीढंसि वा फलगंसि वा आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा।

३७. साध्वियो को सविषाण पीठ (बैठने की काष्ठ चौकी आदि) या फलक (सोने का पाटा आदि) पर बैठना या शयन करना नही कल्पता है।

३८. साधुओ को सविषाण पीठ पर या फलक पर बैठना या शयन करना कल्पता है।

विवेचन—पीढ़ा या फलक पर सीग जैसे ऊचे उठे हुए छोटे-छोटे स्तम्भ होते हैं। वे गोल एवं चिकने होने से पुरुष चिह्न जैसे प्रतीत होते है। इसलिये इनका उपयोग करना साध्वी के लिए निषेध

किया गया है। साधु को भी अन्य पीठ-फलक मिल जाये तो विषाणयुक्त पीठ-फलक आदि उपयोग मे नही लेने चाहिए। क्योंकि सावधानी न रहने पर इनकी टक्कर से गिरने की या चोट लगने की सम्भावना रहती है और नुकीले हो तो चुभने की सम्भावना रहती है।

सवृंत तुम्ब-पात्र के विधि-निषेध

३९. नो कप्पइ निग्गंथीणं सवेण्टयं लाउयं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा।

४० कप्पइ निग्गंथाण सवेण्टयं लाउयं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा।

३९. साध्वियो को सवृन्त अलाबु (तुम्बी) रखना या उसका उपयोग करना नही कल्पता है।

४० साधुओ को सवृन्त अलाबु रखना या उसका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन—इन सूत्रो मे कहा गया है कि साध्वी को अपने पास डठलयुक्त तु बी नही रखना चाहिए। इसका कारण विषाणयुक्त पीठ-फलक के समान (ब्रह्मचर्य सम्बन्धी) समझ लेना चाहिये। साधु को ऐसा तुम्ब-पात्र रखने मे कोई आपत्ति नही है।

सवृंत पात्रकेसरिका के विधि-निषेध

४१. नो कप्पइ निग्गंथीणं सवेण्टयं पायकेसरियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा।

४२. कप्पइ निग्गथाणं सवेण्टयं पायकेसरियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा।

४१ साध्वियो को सवृन्त पात्रकेसरिका रखना या उसका उपयोग करना नही कल्पता है।

४२ साधुओ को सवृन्त पात्रकेसरिका रखना या उसका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन—काष्ठ-दण्ड के एक सिरे पर वस्त्र-खण्ड को बाधकर पात्र या तु बी आदि के भीतरी भाग को पोछने के या प्रमार्जन करने के उपकरण को 'सवृन्त पात्रकेसरिका' कहते है।

ब्रह्मचर्य के बाधक कारणो की अपेक्षा से ही साध्वी को इसके रखने का निषेध किया गया है। गोलाकार दड के अतिरिक्त अन्य प्रकार की पात्रकेसरिका का उपयोग वह कर सकती है अर्थात् जिस तरह साध्वी दडरहित प्रमार्जनिका रखती है, वैसे ही वह पात्रकेसरिका भी दण्डरहित रख सकती है।

दण्डयुक्त पादप्रोंछन के विधि-निषेध

४३. नो कप्पइ निग्गंथीणं दारुदण्डयं पायपुंछणं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा।

४४. कप्पइ निग्गंथाणं दारुदण्डयं पायपुंछणं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा।

४३. निर्ग्रन्थी को दारुदण्ड वाला (काष्ठ की डडी वाला) पादप्रोंछन रखना या उसका उपयोग करना नहीं कल्पता है।

४४. निर्ग्रन्थ को दारुदण्ड वाला 'पादप्रोछन' रखना या उसका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन—वस्त्रखण्ड का पादप्रोछन उपकरण पाव की रज आदि पोछने के काम आता है। उसके भिन्न-भिन्न उपयोग आगम मे वर्णित हैं। यहा पूर्वोक्त कारणो से काष्ठदण्डयुक्त पादप्रोछन का साध्वी के लिये निषेध किया गया है और साधु को यदि आवश्यक हो तो वह दण्डयुक्त पादप्रोछन रख सकता है। इस उपकरण सम्बन्धी अन्य जानकारी निशीथ उ. २ सूत्र १ के विवेचन मे दी गई है।

परस्पर मोक आदान-प्रदान विधि-निषेध

४५. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अन्नमन्नस्स मोयं आपिबित्तए वा आयमित्तए वा नन्नत्थ गाढाऽगाढेसु रोगायकेसु।

४५. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को एक दूसरे का मूत्र पीना या उससे मालिश करना नही कल्पता है, केवल उग्र रोग एव आतको मे कल्पता है।

विवेचन--यद्यपि मूत्र अपेय है फिर भी वैद्य के कहने पर रक्तविकार, कोढ आदि कष्ट-साध्य रोगो मे अथवा सर्प-दश या शीघ्र प्राणहरण करने वाले आतक होने पर साधु और साध्वियो को मूत्र पीने की और शोथ आदि रोग होने पर उससे मालिश करने की छूट प्रस्तुत सूत्र मे दी गई है।

अनेक रोगो मे गाय, बकरी आदि का तथा अनेक रोगों मे स्वय के मूत्रपान का चिकित्सा-शास्त्र मे विधान किया गया है।

इन कारणो से कभी साधु-साध्वी को परस्पर मूत्र के आदान-प्रदान करने का प्रसग आ सकता है। इसी अपेक्षा से सूत्र मे विधान किया गया है तथा सामान्य स्थिति मे परस्पर लेन-देन करने का निषेध भी किया है।

आचमन का अर्थ शुद्धि करना भी होता है किन्तु यहा पर प्रबल रोग सम्बन्धी विधान होने से मालिश करने का अर्थ ही प्रसगानुकूल है।

आहार-औषध परिवासित रखने के विधि-निषेध

४६. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पारियासियस्स आहारस्स तयप्पमाणमेत्तमवि, भूइप्पमाणमेत्तमवि, तोयबिंदुप्पमाणमेत्तमवि आहारमाहारेत्तए, नन्नत्थ गाढाऽगाढेसु रोगायंकेसु।

४७. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पारियासिएणं आलेवणजाएणं गायाइं आलिंपित्तए वा विलिंपित्तए वा, नन्नत्थ गाढाऽगाढेहिं रोगायंकेहिं।

४८. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पारियासिएणं तेल्लेण वा जाव नवनीएण वा गायाइं अब्भंगित्तए वा मक्खित्तए वा, नन्नत्थ गाढाऽगाढेहिं रोगायंकेहिं।

४६. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियों को परिवासित (रात्रि में रखा हुआ) आहार त्वक् प्रमाण

(तिल-तुष जितना) भूति-प्रमाण (एक चुटकी जितना) खाना तथा पानी बिन्दुप्रमाण जितना भी पीना नही कल्पता है, केवल उग्र रोग एव आतक मे कल्पता है।

४७. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को अपने शरीर पर सभी प्रकार के परिवासित लेपन एक बार या बार-बार लगाना नही कल्पता है, केवल उग्र रोग एव आतंको मे लगाना कल्पता है।

४८ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को अपने शरीर पर परिवासित तेल यावत् नवनीत को चुपड़ना या मलना नही कल्पता है, केवल उग्र रोग या आतको मे कल्पता है।

विवेचन—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को खाने-पीने योग्य और लेपन-मर्दन करने योग्य पदार्थों का सचय करना तथा रात्रि मे उन पदार्थों का लाना, रखना एव उनका उपयोग करना उत्सर्गमार्ग मे सर्वथा निषिद्ध है और इन कार्यों के लिये प्रायश्चित्त का भी विधान है। क्योकि इन कार्यों के करने से सयमविराधना होती है। भाष्य मे इस विषय का विस्तृत वर्णन है।

उग्र रोग या आतक होने पर पूर्वोक्त अत्यन्त आवश्यक पदार्थों के सचय करने का तथा रात्रि मे परिवासित रखने का एव उनके उपयोग करने का अपवादमार्ग मे ही विधान है।

गीतार्थ यदि यह जान ले कि निकट भविष्य में उग्र रोग या आतक होने वाला है, महामारी या सेनाओ के आतंक से गाव खाली हो रहे है, स्थविर रुग्ण हैं, चलने मे असमर्थ हैं, आवश्यक औषधियां आस-पास के गावो मे न मिलने के कारण दूर गावो से लाई गई हैं, इत्यादि कारणो से उक्त पदार्थों का सचय कर सकते हैं, रात्रि मे परिवासित रख सकते है एव उनका उपयोग भी कर सकते है।

चन्दन, कायफल, सोठ आदि द्रव्य लेपन योग्य होते हैं। शिला पर घिसकर या पीसकर इनका लेप तैयार किया जाता है।

आलेपन—एक बार लेपन करना।

विलेपन—बार-बार लेपन करना। अथवा

आलेपन—शरीर मे जलन आदि होने पर सर्वांग में लेप करना।

विलेपन—मस्तक आदि विशिष्ट अग पर लेप करना।

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियो को सौन्दर्यवृद्धि के लिए किसी प्रकार के आलेपन-विलेपन का प्रयोग नही करना चाहिए।

केवल रोगादि की शान्ति के लिए लेप्य पदार्थों का प्रयोग कर सकते हैं। आगाढ रोगातक मे इन पदार्थों को रात्रि मे भी रखा जा सकता है।

इन सूत्रो मे रात्रि मे रखे गये पदार्थों का परिस्थितिवश खाने एव उपयोग में लेने का विधान किया गया है। इससे रात्रि मे खाना या उपयोग में लेना न समझकर परिवासित पदार्थों को दिन मे उपयोग मे लेने का ही समझना चाहिये। दुर्लभ द्रव्यो को रात मे रखने की एव प्रबल रोगातक मे दिन में उपयोग लेने की छूट सूत्र से समझ लेनी चाहिये। भिन्न-भिन्न पदार्थों को रात्रि में किस विवेक से किस प्रकार रखना, इसकी विधि भाष्य से जाननी चाहिये।

परिहारिक भिक्षु का दोषसेवन एवं प्रायश्चित्त

४९. परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, से य आहच्च अइक्कमेज्जा, तं च थेरा जाणिज्जा अप्पणो आगमेणं अन्नेसिं वा अंतिए सोच्चा, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नाम ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

४९ परिहारकल्पस्थित भिक्षु यदि स्थविरो की वैयावृत्य के लिए कही बाहर जाए और कदाचित् परिहारकल्प में कोई दोष सेवन करले, यह वृत्तान्त स्थविर अपने ज्ञान से या अन्य से सुनकर जान ले तो वैयावृत्य से निवृत्त होने के बाद उसे अत्यल्प प्रस्थापना प्रायश्चित्त देना चाहिये।

विवेचन—इस सूत्र मे 'वैयावृत्य' पद उपलक्षण है, अतः अन्य आवश्यक कार्य भी इसमे समाविष्ट कर लिए जाते है।

आचार्य या गणप्रमुख आदि परिहारतप वहन करने वाले को वैयावृत्य के लिए या अन्य दर्शन के वादियो के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए कही अन्यत्र भेजें या वह स्वयं अनिवार्य कारणो से कही अन्यत्र जाए और वहा उसके परिहारतप की मर्यादा का अतिक्रमण हो जाए तब उसके अतिक्रमण को आचार्यादि स्वय अपने ज्ञान-बल से या अन्य किसी के द्वारा जान लें तो उसे अत्यल्प प्रायश्चित्त दे, क्योकि उसका परिहारतप वैयावृत्य या शास्त्रार्थ आदि विशेष कारणो से खण्डित हुआ है। ऐसे प्रसगो मे आवश्यक लगे तो आचार्य उसका परिहारतप छुडाकर भी भेज सकते हैं।

अत उस अवधि मे किया गया अतिक्रमण क्षम्य माना गया है एवं उसका अत्यल्प प्रस्थापना प्रायश्चित्त दिया जाता है।

पुलाक-भक्त ग्रहण हो जाने पर गोचरी जाने का विधि-निषेध

५० निग्गथीए य गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए अणुपविट्ठाए अन्नयरे पुलागभत्ते पडिग्गाहिए सिया सा य संथरेज्जा, कप्पइ से तद्दिवसं तेणेव भत्तट्ठेणं पज्जोसवेत्तए, नो से कप्पइ दोच्चं पि गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए पविसित्तए।

सा य न संथरेज्जा, एवं से कप्पइ दोच्चं पि गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए पविसित्तए।

५०. निर्ग्रन्थी आहार के लिए गृहस्थ के घर मे प्रवेश करे और वहा यदि पुलाक-भक्त (अत्यत सरस आहार) ग्रहण हो जाए और यदि उस गृहीत आहार से निर्वाह हो जाए तो उस दिन उसी आहार से रहे किन्तु दूसरी बार आहार के लिए गृहस्थ के घर मे न जावे।

यदि उस गृहीत आहार से निर्वाह न हो सके तो दूसरी बार आहार के लिए जाना कल्पता है।

विवेचन—पुलाक शब्द का सामान्य अर्थ है—'असार पदार्थ', किन्तु यहा कुछ विशेष अर्थ इष्ट है।

जिनके सेवन से सयम निस्सार हो जाए अथवा जिनशासन, सघ और धर्म की अवहेलना या निन्दा हो वे सब खाद्यपदार्थ पुलाक-भक्त कहे जाते हैं। भाष्य मे विस्तृत अर्थ करते हुए पुलाक-भक्त तीन प्रकार के कहे हैं—

१ धान्यपुलाक, २ गन्धपुलाक, ३. रसपुलाक।

१. जिन धान्यों के खाने से शारीरिक सामर्थ्य आदि की वृद्धि न हो, ऐसे सांवा, शालि, बल्ल आदि 'धान्यपुलाक' कहे जाते हैं।

२. लहसुन प्याज आदि तथा लोग इलायची इत्र आदि जिनकी उत्कट गन्ध हो, वे सब पदार्थ 'गन्धपुलाक' कहे जाते हैं।

३ दूध इमली का रस द्राक्षारस आदि अथवा अति सरस, पौष्टिक एव अनेक रासायनिक औषध-मिश्रित खाद्य पदार्थ 'रसपुलाक' कहे जाते हैं।

इस सूत्र मे 'पुलाकभक्त' के ग्रहण किए जाने पर निर्वाह हो सके तो साध्वी को पुन गोचरी जाने का निषेध किया है। अत यहा रसपुलाक की अपेक्षा सूत्र का विधान समझना चाहिए। क्योकि गन्धपुलाक और धान्यपुलाक रूप वैकल्पिक अर्थ मे पुन गोचरी नही जाने का सूत्रोक्त विधान तर्क-सगत नही है।

रसपुलाक के अति सेवन से अजीर्ण या उन्माद होने की प्राय सम्भावना रहती है। अत. उस दिन उससे निर्वाह हो सकता हो तो फिर भिक्षा के लिए नही जाना चाहिए, जिससे उक्त दोषो की सम्भावना न रहे। यदि वह रस-पुलाकभक्त अत्यल्प मात्रा मे हो और उससे निर्वाह न हो सके तो पुन भिक्षा ग्रहण की जा सकती है।

इस सूत्र मे निर्ग्रन्थी के लिए ही विधान किया गया है, निर्ग्रन्थ के लिए क्यो नही ?

इसका उत्तर भाष्यकार ने इस प्रकार दिया है।—"**एसेव गमो नियमा तिविहपुलागम्मि होई समणाण**" जो विधि निर्ग्रन्थी के लिए है, वही निर्ग्रन्थ के लिए भी है।

पांचवें उद्देशक का सारांश

सूत्र १-४	देव या देवी स्त्री का या पुरुष का रूप विकुर्वित कर साधु साध्वी का आलिंगन आदि करे, तब वे उसके स्पर्श आदि से मैथुनभाव का अनुभव करे तो उन्हे गुरु-चौमासी प्रायश्चित्त आता है।
५	अन्य गण से कोई भिक्षु आदि क्लेश करके आवे तो उसे समझाकर शान्त करना एव पाच दिन आदि का दीक्षाछेद प्रायश्चित्त देकर पुन. उसके गण मे भेज देना।
६-९	यदि आहार ग्रहण करने के बाद या खाते समय यह ज्ञात हो जाए कि सूर्यास्त हो गया है या सूर्योदय नही हुआ है तो उस आहार को परठ देना चाहिये। यदि खावे तो उसे गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।
१०	रात्रि के समय मुह में उद्गाल आ जाए तो उसे नही निगलना किन्तु परठ देना चाहिये।

सूत्र ११ गोचरी करते हुए कभी आहार मे सचित्त बीज, रज या त्रस जीव आ जाए तो उसे सावधानीपूर्वक निकाल देना चाहिए। यदि नही निकल सके तो उतना ससक्त आहार परठ देना चाहिये।

१२ गोचरी करते हुए कभी आहार मे सचित्त जल की बूदे आदि गिर जाएँ तो गर्म आहार को खाया जा सकता है और ठण्डे आहार को परठ देना चाहिये।

१३-१४ रात्रि मे मल-मूत्र त्याग करती हुई निर्ग्रन्थी के गुप्तागो का कोई पशु या पक्षी स्पर्श या अवगाहन करे और निर्ग्रन्थी मैथुनभाव से उसका अनुमोदन करे तो उसे गुरु-चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

१५-१७ निर्ग्रन्थी को गोचरी, स्थडिल या स्वाध्याय आदि के लिये अकेले नही जाना चाहिये तथा विचरण एव चातुर्मास भी अकेले नही करना चाहिए।

१८-२१ निर्ग्रन्थी को वस्त्ररहित होना, पात्ररहित होना, शरीर को वोसिरा कर रहना, ग्राम के बाहर आतापना लेना नही कल्पता है, किन्तु सूत्रोक्त विधि से वह उपाश्रय मे आतापना ले सकती है।

२२-३२ निर्ग्रन्थी को किसी भी प्रकार के आसन से प्रतिज्ञाबद्ध होकर रहना नही कल्पता है।

३३-४४ आकुचनपट्ट, आलम्बन युक्त आसन, छोटे स्तम्भयुक्त पीढे, नालयुक्त तुम्बा, काष्ठदण्डयुक्त पात्रकेसरिका या पादप्रोछन साध्वी को रखना नही कल्पता है, किन्तु साधु इन्हे रख सकता है।

४५ प्रबल कारण के बिना साधु-साध्वी एक दूसरे के मूत्र को पीने एव आचमन करने के उपयोग में नही ले सकते है।

४६-४८ साधु-साध्वी रात रखे हुए आहार-पानी औषध और लेप्य पदार्थों को प्रबल कारण के बिना उपयोग मे नही ले सकते, किन्तु प्रबल कारण से वे उन पदार्थों का दिन मे उपयोग कर सकते हैं।

४९ परिहारतप वहन करने वाला भिक्षु सेवा के लिये जावे, उस समय यदि वह अपनी किसी मर्यादा का उल्लघन कर ले तो उसे सेवाकार्य से निवृत्त होने पर अत्यल्प प्रायश्चित्त देना चाहिए।

५० अत्यन्त पौष्टिक आहार आ जाने के बाद साध्वी को अन्य आहार की गवेषणा नही करना चाहिए। किन्तु उस आहार से यदि निर्वाह न हो सके, इतनी अल्प मात्रा मे ही हो तो पुन गोचरी लाने के लिये जा सकती है।

उपसंहार—

इस उद्देशक मे—

सूत्र १-४,
१३-१४ मैथुनभाव के प्रायश्चित्त का,

५ क्लेश करके आये भिक्षु के प्रति कर्तव्य का,

६-१०	रात्रिभोजन का विवेक एव उसके प्रायश्चित्त का,
११-१२	संसक्त ग्राहार के विवेक का,
१५-३२	निर्ग्रन्थी को एकाकी न होने का एव शरीर को न वोसिराने का, आतापना लेने के कल्प्याकल्प्य का और प्रतिज्ञाबद्ध आसन न करने का,
३३-४४	अनेक उपकरणो के कल्प्याकल्प्य का,
४५	परस्पर मूत्र-उपयोग के कल्प्याकल्प्य का,
४६-४८	परिवासित आहार एव औषध के कल्प्याकल्प्य का,
४९	परिहारिक भिक्षु के अतिक्रमण करने का,
५०	पौष्टिक आहार का,
	इत्यादि विषयो का कथन किया गया है।

॥ पांचवां उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठा उद्देशक

अकल्प्य वचनप्रयोग का निषेध

१ नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गथीण वा इमाइं छ अवयणाइं वइत्तए, तं जहा—

१. अलियवयणे, २. हीलियवयणे, ३. खिसियवयणे, ४ फरुसवयणे, ५ गारत्थियवयणे, ६. विओसवियं वा पुणो उदीरित्तए।

१ निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थियो को ये छह निषिद्ध वचन बोलना नही कल्पता है, यथा—

१ अलीकवचन, २ हीलितवचन, ३ खिसितवचन, ४. परुषवचन, ५ गार्हस्थ्यवचन, ६ कलहकारक वचन का पुनर्कथन ।

विवेचन—१. अलीकवचन—असत्य या मिथ्या भाषण 'अलीकवचन' है।

२. **हीलितवचन**—दूसरे की अवहेलना करने वाला वचन 'हीलितवचन' है।

३. **खिसितवचन**—रोषपूर्ण कहे जाने वाले या रोष उत्पन्न करने वाले वचन 'खिसितवचन' हैं।

४. **परुषवचन**—कर्कश, रूक्ष, कठोर वचन 'परुषवचन' हैं।

५. **गार्हस्थ्यवचन**—गृहस्थ-अवस्था के सम्बन्धियो को पिता, पुत्र, मामा आदि नामो से पुकारना 'गार्हस्थ्यवचन' है।

६ **कलहउदीरणावचन**—क्षमायाचनादि के द्वारा कलह के उपशान्त हो जाने के बाद भी कलहकारक वचन कहना 'व्युपशमित-कलह-उदीरण वचन' है।

साधु और साध्वियो को ऐसे छहो प्रकार के वचन नही बोलने चाहिए।

असत्य आक्षेपकर्ता को उसी प्रायश्चित्त का विधान

२ कप्पस्स छ पत्थारा पण्णत्ता, तं जहा—

१ पाणाइवायस्स वाय वयमाणे,

२. मुसावायस्स वाय वयमाणे,

३. अदिन्नादाणस्स वायं वयमाणे,

४. अविरइवायं वयमाणे,

५. अपुरिसवायं वयमाणे,

६. दासवायं वयमाणे।

इच्चेए कप्पस्स छ पत्थारे पत्थरेत्ता सम्मं अप्पडिपूरेमाणे तट्ठाणपत्ते सिया।

२ कल्प—साध्वाचार के छह विशेष प्रकार के प्रायश्चित्तस्थान कहे गये हैं, यथा—

१ प्राणातिपात का आरोप लगाये जाने पर,
२. मृषावाद का आरोप लगाये जाने पर,
३. अदत्तादान का आरोप लगाये जाने पर,
४ ब्रह्मचर्य भग करने का आरोप लगाये जाने पर,
५. नपुंसक होने का आरोप लगाये जाने पर,
६. दास होने का आरोप लगाये जाने पर।

सयम के इन विशेष प्रायश्चित्तस्थानो का आरोप लगाकर उसे सम्यक् प्रमाणित नही करने वाला साधु उसी प्रायश्चित्तस्थान का भागी होता है।

विवेचन—**१. कल्प**—निर्ग्रन्थ का आचार, **२. प्रस्तार**—विशेष प्रायश्चित्तस्थान, **३. प्रस्तरण**—प्रायश्चित्तस्थान-सेवन का आक्षेप लगाना।

सूत्र मे छह प्रस्तार कहे गए है—

प्रथम प्रस्तार—यदि कोई निर्ग्रन्थ किसी एक निर्ग्रन्थ के सम्बन्ध मे आचार्यादि के सम्मुख उपस्थित होकर कहे कि **"अमुक निर्ग्रन्थ ने अमुक त्रस जीव का हनन किया है।"**

आचार्यादि उसका कथन सुनकर अभियोग (आरोप) से सम्बन्धित निर्ग्रन्थ को बुलावे और उससे पूछे कि "क्या तुमने त्रस जीव की घात की है ?"

यदि वह कहे कि "मैंने किसी जीव की घात नही की है।" ऐसी दशा मे अभियोग लगाने वाले निर्ग्रन्थ को अपना कथन प्रमाणित करने के लिए कहना चाहिए।

यदि अभियोक्ता आरोप को प्रमाणित कर दे तो जिस पर जीवघात का आरोप लगाया है, वह दोषानुरूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

यदि अभियोक्ता अभियोग प्रमाणित न कर सके तो वह प्राणातिपात किये जाने पर दिए जाने वाले प्रायश्चित्त का भागी होता है।

इसी प्रकार **द्वितीय प्रस्तार** मृषावाद, **तृतीय प्रस्तार** अदत्तादान और **चतुर्थ प्रस्तार** अविरतिवाद-ब्रह्मचर्यभग के अभियोग के सम्बन्ध मे समझ लेना चाहिए।

दीक्षा देने वाले आचार्यादि के सामने किसी निर्ग्रन्थ के नपुंसक होने का अभियोग लगाना **पंचम प्रस्तार** 'अपुरुषवाद' है।

किसी निर्ग्रन्थ के सम्बन्ध मे "यह दास था या दासीपुत्र था", इस प्रकार का अभियोग लगाना **षष्ठ प्रस्तार** "दासवाद" है।

अभियोक्ता और दोष-सेवी यदि एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगावे या उनमे वाद-प्रतिवाद बन जाए तो प्रायश्चित्त की मात्रा भी बढ जाती है। अर्थात् सूत्रोक्त चतुर्लघु का चतुर्गुरु प्रायश्चित्त हो जाता है।

यदि अभियोग चरम सीमा तक हो जाता है तो प्रायश्चित्त भी चरम सीमा का ही दिया जाता है। अर्थात् सदोष निर्ग्रन्थ को अन्तिम प्रायश्चित्त पाराञ्चिक वहन करना पड़ता है। विशेष विवरण के लिए भाष्य देखना चाहिए।

साधु-साध्वी के परस्पर कण्टक आदि निकालने का विधान

३. निग्गंथस्स य अहे पायंसि खाणू वा, कंटए वा, हीरए वा, सक्करे वा परियावज्जेज्जा, तं च निग्गंथे नो संचाएइ नीहरित्तए वा, विसोहेत्तए वा, तं निग्गंथी नीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा नाइक्कमइ ।

४. निग्गंथस्स य अच्छिसि पाणे वा, बीये वा, रए वा परियावज्जेज्जा, तं च निग्गथे नो संचाएइ नीहरित्तए वा विसोहेत्तए वा, त निग्गंथी नीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा नाइक्कमइ ।

५. निग्गंथीए य अहे पायंसि खाणू वा, कंटए वा, हीरए वा, सक्करे वा परियावज्जेज्जा, तं च निग्गंथी नो संचाएइ नीहरित्तए वा विसोहेत्तए वा, तं निग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ ।

६. निग्गंथीए य अच्छिसि पाणे वा, बीये वा, रए वा परियावज्जेज्जा, तं च निग्गंथी नो संचाइएइ नीहरित्तए वा विसोहेत्तए वा, तं निग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ ।

३ निर्ग्रन्थ के पैर के तलुवे मे तीक्ष्ण शुष्क ठूठ, कटक, कांच या तीक्ष्ण पाषाण-खण्ड लग जावे और उसे वह (या अन्य कोई निर्ग्रन्थ) निकालने मे या उसके अश का शोधन करने में समर्थ न हो, (उस समय) यदि निर्ग्रन्थी निकाले या शोधे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करती है ।

४ निर्ग्रन्थ की आँख मे मच्छर आदि सूक्ष्म प्राणी, बीज या रज गिर जावे और उसे वह (या अन्य कोई निर्ग्रन्थ) निकालने मे या उसके सूक्ष्म अश का शोधन करने मे समर्थ न हो, (उस समय) यदि निर्ग्रन्थी निकाले या शोधे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करती है ।

५. निर्ग्रन्थी के पैर के तलुवे मे तीक्ष्ण शुष्क ठूठ, कटक, काच या पाषाण खण्ड लग जावे और उसे वह (या अन्य निर्ग्रन्थी) निकालने मे या उनके सूक्ष्म अश का शोधन करने में समर्थ न हो, (उस समय) यदि निर्ग्रन्थ निकाले या शोधे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है ।

६. निर्ग्रन्थी की आँख मे (मच्छर आदि सूक्ष्म) प्राणी, बीज या रज गिर जावे और उसे वह (या अन्य कोई निर्ग्रन्थी) निकालने मे या उसके सूक्ष्म अश का शोधन करने मे समर्थ न हो, (उस समय) यदि निर्ग्रन्थ निकाले या शोधे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है ।

विवेचन—निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी के शरीर का और निर्ग्रन्थी निर्ग्रन्थ के शरीर का स्पर्श न करे, यह उत्सर्गमार्ग है । किन्तु पैर मे कटक आदि लग जाने पर एव आँख मे रज आदि गिर जाने पर अन्य किसी के द्वारा नहीं निकाले जा सकने पर कण्टकादि निकालने में कुशल निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी अपवादमार्ग में एक दूसरे के कण्टकादि निकाल सकते हैं । ऐसी स्थिति मे एक दूसरे के शरीर का स्पर्श होने पर भी वे प्रायश्चित्त के पात्र नही होते है किन्तु ऐसे समय मे भी क्षेत्र और काल का तथा वस्त्रादि का विवेक रखना अत्यन्त आवश्यक होता है एव योग्य साक्षी का होना भी आवश्यक है ।

साधु द्वारा साध्वी को अवलम्बन देने का विधान

७. निग्गंथे निग्गंथिं दुग्गंसि वा, विसमंसि वा, पव्वयंसि वा पक्खलमाणिं वा पवडमाणिं वा गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

८. निग्गंथे निग्गंथिं सेयंसि वा, पंकंसि वा, पणगंसि वा उदयंसि वा, ओकसमाणिं वा ओवुज्झमाणिं वा गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

९ निग्गंथे निग्गंथिं नावं आरोहमाणिं वा, ओरोहमाणिं वा गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

१०. खित्तचित्तं निग्गंथिं निग्गथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

११ दित्तचित्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

१२ जक्खाइट्टं निग्गंथिं निग्गथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

१३. उम्मायपत्तं निग्गंथिं निग्गथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

१४ उवसग्गपत्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

१५. साहिगरणं निग्गंथिं निग्गथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

१६ सपायच्छित्तं निग्गंथिं निग्गथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

१७ भत्तपाणपडियाइक्खियं निग्गंथिं निग्गथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

१८ अट्ठजायं निग्गंथिं निग्गथे गिण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ।

७ दुर्गम—(हिंसक जानवरो से व्याप्त) स्थान, विषम स्थान या पर्वत से फिसलती हुई या गिरती हुई निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या सहारा दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

८ दल-दल, पक, पनक या जल मे गिरती हुई या डूबती हुई निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या सहारा दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

९. नौका पर चढती हुई या नौका से उतरती हुई निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या सहारा दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

१० विक्षिप्तचित्त वाली निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

११. दिप्तचित्त वाली निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

१२ यक्षाविष्ट निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

१३ उन्माद-प्राप्त निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

१४ उपसर्ग-प्राप्त निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

१५ साधिकरण निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

१६ सप्रायश्चित्त निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

१७. भक्त-पानप्रत्याख्यात निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

१८ अर्थ-जात निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

विवेचन—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो का उत्सर्गमार्ग तो यही है कि वे कभी भी एक दूसरे का स्पर्श न करे। यदि करते हैं तो वे जिनाज्ञा का उल्लघन करते हैं। किन्तु उक्त सूत्रो मे कही गई परिस्थितियो मे निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थिया एक दूसरे के सहायक बन कर सेवा-शुश्रूषा करे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करते हैं—

१ **क्षिप्तचित्त**—शोक या भय से भ्रमितचित्त।
२ **दिप्तचित्त**—हर्षातिरेक से भ्रमितचित्त।
३ **यक्षाविष्ट**—भूत-प्रेत आदि से पीडित।
४. **उन्मादप्राप्त**—मोहोदय से पागल।
५. **उपसर्गप्राप्त**—देव, मनुष्य या तिर्यंच आदि से त्रस्त।
६ **साधिकरण**—तीव्र कषाय-कलह से अशात।
७ **सप्रायश्चित्त**—कठोर प्रायश्चित्त से चलचित्त।
८ **भक्त-पानप्रत्याख्यात**—आजीवन अनशन से क्लात।
९ **अर्थजात**—शिष्य या पद की प्राप्ति की इच्छा से व्याकुल। उन्मत्त, पिशाचग्रस्त, उपसर्ग-पीडित, भयग्रस्त निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिया एक दूसरे को सम्भाले, कलह, विसवाद मे सलग्न को हाथ पकड कर रोके।

भक्त-प्रत्याख्यान करके समाधिमरण करने वाली निर्ग्रन्थी की अन्य परिचारिका साध्वी के अभाव में सभी प्रकार की परिचर्या की व्यवस्था करे।

यद्यपि अनेक साध्वियां साथ मे रहती है फिर भी कुछ विशेष परिस्थितियो में साध्वियो से न सम्भल सकने के कारण साधु को सम्भालना या सहयोग देना आवश्यक हो जाता है।

सूत्र मे केवल गिरती हुई निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ द्वारा सहारा देने आदि का कथन है। किन्तु कभी विशेष परिस्थिति मे गिरते हुए साधु को साध्वी भी सहारा आदि दे सकती है, यह भी उपलक्षण से समझ लेना चाहिए।

संयमनाशक छह स्थान

१९ कप्पस्स छ पलिमंथू पण्णत्ता, तं जहा—

१ कोक्कुइए संजमस्स पलिमंथू,

२ मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू,

३ चक्खुलोलुए इरियावहियाए पलिमंथू,

४ तितिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथू,

५ इच्छालोलुए मुत्तिमग्गस्स पलिमथू,

६ भिज्जानियाणकरणे मोक्खमग्गस्स पलिमंथू,

सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था।

१९ कल्प—साध्वाचार के छह सर्वथा घातक कहे गये है, यथा—

१ देखे बिना या प्रमार्जन किए बिना कायिक प्रवृत्ति करना, सयम का घातक है।

२ वाचालता, सत्य वचन का घातक है।

३ इधर-उधर देखते हुए गमन करना, ईर्यासमिति का घातक है।

४ आहारादि के अलाभ से खिन्न होकर चिढना, एषणासमिति का घातक है।

५ उपकरण आदि का अति लोभ, अपरिग्रह का घातक है।

६ लोभवश अर्थात् लौकिक सुखो की कामना से निदान (तप के फल की कामना) करना, मोक्षमार्ग का घातक है।

क्योकि भगवान् ने सर्वत्र अनिदानता-निस्पृहता प्रशस्त कही है।

विवेचन—यद्यपि सयम-गुणो का नाश करने वाली अनेक प्रवृत्तिया होती हैं तथापि प्रस्तुत सूत्र में मुख्य छह सयमनाशक दोषो का कथन किया गया है।

"पलिमथु" शब्द का अर्थ है—सयमगुणो का अनेक प्रकार से सर्वथा नाश करने वाला।

१. कौत्कुच्य—जो यत्र-तत्र बिना देखे बैठता है, शरीर को या हाथ पाव मस्तक आदि अगोपागो को बिना देखे या बिना विवेक के इधर-उधर रखता है, वह १७ प्रकार के सयम का नाश करने वाला होता है।

२. **मौखर्य**—अत्यधिक बोलना वाणी का दोष है, ज्यादा बोलने वाला विनय आदि गुणों की उपेक्षा करता है, अप्रीति का भाजन बनता है, ज्यादा बोलने वाला विचार करके नही बोलता है । अतः वह असत्य एव अनावश्यक बोलता है । इस प्रकार अतिभाषी सत्यमहाव्रत को दूषित करता है । आगमो मे साधुओ को अनेक जगह अल्पभाषी कहा है । श्रावक के आठ गुणो मे भी अल्पभाषी होना एक गुण कहा गया है ।

३. **चक्षुर्लोल्य**—इधर-उधर देखने वाला ईर्यासमिति का पालन नही कर सकता है, उसकी ईर्यासमिति भग होती है । चलते हुए इधर-उधर देखने की प्रवृत्ति साधु के लिये उचित नही है । क्योकि ईर्याशोधन न कर सकने के कारण त्रस-स्थावर प्राणियो की हिंसा होना सम्भव है ।

चक्षु-इन्द्रिय का सयम प्रथम महाव्रत मे जीवरक्षा के लिए है, चतुर्थ महाव्रत मे चक्षु-इन्द्रिय का सयम स्त्री आदि का निरीक्षण न करने के लिए है । पाचवे महाव्रत की दूसरी भावना ही चक्षु-इन्द्रिय का सयम रखना है ।

४. **तितिनक**—मनोज्ञ आहारादि प्राप्त न होने पर जो खिन्न होकर बड़बड करता रहता है एव इच्छित आहार की प्राप्ति मे एषणा के दोषो की उपेक्षा भी करता है । इस प्रकार वह तिनतिनाट करने के स्वभाव से एषणासमिति को भग करने वाला कहा गया है ।

५. **इच्छालोलुप**—सरस आहार की, वस्त्र-पात्रादि उपकरणो की तथा शिष्य आदि की अत्यन्त अभिलाषा रखने वाला भिक्षु अपरिग्रहप्रधान मुक्तिमार्ग का अनुसरण नही करता है । क्योकि मुक्तिमार्ग रूप सयम मे इच्छाओ एव ममत्व का कम होना ही प्रमुख लक्षण है । इसका नाश करने वाला इच्छालोलुप साधक मुक्तिमार्ग का नाश करने वाला कहा गया है ।

६. **भिध्या निदानकरण**—लोभवश या आसक्तिवश मनुष्य देव सम्बन्धी या अन्य किसी भी प्रकार का निदान (धर्माचरण के फलस्वरूप लौकिक सुखो की प्राप्ति का सकल्प) करने वाला भिक्षु इन निदान-सकल्पो से दूसरे भवो मे भी मोक्ष प्राप्त न करके नरकगति आदि मे परिभ्रमण करता रहता है । इस प्रकार यह निदानकरण मोक्षप्राप्ति का विच्छेद करने वाला है ।

किसी प्रकार का लोभ या आसक्ति न रखते हुए केवल ज्ञानादि गुणो की आराधना के लिए या मुक्तिप्राप्ति के लिए परमात्मा से याचना-प्रार्थना करना प्रशस्त भाव है एव अनिदान है ।

यथा—१. **तित्थयरा मे पसीयंतु ।**
२. **आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दितु ।**
३. **सिद्धा सिद्धिं मम दिसतु ।** —आव. अ. २, गा. ५-६-७

इस प्रकार की प्रार्थना में लोभ नही है, इसलिए यह याचना मोक्षसाधक है, बाधक नही । ऐसा टीकाकार ने "भिज्जा" शब्द की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है । वह टीका इस प्रकार है—

"भिज्ज" त्ति लोभस्तेन यद् निदानकरणं"। भिज्जा ग्रहणेन यवलोभस्य भवनिर्वेदमार्गानुसारितादिप्रार्थनं तत्र मोक्षमार्गस्य परिमन्थुरित्यावेदितं प्रतिपत्तव्यम् । —बृहत्कल्पभाष्य भाग ६

कई प्रतियो मे भ्रम से "भिज्जा" के स्थान "भुज्जो" आदि पाठ भी बन गये हैं, जो कि टीकाकार के बाद मे बने हैं ।

छह प्रकार की कल्पस्थिति

२० **छव्विहा कप्पट्ठिई पण्णत्ता, तं जहा—**

१. **सामाइय-संजय-कप्पट्ठिई,**

२ **छेग्रोवट्ठावणिय-संजय-कप्पट्ठिई,**

३ **निविसमाण-कप्पट्ठिई,**

४ **निव्विट्ठकाइय-कप्पट्ठिई,**

५ **जिणकप्पट्ठिई,**

६. **थेरकप्पट्ठिई ।**

कल्प की स्थिति—ग्राचार की मर्यादाए छह प्रकार की कही गई हैं ।—यथा

१. सामायिकचारित्र की मर्यादाए,

२ छेदोपस्थापनीयचारित्र की मर्यादाए,

३. परिहारविशुद्धिचारित्र मे तप वहन करने वाले की मर्यादाए,

४ परिहारविशुद्धिचारित्र मे गुरुकल्प व ग्रनुपरिहारिक भिक्षुग्रो की मर्यादाए,

५ गच्छनिर्गत विशिष्ट तपस्वी जीवन बिताने वाले जिनकल्पी भिक्षुग्रो की मर्यादाए,

६ स्थविरकल्पी ग्रर्थात् गच्छवासी भिक्षुग्रो की मर्यादाए ।

विवेचन—यहा "कल्प" का ग्रर्थ सयत का ग्राचार है। उसमे ग्रवस्थित रहना कल्पस्थिति कहा जाता है ।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो की समाचारी (मर्यादा) को भी कल्पस्थिति कहा जाता है। वह छह प्रकार की कही गई है ।—यथा—

१. **सामायिकसंयत-कल्पस्थिति**—समभाव मे रहना ग्रौर सभी सावद्य प्रवृत्तियो का परित्याग करना, यह सामायिकसयत-कल्पस्थिति है ।

यह दो प्रकार की होती है—

१. **इत्वरकालिक**—जब तक पच महाव्रतो का ग्रारोपण न किया जाए तब तक इत्वरकालिक सामायिक-कल्पस्थिति है ।

२. **यावज्जीविक**—जीवनपर्यन्त रहने वाली सामायिक यावज्जीविक सामायिककल्पस्थिति है। जिसमे पुन: महाव्रतारोपण न किया जाय, यह मध्यम तीर्थंकरो के शासनकाल मे होती है ।

२. **छेदोपस्थापनीय-संयत-कल्पस्थिति**—बडी दीक्षा देना या पुन· महाव्रतारोपण करना ।

यह कल्पस्थिति दो प्रकार की होती है—

१. **निरतिचार**—इत्वरसामायिक वाले शैक्षको को ग्रथवा भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यों को पच महाव्रतो की ग्रारोपणा कराना निरतिचार छेदोपस्थापनीय-सयत-कल्पस्थिति है ।

२. **सातिचार**—पच महाव्रत स्वीकार करने के बाद जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी जानबूझकर किसी एक महाव्रत को यावत् पाचो महाव्रतो को भग करे तो उसकी पूर्व दीक्षापर्याय का छेदन कर पुन· महाव्रतारोपण कराना सातिचार-छेदोपस्थापनीय-सयत-कल्पस्थिति है।

३. **निर्विशमान-कल्पस्थिति**—परिहारविशुद्धि सयम मे तप की साधना करने वाले साधुओ की समाचारी को निर्विशमान-कल्पस्थिति कहते हैं।

४. **निर्विष्टकायिक-कल्पस्थिति**—जो साधु सयम की विशुद्धि रूप तप-साधना कर चुके हैं, उनकी समाचारी को निर्विष्टकायिक-कल्पस्थिति कहते है।

५. **जिनकल्पस्थिति**—गच्छ से निकलकर एकाकी विचरने वाले पाणिपात्र-भोजी गीतार्थ साधुओ की समाचारी को जिनकल्पस्थिति कहते हैं।

६. **स्थविरकल्पस्थिति**—गच्छ के भीतर आचार्यादि की आज्ञा मे रहने वाले साधुओ की समाचारी को स्थविरकल्पस्थिति कहते है।

इस प्रकार तीर्थंकरो ने साधुओ की कल्पस्थिति छह प्रकार की कही है।

छट्ठे उद्देशक का सारांश

सूत्र १	साधु-साध्वी को छह प्रकार के अकल्पनीय वचन नही बोलना चाहिये।
२	किसी भी साधु पर असत्य आरोप नही लगाना। क्योकि प्रमाणाभाव मे स्वय को प्रायश्चित्त का पात्र होना पडता है।
३-६	परिस्थितिवश साधु-साध्वी एक दूसरे के पैर मे से कंटक आदि निकाल सकते है और आख मे पडी रज आदि भी निकाल सकते है।
७-१८	सूत्रोक्त विशेष परिस्थितियो मे साधु-साध्वी को सहारा दे सकता है एव परिचर्या कर सकता है।
१९	साधु-साध्वी सयमनाशक छह दोषो को जानकर उनका परित्याग करे।
२०	सयमपालन करने वालो की भिन्न-भिन्न साधना की अपेक्षा से छह प्रकार की आचारमर्यादा होती है।

उपसंहार

इस उद्देशक मे—

सूत्र १	अकल्प्य वचन बोलने के निषेध का,
२	आक्षेप वचन प्रमाणित नहीं करने के प्रायश्चित्त का,
३-१८	अपवादमार्ग में साधु-साध्वी के परस्पर सेवा कर्त्तव्यो का,

सूत्र १९ सयमनाशक दोषो का,

२० छह प्रकार की कल्प मर्यादाओ का,

इत्यादि विषयो का कथन किया गया है ।

॥ छट्ठा उद्देशक समाप्त ॥

सूत्र संख्या की तालिका

उद्देशक	सूत्र
१.	४७
२	३०
३.	३४
४	३६
५	५०
६	२०
योग =	२१७

॥ बृहत्कल्पसूत्र समाप्त ॥

व्यवहारसूत्र

व्यवहारसूत्र

प्रथम उद्देशक

कपट-सहित तथा कपट-रहित आलोचक को प्रायश्चित्त देने की विधि

१. जे भिक्खू मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंचियं आलोएमाणस्स दोमासियं।

२. जे भिक्खू दोमासियं परिहारट्ठाण पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स दोमासियं, पलिउंचियं आलोएमाणस्स तेमासियं।

३. जे भिक्खू तेमासियं परिहारट्ठाण पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स तेमासियं, पलिउचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं।

४. जे भिक्खू चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं पलिउंचियं, आलोएमाणस्स पंचमासियं।

५. जे भिक्खू पंचमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं, पलिउचियं आलोएमाणस्स छम्मासियं।

तेण परं पलिउंचिए वा, अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

६. जे भिक्खू बहुसो वि मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलो-एमाणस्स मासियं, पलिउंचियं आलोएमाणस्स दोमासियं।

७. जे भिक्खू बहुसो वि दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिए आलोएमाणस्स दोमासियं, पलिउंचियं आलोएमाणस्स तेमासियं।

८. जे भिक्खू बहुसो वि तेमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स तेमासिय, पलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासिय।

९. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं परिहारट्ठाण पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं, पलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं।

१०. जे भिक्खू बहुसो वि पंचमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं, पलिउंचियं आलोएमाणस्स छम्मासियं।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

११. जे भिक्खू मासियं वा जाव पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं वा जाव पंचमासियं वा, पलिउंचियं आलोएमाणस्स दो मासियं वा जाव छम्मासियं वा।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

१२ जे भिक्खू बहुसो वि मासियं वा जाव बहुसो वि पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स मासियं वा जाव पंचमासियं वा, पलिउंचियं आलोएमाणस्स दो मासियं वा जाव छम्मासियं वा।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

१३. जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासिय वा, साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयर परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा साइरेग-चाउम्मासियं वा, पचमासियं वा साइरेग-पंचमासियं वा, पलिउचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं वा साइरेग पंचमासिय वा छम्मासियं वा।

तेण पर पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा।

१४. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा बहुसो वि पंचमासियं वा बहुसो वि साइरेग-पचमासियं वा एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचियं आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, पलिउंचियं आलोएमाणस्स पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा छम्मासियं वा।

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिऊंचिए वा ते चेव छम्मासा।

१५. जे भिक्खू चाउम्मासिय वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—

अपलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं।

ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१. पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, २ पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, ३ पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, ४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं।

१ अपलिउंचिए अपलिउंचियं, २ अपलिउंचिए पलिउंचियं, ३. पलिउंचिए अपलिउंचियं, ४ पलिउंचिए पलिउंचियं।

आलोएमाणस्स सव्वमेमं सकयं साहणिय (आरुहेयव्वे सिया)।

जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१६. जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

पलिउंचियं आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।

ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ।

१ पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, २. पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, ३. पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, ४ पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ।

१ अपलिउंचिए अपलिउंचियं, २ अपलिउंचिए पलिउंचियं, ३. पलिउंचिए अपलिउंचियं, ४. पलिउंचिए पलिउंचियं ।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय (आरुहेयव्वे सिया)
जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ।

१७. जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा, बहुसो वि पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

अपलिउंचियं आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।

ठविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ।

१ पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, २ पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, ३ पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, ४, पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ।

१ अपलिउंचिए अपलिउंचियं, २ अपलिउंचिए पलिउंचियं, ३. पलिउंचिए अपलिउंचियं, ४. पलिउंचिए पलिउंचियं ।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय (आरुहेयव्वे सिया)
जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ।

१८ जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासियं वा, बहुसो वि पंचमासियं वा, बहुसो वि साइरेग पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

पलिउंचियं आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।
ठविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ।

१ पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, २ पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, ३ पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, ४. पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ।

१. अपलिउंचिए अपलिउंचियं, २ अपलिउंचिए पलिउंचियं, ३ पलिउंचिए अपलिउंचियं, ४. पलिउंचिए पलिउंचियं।

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय (आरुहेयव्वे सिया)

जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया।

१. जो भिक्षु एक बार मासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर एक मास का प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर दो मास का प्रायश्चित्त आता है।

२ जो भिक्षु एक बार द्विमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है और माया-सहित आलोचना करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है।

३ जो भिक्षु एक बार त्रैमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

४. जो भिक्षु एक बार चातुर्मासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर पचमासिक प्रायश्चित्त आता है।

५ जो भिक्षु एक बार पचमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर पचमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर छमासी प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर भी वही छमासी प्रायश्चित्त आता है।

६ जो भिक्षु अनेक बार मासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर एक मास का प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर द्वैमासिक प्रायश्चित्त आता है।

७ जो भिक्षु अनेक बार द्विमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर द्विमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है।

८. जो भिक्षु अनेक बार त्रैमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर त्रैमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

९. जो भिक्षु अनेक बार चातुर्मासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर पचमासिक प्रायश्चित्त आता है।

१०. जो भिक्षु अनेक बार पचमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर पचमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर भी वही षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

११. जो भिक्षु मासिक यावत् पचमासिक परिहारस्थानो मे से किसी परिहारस्थान की एक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार मासिक यावत् पचमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार द्विमासिक यावत् षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर वही षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१२. जो भिक्षु मासिक यावत् पचमासिक इन परिहारस्थानो मे से किसी एक परिहारस्थान की अनेक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार मासिक यावत् पचमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार द्विमासिक यावत् षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर वही षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१३ जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पचमासिक या कुछ अधिक पचमासिक इन परिहारस्थानो मे से किसी एक परिहारस्थान की एक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पचमासिक या कुछ अधिक पचमासिक प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार पचमासिक या कुछ अधिक पचमासिक या षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर भी वही षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१४. जो भिक्षु अनेक बार चातुर्मासिक या अनेक बार कुछ अधिक चातुर्मासिक, अनेक बार पचमासिक या अनेक बार कुछ अधिक पचमासिक इन परिहारस्थानो से से किसी एक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे मायारहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पचमासिक या कुछ अधिक पचमासिक

प्रायश्चित्त आता है और मायासहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार पचमासिक या कुछ अधिक पचमासिक या छहमासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त मायासहित या मायारहित आलोचना करने पर वही षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१५. जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पचमासिक इन परिहारस्थानो मे से किसी एक परिहारस्थान की एक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे—

मायारहित आलोचना करने पर आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहारतप मे स्थापित करके उसकी योग्य वैयावृत्य करनी चाहिए।

यदि वह परिहारतप मे स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त मे सम्मिलित कर देना चाहिए।

१ पूर्व मे प्रतिसेवितदोष की पहले आलोचना की हो,
२. पूर्व मे प्रतिसेवितदोष की पीछे आलोचना की हो,
३ पीछे से प्रतिसेवितदोष की पहले आलोचना की हो,
४. पीछे से प्रतिसेवितदोष की पीछे से आलोचना की हो।

१ मायारहित आलोचना करने का सकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
२. मायारहित आलोचना करने का संकल्प करके मायासहित आलोचना की हो,
३. मायासहित आलोचना करने का सकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
४. मायासहित आलोचना करने का सकल्प करके मायासहित आलोचना की हो।

इनमे से किसी भी प्रकार के भग से आलोचना करने पर उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को सयुक्त करके पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त मे सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहारतप मे स्थापित होकर वहन करते हुए भी पुन किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त मे आरोपित कर देना चाहिए।

१६. जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पचमासिक या कुछ अधिक पचमासिक इन परिहारस्थानो में से किसी एक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे—

मायासहित आलोचना करने पर आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार-तप में स्थापित करके उसकी योग्य वैयावृत्य करनी चाहिए।

यदि वह परिहारतप मे स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त मे सम्मिलित कर देना चाहिए।

१. पूर्व मे प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
२ पूर्व मे प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो,

३. पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
४. पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे से आलोचना की हो।

१. मायारहित आलोचना करने का सकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
२. मायारहित आलोचना करने का सकल्प करके मायासहित आलोचना की हो.
३ मायासहित आलोचना करने का सकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
४. मायासहित आलोचना करने का सकल्प करके मायासहित आलोचना की हो।

इनमे से किसी प्रकार के भग से आलोचना करने पर उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को सयुक्त करके पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त मे सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहारतप मे स्थापित होकर वहन करते हुए भी पुन. किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त मे आरोपित कर देना चाहिए।

१७ जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पचमासिक या कुछ अधिक पचमासिक इन परिहारस्थानो मे से किसी एक परिहारस्थान की अनेक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे—

मायारहित आलोचना करने पर आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार-तप मे स्थापित करके उसकी योग्य वैयावृत्य करनी चाहिए।

यदि वह परिहारतप मे स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त में सम्मिलित कर देना चाहिए।

१ पूर्व मे प्रतिसेवितदोष की पहले आलोचना की हो,
२. पूर्व मे प्रतिसेवितदोष की पीछे आलोचना की हो,
३ पीछे से प्रतिसेवितदोष की पहले आलोचना की हो,
४ पीछे से प्रतिसेवितदोष की पीछे आलोचना की हो।

१ मायारहित आलोचना करने का सकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
२ मायारहित आलोचना करने का सकल्प करके मायासहित आलोचना की हो,
३. मायासहित आलोचना करने का सकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
४. मायासहित आलोचना करने का सकल्प करके मायासहित आलोचना की हो।

इनमें से किसी भी प्रकार के भग से आलोचना करने पर उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को सयुक्त करके पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त मे सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहारतप मे स्थापित होकर वहन करते हुए भी पुन: किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त मे आरोपित कर देना चाहिए।

१८. जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पचमासिक या कुछ अधिक पचमासिक इन परिहारस्थानो मे से किसी एक परिहारस्थान की अनेक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे—

मायासहित आलोचना करने पर आसेवित के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहारतप मे स्थापित करके योग्य वैयावृत्य करनी चाहिए।

यदि वह परिहारतप मे स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त मे सम्मिलित कर देना चाहिए।

१ पूर्व मे प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
२ पूर्व मे प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो,
३ पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
४ पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो।

१ मायारहित आलोचना करने का सकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
२. मायारहित आलोचना करने का सकल्प करके मायासहित आलोचना की हो,
३ मायासहित आलोचना करने का सकल्प करके मायारहित आलोचना की हो,
४ मायासहित आलोचना करने का सकल्प करके मायासहित आलोचना की हो।

इनमे से किसी भी प्रकार के भग से आलोचना करने पर उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को सयुक्त करके पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त मे सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहारतप मे स्थापित होकर वहन करते हुए पुन· किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त मे आरोपित कर देना चाहिए।

विवेचन—भिक्षु या भिक्षुणी अतिचाररहित सयम का पालन करके तो शुद्ध आराधना करते ही हैं किन्तु साधना के लबे काल मे कभी शारीरिक या अन्य किसी प्रकार की परिस्थितियो से विवश होकर यदि उन्हे अतिचारादि का सेवन करना पडे तो भी वे आलोचना एव प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धि करके सयम की आराधना कर सकते है।

इन सूत्रो मे प्रतिसेवना, आलोचना, प्रायश्चित्तस्थान, प्रस्थापना, आरोपणा आदि का कथन किया गया है।

निशीथ उद्देशक २० मे ऐसे ही अठारह सूत्र है। वहा इन सूत्रो से सबधित उक्त सभी विषयो का विस्तृत विवेचन कर दिया गया है।

सूत्रोक्त परिहारस्थान के भाष्यकार ने दो अर्थ किये हैं—

१ परित्याग करने योग्य अर्थात् दोषस्थान और २ धारण करने योग्य अर्थात् प्रायश्चित्त-तप।

प्रस्तुत अठारह सूत्रो मे 'दोषस्थान' अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग किया गया है और निशीथ के प्रत्येक उद्देशक के उपसहारसूत्र मे 'प्रायश्चित्ततप' अर्थ मे इसका प्रयोग किया गया है।

पारिहारिक और अपारिहारिकों का निषद्यादि व्यवहार

१९. बहवे पारिहारिया बहवे अपारिहारिया इच्छेज्जा एगयओ अभिनिसेज्ज वा, अभिनिसीहियं वा चेइत्तए, नो से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता एगयओ अभिनिसेज्जं वा, अभिनिसीहियं वा चेइत्तए। कप्पइ णं थेरे आपुच्छित्ता एगयओ अभिनिसेज्जं वा, अभिनिसीहियं वा चेइत्तए।

थेरा य णं वियरेज्जा, एवं णं कप्पइ एगयओ अभिनिसेज्जं वा, अभिनिसीहियं वा चेइत्तए। थेरा य णं णो वियरेज्जा, एवं नो कप्पइ एगयओ अभिनिसेज्जं वा, अभिनिसीहियं वा चेइत्तए। जो णं थेरेहिं अविइण्णे, अभिनिसेज्जं वा, अभिनिसीहियं वा चेएइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा।

१९ अनेक पारिहारिक भिक्षु और अनेक अपारिहारिक भिक्षु यदि एक साथ रहना या बैठना चाहें तो उन्हे स्थविर को पूछे बिना एक साथ रहना या एक साथ बैठना नही कल्पता है। स्थविर को पूछ करके ही वे एक साथ रह सकते हैं या बैठ सकते है।

यदि स्थविर आज्ञा दे तो उन्हे एक साथ रहना या एक साथ बैठना कल्पता है। यदि स्थविर आज्ञा न दे तो उन्हे एक साथ रहना या बैठना नही कल्पता है। स्थविर की आज्ञा के बिना वे एक साथ रहे या बैठे तो उन्हे मर्यादा उल्लघन का दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—परिहारतप वहन करने की विस्तृत विधि निशीथ उ ४ मे कही है तथा उ. २० एव बृहत्कल्प उ. ४ मे भी कुछ वर्णन किया गया है।

पारिहारिक भिक्षु का आहार, विहार, स्वाध्याय, शय्या, निषद्या आदि सभी कार्य समूह मे रहते हुए भी अलग-अलग होते है। अत किसी साधु को किसी विशेष कारण से पारिहारिक के साथ बैठना हो तो स्थविर आदि, जो गण मे प्रमुख हो, उनकी आज्ञा लेना आवश्यक होता है। स्थविर को उचित लगे तो वे आज्ञा देते है अन्यथा वे निषेध कर देते हैं। निषेध करने के बाद भी यदि कोई उसके साथ बैठता है, वह मर्यादा का भग करता है तथा बिना पूछे उसके साथ बैठे या अन्य किसी प्रकार का व्यवहार करे तो मर्यादा-भग करने वाला होता है, जिससे वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

पारिहारिक के साथ व्यवहार न रखने का कारण यह है कि वह अकेला रहकर प्रायश्चित्त से विशेष निर्जरा करता हुआ अपनी आत्मशुद्धि करे और समूह मे रहते हुए उस प्रायश्चित्त तप को वहन कराने का कारण यह है कि अन्य साधुओ को भी भय उत्पन्न हो, जिससे वे दोषसेवन करने से बचते रहे।

परिहारकल्पस्थित भिक्षु का वैयावृत्य के लिए विहार

२०. **परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से सरेज्जा। कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए।**

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए। कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—'वसाहि अज्जो! एगरायं वा दुरायं वा।' एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा।

२१. **परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से नो सरेज्जा कप्पइ से निव्विसमाणस्स एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए।**

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए। कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए। तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—'वसाहि अज्जो! एगरायं वा दुरायं वा।' एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा।

२२. परिहार-कप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से सरेज्जा वा, नो सरेज्जा वा, कप्पइ से निव्विसमाणस्स एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए। कप्पइ से तत्थ कारणवत्तिय वत्थए। तंसि च णं कारणंसि निट्ठियसि परो वएज्जा, 'वसाहि अज्जो! एगरायं वा दुरायं वा।' एवं कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा पर वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा।

२० परिहारकल्प मे स्थित भिक्षु (स्थविर की आज्ञा से) अन्यत्र किसी रुग्ण स्थविर की वैयावृत्य (सेवा) के लिए जावे उस समय स्थविर को स्मरण रहे अर्थात् स्थविर उसे परिहारतप छोडने की अनुमति दे तो उसे मार्ग के ग्रामादि मे एक-एक रात्रि विश्राम करते हुए जिस दिशा मे साधर्मिक रुग्ण भिक्षु हो, उसी दिशा मे जाना कल्पता है।

मार्ग मे विचरण के लक्ष्य से ठहरना नही कल्पता है, किन्तु रोगादि के कारण रहना कल्पता है। कारण के समाप्त होने पर यदि कोई वैद्य आदि कहे कि 'हे आर्य! तुम यहा एक-दो रात और ठहरो' तो उसे एक-दो रात और रहना कल्पता है, किन्तु एक-दो रात से अधिक रहना उसे नही कल्पता है।

जो वहा एक-दो रात्रि से अधिक रहता है, उसे उस मर्यादा-उल्लघन का दीक्षाछेद या तप प्रायश्चित्त आता है।

२१ परिहारकल्पस्थित भिक्षु (स्थविर की आज्ञा से) अन्यत्र किसी रुग्ण भिक्षु की वैयावृत्य के लिए जाए, उस समय यदि स्थविर उसे स्मरण न दिलावे अर्थात् परिहारतप छोडने की अनुमति न दे तो परिहारतप वहन करते हुए तथा मार्ग के ग्रामादि मे एक रात्रि विश्राम करते हुए जिस दिशा मे रुग्ण साधर्मिक भिक्षु है उस दिशा मे जाना कल्पता है।

मार्ग मे उसे विचरण के लक्ष्य से रहना नही कल्पता है। किन्तु रोगादि के कारण रहना कल्पता है। उस कारण के समाप्त हो जाने पर यदि कोई वैद्य आदि कहे कि 'हे आर्य! तुम यहा एक-दो रात और रहो' तो उसे वहां एक-दो रात और रहना कल्पता है किन्तु एक-दो रात से अधिक रहना नही कल्पता है। जो वहा एक-दो रात्रि से अधिक रहता है उसे उस मर्यादा उल्लघन का छेद या तप प्रायश्चित्त आता है।

२२. परिहारकल्पस्थित भिक्षु (स्थविर की आज्ञा से) अन्यत्र किसी रुग्ण स्थविर की वैयावृत्य के लिए जावे, उस समय स्थविर उसे स्मरण दिलावे या न दिलावे अर्थात् परिहारतप छोड़कर जाने की स्वीकृति दे या न दे तो उसे मार्ग के ग्रामादि मे एक रात्रि विश्राम करते हुए और शक्ति हो तो परिहारतप वहन करते हुए जिस दिशा मे रुग्ण स्थविर है उस दिशा में जाना कल्पता है।

मार्ग में उसे विचरण के लक्ष्य से रहना नही कल्पता है किन्तु रोगादि के कारण रहना कल्पता है। कारण के समाप्त हो जाने पर यदि कोई वैद्य आदि कहे कि "हे आर्य! तुम यहां एक-दो रात और रहो" तो उसे वहा एक-दो रात और रहना कल्पता है किन्तु एक-दो रात से अधिक रहना नही कल्पता है। जो वहा एक-दो रात्रि से अधिक रहता है उसे उस मर्यादा-उल्लघन का छेद या तप प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—पूर्वसूत्र मे परिहारतप करने वाले भिक्षु के साथ निषद्या आदि के व्यवहार का निषेध एव अपवाद कहा गया है।

प्रस्तुत सूत्रत्रिक मे परिस्थितिवश पारिहारिक भिक्षु को स्थविर की सेवा के लिए भेजने का वर्णन किया गया है।

पारिहारिक भिक्षु अपने प्रायश्चित्त तप की आराधना करता हुआ भी सेवा में जा सकता है अथवा तप की आराधना छोड़कर भी जा सकता है।

प्रथम सूत्र मे बताया गया है कि स्थविर तप छोडने का कहे तो तप छोडकर जावे। दूसरे सूत्र मे बताया गया है कि स्थविर तप छोडने का न कहे तो प्रायश्चित्त तप वहन करते हुए जावे। तीसरे सूत्र मे बताया गया है कि स्थविर कहे या न कहे, यदि शक्ति हो तो परिहारतप वहन करते हुए ही जावे और शक्ति न हो तो स्वीकृति लेकर परिहारतप छोडकर जावे।

पारिहारिक भिक्षु तप करते हुए जावे या तप छोड़कर जावे तो विश्रांति के लिए उसे मार्ग मे एक जगह एक रात्रि से अधिक नही रुकना चाहिए।

धर्म प्रभावना के लिए या किसी की प्रार्थना-आग्रह से वह मार्ग मे अधिक नही रुक सकता है किन्तु स्वय की अशक्ति या बीमारी के कारण अधिक रुकना चाहे तो वह रुक सकता है। यदि बीमारी के कारण ५-१० दिन तक रहे और उसका उपचार भी करना पड़े तो ठहर सकता है और स्वस्थ होने के बाद किसी वैद्य या किसी हितैषी गृहस्थ के कहने से एक या दो दिन और भी रुक सकता है। उसका कोई प्रायश्चित्त नही आता है।

स्वस्थ होने के बाद स्वेच्छा से या किसी के कहने पर दो दिन से अधिक रुके तो वह मर्यादा-उल्लंघन के कारण यथायोग्य तप या छेद प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

"से संतरा छेए वा परिहारे वा" इस सूत्रांश का विवेचन बृहत्कल्पसूत्र उ. २, सू ४ में देखे।

गतव्य स्थान का जो सीधा मार्ग सयम-मर्यादा के अनुसार हो तो उसी से वैयावृत्य के लिए जाना चाहिए किन्तु अधिक समय व्यतीत करते हुए यथेच्छ मार्ग से नहीं जाना चाहिए।

अकेले विचरने वाले का गण में पुनरागमन

२३. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताण विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेय-परिहारस्स उवट्ठाएज्जा ।

२४. गणावच्छेइए य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेय-परिहारस्स उवट्ठाएज्जा ।

२५. आयरिय-उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेय-परिहारस्स उवट्ठाएज्जा ।

२३ यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर एकलविहारचर्या धारण करके विचरण करे, बाद मे वह पुन उसी गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एव प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो भी छेद या तप रूप प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे ।

२४ यदि कोई गणावच्छेदक गण से निकलकर एकलविहारचर्या को धारण करके विचरण करे और बाद मे वह पुन उसी गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एव प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो भी छेद या तप रूप प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे ।

२५ यदि कोई आचार्य या उपाध्याय गण से निकलकर एकलविहारचर्या को धारण करके विचरण करे और बाद मे वह पुन उसी गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एव प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो छेद या तप रूप प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे ।

विवेचन—इन सूत्रो मे गण से निकलकर एकाकी विहारचर्या करने वाले भिक्षु, आचार्य, उपाध्याय एव गणावच्छेदक का कथन है ।

ये एकलविहारी भिक्षु यदि एकाकी विहारचर्या छोडकर पुन. गण मे सम्मिलित होना चाहे तो उनको गण मे सम्मिलित किया जा सकता है, किन्तु उनको एकाकी विहारचर्या मे लगे दोषो की आलोचना प्रतिक्रमण करना आवश्यक होता है और गच्छप्रमुख उनके एकाकी विचरण का प्रायश्चित्त तप या दीक्षाछेद जो भी दे उसे स्वीकार करना भी आवश्यक होता है ।

इन सूत्रो के विधानानुसार भिक्षु, आचार्य, उपाध्याय एवं गणावच्छेदक प्रतिमाधारी नही हैं, यह स्पष्ट है । फिर भी सूत्रो मे जो "प्रतिमा" शब्द का प्रयोग किया गया है वह केवल सूत्र-शैली है । क्योकि आगे के सूत्रो में पार्श्वस्थ आदि के लिए एवं अन्य मत के लिंग को धारण करने वाले के लिये

भी "प्रतिमा" शब्द का प्रयोग किया गया है। जिनके प्रतिमाधारी होने की कल्पना करना सर्वथा अनुचित होगा।

भिक्षु की बारह प्रतिमा या अन्य प्रतिमाए धारण करने वालो की निश्चित अवधि होती है। ये उतने समय तक आराधना करते रहते हैं। उनके लिए सूत्र मे प्रयुक्त "दोच्चपि" और "इच्छेज्जा" पद अनावश्यक है। वे अनेक प्रकार की तप-साधना आदि का अभ्यास करके ही प्रतिमा धारण करते हैं। अत. बीच मे प्रतिमा छोडकर आने का कोई कारण नही होता है तथा प्रतिमाधारी भिक्षु के लिए प्रतिमा पूर्ण करके गच्छ मे आने पर तप या छेद प्रायश्चित्त के विधान की कल्पना करना भी उचित नही है। क्योकि प्रतिमा धारण करने वाले श्रावक भी इतने दृढ मनोबल वाले होते हैं कि वे अपने नियमो मे किसी प्रकार के आगार नही रखते हैं अर्थात् राजा आदि का आगार भी उनके नही रहता है। तब प्रतिमाओ को धारण करने वाले भिक्षु के चलचित्त होने की एव दोष लगाने की सम्भावना ही कैसे की जा सकती है?

सूत्र ३१ मे अन्यमत का लिग धारण करने वाले सामान्य भिक्षु के लिए भी **"नत्थि केई छेए वा परिहारे वा, नन्नत्थ एगाए आलोयणाए"** ऐसा कथन है तो प्रतिमाधारी भिक्षु तो उससे भी बहुत उच्चकोटि की साधना करने वाले होते है।

अत इन सूत्रो मे किया गया विधान एव प्रायश्चित्त स्वेच्छावश गच्छ से निकलकर एकल-विहारचर्या धारण करने वालो की अपेक्षा से है, ऐसा समझना ही उचित है।

आगमो मे कहे गए एकलविहार दो प्रकार के हैं—

(१) अपरिस्थितिक (२) सपरिस्थितिक।

अपरिस्थितिक—प्रतिमाओ को धारण करने वाले भिक्षुओ का अकेला रहना केवल निर्जरा-हेतु होता है, वह अपरिस्थितिक एकलविहार है।

प्रतिमा धारण करने वाले भिक्षु गच्छ के आचार्य की आज्ञा लेकर आदर सहित एकलविहार करते है, अत. ये आचार्य की सम्पदा मे गिने जाते हैं। ये नौ पूर्व के ज्ञाता होते हैं। आठ महिनो मे प्रतिमा पूर्ण करने के बाद सम्मान पूर्वक गण मे आते है।

सपरिस्थितिक—शारीरिक-मानसिक कारणो से, प्रकृति की विषमता से, शुद्ध सयम पालन करने वाले सहयोगी के न मिलने से अथवा पूर्णतया सयमविधि का पालन न कर सकने से, जो स्वेच्छा से एकलविहार धारण किया जाता है, वह 'सपरिस्थितिक एकलविहार' है।

सपरिस्थितिक एकलविहारचर्या वाला भिक्षु आचार्य की सम्पदा मे नही गिना जाता है। उसका गच्छ से निकलना आज्ञा से अथवा आदरपूर्वक नही होता है, किन्तु सघ की उदासीनता या विरोधपूर्वक होता है।

सपरिस्थितिक एकलविहारचर्या वाले भिक्षु के लिए प्रतिमा धारण करना, उत्कृष्ट गीतार्थ होना अथवा विशिष्ट योग्यताओ का होना तो अनिवार्य नही है, तथापि नवदीक्षित (तीन वर्ष से अल्प दीक्षा पर्याय वाला), बालक (१६ वर्ष से कम वय वाला) एव तरुण (४० वर्ष से अल्प वय वाले) भिक्षु को एकलविहारी नही होना चाहिए। क्योकि व्यवहारसूत्र उ. ३ मे इन तीनो को आचार्य उपाध्याय के नेतृत्व मे ही रहने का विधान है।

अपरिस्थितिक एकलविहारचर्या सम्बन्धी आगमस्थल

१. भिक्षु की ग्यारह प्रतिमा। —दशा द ७
२. जिनकल्पसाधना। —बृहत्कल्प उ ६
३ जिनकल्पी को सर्प काटने पर भी उपचार कराने का निषेध। —व्यव. उ. ५
४. एकलविहार का मनोरथ। —ठाण अ ३
५. एकलविहार के आठ गुण। —ठाण अ. ८
६. अकेले बैठे, खडा रहे, सोवे एव विचरे। —सूय. श्रु १, अ. २, उ. २
७. सभोग (सामूहिक आहार) प्रत्याख्यान का फल। —उत्तरा. अ. २९
८ सहाय-प्रत्याख्यान का फल। —उत्तरा अ. २९
९ शिष्य को एकलविहारसमाचारी की शिक्षा देने से आचार्य का शिष्य के ऋण से मुक्त होना। —दशा. द ४
१० गणत्याग करना आभ्यन्तर तप कहा है। —उववाई. सू. ३० / भगवती. श. २५, उ. ७
११ वस्त्र सम्बन्धी प्रतिज्ञायुक्त एकलविहार। —आ. श्रु. १, अ. ८, उ. ४-५-६-७

मोय-प्रतिमा तथा दत्ति-परिमाण तप एव अनेक अभिग्रहो मे भी समूह का या सामूहिक आहार का त्याग किया जाता है।

सपरिस्थितिक एकलविहारचर्या सम्बन्धी विधान करने वाले आगमस्थल

१ आत्मसुरक्षा के लिए एकलविहार। —ठाण अ ३
२. शिष्यो द्वारा उत्पन्न असमाधि से गर्गाचार्य का एकलविहार। —उत्तरा अ २६
३ योग्य सहायक भिक्षु के अभाव मे एकलविहार का निर्देश। —उत्तरा. अ. ३२
४. पूरी चूलिका का नाम ही 'विविक्तचर्या' है एव उसमे एकलविहार के निर्देश के साथ अनेक शिक्षाप्रद वचन कहे हैं। —दशवै. चू २
५ शुद्ध गवेषणा करने वाले भिक्षु के एकलविहार की प्रशसा।—आचा. श्रु १, अ ६, उ. २
६. आधाकर्म दोष से बचने के लिए एकलविहार की प्रेरणा एव उससे मोक्षप्राप्ति का प्ररूपण। —सुय. श्रु १, अ १०
७ एकलविहारी के निवासयोग्य उपाश्रय का विधान। —व्यव उ. ६
८ एकलविहारी की वृद्धावस्था का आपवादिक जीवन। —व्यव. उ. ८
९ ठाण अ ५ मे गणत्याग के प्रशस्त कारण कहे हैं एव बृहत्कल्प उ. ४ मे सयम गुण की हानि हो ऐसे गण मे जाने का निषेध है। अत ऐसी परिस्थिति वाले भिक्षु का एकल-विहार।
१० अरिहत सिद्ध की साक्षी से एकलविहारी भिक्षु को आलोचना एव प्रायश्चित्त ग्रहण करने की विधि। —व्यव. उ १, सू ३३

अप्रशस्त एकलविहार एवं उसका निषेध करने वाले आगमस्थल

१ अत्यन्तक्रोधी-मानी एव धूर्त का दूषित एकलविहार। —आचा श्रु १, अ. ५, उ १

२. योग्य प्रायश्चित्त स्वीकार न करने से जो गच्छ-निष्कासित हो, उसका एकलविहार।
—बृहत्कल्प. उ. ४

३. अव्यक्त एव अशान्त स्वभाव वाले का सकटयुक्त एकलविहार।
—आचा श्रु. १, अ. ५, उ. ४

४. संयम-विधि के पालन मे अरुचि वाले के लिए एकलविहार का निषेध।
—आचा. श्रु १, अ. ५, उ ६

५. परिपूर्ण पखरहित पक्षी की उपमा से अव्यक्त भिक्षु के लिए एकलविहार का निषेध।
—सूय. श्रु. १, अ. १४

६. नवदीक्षित, बालक एव तरुण भिक्षु को आचार्य की निश्रा बिना रहने का निषेध।
—व्यव उ. ३

७ आचार्य, उपाध्याय पद धारण करने वालो को अकेले विहार करने का निषेध।
—व्यव उ ४

नियुक्ति तथा भाष्य में एकलविहार का वर्णन

१. **बृहत्कल्पभाष्य** गाथा ६९० से ६९३ तक—

जघन्यगीतार्थ—आचाराग एव निशीथसूत्र को कण्ठस्थ धारण करने वाला।
मध्यमगीतार्थ—आचाराग, सुयगडाग एव चार छेदसूत्रो को कण्ठस्थ करने वाला।
उत्कृष्टगीतार्थ—नवपूर्व से १४ पूर्व तक के ज्ञानी आदि।

इनमे से किसी भी प्रकार का गीतार्थ ही आचार्य, उपाध्याय या एकलविहारी हो सकता है। क्योकि गीतार्थ का एकाकी विहार एव गीतार्थ आचार्य की निश्रायुक्त गच्छविहार, ये दो विहार ही जिनशासन मे अनुज्ञात है। तीसरा अगीतार्थ का एकाकी विहार एव अगीतार्थ की निश्रायुक्त गच्छ-विहार भी जिनशासन मे निषिद्ध है।

निशीथचूर्णि गा ४०४ मे उक्त गीतार्थ की व्याख्या के समान ही जघन्य, मध्यम एव उत्कृष्ट बहुश्रुत की भी व्याख्या की गई है।

२. **व्यवहारभाष्य** उ. १ के अन्तिम सूत्र मे—

१. रोगातक २. दुर्भिक्ष ३ राजद्वेष ४ भय ५ शारीरिक या मानसिक ग्लानता ६ ज्ञान दर्शन या चारित्र की वृद्धि हेतु ७. साथी भिक्षु के काल-धर्म प्राप्त होने पर ८ आचार्य या स्थविर की आज्ञा से भेजने पर, इत्यादि कारणो से एकलविहार किया जाता है।

गच्छ मे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर एव गणावच्छेदक इन पाच पदवीधरो मे से एक भी योग्य पदवीधर के न होने के कारण गच्छ त्याग करने वाले एकलविहारी भिक्षु होते हैं।

उक्त कारणो से एकलविहारी हुए भिक्षुओ को अरिहत सिद्ध की साक्षी से आलोचना करने का विधान है।

३. **ओघनियुक्ति में**—सकारण एव अकारण के भेद से एकलविहार दो प्रकार का कहा है—

१. ज्ञान दर्शन चारित्र की वृद्धि के लिए या आगमोक्त अन्य परिस्थितियों से किया गया गीतार्थ का एकलविहार 'सकारण एकलविहार' है।

२ आचार्यादि के अनुशासन से घबराकर अथवा स्थान, क्षेत्र, आहार, वस्त्र आदि मनोनुकूल प्राप्त करने हेतु अथवा अनेक स्थलो को देखने हेतु किया गया गीतार्थ का एकलविहार भी 'अकारण एकलविहार' है तथा सभी अगीतार्थों का एकलविहार तो 'अकारण एकलविहार' ही कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्रत्रिक मे आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक एव सामान्य भिक्षुओ के एकलविहार करने का एव गण मे पुनरागमन का विधान किया गया है।

साराश यह है कि एकलविहार प्रशस्त अप्रशस्त दोनो प्रकार का होता है। अतएव एकलविहार आगमो मे निषिद्ध भी है एव विहित भी है। गीतार्थ का आगमोक्त कारणो के उपस्थित होने पर किया गया प्रशस्त एकलविहार आगमविहित है।

अगीतार्थ, अबहुश्रुत और अव्यक्त का एकलविहार एकान्त निषिद्ध है और ये तीनो ही शब्द एकार्थक भी है।

सयम मे शिथिल, अजागरूक एव क्रोध, मान आदि कषायो की अधिकता वाले भिक्षु का एकलविहार अप्रशस्त है एव वह निंदित एकलविहार कहा गया है।

ये प्रशस्त अप्रशस्त कोई भी एकाकीविहारी भिक्षु पुन गच्छ मे आकर रहना चाहे तो उचित परीक्षण करके एव योग्य प्रायश्चित्त देकर गच्छ मे रखा जा सकता है। यह तीनो सूत्रो का सार है।

पार्श्वस्थ-विहारी आदि का गण में पुनरागमन

२६. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म पासत्थविहारपडिमं उवसपज्जित्ताण विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि य इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

२७. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म अहाछंदविहारपडिम उवसंपज्जित्ताण विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्च पि तमेव गणं उवसपज्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि य इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

२८. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म कुसीलविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्च पि तमेव गण उवसपज्जित्ताण विहरित्तए, अत्थि य इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

२९. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओसन्नविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्च पि तमेव गण उवसपज्जित्ताण विहरित्तए, अत्थि य इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

३०. भिक्खू य गणाओ अवक्कम संसत्तविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि य इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

२६. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर पार्श्वस्थविहारचर्या को अगीकार करके विचरे और बाद मे वह पार्श्वस्थविहार छोडकर उसी गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो तो पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एव प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो भी दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त दे, उसे स्वीकार करे।

२७ यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर यथाछन्दविहारचर्या अगीकार करके विचरे और बाद मे वह यथाछन्दविहार छोडकर उसी गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो तो वह उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एव प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो भी दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त दे, उसे स्वीकार करे।

२८ यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर कुशीलविहारचर्या को अगीकार करके विचरे और बाद मे वह कुशीलविहार छोडकर उसी गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो तो वह उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एव प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो भी दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त दे, उसे स्वीकार करे।

२९ यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर अवसन्नविहारचर्या को अगीकार करके विचरे और बाद मे वह अवसन्नविहार छोडकर उसी गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो तो वह उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एव प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो भी दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त दे, उसे स्वीकार करे।

३०. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर ससक्तविहारचर्या को अगीकार करके विचरे और बाद मे वह ससक्तविहार को छोडकर उसी गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो तो वह उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एव प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो भी दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त दे, उसे स्वीकार करे।

विवेचन—पूर्व के सूत्रो मे एकलविहारी भिक्षु के पुन गच्छ मे आने का कथन है और इन सूत्रो मे शिथिल आचार वाले पार्श्वस्थ आदि भिक्षुओ का पुन गच्छ मे आने का कथन है। इन सूत्रों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वसूत्रो मे वर्णित एकलविहार वाले सयम मे शिथिल नही हैं, किन्तु शुद्ध आचार का पालन करने वाले हैं।

पार्श्वस्थ आदि जब पुन गच्छ मे आना चाहे तब उनकी दूषित प्रवृतियो के द्वारा सयम पूर्ण नष्ट न हुआ हो अर्थात् कुछ भी सयम के गुण शेष रहे हो तो उन्हे तप या छेद का प्रायश्चित्त देकर गच्छ मे सम्मिलित किया जा सकता है।

यह सयम शेष रहने का कथन पूर्वसूत्रो मे नही है, अन्य सभी विधान दोनों जगह समान हैं। अतः इनका विवेचन पूर्ववत् समझना चाहिए।

इन सूत्रो मे प्रायश्चित्त के लिए तप या छेद का वैकल्पिक विधान किया गया है अर्थात् किसी एकलविहारी या पार्श्वस्थ आदि को तप प्रायश्चित्त देकर गच्छ मे सम्मिलित किया जा सकता है और किसी को दीक्षाछेद का प्रायश्चित्त भी दिया जा सकता है, अत. एकान्त विधान नही समझना चाहिए।

किसी भी साधु को पुन· गच्छ मे सम्मिलित करने के लिए उसके सयम की परीक्षा करना एव जानकारी करना अत्यन्त आवश्यक होता है, चाहे वह शुद्ध-आचार वाला हो अथवा शिथिल-आचार वाला हो ।

१. स्वतत्र रहने वाला भिक्षु गच्छ के आचार-विचार एव विनय-अनुशासन में रह सकेगा या नही, यह देखना अत्यत आवश्यक है ।

२. वह पार्श्वस्थविहार आदि छोडकर पुन गच्छ मे क्यो आना चाहता है—विशुद्ध परिणामो से या सक्लिष्ट परिणामो से ?

३. परीषह-उपसर्ग एव अपमान आदि से घबराकर आना चाहता है ?

४. भविष्य के लिए उसके अब क्या कैसे परिणाम हैं ?

५ उसके गच्छ मे रहने के परिणाम स्थिर हैं या नही ?

इत्यादि विचारणाओ के बाद उसका एव गच्छ का जिसमे हित हो, ऐसा निर्णय लेना चाहिए ।

सही निर्णय करने के लिए उस भिक्षु को कुछ समय तक या उत्कृष्ट छह महीने तक गच्छ मे सम्मिलित न करके परीक्षार्थ रखा जा सकता है, जिससे उसे रखने या न रखने का सही निर्णय हो सके ।

इन विचारणाओ का कारण यह है कि वह भिक्षु गच्छ का या गच्छ के अन्य साधु-साध्वियो का अथवा सघ का कुछ भी अहित कर बैठे, बात-बात मे कलह करे, गच्छ या गच्छप्रमुखो की निंदा करे या पुन गच्छ को छोड दे, अन्य साधुओ को भी भ्रमित कर गच्छ छुडा दे, इत्यादि परिणामो से उसकी या गच्छ की एव जिनशासन की हीलना होती है ।

अत· सभी विषयो का पूर्वापर विचार करके ही आगतुक भिक्षु को रखना चाहिए । अन्य गच्छ के आगतुक भिक्षु के लिए भी ऐसी ही सावधानिया रखना आवश्यक समझ लेना चाहिए ।

पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील और ससक्त—इन चारो का विस्तृत विवेचन निशीथ उ ४ मे देखे । यथाछद का विस्तृत विवेचन निशीथ उ. १० मे देखे । सक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

१. **पार्श्वस्थ**—जो ज्ञान दर्शन चारित्र की आराधना मे पुरुषार्थ नही करता अपितु उनके अतिचारो एव अनाचारो मे प्रवृत्ति करता है, वह 'पार्श्वस्थ' कहा जाता है ।

२. **यथाछंद**—जो आगमविपरीत मनमाना प्ररूपण या आचरण करता है, वह यथाछद कहा जाता है ।

३. **कुशील**—जो विद्या, मत्र, निमित्त-कथन या चिकित्सा आदि सयमी जीवन के निषिद्ध कार्य करता है, वह 'कुशील' कहा जाता है ।

४. **अवसन्न**—जो संयमसमाचारी के नियमो से विपरीत या अल्पाधिक आचरण करता है, वह 'अवसन्न' कहा जाता है ।

५. **संसक्त**—उन्नत आचार वालो के साथ उन्नत आचार का पालन करता है और शिथिलाचार वालो के साथ शिथिलाचारी हो जाता है, वह 'ससक्त' कहा जाता है ।

सयम में दोष लगाने के कारण ये पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारी कहे जाते हैं । किन्तु भगवती

सूत्र श. २५ उ. ६ मे बकुश और प्रतिसेवनाकुशील निर्ग्रन्थ का वर्णन है। वे दोष का सेवन करते हुए भी निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं। इसका कारण यह है—

१. जो भिक्षु अनिवार्य परिस्थिति के बिना दोष सेवन करता है।

२. अनिवार्य परिस्थिति मे दोष सेवन करके शुद्धि नही करता है।

३. सयम की मर्यादाओ से विपरीत आचरणो को सदा के लिए स्वीकार कर लेता है, वह "शिथिलाचारी पार्श्वस्थादि" कहा जाता है।

जो भिक्षु किसी अनिवार्य परिस्थिति से विवश होकर दोष सेवन करता है, बाद में प्रायश्चित्त लेकर दोषो की शुद्धि कर लेता है। विशेष परिस्थिति से निवृत्त होने पर सदोष प्रवृत्तियो का परित्याग कर देता है, वह "शिथिलाचारी पार्श्वस्थादि" नही कहा जाता है किन्तु बकुश या प्रतिसेवना निर्ग्रन्थ एव शुद्धाचारी कहा जाता है।

शुद्धाचारी एव शिथिलाचारी का निर्णय करने मे एक विकल्प यह भी ध्यान मे रखने योग्य है कि सयम की जिन मर्यादाओं का आगमो मे स्पष्ट कथन है, उनका जो अकारण पालन नही करता है उसे तो शिथिलाचारी कहा जा सकता है, किन्तु आगमो मे जिन मर्यादाओ का कथन नही है, जो परम्परा से प्रचलित हैं या गच्छ समुदाय या व्यक्ति के द्वारा निर्धारित एव आचरित हैं, ऐसी समाचारी के न पालने से किसी को शिथिलाचारी मानना सर्वथा अनुचित है।

जिस समुदाय या गच्छ की जो मर्यादाए है उस गच्छ या समुदाय वालो के लिए अनुशासन हेतु उनका पालन करना आवश्यक है। क्योकि अपने गच्छ की मर्यादा का पालन न करने वाला गच्छसमाचारी एव गुरु आज्ञा का भग करने वाला होता है। किन्तु उस गच्छ से भिन्न गच्छ वाले साधु साध्वी को उन नियमो के पालन करने पर शिथिलाचारी या गुरु आज्ञा का भग करने वाला नही कहा जा सकता। ऐसी सामाचारिक मर्यादाओ की एक सूची निशीथ उ १३ में दी गई है। जिज्ञासु पाठक उसे ध्यान से देखे।

पार्श्वस्थ आदि के इन पाच सूत्रो का क्रम निशीथसूत्र उद्देशक ४ एव उद्देशक १३ के मूल पाठ एव भाष्य मे इस प्रकार है—

१. पार्श्वस्थ २ अवसन्न ३. कुशील ४. ससक्त ५. नित्यक। किन्तु प्रस्तुत सूत्र एव उसके भाष्य मे क्रम इस प्रकार है—

१. पार्श्वस्थ २ यथाछद ३ कुशील ४ अवसन्न ५. ससक्त।

यह क्रमभेद मौलिक रचना से है या कालक्रम से है या लिपिदोष से है, यह ज्ञात नही हो सका है। भाष्य मे भी इस विषय मे कोई विचार नही किया गया है।

भाष्य मे बताया गया है कि कई पार्श्वस्थादि आत्मनिन्दा एव सुसाधुओ की प्रशंसा करते हुए विचरण करते हैं, कई पार्श्वस्थादि क्षेत्र-काल की ओट लेकर अपने शिथिलाचार का बचाव करते हैं एव विद्या, मन्त्र, निमित्त आदि से अपनी प्रतिष्ठा बनाते है और सुसाधुओं की निन्दा भी करते हैं।

पार्श्वस्थ आदि महाविदेहक्षेत्र मे भी होते हैं एव सभी तीर्थंकरो के शासन में भी होते हैं।

इन पार्श्वस्थ आदि में भी यथाछन्द साधु अपना और जिनशासन का अत्यधिक अहित करने वाला होता है।

ये सभी पार्श्वस्थादि अनुकम्पा के योग्य हैं तथा सद्बुद्धि आने पर यदि ये सुविहित गण मे आना चाहे तो उनकी योग्यता का निर्णय करके इन्हे गच्छ मे सम्मिलित किया जा सकता है, यह इन सूत्रो का आशय समझना चाहिए।

अन्यलिंगग्रहण के बाद गण में पुनरागमन

३१. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म परपासंडपडिम उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नत्थि णं तस्स तप्पत्तियं केइ छेए वा परिहारे वा, नन्नत्थ एगाए आलोयणाए।

३१ यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर किसी विशेष परिस्थिति से अन्य लिंग को धारण करके विहार करे और कारण समाप्त होने पर पुनः स्वलिंग को धारण करके गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो उसे लिंगपरिवर्तन का आलोचना के अतिरिक्त दीक्षाछेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नही आता है।

विवेचन—यदि कोई भिक्षु कषायवश गण को छोडकर अन्यलिंग धारण करता है एव कालान्तर मे पुन स्वगच्छ मे आना चाहता है तो उसे दीक्षाछेद या मूल दीक्षा आदि प्रायश्चित्त देकर ही गच्छ मे सम्मिलित किया जा सकता है।

किन्तु प्रस्तुत सूत्र मे जो दीक्षाछेद आदि प्रायश्चित्त का निषेध किया गया है, उसका आशय यह है—

असह्य उपद्रवो से उद्विग्न होकर कोई भिक्षु भावसयम की रक्षा के लिए द्रव्यलिंग का परिवर्तन करता है अथवा किसी देश का राजा आर्हतधर्म से एव निर्ग्रन्थ श्रमणो से द्वेष रखता है, उस क्षेत्र मे किसी भिक्षु को जितने समय रहना हो या उस क्षेत्र को विहार करके पार करना हो, तब वह लिंगपरिवर्तन करता है। बाद मे पुनः स्वलिंग को धारण कर गच्छ के साधुओ के साथ रहना चाहता है तब उसे लिंगपरिवर्तन के लिए केवल आलोचना प्रायश्चित्त के सिवाय कोई छेद या तप प्रायश्चित्त नही दिया जाता है।

भगवती सूत्र श २५ उ ७ मे गृहस्थलिंग एव अन्यलिंग मे छेदोपस्थापनीयचारित्र का जो कथन है, वह भी इसी अपेक्षा से है।

यहा सूत्र मे 'परपासड' शब्द के साथ 'पडिम' शब्द का प्रयोग किया गया है फिर भी यह सूत्रोक्त 'भिक्षु प्रतिमा' नही है, किंतु शब्दप्रयोग करने की यह विशिष्ट आगम-शैली है, ऐसा समझना चाहिए।

विशेष जानकारी के लिए सूत्र २३ का विवेचन देखे।

संयम छोड़कर जाने वाले का गण में पुनरागमन

३२. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहावेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नत्थि णं तस्स तप्पत्तियं केई छेए वा परिहारे वा, नन्नत्थ एगाए छेओवट्ठावणियाए।

३२. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर सयम का त्याग कर दे और बाद मे वह उसी गण को स्वीकार कर रहना चाहे तो उसके लिए केवल "छेदोपस्थापना" (नई दीक्षा) प्रायश्चित्त है, इसके अतिरिक्त उसे दीक्षाछेद या परिहार तप आदि कोई प्रायश्चित्त नही दिया जाता है ।

विवेचन—यदि कोई भिक्षु सयम-मर्यादाओ तथा परीषह-उपसर्गों से घबराकर इन्द्रियविषयो की अभिलाषा से अथवा कषायो के वशीभूत होकर सयम का त्याग कर देता है एव गृहस्थलिंग धारण कर लेता है, वही कभी पुन सयम स्वीकार करना चाहे और उसे दीक्षा देना लाभप्रद प्रतीत हो तो उसे पुन· दीक्षा दी जा सकती है । किन्तु उसे गच्छ एव सयम त्यागने सबधी प्रवृत्ति का कोई प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता है । क्योकि पुन नई दीक्षा देने से ही उसका पूर्ण प्रायश्चित्त हो जाता है ।

दशवैकालिकसूत्र की प्रथम चूलिका मे सयम मे अस्थिर चित्त को पुनः स्थिर करने के लिए अठारह स्थानो द्वारा विस्तृत एव हृदयद्रावक वर्णन किया गया है । अन्त मे कहा गया है कि सयम मे उत्पन्न यह दु ख क्षणिक है और असख्य वर्षों के नरक के दु.खो से नगण्य है तथा सयम में रमण करने वाले के लिए वह दु ख भी महान् सुखकारी हो जाता है । इसलिए सयम मे रमण करना चाहिए । इन्द्रियविषयो के सुख भी शाश्वत रहने वाले नही होते, किन्तु वे सुख तो दु ख की परम्परा को बढाने वाले ही होते है । अत साधक को ऐसा दृढ निश्चय करना चाहिए कि "चइज्ज देह न हु धम्मसासण" अर्थात् 'शरीर का सम्पूर्ण त्याग करना पड जाय तो भी धर्म-शासन अर्थात् सयम का त्याग कदापि नही करू गा ।

सयम त्यागने वाले या सयम मे रमण नही करने वाले भिक्षु भविष्य मे अत्यन्त पश्चात्ताप को प्राप्त होते है ।

अन्य आगमो मे भी सयम मे स्थिर रहने का एव किसी भी परिस्थिति मे त्याग किये गृहवास एव विषयो को पुन· स्वीकार नही करने का उपदेश दिया गया है ।

अत सयमसाधनाकाल मे विषय-कषायवश या असहिष्णुता आदि कारणो से सयम छोडने का सकल्प उत्पन्न हो जाय तो उन्हे आगमो के अनेक उपदेश-वाक्यो द्वारा तत्काल निष्फल कर देना चाहिए ।

आलोचना करने का क्रम

३३. (१) भिक्खू य अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता इच्छेज्जा आलोएत्तए, जत्थेव अप्पणो आयरिय-उवज्झाए पासेज्जा, तस्संतिए आलोएज्जा जाव अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा ।

(२) नो चेव णं अप्पणो आयरिय-उवज्झाए पासेज्जा, जत्थेव संभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, तस्संतिए आलोएज्जा जाव अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा ।

(३) नो चेव णं संभोइयं साहम्मियं बहुस्सुयं बब्भागमं पासेज्जा, जत्थेव अन्नसंभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, तस्संतिए आलोएज्जा जाव अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा ।

(४) नो चेव णं अन्नसंभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, जत्थेव सारूवियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, तस्संतिए आलोएज्जा जाव अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा ।

(५) नो चेव णं सारूवियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, जत्थेव समणोवासगं पच्छाकडं पासेज्जा बहुस्सुय बब्भागमं, तस्संतिए आलोएज्जा जाव ग्रहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा।

(६) नो चेव णं समणोवासगं पच्छाकडं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, जत्थेव सम्मं भावियाइं चेइयाइं पासेज्जा, तस्संतिए आलोएज्जा जाव ग्रहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा।

(७) नो चेव णं सम्मं भावियाइं चेइयाइ पासेज्जा, बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा पाईणाभिमुहे वा उदीणाभिमुहे वा करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलि कट्टु एवं वएज्जा—

"एवइया मे ग्रवराहा, एवइक्खुत्तो ग्रहं ग्रवरद्धो" अरिहंताणं सिद्धाणं ग्रन्तिए आलोएज्जा जाव अहारिह तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा।

(१) भिक्षु किसी ग्रकृत्यस्थान का प्रतिसेवन करके उसकी ग्रालोचना करना चाहे तो जहा पर ग्रपने ग्राचार्य या उपाध्याय को देखे, वहा उनके समीप ग्रालोचना करे यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप·कर्म स्वीकार करे।

(२) यदि ग्रपने ग्राचार्य या उपाध्याय न मिले तो जहा पर साम्भोगिक (एक माडलिक ग्राहार वाले) सार्धमिक साधु मिले जो कि बहुश्रुत एव बहुग्रागमज्ञ हो, उनके समीप ग्रालोचना करे यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप·कर्म स्वीकार करे।

(३) यदि साम्भोगिक सार्धमिक बहुश्रुत बहुग्रागमज्ञ साधु न मिले तो जहा पर ग्रन्य साम्भोगिक सार्धमिक साधु मिले—"जो बहुश्रुत हो ग्रौर बहुग्रागमज्ञ हो", वहा उसके समीप ग्रालोचना करे यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप कर्म स्वीकार करे।

(४) यदि ग्रन्य साम्भोगिक सार्धमिक बहुश्रुत ग्रौर बहुग्रागमज्ञ साधु न मिले तो जहा पर सारूप्य साधु मिले, जो बहुश्रुत हो ग्रौर बहुग्रागमज्ञ हो, वहा उसके समीप ग्रालोचना करे यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप कर्म स्वीकार करे।

(५) यदि सारूप्य बहुश्रुत ग्रौर बहुग्रागमज्ञ साधु न मिले तो जहा पर पश्चात्कृत (सयम-त्यागी) श्रमणोपासक मिले, जो बहुश्रुत ग्रौर बहुग्रागमज्ञ हो वहा उसके समीप ग्रालोचना करे यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करे।

(६) यदि पश्चात्कृत बहुश्रुत ग्रौर बहुग्रागमज्ञ श्रमणोपासक न मिले तो जहा पर सम्यक् भावित ज्ञानी पुरुष (समभावी—स्व-पर-विवेकी सम्यग्दृष्टि व्यक्ति) मिले तो वहा उसके समीप ग्रालोचना करे यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप.कर्म स्वीकार करे।

(७) यदि सम्यक् भावित ज्ञानी पुरुष न मिले तो ग्राम यावत् राजधानी के बाहर पूर्व या उत्तर दिशा की ग्रोर ग्रभिमुख हो, करतल जोडकर मस्तक के ग्रावर्तन करे ग्रौर मस्तक पर अंजलि करके इस प्रकार बोले—

"इतने मेरे दोष हैं और इतनी बार मैंने इन दोषो का सेवन किया है," इस प्रकार बोलकर अरिहन्तों और सिद्धो के समक्ष आलोचना करे यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म स्वीकार करे।

विवेचन—सयमसाधना करते हुए परिस्थितिवश या प्रमादवश कभी श्रमण-धर्म की मर्यादाओ का उल्लंघन करने वाले अकृत्यस्थान का आचरण हो जाय तो शीघ्र ही अप्रमत्तभाव से आलोचना करना सयम जीवन का आवश्यक अग है। यह आभ्यन्तर तपरूप प्रायश्चित्त का प्रथम भेद है।

उत्तरा अ २९ मे आलोचना करने का फल बताते हुए कहा है कि आलोचक अपनी आलोचना करके आत्मशल्यो को, मोक्षमार्ग मे विघ्न करने वाले दोषो को और अनन्त ससार की वृद्धि कराने वाले कर्मों को आत्मा से अलग कर देता है अर्थात् उन्हे नष्ट कर देता है।

आलोचना करने वाला एव आलोचना सुनने वाला ये दोनो ही आगमोक्त गुणो से सम्पन्न होने चाहिए। ऐसा करने पर ही इच्छित आराधना सफल होती है।

निशीथ उ. २० मे आलोचना से सम्बन्धित आगमोक्त अनेक विषयो की जानकारी स्थल-निर्देश सहित दी गई है, पाठक वही देखे।

प्रस्तुत सूत्र मे आलोचना किसके समक्ष करनी चाहिये, इसका एक क्रम दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि जहा तक सम्भव हो इसी क्रम से आलोचना करनी चाहिए। व्युत्क्रम से करने पर भाष्य मे पृ. १२६ (एक सौ छब्बीस) पर गुरुचौमासी एव लघुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है। इसलिए आलोचना करने के इच्छुक भिक्षु को सर्वप्रथम अपने आचार्य या उपाध्याय के पास आलोचना करनी चाहिए। यदि किसी कारण से आचार्य उपाध्याय का योग सम्भव न हो अर्थात् वे रुग्ण हों या दूर हो एव स्वय का आयु अल्प हो तो सम्मिलित आहार-व्यवहार वाले साम्भोगिक साधु के समक्ष आलोचना करनी चाहिए, किन्तु वह सामान्य भिक्षु भी आलोचना सुनने के गुणो से सुसम्पन्न एव बहुश्रुत (छेदसूत्रो मे पारगत) तथा बहुआगमज्ञ (अनेक सूत्रो एव अर्थ का अध्येता) होना चाहिए।

उक्त योग्यतासम्पन्न साभोगिक साधु न हो या न मिले तो असाभोगिक (सम्मिलित आहार नही करने वाले) बहुश्रुत आदि योग्यतासम्पन्न भिक्षु के समक्ष आलोचना करनी चाहिए। वह असाभोगिक भिक्षु आचारसम्पन्न होना चाहिए।

यदि आचारसम्पन्न असाभोगिक साधु भी न मिले तो समान लिंग वाले बहुश्रुत आदि गुणो से सम्पन्न भिक्षु के पास आलोचना करनी चाहिए। यहा समान लिंग कहने का आशय यह है कि उसका आचार कैसा भी क्यो न हो, उसके पास भी आलोचना की जा सकती है।

उक्त भिक्षु के न मिलने पर जो सयम छोडकर श्रमणोपासकपर्याय का पालन कर रहा है और बहुश्रुत आदि गुणो से सम्पन्न है तो उसके पास आलोचना की जा सकती है।

यहा तक के क्रम मे प्रायश्चित्त के जानकार के समक्ष आलोचना कर शुद्धि करने का कथन किया गया गया है। आगे के दो विकल्पो मे आलोचक स्वय ही प्रायश्चित्त ग्रहण करता है।

प्रथम विकल्प मे जो सम्यक् रूप से जिनप्रवचन मे भावित सम्यग्दृष्टि हो अथवा जो समभाव वाला, सौम्य प्रकृति वाला, समझदार व्यक्ति हो उसके पास आलोचना कर लेनी चाहिए।

द्वितीय विकल्प मे बताया गया है कि कभी ऐसा व्यक्ति भी न मिले तो ग्रामादि के बाहर

निर्जन स्थान मे उच्चस्वर से अरिहंतो या सिद्धो को स्मृति मे रख कर उनके सामने आलोचना करनी चाहिए एव स्वयं ही यथायोग्य प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेना चाहिए।

अन्तिम दोनो विकल्प गीतार्थ भिक्षु के लिए समझना चाहिए क्योंकि, अगीतार्थ भिक्षु स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण करने के अयोग्य होता है।

भाष्यटीका मे इस सूत्र के विषय मे इस प्रकार कहा है—

सुत्तमिणं कारणियं, आयरियादीण जत्थगच्छम्मि।
पंचण्हं ही असति, एगो व तहि न वसियव्वं॥

टीका—सूत्रमिदमधिकृतं कारणिकं, कारणे भवं कारणिकं, कारणे सत्येकाकीविहारविषयं इत्यर्थः। इयमत्र भावना—बहूनि खलु अशिवादीनि एकाकित्वकारणानि, ततः कारणवशतो यो जातः एकाकी तद्विषयमिदं सूत्रमिति न कश्चिद् दोषः। अशिवादीनि तु कारणानि मुक्त्वा आचार्यादि-विरहितस्य न वर्तते वस्तुं। तथा चाह—यत्र गच्छे पञ्चानामाचार्योपाध्यायगणावच्छेदिप्रवर्तिस्थविर-रूपाणामसद्भावो यदि वा यत्र पञ्चानामन्यतमोऽप्येको न विद्यते तत्र न वसतव्यम् अनेकदोषसंभवात्।

इस व्याख्याश मे सूत्रोक्त विधान को सकारण एकाकी विचरण करने वाले भिक्षु की अपेक्षा होने का कहा गया है और एकाकी होने के अनेक कारण भी कहे है। जिसका स्पष्टीकरण सूत्र २३-२५ के विवेचन मे कर दिया गया है। सूत्र मे प्रयुक्त आलोचना आदि शब्दो का अर्थ इस प्रकार है—

आलोएज्जा—अतिचार आदि को वचन से प्रकट करे।
पडिक्कमेज्जा—मिथ्या दुष्कृत दे—अपनी भूल स्वीकार करे।
निंदेज्जा—आत्मसाक्षी से असदाचरण की निंदा करे अर्थात् अतर्मन मे खेद करे।
गरहेज्जा—गुरुसाक्षी से असदाचरण की निंदा करे, खेद प्रकट करे।
विउट्टेज्जा—असदाचरण से निवृत्त हो जाए।
विसोहेज्जा—आत्मा को शुद्ध कर ले अर्थात् असदाचरण से पूर्ण निवृत्त हो जाए।
अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा—उस अकृत्यस्थान को पुन सेवन नही करने के लिए दृढ सकल्प करे।
अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा—उस दोष के अनुरूप तप आदि प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

आलोचना से लेकर प्रायश्चित्त स्वीकार करने तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया करने पर ही आत्मविशुद्धि होती है एव तभी आलोचना करना सार्थक होता है।

सूत्र मे आए ग्राम आदि १६ शब्दो की व्याख्या निशीथ उ. ४ तथा बृहत्कल्प उ १ मे दी गई है, अत वहा देखे।

सूत्रोक्त आलोचना का क्रम इस प्रकार है—

१ आचार्य उपाध्याय, २. साधर्मिक साम्भोगिक बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ भिक्षु, ३. साधर्मिक अन्य साम्भोगिक बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ भिक्षु, ४. सारूपिक बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ भिक्षु, ५. पश्चात्कृत

बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ श्रावक, ६ सम्यक् भावित ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि या समझदार व्यक्ति, ७. ग्राम आदि के बाहर जाकर अरिहंत सिद्धो की साक्षी से आलोचना करे।

यहां तीन पदो में बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ नही है—

(१) आचार्य उपाध्याय तो नियमत. बहुश्रुत बहु-आगमज्ञ ही होते हैं अत. इनके लिए इस विशेषण की आवश्यकता ही नही होती है। बृहत्कल्प भाष्य गा. ६९१-६९२ मे कहा है कि आचार्यादि पदवीधर तो नियमत. गीतार्थ होते हैं। सामान्य भिक्षु गीतार्थ अगीतार्थ दोनो प्रकार के होते है।

(२) सम्यग्दृष्टि या समझदार व्यक्ति का बहुश्रुत होना आवश्यक नही है। वह तो केवल आलोचना सुनने के योग्य होता है और गीतार्थ आलोचक भिक्षु स्वय ही प्रायश्चित्त स्वीकार करता है।

(३) अरिहंत-सिद्ध भगवान् तो सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। उनके लिए इस विशेषण की आवश्यकता नही है।

सूत्र मे "सम्म भावियाइ चेइयाइ" शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ टीकाकार ने इस प्रकार किया है—

"तस्याप्यभावे यत्रैव सम्यग्भावितानि-जिनवचनवासितांतः करणानि देवतानि पश्यति तत्र गत्वा तेषामंतिके आलोचयेत्।

श्रमणोपासक के अभाव मे जिनवचनो से जिनका हृदय सुवासित है, ऐसे देवता को देखे तो उसके पास जाकर अपनी आलोचना करे।

यहा टीकाकार ने "चेइयाइ" शब्द का "देवता" अर्थ किया है तथा उसे जिनवचनो से भावित अन्त करण वाला कहा है।

"चेइय" शब्द के अनेक अर्थ शब्दकोश मे बताये गये हैं। उसमे ज्ञानवान्, भिक्षु आदि अर्थ भी "चेइय" शब्द के लिये हैं। अनेक सूत्रो मे तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के लिए "चेइय" शब्द का प्रयोग किया गया है, वहा उस शब्द से भगवान् को "ज्ञानवान्" कहा है।

उपासकदशा अ १ मे श्रमणोपासक की समकित सम्बन्धी प्रतिज्ञा है। उसमे अन्यतीर्थिक से ग्रहण किये चेत्य अर्थात् साधु को वन्दन-नमस्कार एव आलाप-सलाप करने का तथा आहार-पानी देने का निषेध है। वहा स्पष्ट रूप से "चेइय" शब्द का भिक्षु अर्थ मे प्रयोग किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र मे प्रयुक्त 'चेइय' शब्द का अर्थ मूर्तिपूजक समुदाय वाले "अरिहंत भगवान् की मूर्ति" भी करते हैं, किन्तु वह टीकाकार के अर्थ से विपरीत है तथा पूर्वापर सूत्रो से विरुद्ध भी है। क्योकि टीकाकार ने यहा अन्त.करण शब्द का प्रयोग किया है, वह मूर्ति मे नही हो सकता है। सूत्र में सम्यक् भावित चैत्य का अभाव होने पर अरिहंत सिद्ध की साक्षी के लिए गाव आदि के बाहर जाने का कहा है। यदि अरिहंत चैत्य का अर्थ मन्दिर होता तो मन्दिर मे ही अरिहंत सिद्ध की साक्षी से आलोचना करने का कथन होता, गाव के बाहर जाने के अलग विकल्प देने की आवश्यकता ही नही होती। अत 'चेइय' शब्द का प्रस्तुत प्रकरण मे 'ज्ञानी या समझदार पुरुष' ऐसा अर्थ करना ही उपयुक्त है।

प्रथम उद्देशक का सारांश

सूत्र १-१४ एक मास से लेकर छह मास तक प्रायश्चित्तस्थान का एक बार या अनेक बार सेवन करके कोई कपटरहित आलोचना करे तो उसे उतने मास का प्रायश्चित्त आता है और कपटयुक्त आलोचना करे तो उसे एक मास अधिक का प्रायश्चित्त आता है और छह मास या उससे अधिक प्रायश्चित्त होने पर भी छह मास का ही प्रायश्चित्त आता है।

१५-१८ प्रायश्चित्त वहन करते हुए पुन दोष लगाकर दो चौभगी मे से किसी भी भग से आलोचना करे तो उसका प्रायश्चित्त देकर आरोपणा कर देनी चाहिये।

१९ पारिहारिक एव अपारिहारिक भिक्षु को एक साथ बैठना, रहना आदि प्रवृत्ति नही करना चाहिए एव आवश्यक हो तो स्थविरो की आज्ञा लेकर ऐसा कर सकते है।

२०-२२ पारिहारिक भिक्षु शक्ति हो तो तप वहन करते हुए सेवा मे जावे और शक्ति अल्प हो तो स्थविरभगवन्त से आज्ञा प्राप्त करके तप छोडकर भी जा सकता है। मार्ग मे विचरण की दृष्टि से उसे कही जाना या ठहरना नही चाहिए। रोग आदि के कारण ज्यादा भी ठहर सकता है। अन्यथा सब जगह एक रात्रि ही रुक सकता है।

२३-२५ एकलविहारी आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक या सामान्य भिक्षु पुन गच्छ मे आने की इच्छा करे तो उसे तप या छेद प्रायश्चित्त देकर गच्छ मे रख लेना चाहिए।

२६-३० पार्श्वस्थादि पाचो यदि गच्छ मे पुन आना चाहे और उनके कुछ सयमभाव शेष रहे हो तो तप या छेद का प्रायश्चित्त देकर उन्हे गच्छ मे सम्मिलित कर लेना चाहिए।

३१ किसी विशेष परिस्थिति से अन्यलिंग धारण करने वाले भिक्षु को आलोचना के अतिरिक्त कोई प्रायश्चित्त नही आता है।

३२ कोई सयम छोडकर गृहस्थवेश स्वीकार कर ले और पुन गच्छ मे आना चाहे तो उसे नई दीक्षा के सिवाय कोई प्रायश्चित्त नही आता है।

३३ यदि किसी भिक्षु को अकृत्यस्थान की आलोचना करनी हो तो—

१. अपने आचार्य उपाध्याय के पास करे।
२ उनके अभाव मे स्वगच्छ के अन्य बहुश्रुत साधु के पास आलोचना करे।
३ उनके अभाव मे अन्यगच्छ के बहुश्रुत भिक्षु या आचार्य के पास आलोचना करे।
४ उनके अभाव मे केवल वेषधारी बहुश्रुत भिक्षु के पास आलोचना करे।
५ उसके अभाव मे दीक्षा छोडे हुए बहुश्रुत श्रमणोपासक के पास आलोचना करे।
६ उसके अभाव मे सम्यग्दृष्टि या समभावी ज्ञानी के पास आलोचना करे एव स्वयं प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

७. एवं उसके अभाव मे ग्राम के बाहर अरिहत सिद्ध प्रभु की साक्षी से आलोचना करके स्वय प्रायश्चित्त स्वीकार कर ले।

उपसंहार

इस उद्देशक मे—

सूत्र १-१४	प्रायश्चित्त देने का,
१५-१८	प्रायश्चित्त वहन कराने का,
१९	पारिहारिक के साथ व्यवहार करने का,
२०-२२	उसके स्थविर की सेवा मे जाने का,
२३-३०	एकलविहारी या पार्श्वस्थादि के पुन गच्छ मे आने का,
३१	अन्यलिंग धारण करने का,
३२	वेश छोड़कर पुन गण मे आने की इच्छा वाले का,
३३	आलोचना करने के क्रम का,

इत्यादि विषयो का उल्लेख किया गया है।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

दूसरा उद्देशक

विचरने वाले साधर्मिकों के परिहारतप का विधान

१. दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, एगे तत्थ अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।

२. दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, दो वि ते अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, एगं तत्थ कप्पागं ठवइत्ता एगे निव्विसेज्जा, अह पच्छा से वि निव्विसेज्जा ।

३. बहवे साहम्मिया एगयओ विहरंति, एगे तत्थ अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, ठवणिज्ज ठवइत्ता करणिज्ज वेयावडिय ।

४. बहवे साहम्मिया एगयओ विहरंति, सव्वे वि ते अन्नयर अकिच्चट्ठाण पडिसेवित्ता आलोएज्जा, एग तत्थ कप्पाग ठवइत्ता अवसेसा निव्विसेज्जा, अह पच्छा से वि निव्विसेज्जा ।

५. परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू गिलाएमाणे अन्नयर अकिच्चट्ठाण पडिसेवित्ता आलोएज्जा ।
से य संथरेज्जा ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ।
से य नो संथरेज्जा अणुपरिहारिएण तस्स करणिज्जं वेयावडिय ।
से य संते बले अणुपरिहारिएणं कीरमाणं वेयावडिय साइज्जेज्जा, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ।

१ दो साधर्मिक साधु एक साथ विचरते हो और उनमे से यदि एक साधु किसी अकृत्यस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे प्रायश्चित्त तप मे स्थापित करके साधर्मिक भिक्षु को उसकी वैयावृत्य करनी चाहिए ।

२. दो साधर्मिक साधु एक साथ विचरते हो और वे दोनो ही साधु किसी अकृत्यस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करें तो उनमे से एक को कल्पाक (अग्रणी) स्थापित करे और एक परिहारतप रूप प्रायश्चित्त को वहन करे और उसका प्रायश्चित्त पूर्ण होने के बाद वह अग्रणी भी प्रायश्चित्त को वहन करे ।

३ बहुत से साधर्मिक साधु एक साथ विचरते हो । उनमे एक साधु किसी अकृत्यस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो (उनमे जो प्रमुख स्थविर हो वह) उसे प्रायश्चित्त वहन करावे और दूसरे भिक्षु को उसकी वैयावृत्य के लिए नियुक्त करे ।

४ बहुत से साधर्मिक साधु एक साथ विचरते हो और वे सब किसी अकृत्यस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उनमे से किसी एक को अग्रणी स्थापित करके शेष सब प्रायश्चित्त वहन करे बाद मे वह अग्रणी साधु भी प्रायश्चित्त वहन करे ।

५ परिहारतप रूप प्रायश्चित्त वहन करने वाला भिक्षु यदि रुग्ण होने पर किसी अकृत्यस्थान की प्रतिसेवना कर आलोचना करे तो—

यदि वह परिहारतप करने मे समर्थ हो तो आचार्यादि उसे परिहारतप रूप प्रायश्चित्त दें और उसकी आवश्यक सेवा करावे ।

यदि वह समर्थ न हो तो आचार्यादि उसकी वैयावृत्य के लिए अनुपारिहारिक भिक्षु को नियुक्त करें ।

यदि वह पारिहारिक भिक्षु सबल होते हुए भी अनुपारिहारिक भिक्षु से वैयावृत्य करावे तो उसका प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रायश्चित्त के साथ आरोपित करे ।

विवेचन—पूर्व उद्देशक मे एव बृहत्कल्प उ. ४ मे आचार्यादि के नेतृत्व मे परिहारतप वहन करने की विधि का वर्णन किया गया है । इन सूत्रो मे दो या दो से अधिक विचरण करने वाले साधर्मिक भिक्षुओ के स्वत परिहारतप वहन करने का विधान है ।

विचरण करने वाले दो साधर्मिक भिक्षु यदि गीतार्थ है और आचार्य आदि से दूर किसी क्षेत्र मे विचरण कर रहे हैं अथवा किसी आचार्यादि के नेतृत्व बिना विचरण कर रहे हैं । उनमे से किसी एक साधु को किसी दोष की शुद्धि के लिए परिहारतप वहन करना हो तो दूसरा गीतार्थ भिक्षु उसका अनुपरिहारिक एव कल्पाक (प्रमुखता करने वाला) बनता है ।

यदि दोनो ने एक साथ दोष सेवन किया है और दोनो को शुद्धि के लिए परिहारतप वहन करना है तो एक भिक्षु के तप पूर्ण करने के बाद दूसरा भिक्षु तप वहन कर सकता है । अर्थात् दोनों एक साथ परिहारतप नही कर सकते हैं, क्योकि एक को कल्पाक या अनुपरिहारिक रहना आवश्यक होता है ।

अनेक साधर्मिक भिक्षु विचरण कर रहे हो तो उनमे से एक या अनेक के परिहारतप वहन करने के विषय मे भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए, अर्थात् एक को कल्पाक रख कर शेष सभी साधु परिहारतप वहन कर सकते हैं ।

पाचवे सूत्र मे यह विशेष कथन है कि यदि पारिहारिक भिक्षु कुछ रुग्ण है एवं उसने कोई दोष का सेवन किया है तो उस दोष सबधी प्रायश्चित्त की आरोपणा भी पूर्व तप मे कर देनी चाहिए । यदि उसके तप वहन करने की शक्ति न हो तो वह तप करना छोड़ दे और पुनः सशक्त होने के बाद उस प्रायश्चित्त को वहन करके पूर्ण कर ले ।

यदि वह पारिहारिक भिक्षु सामान्य रुग्ण हो और किसी अनुपरिहारिक द्वारा सेवा करने पर तप वहन कर सकता हो तो पूर्वतप के साथ ही पुन. प्राप्त प्रायश्चित्त आरोपित कर देना चाहिए और यथायोग्य सेवा करवानी चाहिए । उसके बीच मे यदि रुग्ण भिक्षु स्वस्थ या सशक्त हो जाय तो उसे सेवा नही करवानी चाहिए । स्वस्थ एव सशक्त होने के बाद भी यदि वह सेवा करवाता है तो उसका भी उसे प्रायश्चित्त आता है, क्योकि परिहारतप वाला भिक्षु उत्सर्गविधि से किसी का सहयोग एव सेवा आदि नही ले सकता ।

रुग्ण भिक्षुओं को गण से निकालने का निषेध

६. परिहारकप्पट्ठिय भिक्खु गिलायमाण नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

७. अणवट्ठप्प भिक्खु गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगयंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

८. पारंचियं भिक्खु गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

९. खित्तचित्तं भिक्खु गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

१०. दित्तचित्तं भिक्खु गिलायमाण नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नाम ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

११. जक्खाइट्ठं भिक्खु गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्ज वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

१२. उम्मायपत्तं भिक्खु गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडिय जाव तओ रोगायकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

१३. उवसग्गपत्तं भिक्खु गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नाम ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

१४. साहिगरणंभिक्खु गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

१५. सपायच्छित्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

१६. भत्त-पाण-पडियाइक्खियं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

१७. अट्ठजायं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयइस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्ज वेयावडिय जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

६ परिहारतप रूप प्रायश्चित्त वहन करने वाला भिक्षु यदि रोगादि से पीडित हो जाय तो गणावच्छेदक को उसे गण से बाहर करना नही कल्पता है, किन्तु जब तक वह रोग-आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से वैयावृत्य करनी चाहिए। बाद मे गणावच्छेदक उस पारिहारिक भिक्षु को अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

७ अनवस्थाप्यभिक्षु (नवमे प्रायश्चित्त को वहन करने वाला साधु) यदि रोगादि से पीडित हो जाय (उस प्रायश्चित्त को वहन न कर सके) तो गणावच्छेदक को उसे गण से बाहर करना नही कल्पता है, किन्तु जब तक वह रोग-आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से वैयावृत्य करनी चाहिए। बाद मे गणावच्छेदक उस अनवस्थाप्यसाधु को अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

८ पारचित्तभिक्षु (दसवे प्रायश्चित्त को वहन करने वाला साधु) यदि रोगादि से पीडित हो जाय तो गणावच्छेदक को उसे गण से बाहर करना नही कल्पता है, किन्तु जब तक वह रोग-आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से वैयावृत्य करनी चाहिए। बाद मे गणावच्छेदक उस पारचितभिक्षु को अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

९ विक्षिप्तचित्त ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

१०. दिप्तचित्त ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

११ यक्षाविष्ट ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

१२. उन्मादप्राप्त ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

१३ उपसर्गप्राप्त ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

१४ कलहयुक्त ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

१५. प्रायश्चित्तप्राप्त ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

१६. भक्तप्रत्याख्यानी ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

१७. प्रयोजनाविष्ट (आकाक्षायुक्त) ग्लान-भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग-आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। उसके बाद उसे गणावच्छेदक अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

विवेचन—इन सूत्रो मे बारह प्रकार की विभिन्न अवस्थाओ वाले भिक्षुओ का कथन है। ये सभी भिक्षु अपनी उन अवस्थाओ के साथ-साथ रुग्ण भी है। यदि उनकी सेवा करने वाले भिक्षु खेद का अनुभव करते हो तो भी जिम्मेदार गीतार्थ गणावच्छेदक का यह कर्तव्य होता है कि वह उस भिक्षु की सेवा की उपेक्षा न करे और न ही उसे गच्छ से अलग करे, किन्तु अन्य सेवाभावी भिक्षुओ के द्वारा उसकी अग्लानभाव से सेवा करवावे।

भाष्य मे अग्लानभाव का अर्थ यह किया गया है कि रुचिपूर्वक या उत्साहपूर्वक सेवा करना, अथवा स्वय का कर्तव्य समझ कर सेवा करना। इन सूत्रो मे निम्न गुणो की प्रमुखता है—

१ सेवाकार्य, २ ग्लान के प्रति अनुकपा भाव, ३ सघ की प्रतिष्ठा।

सेवाकार्य सयमजीवन मे प्रमुख गुण है एवं यह एक आभ्यन्तर तप है, जिसका विस्तृत विवेचन निशीथ उ १० मे किया गया है।

ठाणाग सूत्र अ ३ उ ४ मे तथा भग श. ८ उ. ८ मे तीन को अनुकपा के योग्य कहा है—
१ तपस्वी (विकट तप करने वाला), २. ग्लान, ३ नवदीक्षित।

प्रस्तुत सूत्रो मे भी यही बताया गया है कि किसी भी परिस्थिति मे या प्रायश्चित्त काल मे यदि भिक्षु रुग्ण हो तो उसकी उपेक्षा नही करना चाहिए और न ही उसे गण से निकालना चाहिए।

ग्लान-भिक्षु की वैयावृत्य (सेवा) की समुचित व्यवस्था होती हो तो गच्छ की एव जिनशासन की प्रतिष्ठा बढ़ती है एव धर्म की प्रभावना होती है। किंतु समुचित व्यवस्था के अभाव मे, रुग्ण भिक्षु की सेवा करने कराने में उपेक्षा वृत्ति होने पर, खिन्न होकर सेवा छोड़ देने पर, गच्छ से निकाल देने पर अथवा अन्य पारिवारिक जनों को सौंप देने पर गच्छ की एव जिनशासन की अवहेलना या निंदा होती है। अतः इन सूत्रों मे यह स्पष्ट किया गया है कि इन अवस्थाओ वाले भिक्षुओं की भी रुग्ण-अवस्था मे उपेक्षा न करके अग्लानभाव से सेवा करनी चाहिए। यदि ये रुग्ण न हो तो आवश्यक हो जाने पर गच्छ से निकाला जा सकता है। सूत्रोक्त बारह अवस्थाएं इस प्रकार हैं—

१. परिहारतप वहन करने वाला।
२. नवमा अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त वहन करने वाला।
३. दसवा पारांचिक प्रायश्चित्त वहन करने वाला।
४ अत्यंत शोक या भय से विक्षिप्तचित्त वाला—उन्मत।
५ हर्षातिरेक से भ्रमितचित्त वाला—उन्मत।
६ यक्षावेश (भूत-प्रेत आदि की पीडा) से पीडित।
७ मोहोदय से उन्मत्त—पागल।
८ किसी देव, पशु या राजा आदि के उपसर्ग से पीडित।
९. तीव्र कषाय-कलह से पीडित।
१० किसी बडे दोष के सेवन से प्रायश्चित्तप्राप्त।
११ आजीवन अनशन स्वीकार किया हुआ।
१२ शिष्यप्राप्ति, पदलिप्सा आदि किसी इच्छा से व्याकुल बना हुआ।

भाष्यकार ने इन सूत्रो मे प्रयुक्त 'निज्जूहित्तए' शब्द से गच्छ से निकालने का अर्थ न करके केवल उसकी सेवा मे उपेक्षा नही करने का ही अर्थ किया है तथा 'अट्ठजाय' शब्द से 'सकटग्रस्त पारिवारिक जनो के लिए धनप्राप्ति की आकाक्षा वाला भिक्षु' ऐसा अर्थ करते हुए विस्तृत व्याख्या की है।

उपर्युक्त ग्यारह अवस्थाओ के साथ एव सूत्रोक्त विधान मे 'अर्थ-जात' शब्द का 'इच्छाओ से व्याकुल भिक्षु' ऐसा अर्थ करना प्रसगसगत प्रतीत होता है।

'अहालहुसए नाम ववहारे पट्ठवियव्वे सिया' इस सूत्राश की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने यथा-लघु एव यथा-गुरु के अनेक भेद-प्रभेद किये है तथा उनका समय एव उसमें किये जाने वाले तप का निर्देश किया है।

सूत्रोक्त 'ववहार' शब्द की व्याख्या करते हुए बताया है कि व्यवहार, आलोचना, विशुद्धि और प्रायश्चित्त, ये एकार्थक शब्द है। प्रथम उद्देशक के प्रारम्भिक सूत्रो मे 'परिहार' शब्द भी प्रायश्चित्त अर्थ का द्योतक है। यथा—

'भिक्खु य मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा' अर्थात् भिक्षु एक मास के प्रायश्चित्त-योग्य दोषस्थान का सेवन करके आलोचना करे।

निशीथसूत्र के १९ उद्देशको के अन्तिम सूत्र में भी प्रायश्चित्त अर्थ मे 'परिहार' शब्द प्रयुक्त है।

यथालघुष्क प्रायश्चित्त का अर्थ—

यथालघुष्कव्यवहारं पंचदिनपरिमाणं निर्विकृतिकं कुर्वन् पूरयति । यदि वा—यथालघुष्के व्यवहारे प्रस्थापयितव्यं य प्रतिपन्नव्यवहारः तपः प्रायश्चित्त एवमेवालोचना-प्रदान-मात्रतः शुद्धः क्रियते, कारणे यतनया प्रतिसेवनात् । —टीका/भा गा ९६

भावार्थ—लघु प्रायश्चित्त पाच दिन का होता है जो विगयो का त्याग करके पूर्ण किया जाता है । अथवा कारण से यतनापूर्वक दोष का सेवन करने पर, अत्यल्प मर्यादा भग करने पर, परवश अवस्था मे मर्यादा भग हो जाने पर केवल आलोचना प्रायश्चित्त मात्र से उसकी शुद्धि की जा सकती है अर्थात् उसे तपरूप प्रायश्चित्त नही दिया जाता है और दस प्रकार के प्रायश्चित्तो मे प्रथम आलोचना प्रायश्चित्त होने से इसे 'यथालघुष्क' अर्थात् लघु (सर्वजघन्य) प्रायश्चित्त कहा जाता है ।

इन सूत्रो मे एव आगे के सूत्रो मे आचार्य उपाध्याय का निर्देश न करके गणावच्छेदक का निर्देश किया है । इससे यह स्पष्ट होता है कि गच्छ मे सेवा एव प्रायश्चित्त के कार्यों की प्रमुख जिम्मेदारी गणावच्छेदक की होती है ।

अनवस्थाप्य और पारांचिक भिक्षु की उपस्थापना

१८. अणवट्ठप्पं भिक्खुं अगिहिभूय नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावित्तए ।

१९. अणवट्ठप्पं भिक्खुं गिहिभूय कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावित्तए ।

२०. पारंचियं भिक्खुं अगिहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावित्तए ।

२१. पारंचियं भिक्खुं गिहिभूय कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावित्तए ।

२२. अणवट्ठप्पं भिक्खुं पारंचियं वा भिक्खुं अगिहिभूय वा गिहिभूयं वा, कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावित्तए, जहा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ।

१८ अनवस्थाप्य नामक नौवे प्रायश्चित्त के पात्र भिक्षु को गृहस्थवेष धारण कराए विना पुन सयम मे उपस्थापन करना गणावच्छेदक को नही कल्पता है ।

१९ अनवस्थाप्यभिक्षु को गृहस्थवेष धारण कराके पुन. सयम मे उपस्थापन करना गणावच्छेदक को कल्पता है ।

२० पारंचित नामक दसवे प्रायश्चित्त के पात्र भिक्षु को गृहस्थवेष धारण कराए विना पुन सयम मे उपस्थापन करना गणावच्छेदक को नही कल्पता है ।

२१ पारचितभिक्षु को गृहस्थवेष धारण करवाकर पुन सयम मे उपस्थापन करना गणावच्छेदक को कल्पता है ।

२२ अनवस्थाप्यभिक्षु को और पारचितभिक्षु को (परिस्थितिवश) गृहस्थ का वेष धारण

कराके या गृहस्थ का वेष धारण कराए बिना भी पुन. सयम मे उपस्थापित करना गणावच्छेदक को कल्पता है, जिससे कि गण का हित सभव हो।

विवेचन--नौवे और दसवे प्रायश्चित्त योग्य भिक्षु को जघन्य छह मास, उत्कृष्ट बारह वर्ष तक का विशिष्ट तप रूप प्रायश्चित्त दिया जाता है और उस तप के पूर्ण होने पर उसे एक बार गृहस्थ का वेष धारण करवाया जाता है। तत्पश्चात् उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र दिया जाता है।

उपर्युक्त चार सूत्रो मे गृहस्थ का वेष पहनाने का विधान करके पाचवे सूत्र मे अपवाद का कथन किया गया है। जिसका भाव यह है कि किसी विशिष्ट व्यक्ति को गृहस्थ नही बनाना ही उचित लगे तो गणावच्छेदक अपने निर्णयानुसार कर सकता है। अर्थात् जिस तरह करने मे उसे गच्छ का या जिनशासन का अत्यधिक हित सभव हो वैसा ही कर सकता है।

भाष्यकार ने गृहस्थ न बनाने के कुछ कारण ये कहे हैं—

१ जिसने किसी राजा को सघ के अनुकूल बनाया हो।

२ जिसे गृहस्थ न बनाने के लिए किसी राजा का आग्रह हो।

३ गण के साधुओ ने जिसे द्वेषवश असत्य आक्षेप से वह प्रायश्चित्त दिलवाया हो और वह अन्य गण के पास पुन आलोचना करे तो।

४ उस प्रायश्चित्तप्राप्त भिक्षु या आचार्य के अनेक शिष्यो का आग्रह हो।

५. अपने उपकारी को कठोर प्रायश्चित्त देने के कारण उनके अनेक शिष्य सयम छोडने को उद्यत हो।

६ उस प्रायश्चित्त के सबध मे दो गणो मे विवाद हो। इत्यादि परिस्थितियो मे तथा अन्य भी ऐसे कारणो से उस भिक्षु को गृहस्थ बनाये बिना भी उपस्थापन कर देना चाहिए।

अकृत्यसेवन का आक्षेप एवं उसके निर्णय करने की विधि

२३. दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, एगे तत्थ अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा –

अहं णं भंते ! अमुगेणं साहुणा सिद्धिं इमम्मि कारणम्मि पडिसेवी।

से य पुच्छियव्वे "किं पडिसेवी, अपडिसेवी" ?

से य वएज्जा—"पडिसेवी" परिहारपत्ते। से य वएज्जा—"नो पडिसेवी" नो परिहारपत्ते। जं से पमाणं वयइ से पमाणाओ घेयव्वे।

प०—से किमाहु भंते ?

उ०—सच्चपइन्ना ववहारा।

२३. दो साधर्मिक एक साथ विचरते हो, उनमे से एक साधु किसी अकृत्यस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे—

'हे भगवन् ! मैंने अमुक साधु के साथ अमुक कारण के होने पर दोष का सेवन किया है। (उसके इस प्रकार कहने पर) दूसरे साधु से पूछना चाहिए—

'क्या तुम प्रतिसेवी हो या अप्रतिसेवी ?'

यदि वह कहे कि 'मैं प्रतिसेवी हूँ' तो वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है। यदि वह कहे कि 'मैं प्रतिसेवी नही हूँ', तो वह प्रायश्चित्त का पात्र नही है और जो भी वह प्रमाण दे, उनसे निर्णय करना चाहिए।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

उ०—सत्य प्रतिज्ञा वाले भिक्षुओ के सत्य कथन पर व्यवहार (प्रायश्चित्त) निर्भर होता है।

विवेचन—यदि कोई भिक्षु विचरण करके आएँ और अपनी आलोचना करते हुए, कोई दूसरे साधु को भी दोषसेवन करने वाला कहे तो ऐसा कहने मे उस साधु का दूसरे साधु के प्रति द्वेष हो सकता है या दीक्षापर्याय मे उसे किसी से छोटा बनाने का सकल्प हो सकता है। इसलिए वह असत्य आक्षेप करता है और अपने आक्षेप को सत्य सिद्ध करने के लिए वह स्वय भी दोषी बनकर आलोचना करने का दिखावा करता है।

भाष्यकार ने यह भी कहा है कि वह आलोचना करते हुए अपना और अन्य भिक्षु का मैथुन-सेवन करना तक भी स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार छल करके दूसरे साधु को कलकित करना चाहता है। ऐसी परिस्थिति मे शास्त्रकार ने विवेकपूर्वक निर्णय करने के निम्न उपाय बताये हैं—

आलोचना सुनने वाला गीतार्थ भिक्षु अन्य भिक्षु से जब तक पूर्ण जानकारी न कर ले तब तक उसे किसी प्रकार का निर्णय नहीं करना चाहिए।

यदि पूछने पर अन्य भिक्षु दोषसेवन करना स्वीकार नही करे और कुछ स्पष्टीकरण करे तो उसे सावधानीपूर्वक सुनना चाहिए। तदनन्तर आक्षेप लगाने वाले से दोष-सेवन का स्थान (क्षेत्र) या उस दोष से सम्बन्धित व्यक्ति की जानकारी करना चाहिए। फिर उन दोनो के कथन एव प्रमाणों पर पूर्ण विचार करके निर्णय करना चाहिए। कोई प्रबल प्रमाण न हो तो दोषसेवन को अस्वीकार करने वाले भिक्षु को किसी प्रकार का प्रायश्चित्त नही देना चाहिए।

आक्षेपकर्ता ने दोषसेवन किया हो या न किया हो तो असत्य आक्षेप करने पर उसे उस दोष-सेवन का प्रायश्चित्त आता ही है।

यदि आलोचना करने वाला सत्य कथन कर रहा हो, किन्तु अन्य भिक्षु अपना दोष स्वीकार न करे और आलोचक उसे प्रमाणित भी न कर सके, तब भी दोष अस्वीकार करने वाले को कोई प्रायश्चित्त नही दिया जा सकता। क्योकि भिक्षु सत्य वचन की प्रतिज्ञा वाले होते है। अत. स्वय के स्वीकार करने पर ही उसे प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। प्रमाण के बिना केवल किसी के कहने से उसे प्रायश्चित्त नही दिया जा सकता है। आलोचना करने वाला अपने कथन की सत्यता को प्रमाणित कर दे एव गीतार्थ प्रायश्चित्तदाता को उन प्रमाणो की सत्यता समझ मे आ जाय और उससे सम्बन्धित भिक्षु दोष को स्वीकार कर ले तभी उसे प्रायश्चित्त दिया जाता है। कदाचित् दोष प्रमाणित होने पर भी सम्बन्धित भिक्षु उसे स्वीकार न करे तो प्रायश्चित्तदाता गच्छ के अन्य गीतार्थ भिक्षुओ की सलाह

लेकर उसका प्रायश्चित्त घोषित कर सकते हैं एव प्रायश्चित्त को अस्वीकार करने पर उसे गच्छ से अलग भी कर सकते हैं।

असत्य आक्षेप लगाने वाले को वही प्रायश्चित्त देने का कथन बृहत्कल्प उद्देशक ६ मे है तथा गीतार्थ या आचार्य प्रदत्त आगमोक्त प्रायश्चित्त के स्वीकार न करने वाले को गच्छ से अलग करने का कथन बृहत्कल्प उद्देशक ४ मे है।

तात्पर्य यह है कि गच्छप्रमुख केवल एक पक्ष के कथन से निर्णय एव व्यवहार न करे, किन्तु उभय पक्ष के कथन को सुनकर उचित निर्णय करके प्रायश्चित्त दे।

सदिग्धावस्था मे अर्थात् सम्यक् प्रकार से निर्णय न होने पर दोषी व्यक्ति को प्रायश्चित्त नही देना चाहिए। ऐसा करने मे प्रायश्चित्तदाता को कोई दोष नही लगता है, किन्तु दोषी व्यक्ति स्वय ही अपनी सयमविराधना के फल को प्राप्त कर लेता है।

दोषसेवन प्रमाणो से सिद्ध हो जाए एव स्पष्ट निर्णय हो जाए तो दोषी के अस्वीकार करने पर भी प्रायश्चित्त देना अनिवार्य हो जाता है, अन्यथा गच्छ मे अव्यवस्था फैल जाती है और लोकनिन्दा भी होती है। अत. गीतार्थ भिक्षुओं को एव गच्छप्रमुखो को विवेकपूर्वक सूत्रोक्त प्रायश्चित्त देने का निर्णय करना चाहिए।

संयम त्यागने का संकल्प एवं पुनरागमन

२४. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहाणुप्पेही वजेज्जा, से य अणोहाइए इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, तत्थ णं थेराणं इमेयारूवे विवाए समुप्पज्जित्था—

'इमं भो! जाणह किं पडिसेवी, अपडिसेवी?'

से य पुच्छियव्वे —'किं पडिसेवी, अपडिसेवी?'

से य वएज्जा—'पडिसेवी' परिहारपत्ते। से य वएज्जा—'नो पडिसेवी' नो परिहारपत्ते। ज से पमाणं वयइ से पमाणाओ घेयव्वे।

प०—से किमाहु भंते?

उ०—सच्चपइन्ना ववहारा।

२४. सयम त्यागने की इच्छा से यदि कोई साधु गण से निकलकर जाए और बाद मे असयम सेवन किए बिना ही वह आये और पुन. अपने गण मे सम्मिलित होना चाहे तो (गण मे लेने के सम्बन्ध मे) स्थविरों मे यदि विवाद उत्पन्न हो जाए (वे परस्पर कहने लगे कि)—

क्या तुम जानते हो—यह प्रतिसेवी है या अप्रतिसेवी?

(ऐसी स्थिति मे आगम का विधान है कि स्थविरो को) उस भिक्षु से ही पूछना चाहिए—

क्या तुम प्रतिसेवी हो या अप्रतिसेवी?

यदि वह कहे कि—"मैं प्रतिसेवी हूं।" तो वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है। यदि वह

कहे कि "मैं प्रतिसेवी नही हू।" तो वह प्रायश्चित्त का पात्र नही होता है और जो वह प्रमाण देवे उनसे निर्णय करना चाहिए।

प्र०—हे भगवन्! ऐसा कहने का क्या कारण है?

उ०—सत्य प्रतिज्ञा वाले भिक्षुओ के सत्य कथन पर व्यवहार (प्रायश्चित्त) निर्भर होता है।

विवेचन—प्रथम उद्देशक के ३२वे सूत्र मे सयम का परित्याग करके गृहस्थ बन जाने वाले भिक्षु के पुन: गण मे आकर दीक्षित होने का कथन है और इस सूत्र मे सयम त्यागने के सकल्प से अन्यत्र जाकर विचारो मे परिवर्तन आ जाने से पुन. लौट कर आने वाले भिक्षु का कथन है।

वह चलचित्त भिक्षु पुनः उसी दिन आ सकता है, एक दो रात्रि व्यतीत करके भी आ सकता है और अनेक दिनो के बाद भी लौटकर आ सकता है।

लौटकर आने वाला भिक्षु अपने विचार-परिवर्तन का एव उनके कारणो का स्पष्टीकरण करता हुआ गच्छ मे रहना चाहे तो उस समय यदि गच्छ के गीतार्थ स्थविरो के विचारो मे एकरूपता न हो अर्थात् किसी को यह सन्देह हो कि यह इस अवधि मे किसी न किसी दोष का सेवन करके आया होगा, उस समय गच्छप्रमुख उस भिक्षु को पूछे या अन्य किसी से जानकारी करके निर्णय करे। यदि प्रामाणिक जानकारी न मिले तो उस भिक्षु के उत्तर के अनुसार ही निर्णय करना चाहिए अर्थात् वह दोषसेवन करना स्वीकार करे तो उसे उसका प्रायश्चित्त देवे। यदि वह दोष स्वीकार न करे तो किसी के सन्देह करने मात्र से उसे प्रायश्चित्त न दे। किन्तु सयम त्यागने के सकल्प का एव उस सकल्प से अन्यत्र जाने का उसे यथोचित प्रायश्चित्त दिया जा सकता है एव उसे गच्छ मे सम्मिलित किया जा सकता है।

सयम छोडने के सकल्प न करने का वर्णन और सयम छोड़ने के कारणो का वर्णन तथा पुन गण मे आने पर परीक्षण करने का वर्णन प्रथम उद्देशक के ३२वे सूत्र के विवेचन मे देखे।

यहा भाष्यकार ने सयम छोडने के सकल्प के कुछ विशेष कारण कहे है, जिनका सम्बन्ध पूर्व सूत्र २३ से किया है तथा विचारो के पुन परिवर्तन होने के भी कुछ कारण कहे हैं।

संयम त्यागने के कराण

१ असत्य आक्षेप लगाने वाला स्वय ही दण्डित हो जाने से खिन्न होकर सयम छोडने का सकल्प कर सकता है।

२. सत्य कहने वाला कभी अपने कथन को प्रमाणित नही कर पाता है, तब अन्याय से उद्विग्न होकर सयम त्यागने का सकल्प कर सकता है।

३ कोई साधु दोष-सेवन कर छिपाना चाहता हो किन्तु दूसरे के द्वारा प्रकट कर देने से एव प्रमाणित कर देने से लज्जित होकर वह सयम त्यागने का संकल्प कर सकता है।

४. किसी के छल-छद्मो से भी गीतार्थों द्वारा यदि गलत निर्णय हो जाए, जिससे असन्तुष्ट होकर कोई सयम त्यागने का सकल्प कर सकता है।

पुनः गण में आने के कारण

१. उसके साथ भेजे गए साधुओ के समझाने से ।
२ ग्रामादि के किसी प्रमुख व्यक्ति के समझाने से ।
३ पारिवारिक लोगो के समझाने से ।
४. चिन्तन-मनन करते-करते या वैराग्यप्रद आगमसूत्रो के स्मरण होने से ।
५. कषाय एव कलह के उपशात हो जाने मे ।
६ विषयेच्छा से जाने वाले को स्व-स्त्री के कालधर्म प्राप्त होने की जानकारी मिल जाने से ।
७ घर का सम्पूर्ण धन विनष्ट होने की जानकारी होने से ।
८ परिवार के लोग घर मे नही रखेंगे, ऐसा ज्ञात होने से ।

९ धर्म की अश्रद्धा हो जाने पर सयम त्यागने वाले को फिर कभी किसी दृश्य के देखने पर पुन· धर्म मे श्रद्धा हो जाने से ।

१० मार्ग मे ही अत्यन्त बीमार हो जाने से अथवा कष्ट या उपसर्ग आ जाने से यह विचार आए कि सयम त्यागने के सकल्प से पुण्य नष्ट होकर पाप का उदय हो रहा है, अत. सयमपालन करना ही श्रेयस्कर है ।

११ कोई मित्र देव के प्रतिबोध देने से ।

भाष्यकार ने यह भी स्पष्ट कहा है कि भिक्षु यदि सयमत्याग के सकल्प की जानकारी गच्छ-प्रमुखो को देवे तो गच्छप्रमुख उसे अनेक उपायो से स्थिर करे । तदुपरात भी वह जाना चाहे तो उसे पहुँचाने के लिए १-२ कुशल भिक्षुओ को साथ भेजे, जो उसे १-२ रात्रि तक या गतव्यस्थान तक पहुँचाने जाएँ । वे मार्ग मे भी उसे यथोचित सलाह देवे और अन्त मे उसके गंतव्यस्थान तक भी साथ जाएँ । इस बीच कभी भी उसके विचार पुन सयम मे स्थिर हो जाएँ तो उसे साथ लाकर गच्छप्रमुख के सुपुर्द कर दे । उसके पुन. न आने पर भी साथ मे भेजे साधु गच्छप्रमुख को मार्ग मे हुई बातो की पूरी जानकारी दे ।

साथ भेजे गए भिक्षुओ के लौटने के बाद विचारो में परिवर्तन होने पर वह पीछे से अकेला आ जाए तब सूत्रोक्त विवाद की स्थिति उत्पन्न हो सकती है ।

सयम त्यागने के सकल्प वाला भिक्षु सूचना देकर भी जा सकता है और सूचना दिये विना भी जा सकता है । दोनो प्रकार से जाने वाला भिक्षु सयम त्याग किये विना पुनः आ सकता है और सयम त्याग कर भी पुनः आ सकता है । प्रस्तुत सूत्र मे सयम का त्याग किये विना आने वाले भिक्षु के सम्बन्ध मे सारा विधान किया गया है ।

एकपक्षीय भिक्षु को पद देने का विधान

२५. एगपक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पइ आयरिय-उवज्झायाणं इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा, धारेत्तए वा, जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ।

२५. एकपक्षीय अर्थात् एक ही आचार्य के पास दीक्षा और श्रुत ग्रहण करने वाले भिक्षु को

अल्पकाल के लिए अथवा यावज्जीवन के लिए आचार्य या उपाध्याय पद पर स्थापित करना या उसे धारण करना कल्पता है अथवा परिस्थितिवश कभी जिसमे गण का हित हो वैसा भी किया जा सकता है ।

विवेचन—आचार्य उपाध्याय को अपनी उपस्थिति मे ही सघ की व्यवस्था बराबर बनी रहे, इसके लिए योग्य आचार्य और उपाध्याय की नियुक्ति कर देना चाहिए ।

अल्पकालिक पदनियुक्ति के कारण

१ वर्तमान आचार्य को किसी विशिष्ट रोग की चिकित्सा करने के लिए अथवा मोहचिकित्सा हेतु विशिष्ट तपसाधना करने के लिए सघभार से मुक्त होना हो,

२ अन्य आचार्य उपाध्याय के पास अध्ययन करने हेतु जाना हो, अथवा उन्हे अध्ययन कराने एव सहयोग देने जाना हो,

३ परिस्थितिवश अल्पकाल के लिए सयम छोडना आवश्यक हो,

४ पदनियुक्ति के समय पर योग्य भिक्षु का आवश्यक अध्ययन अपूर्ण हो,

इत्यादि परिस्थितियो मे अल्पकालिक पद दिया जाता है ।

जीवनपर्यंत पदनियुक्ति के कारण

१ आचार्य उपाध्याय को अपना मरण-समय निकट होने का ज्ञान होने पर ।
२ अतिवृद्धता या दीर्घकालीन असाध्य रोग हो जाने पर ।
३ आचार्य उपाध्याय को जिनकल्प आदि कोई विशिष्ट साधना करना हो ।
४ आचार्य को सयम का पूर्णतया त्याग करना हो ।
५ ब्रह्मचर्य का पालन करना अशक्य हो ।
६ स्वगच्छ का त्याग कर अन्यगच्छ मे जाना हो ।

इन स्थितियो मे आचार्य पदयोग्य भिक्षु को जीवनपर्यंत के लिए पद दिया जाता है ।

भाष्यकार ने यहा दो प्रकार के आचार्य कहे हैं—१. सापेक्ष, २ निरपेक्ष ।

जो अपने जीवनकाल मे ही उचित अवसर पर योग्य भिक्षु को अपने पद पर नियुक्त कर देता है, वह 'सापेक्ष' कहा जाता है ।

जो उचित अवसर पर योग्य भिक्षु को अपने पद पर नियुक्त नही करता है और उपेक्षा करता हुआ काल कर जाता है या अयोग्य को नियुक्त करता है, वह "निरपेक्ष" कहा जाता है । क्योकि उसके काल करने के बाद गच्छ मे कषाय कलह आदि की वृद्धि हो जाती है, जिससे गच्छ की व्यवस्था भग हो जाती है ।

सूत्र में कहे गए एकपाक्षिक शब्द की व्याख्या—

दुविहो य एगपक्खी, पवज्ज सुए य होई नायव्वो ।
सुत्तम्मि एगवायण, पवज्जाए कुलिव्वाबी ।। —व्यव. भाष्य गा. ३२५

भावार्थ—एकपाक्षिक दो प्रकार का होता है—१ श्रुत से २ प्रव्रज्या से ।

जिसने एक गुरु के पास ही वाचना ग्रहण की हो अथवा जिसका श्रुतज्ञान एवं अर्थज्ञान आचार्यादि के समान हो, उनमे भिन्नता न हो, वह श्रुत से एकपाक्षिक कहा जाता है।

जो एक ही कुल गण एव सघ मे प्रव्रजित होकर स्थिरता से रहा हो अथवा जिसने एक गच्छवर्ती साधुओ के साथ निवास अध्ययनादि किया हो वह प्रव्रज्या से एकपाक्षिक कहा जाता है।

भाष्यकार ने इन दो पदो से चार भग इस प्रकार किये हैं—

१ प्रव्रज्या और श्रुत से एकपाक्षिक।

२ प्रव्रज्या से एकपाक्षिक, श्रुत से नहीं।

३ श्रुत से एकपाक्षिक किन्तु प्रव्रज्या से नही।

४ प्रव्रज्या एव श्रुत दोनो से एकपाक्षिक नही।

इनमे प्रथम भग वाले को ही पद पर नियुक्त करना चाहिए, अन्य भंग वाला पूर्ण रूप से एकपाक्षिक नही होता।

सूत्र मे अन्तिम वाक्य से आपवादिक विधान भी किया है कि किसी विशेष परिस्थिति मे पूर्ण एकपाक्षिक एव पदयोग्य भिक्षु न हो तो जैसा गण-प्रमुखो को गण के लिए उचित लगे वैसा कर सकते हैं।

भाष्यकार ने यहा यह स्पष्ट किया है कि आपवादिक स्थिति में भी तृतीय भंगवर्ती को अर्थात् जो श्रुत से सर्वथा एकपाक्षिक हो तो उसे पद पर नियुक्त करना चाहिए। किन्तु दूसरे और चौथे भगवर्ती को पद परनियुक्त करने से आचार्य को गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है तथा वह आज्ञा-भग आदि दोषो को प्राप्त करता है।

अत जो अल्पश्रुत न हो किन्तु बहुश्रुत हो एव श्रुत से एकपाक्षिक हो, उसे परिस्थितिवश पद पर नियुक्त किया जा सकता है। भाष्यकार ने गा. ३३३ मे अल्पश्रुत को भी एकपाक्षिक न कह कर अनेकपाक्षिक कहा है।

श्रुत से एकपाक्षिक न होने के दोष

१ भिन्न वाचना होने से अनेक विषयो मे शिष्यो को संतुष्ट नही कर सकता है।

२ भिन्न प्रकार से प्ररूपणा करने पर गच्छ मे विवाद उत्पन्न होता है।

३ भिन्न-भिन्न प्ररूपणाओ के आग्रह से कलह उत्पन्न होकर गच्छ छिन्न-भिन्न हो जाता है।

४. अल्पश्रुत हो तो प्रश्न-प्रतिप्रश्नो का समाधान नही कर सकता, जिससे शिष्यों को अन्य गच्छ मे जाकर पूछना पड़ता है।

५ अन्य गच्छ वाले अगीतार्थ या गीतार्थ शिष्यों को श्रुत के निमित्त से आकृष्ट कर अपनी निश्रा में कर सकते हैं, जिससे गण मे क्षति, अशान्ति एवं अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

प्रव्रज्या से एकपाक्षिक न होने के दोष

१ अन्य कुल गण की प्रव्रज्या वाला आचार्य बन जाने पर भी गण के साधुओ को अपना नही मानता है।

२ गण के कई साधु आचार्य को अपना नही मानते हैं।

३ दोनो के हृदय मे पूर्ण आत्मीयता न होने से प्रेम या अनुशासन में वृद्धि नही होती है, किन्तु उपेक्षाभाव एव अनुशासनहीनता की वृद्धि होती है।

४ परस्पर आत्मीयभाव न होने से स्वार्थवृत्ति एव शिष्यलोभ से कलह आदि उत्पन्न होते हैं, जिससे जिनशासन की हीलना होती है।

५. भाष्यकार ने यह भी बताया है अधिक लम्बा समय बीत जाने पर भी दोनो में परायेपन का भाव नष्ट नही होता है, जिससे गच्छ मे भेद उत्पन्न हो जाते है।

इसलिए प्रथम भगवर्ती एकपाक्षिक भिक्षु को ही आचार्यादि पद पर अल्पकाल के लिये या जीवनपर्यंत के लिए स्थापित करना चाहिए।

सूत्रगत आपवादिक विधान की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने सर्वप्रथम तीसरे भग वाले अर्थात् श्रुत से एकपाक्षिक भिक्षु को ही पद पर नियुक्त करने को कहा है।

प्रथम एव तृतीय भग वाले योग्य साधु के अभाव मे जब किसी को आचार्य आदि पद देना आवश्यक हो जाय तब क्रम से दूसरे या चौथे भग वाले को भी पद दिया जा सकता है। क्योकि जिस गण मे अनेक साधु-साध्वियो का समुदाय हो और जिसमे नवदीक्षित, तरुण या बालवय वाले साधु-साध्वी हो, उन्हे आचार्य उपाध्याय या प्रवर्तिनी के बिना रहने का व्यव उ ३ सू ११-१२ मे सर्वथा निषेध किया है। वहा यह भी बताया है कि श्रमण निर्ग्रन्थ दो पदवीधरो के अधीनस्थ ही रहते है और श्रमणी निर्ग्रन्थिया तीन पदवीधरो के नेतृत्व मे रहती है।

यदि परिस्थितिवश किसी भी भग वाले अनेकपाक्षिक भिक्षु को आचार्य आदि पद दिया जाय तो वह इन गुणो से युक्त होना चाहिए—

१ प्रकृति से कोमल स्वभाव वाला हो।

२ गच्छ के समस्त साधु-साध्विया उसके आचार्य होने मे सम्मत हो।

३ वह विनयगुण-सपन्न हो।

४ आचार्य साधु आदि के गृहस्थजीवन का स्वजन सबधी हो अथवा अनेक साधु-साध्विया उसके गृहस्थजीवन के सबधी हो।

५. जिसने गण मे अपने व्यवहार से आत्मीयता स्थापित कर ली हो।

इत्यादि अनेक गुणो से सपन्न हो तो उस अनेकपाक्षिक भिक्षु को भी आचार्य आदि पद पर नियुक्त किया जा सकता है।

जिस गण मे अनेक गीतार्थ भिक्षु शिष्यादि की ऋद्धि से सपन्न हों तो एक को मूल आचार्य एव उसके सदृश गुणसंपन्न एक को उपाध्याय पद पर नियुक्त करना चाहिए। उसके बाद जो शिष्य-सपदा से परिपूर्ण हो एव आचार्य के लक्षणो से युक्त हो उसे भी आचार्य या उपाध्याय आदि पदों पर नियुक्त करना चाहिए और वैसे लक्षण युक्त न हो तो स्थविर आदि पद से विभूषित करना चाहिए। किंतु जिनके प्रभूत शिष्य न हो, उनको एक मुख्य आचार्य के अनुशासन मे ही रहना चाहिए।

मुख्य आचार्य से जो दीक्षा पर्याय में अधिक हो एव श्रुतसंपदा से सपन्न भी हों, किंतु आचार्य उपाध्याय पद के योग्य न हो तो उन्हे स्थविर आदि पद से सम्मानित करना चाहिए।

यदि अन्य भिक्षु आचार्य से अधिक दीक्षा पर्याय वाले न हो या श्रुतसम्पदा वाले न हो तो सभी साधुओ को एक ही आचार्य उपाध्याय के अनुशासन मे रहना चाहिए।

पारिहारिक और अपारिहारिकों के परस्पर आहार-सम्बन्धी व्यवहार

२६. बहवे पारिहारिया बहवे अपारिहारिया इच्छेज्जा एगयओ एगमासं वा, दुमासं वा, तिमासं वा, चाउमास वा, पंचमासं वा, छम्मासं वा वत्थए, ते अन्नमन्नं संभुंजंति, अन्नमन्नं नो संभुंजंति, मासं ते, तओ पच्छा सव्वे वि एगयओ संभुंजंति।

२७. परिहारकप्पट्ठियस्स भिक्खुस्स नो कप्पइ असणं वा जाव साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा।

थेरा य ण वएज्जा—'इम ता अज्जो! तुमं एएसिं देहि वा अणुप्पदेहि वा।'

एवं से कप्पइ दाउ वा, अणुप्पदाउं वा।

कप्पइ से लेवं अणुजाणावेत्तए,

'अणुजाणह भंते! लेवाए'

एव से कप्पइ लेवं समासेवित्तए।

२८. परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू सएण पडिग्गहेण बहिया अप्पणो वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य ण वएज्जा—

'पडिग्गाहेहि अज्जो!—अहं पि भोक्खामि वा पाहामि वा',

एव से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

तत्थ से नो कप्पइ अपरिहारिएणं परिहारियस्स पडिग्गहंसि असणं वा जाव साइमं वा भोत्तए वा पायए वा।

कप्पइ से सयंसि वा पडिग्गहंसि, सयंसि वा पलासगंसि, सयंसि वा कमण्डलंसि, सयंसि वा खुब्भगंसि, सयंसि वा पाणिंसि उद्धट्टु-उद्धट्टु भोत्तए वा पायए वा। एस कप्पो अपरिहारियस्स परिहारियाओ।

२९. परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू थेराणं पडिग्गहेणं बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य णं वएज्जा—

'पडिग्गाहेहि अज्जो! तुमंपि पच्छा भोक्खसि वा पाहिसि वा',

एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

तत्थ से नो कप्पइ परिहारिएणं अपरिहारियस्स पडिग्गहंसि असणं वा जाव साइमं वा भोत्तए वा पायए वा।

कप्पइ से सयंसि वा पडिग्गहंसि, सयंसि वा पलासगंसि, सयंसि वा कमण्डलंसि, सयंसि वा खुब्भगंसि, सयंसि वा पाणिंसि उद्धट्टु-उद्धट्टु भोत्तए वा पायए वा। एस कप्पो परिहारियस्स अपरिहारियाओ।

२६. अनेक पारिहारिक और अनेक अपारिहारिक भिक्षु यदि एक, दो, तीन, चार, पाच, छह मास पर्यन्त एक साथ रहना चाहे तो पारिहारिक भिक्षु पारिहारिक भिक्षु के साथ और अपारिहारिक भिक्षु अपारिहारिक भिक्षु के साथ बैठकर आहार कर सकते हैं, किन्तु पारिहारिक भिक्षु अपारिहारिक भिक्षु के साथ बैठकर नही कर सकते। वे सभी (पारिहारिक और अपारिहारिक) भिक्षु छह मास तप के और एक मास पारणे का बीतने पर एक साथ बैठकर आहार कर सकते है।

२७ अपारिहारिक भिक्षु को पारिहारिक भिक्षु के लिए अशन यावत् स्वादिम आहार देना या निमन्त्रण करके देना नही कल्पता है।

यदि स्थविर कहे कि—"हे आर्य! तुम इन पारिहारिक भिक्षुओ को यह आहार दो या निमन्त्रण करके दो।"

ऐसा कहने पर उसे आहार देना या निमन्त्रण करके देना कल्पता है।

परिहारकल्पस्थित भिक्षु यदि लेप (घृतादि विकृति) लेना चाहे तो स्थविर की आज्ञा से उसे लेना कल्पता है।

"हे भगवन्! मुझे घृतादि विकृति लेने की आज्ञा प्रदान करे।"

इस प्रकार स्थविर से आज्ञा लेने के बाद उसे घृतादि विकृति का सेवन करना कल्पता है।

२८ परिहारकल्प मे स्थित भिक्षु अपने पात्रो को ग्रहण कर अपने लिए आहार लेने जावे और उसे जाते हुए देखकर यदि स्थविर कहे कि—

"हे आर्य! मेरे योग्य आहार-पानी भी लेते आना, मैं भी खाऊगा-पीऊगा।"

ऐसा कहने पर उसे स्थविर के लिए आहार लाना कल्पता है।

वहा अपारिहारिक-स्थविर को पारिहारिक भिक्षु के पात्र मे अशन यावत् स्वाद्य खाना-पीना नही कल्पता है।

किन्तु उसे अपने ही पात्र मे, पलासक (मात्रक) मे, जलपात्र मे, दोनो हाथ में या एक हाथ मे ले-ले कर खाना-पीना कल्पता है। यह अपारिहारिक भिक्षु का पारिहारिक भिक्षु की अपेक्षा से आचार कहा गया है।

२९ परिहारकल्प मे स्थित भिक्षु स्थविर के पात्रो को लेकर उनके लिए आहार-पानी लाने को जावे, तब स्थविर उसे कहे—

"हे आर्य! तुम अपने लिये भी साथ मे ले आना और बाद मे खा लेना, पी लेना।"

ऐसा कहने पर उसे स्थविर के पात्रो मे अपने लिए भी आहार-पानी लाना कल्पता है।

वहा अपारिहारिक स्थविर के पात्र में पारिहारिक भिक्षु को अशन यावत् स्वाद्य खाना-पीना नहीं कल्पता है।

किन्तु उसे अपने ही पात्र मे, पलासक में, कमण्डलु मे, दोनों हाथ में या एक हाथ मे ले-लेकर खाना-पीना कल्पता है।

यह पारिहारिक भिक्षु का अपारिहारिक भिक्षु की अपेक्षा से आचार कहा गया है।

विवेचन—परिहारतप करने वाले भिक्षुओ के साथ अपारिहारिक भिक्षु रहे तो उनमें से कई तो अलग-अलग आहार करते हैं और कई सम्मिलित आहार करते हैं।

एक मास परिहारतप वाला भिक्षु एक मास तप पूर्ण होने तक अलग आहार करता है और ५ दिन पारणे की अपेक्षा अलग आहार करता है, उसके बाद वह एक माडलिक आहार करता है।

इसी प्रकार दो मास परिहारतप वाला भिक्षु दो मास और दस दिन तक अलग आहार करता है,

तीन मास तप वाला भिक्षु तीन मास और पन्द्रह दिन, चार मास तप वाला भिक्षु चार मास और बीस दिन, पाच मास तप वाला भिक्षु पाच मास और पच्चीस दिन, छह मास तप वाला भिक्षु छह मास और तीस दिन (एक मास) तक अलग आहार करता है। इस प्रकार परिहारतप की समाप्ति के एक मास बाद पारिहारिक-अपारिहारिक सभी एक साथ आहार करते हैं।

परिहारतप करने वाला भिक्षु अपना आहार स्वय लाता है, उसे किसी से आहारादि लेना नही कल्पता है, यह सामान्य विधान है।

यदि वह तप करता हुआ अशक्त हो जाय तो स्थविर अन्य भिक्षुओं को कहे कि "हे आर्यो ! तुम इस परिहारी भिक्षु को आहार दो या निमन्त्रण करो, ऐसा कहने पर उसे आहार दिया जा सकता है।

यदि उसे घृतादि विगय की आवश्यकता हो तो वह पुन आज्ञा मिलने पर विगय सेवन कर सकता है, किन्तु केवल आहार देने की आज्ञा से विगय सेवन नही कर सकता।

किसी अपारिहारिक स्थविर की वैयावृत्य मे रहने वाला पारिहारिक भिक्षु स्थविर के लिए और अपने लिए आहार लेने अलग-अलग जाता है, यह सामान्य विधान है।

किन्तु कभी किसी कारण से स्थविर आज्ञा दे तो अपने पात्रो में अपने आहार के साथ उनके लिए भी आहारादि ला सकता है और उनके पात्रो में उनके आहार के साथ अपना आहार भी ला सकता है।

ऐसा करने मे उसके रूक्ष आहार के कोई विगय का लेप लग जाय तो वह स्थविर की आज्ञा से खा सकता है।

सूत्र मे उन भिक्षुओं के आहार करने की यह मर्यादा कही गई है कि वे परस्पर किसी के पात्र मे आहार न करें, किन्तु अपने पात्र मे या हाथ मे लेकर फिर खावे।

इस विधान से यह फलित होता है कि उन्हे अपने-अपने पात्र अलग-अलग रखने होते हैं एव शामिल लाये गये आहार को सम्मिलित होकर नही खा सकते हैं। इसका कारण यह है कि वह अलग

व्यवहार रखने वाला पारिहारिक भिक्षु है। कारण से एव आज्ञा से आहार साथ लाना परिस्थिति-जन्य अपवाद है, किन्तु पात्र लेने एव साथ मे आहार खाने के अलगाव मे कोई बाधा न होने से उसके सामान्य विधान का ही पालन करना आवश्यक होता है।

भिक्षु का शरीर सयम और तप मे सहायक होता है, अत इसे आहार देना आदि प्रवृत्ति करना आवश्यक है। अनासक्त भाव से स्व-शरीर हेतु की गई प्रवृत्ति भी निर्जरा का हेतु है, अत. सूत्र मे "अप्पणो वेयावडियाए" अर्थात् अपनी वैयावृत्य के लिए" ऐसे शब्द का प्रयोग किया गया है।

सूत्र मे आहार करने के साधनरूप मे पात्रो के लिए इन शब्दो का प्रयोग किया गया है—

१. स्वय के (आहार लेने के) पात्र मे।
२. स्वय के "पलासक" (मात्रक) मे।
३. स्वय के कमण्डलक (पानी लेने के पात्र) मे।
४. स्वय के खोबे मे अर्थात् दोनो हाथो से बनी अजलि मे।
५. स्वय के हाथ मे अर्थात् एक हाथ की पसली मे।

यहा स्वय के पलासक का अर्थ टीकाकार ने "ढाक के पत्तों से बना दोना" ऐसा किया है।

सूत्र मे "सयसि" पद प्रत्येक शब्द के साथ है। साधु के स्वय का पात्र वही होता है जो सदा उसके पास रहता है एव जो आगमोक्त हो।

पलास के पत्तो का दोना रखना आगम मे निषिद्ध है और वह अधिक समय धारण करने योग्य भी नही होता है। अत. "स्वय का पलासक" यह कथन "मात्रक" के लिए ही समझना उपयुक्त है एव मात्रक रखना आगमसम्मत भी है। —दशा० द. ८

सूत्र के विधान से ही ऐसा ज्ञात होता है कि वे भिक्षु यदि पात्र की ऊनोदरी करने वाले हो तो स्वय के मात्रक मे, हाथ मे या खोबे (अजली) मे ले-लेकर भी खा सकते हैं।

चौदहपूर्वी श्रीभद्रबाहु स्वामी द्वारा रचित इस व्यवहारसूत्र मे पात्र की दृष्टि से तीन नाम कहे गये हैं। इससे यह फलित होता है कि भिक्षु सामान्यतया भी अनेक पात्र रख सकता है, अतः एक पात्र ही रखने की परम्परा का ऐतिहासिक कथन आगमसम्मत नही कहा जा सकता।

छेदसूत्रो मे परिहार तप एव पारिहारिक भिक्षु सम्बन्धी निर्देशो के कथन की बहुलता को देखते हुए इस विधि का विच्छेद मानना भी उचित प्रतीत नही होता है। इस विधि के मुख्य आगम-सम्मत नियम ये हैं—"आयबिल, उपवास एव एकातवास से मौनपूर्वक आचार्य आदि के साथ रहना, सहाय-प्रत्याख्यान एव सम्भोग-प्रत्याख्यान करना, इत्यादि हैं, जिनका कि वर्तमान मे पालन करना सम्भव है। व्याख्याओ मे इसका विच्छेद माना है एव साध्वी के लिए भी निषिद्ध कहा है, किन्तु ऐसा उल्लेख आगमो मे नही है और न ही किसी आगमविधान से ऐसा सिद्ध होता है।

दूसरे उद्देशक का सारांश

सूत्र १-५ विचरण करने वाले दो या दो से अधिक भिक्षुओ द्वारा परिहारतप वहन किया जा सकता है।

६-१७ रुग्ण भिक्षुओ की उपेक्षा नही करना चाहिए या उन्हे गच्छ से नही निकालना चाहिए, किन्तु उनकी यथोचित सेवा करनी-करवानी चाहिए।

१८-२२ नवमे-दसवें प्रायश्चित्त प्राप्त भिक्षु को गृहस्थ-लिंग धारण करवाकर ही उपस्थापना करनी चाहिए। कदाचित् बिना गृहस्थ-लिंग के भी दीक्षा देना गच्छ-प्रमुख के निर्णय पर निर्भर रहता है।

२३-२४ आक्षेप एव विवाद पूर्ण स्थिति मे स्पष्ट प्रमाणित होने पर ही प्रायश्चित देना एव प्रमाणित न होने पर स्वय के दोष स्वीकार करने पर ही प्रायश्चित्त देना।

२५ जिसकी श्रुत एव दीक्षा पर्याय एकपाक्षिक हो ऐसे भिक्षु को पद देना।

२६ परिहारतप पूर्ण होने के बाद भी कुछ दिन आहार अलग रहता है, उत्कृष्ट एक मास तक भी आहार अलग रखा जाता है, जिससे बिना समविभाग के वह विकृति का सेवन कर सके।

२७ परिहारतप वाले को स्थविर की आज्ञा होने पर ही आहार दिया जा सकता है एव विशेष आज्ञा लेकर ही वह कभी विगय का सेवन कर सकता है।

२८-२९ स्थविर की सेवा मे रहा हुआ पारिहारिक भिक्षु कभी आज्ञा होने पर दोनो की गोचरी साथ मे ला सकता है, किन्तु उसे साथ मे नही खाना चाहिए। अलग अपने हाथ या पात्र मे लेकर ही खाना चाहिए।

उपसंहार

इस उद्देशक मे -

सूत्र १-५, २६-२९ परिहारतप वहन सम्बन्धी विधानो का,

६-१७ रुग्ण भिक्षुओ की अग्लानभाव से सेवा करने का,

१८-२२ नवमे दसवें प्रायश्चित्त वाले की उपस्थापना का,

२३-२४ विवाद को स्थिति मे निर्णय करने का,

२५ एकपाक्षिक को ही आचार्य पद देने का,

इत्यादि विषयो का वर्णन किया गया है।

॥ दूसरा उद्देशक समाप्त ॥

तीसरा उद्देशक

१. भिक्खू य इच्छेज्जा गणं धारेत्तए, भगव च से अपलिच्छन्ने एवं से नो कप्पइ गणं धारित्तए, भगव च से पलिच्छन्ने, एवं से कप्पइ गणं धारेत्तए ।

२. भिक्खु य इच्छेज्जा गणं धारेत्तए, नो से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता गणं धारेत्तए । कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता गणं धारेत्तए, थेरा य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ गण धारेत्तए, थेरा य से नो कप्पइ गणं धारेत्तए ।

जं णं थेरेहिं अविइण्णं गणं धारेइ से सन्तरा छेए वा परिहारे वा, जे साहम्मिया उट्ठाए विहरंति, नत्थि णं तेसिं केइ छेए वा परिहारे वा ।

१. यदि कोई भिक्षु गण को धारण करना अर्थात् अग्रणी होना चाहे और वह सूत्रज्ञान आदि योग्यता से रहित हो तो उसे गण धारण करना नही कल्पता है। यदि वह भिक्षु सूत्रज्ञान आदि योग्यता से युक्त हो तो उसे गण धारण करना कल्पता है ।

२ यदि योग्य भिक्षु गण धारण करना चाहे तो उसे स्थविरो से पूछे बिना गण धारण करना नही कल्पता है । यदि स्थविर अनुज्ञा प्रदान करे तो गण धारण करना कल्पता है । यदि स्थविर अनुज्ञा प्रदान न करे तो गण धारण करना नही कल्पता है ।

यदि कोई स्थविरो की अनुज्ञा प्राप्त किए बिना ही गण धारण करता है तो वह उस मर्यादा-उल्लघन के कारण दीक्षा-छेद या तपप्रायश्चित्त का पात्र होता है, किन्तु जो सार्धमिक साधु उसकी प्रमुखता मे विचरते हैं वे दीक्षा-छेद या तपप्रायश्चित्त के पात्र नही होते है ।

विवेचन—गण को धारण करना दो प्रकार से होता है—१. कुछ साधुओ के समूह की प्रमुखता करते हुए विचरण करना या चातुर्मास करना यह प्रथम प्रकार का गण धारण है । ऐसे भिक्षु को गण धारण करने वाला, गणधर, गणप्रमुख, सघाटकप्रमुख, मुखिया या अग्रणी कहा जाता है । भाष्य में इसे "स्पर्धकपति" भी कहा गया है । २. साधुओ के समूह का अधिपति अर्थात् आचार्यादि पद धारण करने वाला । जिसे आचार्य, उपाध्याय, गणधर, गच्छाधिपति, गणी आदि कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि पद वालो को एव प्रमुख रूप में विचरने वाले को "गणधर" कहा जाता है ।

प्रस्तुत दोनो सूत्रो मे प्रथम प्रकार के गणधारक का कथन है । क्योकि यहा स्थविरो की आज्ञा लेकर गण धारण करना और बिना आज्ञा गण धारण करने पर प्रायश्चित्त का पात्र होना कहा गया है । ऐसा विधान आचार्य पद धारण करने वाले के लिए उपयुक्त नही होता है ।

आचार्य पद गण के स्थविर देते है या वर्तमान आचार्य की आज्ञा से आचार्य पद दिया जाता है अथवा गच्छ के साधु-साध्वी या चतुर्विध सघ मिलकर आचार्य पद देते हैं, किन्तु कोई स्वय ही पद

लेना चाहे और स्थविर को पूछे कि 'मैं आचार्य बनूं ?' अथवा बिना पूछे ही आचार्य बन जाए, ऐसे अर्थ की कल्पना सर्वथा असंगत है। अत: इन दोनों सूत्रों का विषय है—संघाटक के प्रमुख रूप मे विचरण करना। आचार्यादि पद की अपेक्षा का कथन तो आगे के सूत्रों मे किया गया है।

यदि कोई भिक्षु गणप्रमुख के रूप मे विचरना चाहे तो उसका पलिच्छन्न होना आवश्यक है। अर्थात् जो शिष्यसम्पदा और श्रुतसम्पदा सम्पन्न है, वही प्रमुख रूप मे विचरण कर सकता है। यहां भाष्यकार ने शिष्यसम्पदा एवं श्रुतसम्पदा के चार भांगे कहे हैं, उनमे से प्रथम भंग के अनुसार जो दोनों प्रकार की सम्पदा से युक्त हो उसे ही प्रमुख रूप मे विचरण करना चाहिए।

यदि पृथक्-पृथक् शिष्य करने की परम्परा न हो तो श्रुतसम्पन्न (आगमवेत्ता) एवं बुद्धिमान भिक्षुगण के कुछ साधुओं की प्रमुखता करता हुआ विचरण कर सकता है।

जिस भिक्षु के एक या अनेक शिष्य हो वह शिष्यसम्पदा युक्त कहा जाता है। जो आवश्यक-सूत्र, दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र तथा आचारांगसूत्र और निशीथसूत्रों के मूल एवं अर्थ को धारण करने वाला हो अर्थात् जिसने इतना मूल श्रुत उपाध्याय की निश्रा से कंठस्थ धारण किया हो एवं आचार्य या उपाध्याय से इन सूत्रों के अर्थ की वाचना लेकर उसे भी कंठस्थ धारण किया हो एवं वर्तमान में वह श्रुत उसे उपस्थित हो तो वह श्रुतसम्पन्न कहा जाता है।

जिसके एक भी शिष्य नहीं है एवं उपर्युक्त श्रुत का अध्ययन भी जिसने नहीं किया है, वह गण धारण के अयोग्य है।

यदि किसी भिक्षु के शिष्यसम्पदा है, किन्तु वह बुद्धिमान् एवं श्रुतसम्पन्न नहीं है अथवा धारण किए हुए श्रुत को भूल गया है, वह भी गण धारण के अयोग्य है। किन्तु यदि किसी को वृद्धावस्था (६० वर्ष से अधिक) होने के कारण श्रुत विस्मृत हो गया हो तो वह श्रुतसम्पन्न ही कहा जाता है एवं गण धारण कर सकता है।

इस सूत्र मे "भगव च से" इस पद का प्रयोग किया गया है। इसमे "भगव" शब्द के साथ "च" और "से" होने से यह "सम्बोधन" रूप नहीं है। इसलिए यह शब्द गण धारण करने की इच्छा वाले अनगार के लिए ही प्रयुक्त है तथा इसके साथ **"पलिच्छन्ने और अपलिच्छन्ने"** शब्दों को जोडकर दो प्रकार की योग्यता का विधान किया गया है। इसलिए **"भगवं च से"** इस पद का अर्थ है—यदि वह भिक्षु (अनगार भगवंत) और **"पलिच्छन्ने"** इस पद का अर्थ है—शिष्य एवं श्रुतसम्पदा-सम्पन्न।

भाष्यकार ने शिष्यसम्पदा वाले को **"द्रव्यपलिच्छन्न"** और श्रुत सम्पन्न को **"भावपलिच्छन्न"** कहा है। उस चौभंगी युक्त विवेचन से भावपलिच्छन्न को ही गण धारण करके विचरने योग्य कहा है। जिसका सारांश यह है कि जो आवश्यक श्रुत से सम्पन्न हो एवं बुद्धिसम्पन्न हो, वह गण धारण करके विचरण कर सकता है।

भाष्यकार ने यह भी स्पष्ट किया है—

१. विचरण करते हुए वह स्वयं के और अन्य भिक्षुओं के ज्ञान दर्शन चारित्र की शुद्ध आराधना करने करवाने में समर्थ हो।

२. जनसाधारण को अपने ज्ञान तथा वाणी एवं व्यवहार से धर्म के सन्मुख कर सकता हो।

३ अन्य मत से भावित कोई भी व्यक्ति प्रश्न-चर्चा करने के लिए आ जाय तो यथायोग्य उत्तर देने मे समर्थ हो, ऐसा भिक्षु गणप्रमुख के रूप मे अर्थात् सघाटकप्रमुख होकर विचरण कर सकता है ।

धर्मप्रभावना को लक्ष्य मे रखकर विचरण करने वाले प्रमुख भिक्षु मे ये भाष्योक्त गुण होना आवश्यक हैं, किन्तु अभिग्रह प्रतिमाए एव मौन साधना आदि केवल आमकल्याण के लक्ष्य से विचरण करने वाले को सूत्रोक्त श्रुतसम्पन्न रूप पलिच्छन्न होना ही पर्याप्त है । भाष्योक्त गुण न हो तो भी वह प्रमुख होकर विचरण करता हुआ आत्मसयम-साधना कर सकता है ।

द्वितीय सूत्र के अनुसार कोई भी श्रुतसम्पन्न योग्य भिक्षु स्वेच्छा से गणप्रमुख के रूप मे विचरण करने के लिए नही जा सकता है, किन्तु गच्छ के स्थविर भगवत की अनुमति लेकर के ही गण धारण कर सकता है अर्थात् स्थविर भगवन्त से कहे कि—"हे भगवन् ! मैं कुछ भिक्षुओ को लेकर विचरण करना चाहता हूँ ।" तब स्थविर भगवन्त उसकी योग्यता जानकर एव उचित अवसर देखकर स्वीकृति देवें तो गण धारण कर सकता है । यदि वे स्थविर किसी कारण से स्वीकृति न दें तो उसे गण धारण नही करना चाहिये एव योग्य अवसर की प्रतीक्षा करना चाहिए ।

सूत्र मे स्थविर भगवन्त से आज्ञा प्राप्त करने का जो विधान किया गया है उसके सन्दर्भ मे यह समझना चाहिए कि यहा स्थविर शब्द से आचार्य उपाध्याय प्रवर्तक आदि सभी आज्ञा देने वाले अधिकारी सूचित किये गये हैं । क्योकि स्थविर शब्द अत्यन्त विशाल है । इसमे सभी पदवीधर और अधिकारीगण भिक्षुओ का समावेश हो जाता है । आगमो मे गणधर गौतम सुधर्मास्वामी के लिए एव तीर्थंकरो के लिए भी "थेरे—स्थविर" शब्द का प्रयोग है । अत इस विधान का आशय यह है कि गण धारण के लिए गच्छ के किसी भी अधिकारी भिक्षु की आज्ञा लेना आवश्यक है एव स्वय का श्रुतसपदा आदि से सम्पन्न होना भी आवश्यक है ।

यदि कोई भिक्षु उत्कट इच्छा के कारण आज्ञा लिये बिना या स्वीकृति मिले बिना भी अपने शिष्यो को या अन्य अपनी निश्रा मे अध्ययन आदि के लिए रहे हुए साधुओ को लेकर विचरण करता है तो वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है ।

उसके साथ शिष्य रूप रहने वाले या अध्ययन आदि किसी भी कारण से उसकी निश्रा मे रहने वाले साधु उसकी आज्ञा का पालन करते हुए उसके साथ रहते हैं, वे प्रायश्चित्त के पात्र नही होते हैं । यह भी द्वितीय सूत्र मे स्पष्ट किया गया है ।

आज्ञा के बिना गण धारण करने वाले भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त का विधान करते हुए सूत्र मे कहा गया है कि **"से सतरा छेए वा परिहारे वा"**, इसका अर्थ करते हुए व्याख्याकार ने यह स्पष्ट किया है कि वह भिक्षु अपने उस अपराध के कारण यथायोग्य छेद (पाच दिन आदि) प्रायश्चित्त को अथवा मासिक आदि परिहारतप या सामान्य तप रूप प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है । अर्थात् आलोचना करने पर या आलोचना न करने पर भी अनुशासन-व्यवस्था हेतु उसे यह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त दिया जाता है ।

सूत्र मे भिक्षु के लिए यह विधान किया गया है । इसी प्रकार साध्वी के लिए भी सपूर्ण विधान समझ लेना चाहिए । उसे विचरण करने के लिए स्थविर या प्रवर्तिनी की आज्ञा लेनी चाहिए ।

उपाध्याय आदि पद देने के विधि-निषेध

३. तिवासपरियाए समणे निग्गथे—आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले, पण्णत्तिकुसले, संगहकुसले, उवग्गहकुसले, अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे, असंकिलिट्ठायारे, बहुस्सुए बब्भागमे, जहण्णेणं आयारप्पकप्प-धरे, कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

४. सच्चेव णं से तिवासपरियाए समणे निग्गंथे नो आयारकुसले, नो संजमकुसले, नो पवयण कुसले, नो पण्णत्तिकुसले, नो संगहकुसले, नो उवग्गहकुसले, खयायारे, भिन्नायारे, सबलायारे, संकिलिट्ठयारे, अप्पसुए, अप्पागमे नो कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

५. पंचवासपरियाए समणे णिग्गंथे—आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले, पण्णत्तिकुसले, संगहकुसले, उवग्गहकुसले, अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे, असंकिलिट्ठायारे, बहुस्सुए, बब्भागमे, जहण्णेण दसा-कप्प-ववहारधरे, कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

६. सच्चेण णं से पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे—नो आयारकुसले, नो संजमकुसले, नो पवयणकुसले, नो पण्णत्तिकुसले, नो सगहकुसले, नो उवग्गहकुसले, खयायारे, भिन्नायारे, सबलायारे, संकिलिट्ठायारे, अप्पसुए, अप्पागमे नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

७. अट्ठवासपरियाए समणे निग्गंथे—आयारकुसले, सजमकुसले, पवयणकुसले, पण्णत्तिकुसले, संगहकुसले, उवग्गहकुसले, अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे, असंकिलिट्ठायारे, बहुस्सुए, बब्भागमे, जहण्णेणं ठाण-समवाय-धरे, कप्पइ आयरियत्ताए उवज्झायत्ताए गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए।

८. सच्चेव णं से अट्ठवासपरियाए समणे णिग्गथे नो आयारकुसले नो संजमकुसले, नो पवयणकुसले, नो पन्नत्तिकुसले, नो संगहकुसले, नो उवग्गहकुसले, खयायारे, भिन्नायारे, सबलायारे, संकिलिट्ठायारे, अप्पसुए अप्पागमे, नो कप्पइ आयरियत्ताए, उवज्झायत्ताए, गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए।

३. तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—यदि आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचन-कुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, सग्रहकुशल और उपग्रह करने मे कुशल हो तथा अक्षत चरित्र वाला, अभिन्न चारित्र वाला, अशबल चारित्र वाला और असक्लिष्ट आचार वाला हो, बहुश्रुत एव बहुआगमज्ञ हो और कम से कम आचार-प्रकल्प धारण करने वाला हो तो उसे उपाध्याय पद देना कल्पता है।

४. वही तीन वर्ष की दीक्षापर्यायवाला श्रमण-निर्ग्रन्थ—यदि आचार, सयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, सग्रह और उपग्रह मे कुशल न हो तथा क्षत, भिन्न, शबल और सक्लिष्ट आचार वाला हो, अल्पश्रुत एव अल्प आगमज्ञ हो तो उसे उपाध्याय पद देना नही कल्पता है।

५ पाच वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—यदि आचारकुशल, सयमकुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, संग्रहकुशल और उपग्रहकुशल हो तथा अक्षत चारित्र वाला, अभिन्न चारित्र वाला, अशबल चारित्र वाला और असंक्लिष्ट आचार वाला हो, बहुश्रुत एव बहुआगमज्ञ हो एवं कम से कम दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प एव व्यवहारसूत्र को धारण करने वाला हो तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

६ वही पाच वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—यदि आचार, सयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, सग्रह और उपग्रह मे कुशल न हो तथा क्षत, भिन्न, शबल और सक्लिष्ट आचार वाला हो, अल्पश्रुत और अल्प आगमज्ञ हो तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना नही कल्पता है।

७ आठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—यदि आचारकुशल, सयम कुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, सग्रहकुशल और उपग्रहकुशल हो तथा अक्षत चारित्र वाला, अभिन्न चारित्र वाला अशबल चारित्र और असक्लिष्ट आचार वाला हो, बहुश्रुत एव बहुआगमज्ञ हो एव कम से कम स्थानाग-समवायांग सूत्र को धारण करने वाला हो तो उसे आचार्य, उपाध्याय और गणावच्छेदक पद देना कल्पता है।

८ वही आठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ यदि आचार, सयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, सग्रह और उपग्रह मे कुशल न हो तथा क्षत, भिन्न, शबल और सक्लिष्ट आचार वाला हो, अल्पश्रुत और अल्प आगमज्ञ हो तो उसे आचार्य, उपाध्याय और गणावच्छेदक पद देना नही कल्पता है।

विवेचन—जिस गच्छ मे अनेक साधु-साध्विया हैं। जिसके अनेक सघाटक (सघाडे) अलग-अलग विचरते हो अथवा जिस गच्छ मे नवदीक्षित, बाल या तरुण साधु-साध्विया हो, उसमे अनेक पदवीधरों का होना अत्यावश्यक है एव कम से कम आचार्य, उपाध्याय इन दो पदवीधरो का होना तो नितात आवश्यक है।

किन्तु जिस गच्छ में २-४ साधु या २-४ साध्विया ही हो, जिनके एक या दो सघाटक ही अलग-अलग विचरते हो एव उनमे कोई भी नवदीक्षित बाल या तरुण वय वाला न हो तो पदवीधर के बिना ही केवल वय या पर्याय स्थविर से उनकी व्यवस्था हो सकती है।

यहा प्रथम सूत्रद्विक मे उपाध्याय पद, द्वितीय सूत्रद्विक मे आचार्य-उपाध्याय पद और तृतीय सूत्रद्विक मे अन्य पदो के योग्यायोग्य का कथन दीक्षापर्याय, श्रुत-अध्ययन एव अनेक गुणो के द्वारा किया गया है। जिसमे दीक्षापर्याय और श्रुत-अध्ययन की जघन्य मर्यादा तो उपाध्याय से आचार्य की और उनसे गणावच्छेदक की अधिक अधिकतर कही है।

इसके सिवाय मध्यम या उत्कृष्ट कोई भी दीक्षापर्याय एव श्रुत-अध्ययन वाले को भी ये पद दिये जा सकते हैं। आचारकुशल आदि अन्य गुणो का सभी पदवीधरो के लिए समान रूप से निरूपण किया गया है। अत: प्रत्येक पद-योग्य भिक्षु मे वे गुण होना आवश्यक हैं।

दीक्षापर्याय—भाष्यकार ने बताया है कि दीक्षापर्याय के अनुसार अनुभव, क्षमता, योग्यता का विकास होता है, जिससे भिक्षु उन-उन पदो के उत्तरदायित्व को निभाने में सक्षम होता है।

उपाध्याय का मुख्य उत्तरदायित्व अध्ययन कराने का है, जिसमे शिष्यो के अध्ययन सम्बन्धी सभी प्रकार की व्यवस्था की देख-रेख उन्हे रखनी पडती है। अत इस पद के लिए जघन्य तीन वर्ष की दीक्षापर्याय होना आवश्यक कहा है।

आचार्य पर गच्छ की सपूर्ण व्यवस्थाओ का उत्तरदायित्व रहता है। वे अर्थ-परमार्थ की वाचना भी देते है। अत अधिक अनुभव क्षमता की दृष्टि से उनके लिए न्यूनतम पाच वर्ष की दीक्षापर्याय होना आवश्यक कहा है।

गणावच्छेदक गण सबधी अनेक कर्तव्यो को पूर्ण करके उनकी चिन्ता से आचार्य को मुक्त रखता है अर्थात् गच्छ के साधुओ की सेवा, विचरण एव प्रायश्चित्त आदि व्यवस्थाओ का उत्तरदायित्व गणावच्छेदक का होता है। यद्यपि अनुशासन का पूर्ण उत्तरदायित्व आचार्य का होता है तथापि व्यवस्था तथा कार्यसचालन का उत्तरदायित्व गणावच्छेदक का अधिक होने से इनकी दीक्षापर्याय कम से कम आठ वर्ष की होना आवश्यक कहा है।

अन्यगुण—आचार-कुशलता आदि दस गुणो का कथन इन सूत्रो मे है। उनकी व्याख्या भाष्य मे इस प्रकार है—

१. **आचारकुशल**—ज्ञानाचार मे एव विनयाचार मे जो कुशल होता है वह आचारकुशल कहा जाता है। यथा—गुरु आदि के आने पर खडा होता है, उन्हे आसन चौकी आदि प्रदान करता है, प्रात काल उन्हे वन्दन करके आदेश मागता है, द्रव्य से अथवा भाव से उनके निकट रहता है, शिष्यो को एव प्रतीच्छको (अन्य गच्छ से अध्ययन के लिए आये हुओ) को गुरु के प्रति श्रद्धान्वित करने वाला कायिकी आदि चार प्रकार की विनयप्रतिपत्ति को यथाविधि करने वाला, आवश्यक वस्त्रादि प्राप्त करने वाला, गुरु आदि की यथायोग्य पूजा, भक्ति, आदर-सत्कार करके उन्हे प्रसन्न रखने वाला, परुष वचन नही बोलने वाला, अमायावी—सरल स्वभावी, हाथ-पाव-मुख आदि की विकृत चेष्टा से रहित स्थिर स्वभाव वाला, दूसरो के साथ मायावी आचरण अर्थात् धोखा न करने वाला, यथासमय प्रतिलेखन प्रतिक्रमण एव स्वाध्याय करने वाला, यथोचित तप करने वाला, ज्ञानादि की वृद्धि एवं शुद्धि करने वाला, समाधिवान् और सदैव गुरु का बहुमान करने वाला, ऐसा गुणनिधि भिक्षु "आचार कुशल" कहलाता है।

२ **सयमकुशल**—(१) पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय एव पचेन्द्रिय जीवो की सम्यक् प्रकार से यतना करने वाला, आवश्यक होने पर ही निर्जीव पदार्थों का विवेकपूर्वक उपयोग करने वाला, गमनागमन आदि की प्रत्येक प्रवृत्ति अच्छी तरह देखकर करने वाला, असयम प्रवृत्ति करने वालो के प्रति उपेक्षा या माध्यस्थ भाव रखने वाला, यथासमय यथाविधि प्रमार्जन करने वाला, परिष्ठापना समिति के नियमो का पूर्ण पालन करने वाला, मन वचन काया की अशुभ प्रवृत्ति को त्यागने वाला, इन सत्तरह प्रकार के सयम का पालन करने मे निपुण (दक्ष),

(२) अथवा कोई वस्तु रखने या उठाने मे तथा एषणा, शय्या, आसन उपधि, आहार आदि मे यथाशक्ति प्रशस्त योग रखने वाला, अप्रशस्त योगो का परित्याग करने वाला,

(३) इन्द्रियों एव कषायो का निग्रह करने वाला अर्थात् शुभाशुभ पदार्थों मे रागद्वेष नही करने वाला और कषाय के उदय को विफल कर देने वाला, हिंसा आदि आश्रवो का पूर्ण निरोध करने

वाला, अप्रशस्त योग और अप्रशस्त ध्यान अर्थात् आर्त-रौद्र ध्यान का त्याग कर शुभ योग और धर्म-शुक्ल ध्यान मे लीन रहने वाला, आत्मपरिणामो को सदा विशुद्ध रखने वाला, इहलोकादि आशका से रहित, ऐसा गुणनिधि भिक्षु "सयमकुशल" है।

३. **प्रवचन कुशल**—जो जिनवचनो का ज्ञाता एव कुशल उपदेष्टा हो वह प्रवचनकुशल है, यथा—सूत्र के अनुसार उसका अर्थ, परमार्थ, अन्वय-व्यतिरेक युक्त सूत्राशय को, अनेक अतिशय युक्त अर्थों को एव आश्चर्यकारी अर्थों को जानने वाला, मूल एव अर्थ की श्रुतपरम्परा को भी जानने वाला, प्रमाण-नय-निक्षेपो से पदार्थों के स्वरूप को समझने वाला, इस प्रकार श्रुत एव अर्थ के निर्णायक होने से जो श्रुत रूप रत्नो से पूर्ण है तथा जिसने सम्यक् प्रकार से श्रुत को धारण करके उसका पुनरावर्तन किया है, पूर्वापर सम्बन्ध पूर्वक चिन्तन किया है, उसके निर्दोष होने का निर्णय किया है और उसके अर्थ को बहुश्रुतो के पास चर्चा-वार्ता आदि से विपुल विशुद्ध धारण किया है, ऐसे गुणो को धारण करने वाला और उक्त अध्ययन से अपना हित करने वाला, अन्य को हितावह उपदेश करने वाला एव प्रवचन का अवर्णवाद बोलने वालो का निग्रह करने मे समर्थ ऐसा गुणसम्पन्न भिक्षु "प्रवचन-कुशल" है।

४. **प्रज्ञप्तिकुशल**—लौकिक शास्त्र, वेद, पुराण एव स्वसिद्धात का जिसने सम्यग् विनिश्चय कर लिया है, जो धर्म-कथा, अर्थ-कथा आदि का सम्यक्ज्ञाता है तथा जीव-अजीव के स्वरूप एव भेदो का, कर्म बध एव मोक्ष के कारणो का, चारो गति मे गमनागमन करने का एव उनके कारणो का तथा उनसे उत्पन्न दु:ख-सुख का, इत्यादि कथन करने मे कुशल, परवादियो के कुदर्शन का सम्यक् समाधान करके उनसे कुदर्शन का त्याग कराने मे समर्थ एव स्वसिद्धातो को समझाने मे कुशल भिक्षु "प्रज्ञप्तिकुशल" है।

५ **संग्रहकुशल**—द्रव्य से उपधि, शिष्यादि का और भाव से श्रुत एव अर्थ तथा गुणो का आत्मा मे संग्रह करने मे जो कुशल (दक्ष) होता है तथा क्षेत्र एव काल के अनुसार विवेक रख कर ग्लान वृद्ध आदि की अनुकम्पापूर्वक वैयावृत्य करने की स्मृति रखने वाला, आचार्यादि की रुग्णावस्था के समय वाचना देने वाला, समाचारी भग करने वाले या कषाय मे प्रवृत्त होने वाले भिक्षुओ को यथायोग्य अनुशासन करके रोकने वाला, आहार विनय आदि के द्वारा गुरुभक्ति करने वाला, गण के अन्तरग कार्यों को करने वाला अथवा गण से बहिर्भाव वालो को अन्तर्भावी बनाने वाला, आहार, उपधि आदि जिसको जो आवश्यक हो उसकी पूर्ति करने वाला, परस्पर साथ रहने मे एव अन्य को रखने मे कुशल, सीवन, लेपन आदि कार्य करने कराने मे कुशल, इस प्रकार नि स्वार्थ सहयोग देने के सवभाव वाला गुणनिधि भिक्षु "सग्रहकुशल है।

६ **उपग्रहकुशल**—बाल, वृद्ध, रोगी, तपस्वी, असमर्थ भिक्षु आदि को शय्या, आसन, उपधि, आहार, औषध आदि देता है, दिवाता है तथा इनकी स्वय सेवा करता है अन्य से करवाता है, गुरु आदि के द्वारा दी गई वस्तु या कही गई वार्ता निर्दिष्ट साधुओ तक पहुचाता है तथा अन्य भी उनके द्वारा निर्दिष्ट कार्यों को कर देता है अथवा जिनके आचार्यादि नही हैं, उन्हे आत्मीयता से दिशानिर्देश करता है, वह "उपग्रहकुशल" है।

७. **अक्षत-आचार**—आधाकर्म आदि दोषों से रहित शुद्ध आहार ग्रहण करने वाला एव परिपूर्ण आचार का पालन करने वाला।

८. **अभिन्नाचार**—किसी प्रकार के अतिचारो का सेवन न करके पाचो आचारों का परिपूर्ण पालन करने वाला।

९. **अशबलाचार**—विनय, व्यवहार, भाषा, गोचरी आदि मे दोष न लगाने वाला अथवा शबल दोषों से रहित आचरण वाला।

१०. **असंक्लिष्ट-आचार**—इहलोक-परलोक सम्बन्धी सुखो की कामना न करने वाला अथवा क्रोधादि का त्याग करने वाला संक्लिष्ट परिणाम रहित भिक्षु।

"क्षत-आचार" आदि शब्दो का अर्थ इससे विपरीत समझ लेना चाहिए, यथा—

१ आधाकर्मादि दोषो का सेवन करने वाला।

२. अतिचारो का सेवन कर पाच आचार या पाच महाव्रत मे दोष लगाने वाला।

३. विनय, भाषा आदि का विवेक नही रखने वाला, शबल दोषों का सेवन करने वाला।

४ प्रशसा, प्रतिष्ठा, आदर और भौतिक सुखो की चाहना करने वाला अथवा क्रोधादि से सक्लिष्ट परिणाम रखने वाला।

बहुश्रुत-बहुआगमज्ञ—अनेक सूत्रो एव उनके अर्थों को जानने वाला 'बहुश्रुत या बहुआगमज्ञ' कहा जाता है। आगमो मे इन शब्दो का भिन्न-भिन्न अपेक्षा से प्रयोग है। यथा—

१. गम्भीरता विचक्षणता एव बुद्धिमत्ता आदि गुणों से युक्त।

२ जिनमत की चर्चा-वार्ता मे निपुण या मुख्य सिद्धान्तो का ज्ञाता।

३ अनेक सूत्रो का अभ्यासी।

४ छेदसूत्रो मे पारगत।

५ आचार एव प्रायश्चित्त विधानो मे कुशल।

६ जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट बहुश्रुत।

(१) जघन्यबहुश्रुत—आचाराग एवं निशीथसूत्र को अर्थ सहित कण्ठस्थ करने वाला।

(२) मध्यमबहुश्रुत—आचाराग, सूत्रकृताग और चार छेदसूत्रो को अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण करने वाला।

(३) उत्कृष्टबहुश्रुत—दृष्टिवाद को धारण करने वाला अर्थात् नवपूर्वी से १४ पूर्वी तक। सभी बहुश्रुत कहे गये हैं।

जो अल्पबुद्धि, अत्यधिक भद्र, अल्प अनुभवी एव अल्पआगमअभ्यासी होता है, वह 'अबहुश्रुत अबहुआगमज्ञ' कहा जाता है तथा कम से कम आचाराग, निशीथ, आवश्यक, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन सूत्र को अर्थ सहित अध्ययन करके उन्हे कण्ठस्थ धारण नही करने वाला "अबहुश्रुत अबहुआगमज्ञ" कहा जाता है।

आचारप्रकल्प—(१) प्रस्तुत तीसरे सूत्र मे "आचारप्रकल्पधारी होने का विधान है।

(२) दशवे उद्देशक मे सर्वप्रथम "आचारप्रकल्प नामक अध्ययन" की वाचना देने का विधान है।

(३) पाचवे उद्देशक मे "आचारप्रकल्प अध्ययन" को भूल जाने वाले तरुण साधु-साध्वियो को प्रायश्चित्त देने का विधान है। इस प्रकार इस व्यवहारसूत्र मे कुल सोलह बार "आचारप्रकल्प" या "आचारप्रकल्प-अध्ययन" का कथन है, यथा—

उद्देशक	सूत्र
३	३, १० मे एक-एक बार,
५	१७ मे एक बार,
१०	२१, २२, २३ मे एक-एक बार
५	१५, १६, १८ मे दो-दो बार
६	१७, १८ मे दो-दो बार

नदीसूत्र मे कालिक उत्कालिक सूत्रो की सूची मे ७१ आगमो के नाम दिये गये है। उनमे "आचारप्रकल्प" या "आचारप्रकल्प-अध्ययन" नाम का कोई भी सूत्र नही कहा गया है। अत यह समझना एव विचारना आवश्यक हो जाता है कि यह "आचारप्रकल्प" किस सूत्र के लिये निर्दिष्ट है और कालपरिवर्तन से इसका नाम परिवर्तन किस प्रकार हुआ है। इस विषय मे व्याख्याकार पूर्वाचार्यों के मतव्य इस प्रकार उल्लिखित मिलते है—

(१) पंचविहे आयारप्पकप्पे पण्णत्ते, त जहा—१. मासिए उग्घाइए, २. मासिए अणुग्घाइए, ३. चाउमासिए उग्घाइए, ४. चाउमासिए अणुग्घाइए ५. आरोवणा।

टीका—आचारस्य प्रथमांगस्य पदविभागसमाचारीलक्षणप्रकृष्टकल्पाभिधायकत्वात् प्रकल्प· आचारप्रकल्पः निशीथाध्ययनम्। स च पचविधः, पचविधप्रायश्चित्ताभिधायकत्वात्।—ठाणाग अ ५

(२) आचारः प्रथमांगः, तस्य प्रकल्पो अध्ययनविशेषो, निशीथम् इति अपराभिधानस्य।
—समवायाग २८

(३) अष्टाविंशतिविधः आचारप्रकल्पः निशीथाध्ययनम् आचारांगम् इत्यर्थः। स च एवं—(१) सत्थपरिण्णा जाव (२५) विमुत्ती, (२६) उग्घाइ, (२७) अणुग्घाइ (२८) आरोवणा तिविहमो निसीहं तु, इति अट्ठावीसविहो आयारप्पकप्पनामो त्ति।

—राजेन्द्र कोश भा २, पृ ३४९, "आयारपकप्प" शब्द।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र अ १०

(४) आचारः आचारांगम्, प्रकल्पो—निशीथाध्ययनम्, तस्यैव पंचमचूला। आचारेण सहितः प्रकल्पः आचारप्रकल्प, पंचविंशति अध्ययनात्मकत्वात् पंचविंशतिविधः आचारः, १. उद्घातिम, २. अनुद्घातिमं ३. आरोवणा इति त्रिधा प्रकल्पोमीलने अष्टाविंशतिविधः।

—अभि रा को. भाग २ पृ. ३५०, 'आयारपकप्प' शब्द

यहा समवायागसूत्र एव प्रश्नव्याकरणसूत्र के मूल पाठ मे अट्ठाईस प्रकार के आचार-प्रकल्प का कथन किया गया है, जिसमे सम्पूर्ण आचारागसूत्र के २५ अध्ययन और निशीथसूत्र के

तीन विभाग का समावेश करके अट्ठाईस का योग बताया है। प्रस्तुत सूत्र मे सोलह बार "आचार-प्रकल्प" का कथन है और उसके अध्ययन को अत्यधिक महत्त्व दिया है। उससे भी वर्तमान मे प्रसिद्ध दोनो ही सूत्रो को समझना उचित प्रतीत होता है। क्योकि केवल आचारांगसूत्र ग्रहण करे तो "प्रकल्प" शब्द निरर्थक हो जाता है और केवल निशीथसूत्र समझे तो आचाराग का अध्ययन किये बिना निशीथसूत्र का अध्ययन करना मानना होगा, जो कि सर्वथा अनुचित है। इसका कारण यह है कि प्रायश्चित्त-विधानो के अध्ययन के पूर्व आचार-विधानो का अध्ययन करना आवश्यक होता है। समवायाग और प्रश्नव्याकरणसूत्र मे भी सूत्रकार ने आचार सम्बधी पच्चीस अध्ययन के साथ ही प्रायश्चित्त रूप अध्ययन कह कर अट्ठाईस अध्ययन गिनाए है।

नदीसूत्र की रचना के समय प्रायश्चित्तविधायक तीन विभागो के बीस उद्देशक आचाराग-सूत्र से पूर्णत· पृथक् हो चुके थे और उनका नाम "निशीथसूत्र" रख दिया गया था। इसी कारण नदीसूत्र मे "प्रकल्प" या "आचारप्रकल्प" नामक कोई सूत्र नही कहा गया है और नदीसूत्र के पूर्वरचित सूत्रो मे अनेक जगह आचारप्रकल्प का कथन है किन्तु वहा "निशीथसूत्र" नाम नही है।

समवायागसूत्र के उपर्युक्त टीकाश मे टीकाकार ने स्पष्ट किया है कि "आचार का मतलब प्रथमाग—आचारागसूत्र और प्रकल्प का मतलब उसका अध्ययन विशेष। जिसका कि प्रसिद्ध दूसरा नाम निशीथसूत्र है", इस प्रकार दोनो सूत्र मिलकर ही सम्पूर्ण आचारप्रकल्पसूत्र है।

'आचार-प्रकल्प' शब्द के वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार होते हैं—

१. आचार और प्रायश्चित्तो का विधान करने वाला सूत्र निशीथ-अध्ययनयुक्त—आचाराग-सूत्र।
२ आचारविधानो के प्रायश्चित्त का प्ररूपक सूत्र—निशीथसूत्र।
३ आचारविधानो के बाद तत्सबधी प्रायश्चित्तो को कहने वाला अध्ययन--आचारप्रकल्प-अध्ययन—निशीथअध्ययन।
४ आचाराग से पृथक् किया गया खड या विभाग रूप सूत्र अथवा अध्ययन—आचारप्रकल्प-अध्ययन—निशीथसूत्र।

सख्याप्रधान ठाणाग और समवायाग सूत्र मे अनेक अपेक्षाओ से अनेक प्ररूपण किये गये हैं। उसे एकातअपेक्षा से समझना उचित्त नही है। यथा—निशीथसूत्र के २० उद्देशक है किन्तु उन्हे विभिन्न अपेक्षाओ से (तीन या पाच) ही गिनाये गये है। ठाणागसूत्र मे तीन अनुद्घातिक भी कहे गये हैं और पाच अनुद्घातिक भी कह दिए हैं। इसी प्रकार आचारप्रकल्प के पाच विभाग भी कहे गये हैं और अट्ठाईस विभाग भी कहे गये है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, अत. अल्पसख्या के कथन का आग्रह न रखकर अधिक सख्या अर्थात् अट्ठाईस को पूर्ण मानना चाहिए।

साराश यह है कि सक्षिप्त-अपेक्षा से उपलब्ध निशीथसूत्र को आगम और व्याख्याओ मे आचारप्रकल्प कहा गया है और विस्तृत एव परिपूर्णअपेक्षा से उपलब्ध आचारांग और निशीथसूत्र दोनो को मिलाकर आचारप्रकल्प कहा गया है। अत. निष्कर्ष यह है कि ये दोनो एक ही सूत्र के दो विभाग हैं।

नदीसूत्र की रचना के समय उसका विभक्त होना एव निशोथ नामकरण हो जाना सभव है। उसके पूर्व अनेक आगम स्थानो मे निशोथ नाम का कोई अस्तित्व नही है, केवल 'आचारप्रकल्प' या 'आचारप्रकल्प-अध्ययन' के नाम से विधान किये हैं।

निशीथसूत्र के अलग हो जाने के कारण उसके रचनाकार के सबध में अनेक विचार प्रचलित हुए हैं, यथा—

१ यह विशाखागणि द्वारा पूर्वों से उद्धृत किया गया है।
२ समय की आवश्यकता को लेकर आर्यरक्षित ने इसकी रचना की है।
३. चौदहपूर्वी भद्रबाहुस्वामी ने निशोथ सहित चारो छेदसूत्रों को पूर्वों से उद्धृत किया है, इत्यादि कल्पनाए की गई है।

व्यवहारसूत्र मे 'आचारप्रकल्प-अध्ययन' का वर्णन है और उसे साधु-साध्वी दोनो को कठस्थ रखने का कथन है और व्यवहारसूत्र चौदहपूर्वी भद्रबाहुस्वामो के द्वारा रचित (नियूंढ) है। अत· भद्रबाहुस्वामो के बाद मे होने वाले विशाखागणि और आर्यरक्षित के द्वारा आचारप्रकल्प की रचना करने को कल्पना करना तो स्पष्ट ही आगम से विपरीत है।

उन दोनो आचार्यों मे से किसी एक के द्वारा पूर्वश्रुत से उद्धृत करना मान लेने पर निशीथ-सूत्र को पूर्वश्रुत का अश मानना होगा। जबकि व्यवहारसूत्र मे साध्वियो को उसके कठस्थ रखने का विधान है और साध्वियो को पूर्वों का अध्ययन वर्जित भी है। अत. इन दोनो आचार्यों के द्वारा पूर्वों से उद्धृत करने का विकल्प भी सत्य नही है किन्तु उन आचार्यों के पहले भी यह आचारप्रकल्प पूर्वों से भिन्न श्रुत रूप मे उपलब्ध था, यह निश्चित है।

भद्रबाहुस्वामी ने चार छेदसूत्रो की रचना नही की थी किन्तु तीन छेदसूत्रो की ही रचना की थी, यह दशाश्रुतस्कधसूत्र की नियुंक्ति की प्रथम गाथा से स्पष्ट है—

गाथा—वंदामि भद्दबाहुं, पाईणं चरिम-सगल-सुय-णाणि।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे॥

दशाश्रुतस्कध के नियुंक्तिकर्ता द्वितीय भद्रबाहुस्वामी ने प्रथम भद्रबाहुस्वामी को प्राचीन भद्रबाहु के नाम से वदन करके उन्हे तीन सूत्रो की रचना करने वाला कहा है।

भद्रबाहुस्वामी ने यदि निशीथसूत्र की रचना की होती तो वे व्यवहारसूत्र मे सोलह बार 'आचारप्रकल्प' का प्रयोग करने के स्थान में या अध्ययनक्रम कहने के वर्णन मे कही निशीथ का भी नाम निर्देश कर देते। किन्तु अध्ययनक्रम मे भी निशीथ का नाम नही दिया गया है, आचारप्रकल्प और 'दसा-कप्प-ववहार' नाम दिये हैं। अत निशीथसूत्र को भद्रबाहु की रचना कहना भी प्रमाण-सगत नही है।

इन सब विचारणाओ से यह सिद्ध होता है कि यह किसी की रचना नही है किन्तु आचाराग के अध्ययन को किसी आशय से पृथक् किया गया है। कब किसने पृथक् किया, कब तक आचारप्रकल्प नाम रहा और कब निशोथ नाम हुआ, यह जानने का आधार नही मिलता है। तथापि नंदीसूत्र की रचना के समय यह पृथक् हो गया था और इसका नाम भी निशीथसूत्र निश्चित्त हो गया था तथा आचार-

प्रकल्प नाम का कोई भी सूत्र उस समय प्रसिद्धि मे नही रहा था फिर भी आचारप्रकल्प के नाम से अनेक विधान तो आज तक भी आगमो मे उपलब्ध है।

प्रस्तुत प्रथम सूत्रद्विक मे उपाध्याय पद योग्य भिक्षु के लिए इसके अध्ययन करने का और अर्थ सहित कण्ठस्थ धारण करने का विधान है। यह उपाध्याय पद योग्य भिक्षु के लिए आवश्यक जघन्य-श्रुत है। इसके कण्ठस्थ न होने पर वह उपाध्याय पद पर स्थापित करने के अयोग्य कहा गया है।

दसा-कप्प-ववहारधरे

द्वितीय सूत्रद्विक मे आचार्य पद के योग्यायोग्य का कथन करते हुए जघन्य पाच वर्ष की दीक्षा-पर्याय एव अन्य बहुश्रुत पर्यंत के सभी गुणो को कह कर कम से कम तीन छेदसूत्रो को धारण करना आवश्यक कहा है।

मूल पाठ मे इनके लिए 'छेदसूत्र' शब्द का प्रयोग नही है तथा नदीसूत्र मे कही गई सूत्रसूची मे भी इन्हे छेदसूत्र नही कहा गया है। अन्य आगमो मे भी 'छेदसूत्र' शब्द का प्रयोग नही है। भाष्य, चूर्णि आदि व्याख्याओ मे 'छेदसूत्र' शब्द का प्रयोग मिलता है। अत नदी की रचना के बाद व्याख्याकारो के समय मे इन सूत्रो की 'छेदसूत्र' सज्ञा हो गई है।

निशीथसूत्र उ १९ मे आये 'उत्तम श्रुत' निर्देश की व्याख्या मे दृष्टिवाद अथवा छेदसूत्रो को 'उत्तमश्रुत' माना गया है, वहा सूत्र मे आचारशास्त्र का अध्ययन कराने के पूर्व 'उत्तमश्रुत' का अध्ययन कराने पर प्रायश्चित्त कहा है।

यहा 'दसा' शब्द से दशाश्रुतस्कधसूत्र, 'कप्प' शब्द से बृहत्कल्पसूत्र और 'ववहार' शब्द से व्यवहारसूत्र का कथन किया गया है। ये तीनो सूत्र चौदहपूर्वी [प्रथम भद्रबाहुस्वामी द्वारा रचित (निर्यूढ) हैं, यह निर्विवाद है।

आगमो मे एक विशेष प्रकार की शैली उपलब्ध है, जिससे 'किन्ही सूत्रो मे स्वय उसी सूत्र का नाम दिया गया है। यथा—नदीसूत्र मे नदीसूत्र का नाम, समवायागसूत्र मे समवायागसूत्र का नाम। इसी प्रकार प्रस्तुत व्यवहारसूत्र मे भी व्यवहारसूत्र के अध्ययन का निर्देश दो स्थलो मे किया गया है— प्रस्तुत सूत्र ५ मे तथा दसवे उद्देशक के अध्ययनक्रम मे।

विशेष प्रकार की शैली के अतिरिक्त इसमे कोई ऐतिहासिक कारण भी हो सकता है। अन्वेषक बहुश्रुत इस विषय का मनन करके कुछ न कुछ रहस्योद्घाटन करने का प्रयत्न करे।

ठाण-समवायधरे—तृतीय सूत्रद्विक मे गणावच्छेदक पद के योग्यायोग्य भिक्षु का कथन करते हुए आठ वर्ष की दीक्षापर्याय एव बहुश्रुत पर्यंत के सभी गुणो को कहकर कम से कम ठाणागसूत्र और समवायागसूत्र को कण्ठस्थ धारण करना आवश्यक कहा है।

यद्यपि गणावच्छेदक से आचार्य और उपाध्याय के पद का विशेष महत्त्व है तथापि कार्यों की अपेक्षा एव गण-चिंता की अपेक्षा गणावच्छेदक का क्षेत्र विशाल होता है। अत. इनके लिए जघन्य दीक्षापर्याय एव जघन्यश्रुत भी अधिक कहा गया है।

यहा सूत्र मे गणावच्छेदक के साथ-साथ अन्य पदवियो का भी सग्रह कई प्रतियो मे किया गया है, जिनकी कुल सख्या कुछ प्रतियो मे ६ या ७ भी मिलती है। भाष्यादि व्याख्याग्रन्थो मे कहा है कि प्रत्येक विशाल गच्छ में पांच पदवीधरो का होना आवश्यक है। अन्यथा उस गच्छ को साधुओ के

समाधि से रहने के अयोग्य, अव्यस्थित और त्याज्य गच्छ कहा है। वे पाच पदविया ये है—(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) प्रवर्तक, (४) स्थविर, (५) गणावच्छेदक।

इनमे से प्रवर्तक के अतिरिक्त चार पदवीधरों के कर्तव्य, अधिकार आदि का कथन अनेक आगमो मे है। यथा—(१) आचार्य और उपाध्याय के नेतृत्व के बिना बाल तरुण सतो को रहना ही निषिद्ध है। (२) कुछ ऐसे आवश्यक कर्तव्य होते हैं जो "स्थविर" को पूछकर करने का विधान है। (३) प्रायश्चित्त देना या गच्छ से अलग करना आदि कार्य गणावच्छेदक के निर्देशानुसार किए जाने का कथन है। भाष्यादि व्याख्याग्रन्थो मे प्रवर्तक का कार्य श्रमण-समाचारी मे प्रवृत्ति कराने का कहा गया है।

इन पाच के अतिरिक्त सूत्रो मे गणी और गणधर पद के पाठ भी मिलते हैं। इनमे से "गणधर" की व्याख्या इस उद्देशक के प्रथम सूत्र मे की गई है और गणी शब्द आचार्य का ही पर्यायवाची शब्द है अर्थात् गण—गच्छ को धारण करने वाला "गणी" या आचार्य होता है। यथा—ठाणा अ ३, अ. ८, उत्तरा अ ३ और व्यव उ १/अभि रा कोश भा ३, पृ ८२३।

अथवा एक प्रमुख आचार्य की निश्रा मे अन्य अनेक छोटे आचार्य (कुछ शिष्यो के) होते हैं, वे गणी कहे जाते हैं।

प्रस्तुत सूत्रद्वय (७-८) का विधान गणावच्छेदक और स्थविर के लिए तो उचित है, किन्तु गणी गणधर और प्रवर्तक के लिए आठ वर्ष की दीक्षापर्याय और उक्त श्रुत का कण्ठस्थ होना अनिवार्य नही हो सकता। क्योकि तीन या पाच वर्ष की दीक्षापर्याय से ही उनकी योग्यता अकित की जा सकती है। स्थविर का समावेश तो गणावच्छेदक मे हो सकता है, क्योकि गणावच्छेदक श्रुत की अपेक्षा स्थविर ही होते हैं। अत यह तीसरा सूत्रद्विक गणावच्छेदक से सम्बन्धित है।

शेष पदवियो का सूत्र के अन्त मे जो सग्रह मिलता है, वे शब्द कभी कालान्तर से किसी के द्वारा अधिक जोड दिये गये हैं। ऐसा भी सम्भव है, क्योकि उपलब्ध प्रतियो मे ये शब्द हीनाधिक मिलते हैं और प्रसगसगत भी नही हैं।

यद्यपि तीनो सूत्रद्विक मे क्रमश (१) आचारप्रकल्प, (२) दसा-कप्प-ववहार, (३) ठाणाग, समवायाग, जघन्यश्रुत-अध्ययन एव धारण करना कहा गया है, तथापि अध्ययनक्रम के दसवे उद्देशक के विधान से एव निशीथ उद्देशक १९ के प्रायश्चित्त-विधानो एव उसकी व्याख्या से यह सिद्ध होता है—

(१) उपाध्याय के लिए—१ आवश्यकसूत्र २, दशवैकालिकसूत्र, ३. उत्तराध्ययनसूत्र, ४ आचारागसूत्र ५ निशीथसूत्र, यो कम से कम पाच सूत्रो को कण्ठस्थ धारण करना अनिवार्य है।

(२) आचार्य के लिए—१ आवश्यक, २ दशवैकालिक, ३ उत्तराध्ययन, ४. आचाराग, ५ निशीथ, ६, सूत्रकृताग, ७ दशाश्रुतस्कन्ध, ८. बृहत्कल्प, ९. व्यवहारसूत्र, यो कम से कम कुल ९ सूत्रो को कण्ठस्थ धारण करना आवश्यक है।

(३) गणावच्छेदक के लिए—उपर्युक्त ९ और ठागाणसूत्र, समवायागसूत्र, यो कम से कम ग्यारह सूत्रो को कण्ठस्थ धारण करना अनिवार्य है।

सूत्राध्ययन सम्बधी विशेष स्पष्टीकरण के लिए निशीथ उद्दे. १९ देखे।

अल्पदीक्षापर्याय वाले को पद देने का विधान

९ निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे कप्पइ तद्दिवसं आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

प०—से किमाहु भंते।

उ०—अत्थि णं थेराणं तहारूवाणि कुलाणि, कडाणि, पत्तियाणि, थेज्जाणि वेसासियाणि, सम्मयाणि, सम्मुइकराणि, अणुमयाणि, बहुमयाणि भवंति।

तेहिं कडेहिं, तेहिं पत्तिएहिं, तेहिं थेज्जेहिं, तेहिं वेसासिएहिं, तेहिं सम्मएहिं, तेहिं सम्मुइकरेहिं, तेहिं अणुमएहिं, तेहिं बहुमएहिं। ज से निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए तद्दिवस।

१०. निरुद्धवासपरियाए समणे णिग्गथे कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए, समुच्छेयकप्पंसि।

तस्स णं आयार-पकप्पस्स देसे अवट्ठिए, से य अहिज्जिस्सामि त्ति अहिज्जेज्जा, एव से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

से य अहिज्जिस्सामि त्ति नो अहिज्जेज्जा, एव से नो कप्पई आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

९ निरुद्ध (अल्प) पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जिस दिन दीक्षित हो, उसी दिन उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

प्र०—हे भगवन्! ऐसा कहने का क्या कारण है?

उ०—स्थविरो के द्वारा तथारूप से भावित प्रीतियुक्त, स्थिर, विश्वस्त, सम्मत, प्रमुदित, अनुमत और बहुमत अनेक कुल होते हैं।

उन भावित प्रीतियुक्त, स्थिर, विश्वस्त, सम्मत, प्रमुदित, अनुमत और बहुमत कुल से दीक्षित जो निरुद्ध (अल्प) पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ है, उसे उसी दिन आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

१० आचार्य या उपाध्याय के काल-धर्मप्राप्त (मरण) हो जाने पर निरुद्ध (अल्प) वर्ष पर्याय वाले श्रमण निर्ग्रन्थ को आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

उसके आचारप्रकल्प का कुछ अश अध्ययन करना शेष हो और वह अध्ययन पूर्ण करने का सकल्प रखकर पूर्ण कर ले तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

किन्तु यदि वह शेष अध्ययन पूर्ण करने का सकल्प रखकर भी उसे पूर्ण न करे तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना नही कल्पता है।

विवेचन—पूर्व के छह सूत्रो मे आचार्य आदि पद देने योग्य भिक्षु के गुणो का वर्णन करते हुए उत्सर्गविधि का कथन किया गया है। इस सूत्रद्विक मे दीक्षापर्याय एव श्रुत-अध्ययन सम्बन्धी अपवाद

विधि का कथन किया गया है। अर्थात् पूर्व सूत्रो मे कम से कम तीन वर्ष एव पाच वर्ष की दीक्षा-पर्याय का होना क्रमश उपाध्याय एव आचार्य के लिए अनिवार्य कहा गया है और इन सूत्रो में उसी दिन के दीक्षित भिक्षु को या अनिवार्य वर्षों से कम वर्ष की दीक्षापर्याय वाले को अथवा आवश्यक श्रुत-अध्ययन अपूर्ण हो ऐसे भिक्षु को परिस्थितिवश आचार्य उपाध्याय पद देने का विधान किया है।

इन सूत्रो का तात्पर्य यह है कि यदि किसी मे सूत्रोक्त पद के योग्य अन्य सभी गुण हो तो किसी विशेष परिस्थिति मे श्रुत-धारण की या दीक्षापर्याय की अपूर्णता को नगण्य किया जा सकता है, क्योंकि अन्य सभी गुण विद्यमान होने से श्रुत और दीक्षा-पर्याय की कमी की पूर्ति तो पद देने के बाद भी हो सकती है।

नौवे सूत्र मे उसी दिन के दीक्षित भिक्षु को पद देने का कथन करते हुए उसके परिवार की धर्मनिष्ठा एव कुलीनता की पराकाष्ठा सूचित की गई है एव सूत्र के अत में ऐसे गुणसपन्न कुलो से दीक्षित होने वाले भिक्षु को उसी दिन पद देने का उपसहार-वाक्य कहा गया है।

दसवे सूत्र मे अपूर्ण सूत्र के अध्ययन को पूर्ण करने की शर्त कही गई है अर्थात् पद देने के पूर्व या पश्चात् शीघ्र ही अवशेष श्रुत को पूर्ण करना आवश्यक कहा है।

इन सूत्रो में दो प्रकार की गणस्थिति को लक्ष्य मे रख कर कथन किया गया है—(१) गण मे रहे हुए साधुओ मे सर्वानुमत एव अनुशासनव्यवस्था सभालने योग्य कोई भी नही है, उस समय किसी योग्य भावित कुल के प्रतिभासपन्न व्यक्ति का दीक्षित होना सूचित किया गया है।

(२) गण मे दीर्घ दीक्षापर्याय वाले एव श्रुतसपन्न साधुओ मे कोई भी पद-योग्य नही है, किंतु अल्पपर्याय वाला एव अपूर्ण श्रुत वाला भिक्षु योग्य है, ऐसी परिस्थितियो मे उसे पद पर नियुक्त करना सूचित किया है।

नवदीक्षित भिक्षु के सूत्रवर्णित पारिवारिक गुण

१ तथारूप कुशल स्थविरो द्वारा धर्मभावना से भावित किये गये कुल।

२ **पत्तियाणि**—'प्रीतिकराणि, वैनयिकानि कृतानि'—विनयसपन्न कुल।

३ **थेज्जाणि**—'**प्रीतिकरतया गच्छचिंतायां प्रमाणभूतानि**—गच्छ मे प्रीति होने से गच्छ के कार्यसम्पादान मे प्रमाणभूत।

४ **वेसासियाणि**—**आत्मानं अन्येषां गच्छवासिनां मायारहितानि कृततया विश्वासस्थानानि**—गच्छ के समस्त साधुओ के विश्वासयोग्य सरल स्वभावी।

५ **सम्मयाणि**—**तेषु तेषु प्रयोजनेषु इष्टानि**—सघ के अनेक कार्यों में इष्ट।

६ **सम्मुइकराणि**—**बहुशो विग्रहेषु समुत्पन्नेषु गणस्य समुदितं अकार्षीत्**—गच्छ मे उत्पन्न क्लेश को शात करके गच्छ को प्रसन्न रखने वाले।

७ **अणुमयाणि-बहुमयाणि**—गच्छगत बाल ग्लान वृद्ध आदि सभी को मान्य, बहुमान्य आदेय वचन वाले।

८ **तेहि कडोहि जाव तेहि बहुमएहि**—ऐसे भावित यावत् सब को मान्य परिवार वाले सदस्यो मे से कोई दीक्षा लेने वाला भिक्षु हो तो उसे—

कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए तद्दिवसं—उसी दिन दीक्षा देकर आचार्य उपाध्याय पद दिया जा सकता है।

भाष्य मे इस सूत्र की व्याख्या करते हुए मोहवश या स्वार्थवश पारिवारिक लोगो द्वारा बलात् दीक्षा छुडवा कर घर ले जाये गये व्यक्ति के कालातर से पुन दीक्षित होने पर उसे उसी दिन पद देने का सबध बताया है, किंतु यह कल्पना सूत्र के आशय के अनुकूल नही है। क्योकि सूत्र मे उसके पूर्व दीक्षापर्याय सबधी गुणो या उपलब्धियो का कोई कथन नही किया गया है, अपितु पारिवारिक लोगों की पूर्ण धर्मनिष्ठा का वर्णन किया है। शास्त्रकार द्वारा ऐसे सद्गुणो से सम्पन्न पारिवारिक जनों के द्वारा बलात् मोह से स्वार्थवश अपहरण की कल्पना करना उपयुक्त नही है। अत. ऐसे श्रेष्ठ गुणसपन्न भावित कुल से दीक्षित होने वाला नवदीक्षित भिक्षु ही 'निरुद्धपर्याय' शब्द से अभीष्ट है।

भाष्य मे दसवे सूत्र की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि सयम मे किसी प्रकार के दोषो को सेवन करने पर जिसकी दीक्षापर्याय का छेदन कर दिया गया हो, जिससे उसकी दीक्षापर्याय पद-प्राप्ति के योग्य नही रही हो ऐसे भिक्षु को पद देने का वर्णन है। किंतु सूत्र के विषय की इस प्रकार सगति करना भी उपयुक्त नही लगता है। क्योकि ऐसे दोक्षाछेदन योग्य दोषो से खडित आचार वाले को पद देना ही उचित नही है।

सूत्र मे उसके आचारप्रकल्प अध्ययन की अपूर्णता भी कही है। इससे भी अल्पवर्ष की प्रारम्भिक दीक्षापर्याय वाले का ही कथन सिद्ध होता है। क्योकि अधिक दीक्षापर्याय तक भी जिसका आचार-प्रकल्प-अध्ययन पूर्ण न हो ऐसे जडबुद्धि और दीक्षाछेद के प्रायश्चित्त को प्राप्त भिक्षु को पद देना शोभाजनक एव प्रगतिकारक नही हो सकता और वास्तव मे ऐसा व्यक्ति तो पूर्व सूत्रो के अनुसार सभी पदो के सर्वथा अयोग्य होता है। उसके लिए तो सूत्र मे अपवादविधान भी नही है।

अत इन सूत्रो मे प्रयुक्त 'निरुद्ध' शब्द से 'पूर्व दीक्षा का निरोध' या 'छेदन' अर्थ न करके 'अल्प वर्ष की दीक्षापर्याय' एव 'अत्यत अल्प सयमपर्याय' अर्थात् दीक्षा के प्रथम दिन पद देने का अर्थ करना चाहिए।

आगमो मे 'निरुद्ध' शब्द 'अल्प' या 'अतयल्प' अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। यथा—

१ सन्निरुद्धम्मि आउए—अत्यत अल्प आयु वाले इस मनुष्य भव मे,
२ निरुद्धायु—अल्प आयु,
३ निरुद्धभवपवचे—ससारभ्रमण जिसका अल्प रह गया है,
४ निरुद्धवास—आवश्यक वर्षों से अल्प वर्ष पर्याय वाला।

शब्दो के अनेक अर्थ होते हैं, कई व्युत्पत्तिपरक भी होते हैं, कई रूढ अर्थ भी। उनमे से कही रूढ अर्थ प्रासगिक होता है, कहीं व्युत्पत्तिपरक अर्थ प्रासगिक होता है और कही दोनों या अनेक अर्थ भी अपेक्षा से घटित हो जाते हैं।

अत जो अर्थ सूत्राशय के अनुकूल हो एव अन्य आगमविधानो से अविरुद्ध हो, ऐसा ही सूत्र का एवं शब्दों का अर्थ-भावार्थ करना चाहिए।

इसी आशय से सूत्रार्थ एव भावार्थ भाष्य से भिन्न प्रकार का किया है ।

यद्यपि भाष्य मे प्राय. सर्वत्र अनेक सभावित अर्थों का सग्रह किया जाता है और प्रमुख रूप से सूत्राशय के अनुरूप अर्थ कौनसा है, इसे भी 'सुत्तनिवातो' शब्द से गाथा मे सूचित किया जाता है । तथापि कही-कही किसी सूत्र की व्याख्या मे केवल एक ही अर्थ भावार्थ मे व्याख्या पूर्ण कर दी जाती है, जो कि आगम से अविरुद्ध भी नही होती है । इसलिए ऐसे निम्नाकित स्थलो पर भाष्य से सर्वथा भिन्न अर्थ-विवेचन करना पडा है—

यथा—(१) निशीथसूत्र उ. २, सू १ 'पादप्रोछन'
(२) निशीथसूत्र उ. २, सू. ८ 'विसुयावेइ'
(३) निशीथसूत्र उ. ३, सू. ७३ 'गोलेहणियासु'
(४) निशीथसूत्र उ. ३, सू. ८० 'अणुग्गएसूरिए'
(५-६) निशीथसूत्र उ. १९, सू. १ और ६ 'वियड' और 'गालेइ'
(७) व्यवहार उ २, सू १७ 'अट्ठजाय'
(८) व्यवहार उ ३, सू १-२ 'गणधारण'
(९) व्यवहार उ ९, सू ३१ 'सोडियसाला'
(१०) व्यवहार उ १०, सू २२ 'तिवासपरियाए'
(११) व्यवहार उ ३, सू १० 'पलासगसि'
(१२-१३) तथा प्रस्तुत दोनो सूत्र मे—'निरुद्धपरियाए, निरुद्धवासपरियाए' ।

इन विषयो की विस्तृत जानकारी के लिए सूचित स्थलो के विवेचन देखे ।

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को आचार्य के नेतृत्व बिना रहने का निषेध

११ निग्गथस्स ण नव-डहर-तरुणस्स आयरिय-उवज्झाए वीसुंभेज्जा, नो से कप्पइ अणायरिय-उवज्झाइए होत्तए ।

कप्पइ से पुव्व आयरियं उद्दिसावेत्ता तओ पच्छा उवज्झाय ।

प०—से किमाहु भते !

उ०—दु-सगहिए समणे निग्गथे, तं जहा—१ आयरिएण य, २. उवज्झाएण य ।

१२ निग्गंथीए ण नव-डहर-तरुणीए आयरिय-उवज्झाए, पवत्तिणी य वीसुंभेज्जा, नो से कप्पइ अणायरिय-उवज्झाइयाए अपवत्तिणियाए होत्तए ।

कप्पइ से पुव्वं आयरियं उद्दिसावेत्ता तओ उवज्झाय तओ पच्छा पवत्तिणि ।

प०—से किमाहु भंते ?

उ०—ति-संगहिया समणी निग्गथी, तं जहा—१. आयरिएण य, २. उवज्झाएण य, ३. पवत्तिणीए य ।

११ नवदीक्षित, बालक या तरुण निर्ग्रन्थ के आचार्य और उपाध्याय की यदि मृत्यु हो जाए तो उसे आचार्य और उपाध्याय के बिना रहना नही कल्पता है ।

उसे पहले आचार्य की और बाद मे उपाध्याय की निश्रा (अधीनता) स्वीकार करके ही रहना चाहिए।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

उ०—श्रमण निर्ग्रन्थ दो के नेतृत्व मे ही रहते हैं, यथा –१. आचार्य और २ उपाध्याय।

१२. नवदीक्षिता, बालिका या तरुणी निर्ग्रन्थी के आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी की यदि मृत्यु हो जावे तो उसे आचार्य उपाध्याय और प्रवर्तिनी के बिना रहना नही कल्पता है।

उसे पहले आचार्य की, बाद मे उपाध्याय की और बाद मे प्रवर्तिनी की निश्रा (अधीनता) स्वीकार करके ही रहना चाहिए।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

उ०—श्रमणी निर्ग्रन्थी तीन के नेतृत्व मे ही रहती है, यथा—१ आचार्य, २ उपाध्याय और ३ प्रवर्तिनी।

विवेचन—नव, डहर, तरुण का स्पष्टार्थ भाष्य मे इस प्रकार किया गया है—

तिवरिसो होइ नवो, आसोलसगं तु डहरगं बेंति।
तरुणो चत्तालीसो, सत्तरि उण मज्झिमो, थेरओ सेसो ॥

तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय पर्यंत नवदीक्षित कहा जाता है।

चार वर्ष से लेकर सोलह वर्ष की उम्र पर्यंत डहर-बाल कहा जाता है। सोलह वर्ष की उम्र से लेकर चालीस वर्ष पर्यंत तरुण कहा जाता है।

सत्तर वर्ष मे एक कम अर्थात् उनसत्तर (६९) वर्ष पर्यन्त मध्यम (प्रौढ) कहा जाता है।

सत्तर वर्ष से आगे शेष सभी वय वाले स्थविर कहे जाते है। —भाष्य गा २२० एव टीका।

आगम मे साठ वर्ष वाले को स्थविर कहा है। —व्यव उ १० —ठाण अ ३

भाष्यगाथा २२१ मे यह स्पष्ट किया गया है कि नवदीक्षित भिक्षु बाल हो या तरुण हो, मध्यम वय वाला हो अथवा स्थविर हो, उसे आचार्य उपाध्याय की निश्रा के बिना रहना या विचरण करना नही कल्पता है। अधिक दीक्षापर्याय वाला भिक्षु यदि चालीस वर्ष से कम वय वाला हो तो उसे भी आचार्य उपाध्याय की निश्रा बिना रहना नही कल्पता है।

तात्पर्य यह है कि बाल या तरुण वय वाले भिक्षु और नवदीक्षित भिक्षु एक हो या अनेक हो, उन्हे आचार्य और उपाध्याय की निश्रा मे ही रहना आवश्यक है। जिस गच्छ मे आचार्य उपाध्याय कालधर्म प्राप्त हो जाए अथवा जिस गच्छ मे आचार्य उपाध्याय न हो तो बाल-तरुण-नवदीक्षित भिक्षुओ को आचार्य उपाध्याय के बिना या आचार्य उपाध्याय रहित गच्छ मे किंचित् भी रहना नही कल्पता है। उन्हें प्रथम अपना आचार्य नियुक्त करना चाहिए तत्पश्चात् उपाध्याय नियुक्त करना चाहिए।

सूत्र में प्रश्न किया गया है—"हे भगवान् ! आचार्य उपाध्याय बिना रहना ही नही, ऐसा कहने का क्या आशय है ?"

इसका समाधान यह किया गया है कि ये उक्त वय वाले श्रमण निर्ग्रन्थ सदा दो से सग्रहीत होते हैं अर्थात् इनके लिये सदा दो का नेतृत्व होना अत्यन्त आवश्यक है—१. आचार्य २. उपाध्याय् का। तात्पर्य यह है कि आचार्य के नेतृत्व से इनको सयमसमाधि रहती है और उपाध्याय के नेतृत्व से इनका आगमानुसार व्यवस्थित अध्ययन होता है।

दूसरे सूत्र मे नव, डहर एव तरुण साध्वी के लिये भी यही विधान किया गया है। उन्हे भी आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी इन तीन की निश्रा के बिना रहना नही कल्पता है। इस सूत्र मे भी प्रश्न करके उत्तर मे यही कहा गया है कि ये उक्त वय वाली साध्विया सदा तीन की निश्रा से ही सुरक्षित रहती हैं।

सूत्र मे "*निग्गथस्स नव-डहर-तरुणगस्स*" और "*णिग्गथीए णव-डहर-तरुणीए*" इस प्रकार एक वचन का प्रयोग है, यहा बहुवचन का या गण का कथन नही है, जिससे यह विधान प्रत्येक 'नव डहर तरुण' भिक्षु के लिये समझना चाहिए। अत जिस गच्छ मे आचार्य और उपाध्याय दो पदवीधर नही हैं, वहा उक्त नव डहर तरुण साधुओ को रहना नही कल्पता है और इन दो के अतिरिक्त प्रवर्तिनी न हो तो वहा उक्त नव डहर तरुण साध्वियो को रहना नही कल्पता है।

तात्पर्य यह है कि उक्त साधुओ से युक्त प्रत्येक गच्छ मे आचार्य उपाध्याय दो पदवीधर होना आवश्यक है। यदि ऐसे गच्छ मे केवल एक पदवीधर स्थापित करे या एक भी पदवीधर नियुक्त न करे केवल रत्नाधिक की निश्रा से रहे तो इस प्रकार से रहना आगम-विपरीत है। क्योकि इन सूत्रो से यह स्पष्ट है कि अल्पसख्यक गच्छ मे या विशाल गच्छ मे आचार्य और उपाध्याय का होना आवश्यक है, यही जिनाज्ञा है।

यदि किसी गच्छ मे २-४ साधु ही हो और उनमे कोई सूत्रोक्त नव डहर तरुण न हो अर्थात् सभी प्रौढ एव स्थविर हो तो वे बिना आचार्य उपाध्याय के विचरण कर सकते हैं, किन्तु यदि उनमे नव डहर तरुण हो तो उन्हे किसी भी गच्छ के आचार्य उपाध्याय की निश्रा लेकर ही रहना चाहिए अन्यथा उनका विहार आगमविरुद्ध है।

इसी प्रकार साध्वियाँ भी ५-१० हो, जिनके कोई आचार्य उपाध्याय या प्रवर्तिनी न हो या उन्होने किसी परिस्थिति से गच्छ का त्यागकर दिया हो और उनमे नव डहर तरुण साध्वियाँ हों तो उन्हे भी किसी आचार्य और उपाध्याय की निश्रा स्वीकार करना आवश्यक है एव अपनी प्रवर्तिनी नियुक्त करना भी आवश्यक है। अन्यथा उनका विहार भी आगमविरुद्ध है।

इन सूत्रो से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्थानाग अ ३ में कहे गये भिक्षु के दूसरे मनोरथ के अनुसार अथवा अन्य किसी प्रतिज्ञा को धारण करने वाला भिक्षु और दशवै. चू. २, गा १०, उत्तरा अ ३२, गा. ५, आचा श्रु १, अ ६, उ २, सूय श्रु १, अ १० गा ११ में कहे गये सपरिस्थितिक प्रशस्त एकलविहार के अनुसार अकेला विचरण करने वाला भिक्षु भी यदि नव डहर या तरुण है तो उसका वह विहार आगमविरुद्ध है। अत. उपर्युक्त आगमसम्मत एकलविहार भी प्रौढ एवं स्थविर भिक्षु ही कर सकते हैं जो नवदीक्षित न हो।

तात्पर्य यह है कि तीन वर्ष की दीक्षापर्याय और चालीस वर्ष की उम्र के पहले किसी भी प्रकार का एकलविहार या गच्छत्याग करना उचित नही है और वह आगमविपरीत है।

बीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाला पर्यायस्थविर होने से २९ वर्ष की वय में वह आचार्य की आज्ञा लेकर एकलविहार साधनाएँ कर सकता है। किन्तु सपरिस्थितिक एकल विहार या गच्छत्याग नही कर सकता।

ऐसे स्पष्ट विधान वाले सूत्र एव अर्थ के उपलब्ध होते हुए भी समाज मे निम्न प्रवृतियां या परम्पराए चलती हैं, वे उचित नही कही जा सकती। यथा—

(१) केवल आचार्य पद से गच्छ चलाना और उपाध्याय पद नियुक्त न करना।

(२) कोई भी पद नियुक्त न करने के आग्रह से विशाल गच्छ को अव्यवस्थित चलाते रहना।

(३) उक्त वय के पूर्व ही गच्छत्याग करना।

ऐसा करने मे स्पष्ट रूप से उक्त आगमविधान की स्वमति से उपेक्षा करना है।

इस उपेक्षा से होने वाली हानियां इस प्रकार है—

१ गच्छगत साधुओ के विनय, अध्ययन, आचार एव सयमसमाधि की अव्यवस्था आदि अनेक दोषो की उत्पत्ति होती है।

२ साधुओ मे स्वच्छन्दता एव आचार-विचार की भिन्नता हो जाने से क्रमश गच्छ का विकास न होकर अध पतन होता है।

३ साधुओ मे प्रेम एव सयमसमाधि नष्ट होती है और क्लेशो की वृद्धि होती है।

४. अन्तत गच्छ भी छिन्न-भिन्न होता रहता है।

अत प्रत्येक गच्छ मे आचार्य उपाध्याय दोनो पदो पर किसी को नियुक्त करना आवश्यक है।

यदि कोई आचार्य उपाध्याय पदो को लेना या गच्छ मे ये पद नियुक्त करना अभिमानसूचक एव क्लेशवृद्धि कराने वाला मानकर सदा के लिये पदरहित गच्छ रखने का आग्रह रखते हैं और ऐसा करते हुए अपने को निरभिमान होना व्यक्त करते हैं, तो ऐसा मानना एव करना उनका सर्वथा अनुचित है और जिनाज्ञा की अवहेलना एव आसातना करना भी है। क्योकि जिनाज्ञा आचार्य उपाध्याय नियुक्त करने की है तथा नमस्कारमत्र मे भी ये दो स्वतन्त्र पद कहे गये हैं। अत उपर्युक्त आग्रह में सूत्रविधानो से भी अपनी समझ को सर्वोपरि मानने का अह सिद्ध होता है। यदि आचार्य उपाध्याय पद के अभाव मे निरभिमान और क्लेशरहित होना सभी विशाल गच्छ वाले सोच ले तो नमस्कार मत्र के दो पदो का होना ही निरर्थक सिद्ध होगा। जिससे पद-नियुक्ति सम्बन्धी सारे आगमविधानो का भी कोई महत्त्व नही रहेगा।

इसलिये अपने विचारो का या परम्परा का आग्रह न रखते हुए सरलतापूर्वक आगमविधानो के अनुसार ही प्रवृत्ति करना चाहिए।

सारांश—

(१) प्रत्येक नव डहर तरुण साधु को दो— और साध्वी को तीन पदवीधरयुक्त गच्छ मे ही रहना चाहिए।

(२) इन पदवीधरों से रहित गच्छ में नही रहना चाहिए।

(३) सूत्रोक्त वय के पूर्व एकलविहार या गच्छत्याग कर स्वतन्त्र विचरण भी नहीं करना चाहिए।

(४) कोई परिस्थिति विशेष हो तो अन्य आचार्य एव उपाध्याय से युक्त गच्छ की निश्रा लेकर विचरण करना चाहिए।

(५) गच्छप्रमुखो को चाहिए कि वे अपने गच्छ को २ या ३ पद से कभी भी रिक्त न रखे।

अब्रह्मसेवी को पद देने के विधि-निषेध

१३ भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म मेहुणधम्म पडिसेवेज्जा, तिण्णि सवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स, एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१४ गणावच्छेइए य गणावच्छेयत्तं अनिक्खिवित्ता मेहुणधम्म पडिसेवेज्जा, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्त वा जाव गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१५ गणावच्छेइए य गणावच्छेइयत्त निक्खिवित्ता मेहुणधम्म पडिसेवेज्जा, तिण्णि सवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तिहिं सवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स, एवं से कप्पइ आयरियत्त वा जाव गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१६ आयरिय-उवज्झाए य आयरिय-उवज्झायत्त अनिक्खिवित्ता मेहुणधम्म पडिसेवेज्जा, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तिय नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१७. आयरिय-उवज्झाए य आयरिय-उवज्झायत्तं निक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि सवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स, एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१३. यदि कोई भिक्षु गण को छोड़कर मैथुन का प्रतिसेवन करे अर्थात् मैथुनसेवन करे तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या उसको धारण करना नही कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष मे प्रवेश करने पर यदि वह वेदोदय से उपशान्त, मैथुन से निवृत्त, मैथुनसेवन मे ग्लानिप्राप्त और विषय-वासना-रहित हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

१४ यदि कोई गणावच्छेदक अपना पद छोडे बिना मैथुन का प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या इसे धारण करना नही कल्पता है।

१५ यदि कोई गणावच्छेदक अपना पद छोडकर मैथुन का प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष मे प्रवेश करने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

१६. यदि कोई आचार्य या उपाध्याय अपने पद को छोडे बिना मैथुन का प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

१७. यदि कोई आचार्य या उपाध्याय अपने पद को छोडकर मैथुन का प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष मे प्रवेश करने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

विवेचन—आगमो मे ब्रह्मचर्य की बहुत महिमा कही गई है एव इसका पालन भी दुष्कर कहा गया है। इनके प्रमाणस्थलो के लिये नि उ. ६ देखे।

पाच महाव्रतो मे भी ब्रह्मचर्य महाव्रत प्रधान है। अत इसके भंग होने पर यहा कठोरतम प्रायश्चित्त कहा गया है।

निशीथ उ. ६-७ मे इस महाव्रत के अतिचार एव अनाचारो का गुरुचौमासी प्रायश्चित्त कहा गया है और यहा केवल आचार्य आदि पदवियां देने, न देने के रूप मे प्रायश्चित्त कहे गये है। अर्थात् मैथुनसेवी को निशीथसूत्रोक्त गुरुचौमासी प्रायश्चित्त तो आता ही है साथ ही वह तीन वर्ष या उससे अधिक वर्ष अथवा जीवन भर आचार्यादि पद के अयोग्य हो जाता है, यह इन सूत्रो में कहा गया है।

जो भिक्षु सयमवेश मे रहते हुए स्त्री के साथ एक बार या अनेक बार मैथुनसेवन कर लेता है तो वह आचार्य आदि पदो के योग्य गुणो से सम्पन्न होते हुए भी कम से कम तीन वर्ष तक पद धारण करने के अयोग्य हो जाता है।

अत उसे पद देने का एव धारण करने का निषेध किया गया है। जिससे वह भिक्षु तीन वर्ष तक प्रमुख बन कर विचरण भी नही कर सकता है, क्योंकि सूत्र मे "गणधर" बनने का निषेध किया है। "गणधर" शब्द का विशेषार्थ इसी उद्देशक के प्रथम सूत्र मे देख।

जो भिक्षु मैथुनसेवन के बाद या प्रायश्चित्त से शुद्धि कर लेने के बाद सर्वथा मैथुनभाव से निवृत्त हो जाता है और तीन वर्ष पर्यन्त वह निष्कलक जीवन व्यतीत करता है, उस भिक्षु की अपेक्षा से यह जघन्य मर्यादा है।

यदि उस अवधि मे भी पुन. ब्रह्मचर्य महाव्रत के अतिचार या अनाचारो का सेवन करता है, अथवा दिये गये प्रायश्चित्त से विपरीत आचरण करता है, तो यह तीन वर्ष की मर्यादा आगे बढा दी जाती है और ऐसा करने से कभी जीवनपर्यन्त भी वह पद प्राप्ति के अयोग्य रह जाता है।

आचार्य, उपाध्याय या गणावच्छेदक आदि गच्छ मे एव समाज मे अत्यधिक प्रतिष्ठित होते है तथा ये अन्य साधु-साध्वियो के लिए आदर्श रूप होते हैं। पद पर प्रतिष्ठित होने से इन पर जिन-शासन का विशेष दायित्व होता है। उपलक्षण से इन तीन के अतिरिक्त प्रवर्तक, प्रवर्तिनी आदि पदो के लिए भी समझ लेना चाहिए।

इन पदवीधरो के द्वारा पद पर रहते हुए मैथुनसेवन करना अक्षम्य अपराध है। अत बिना किसी विकल्प के जीवन भर वे किसी भी पद को धारण नही कर सकते। उन्हे सदा अन्य के अधीन रहकर ही विचरण करते हुए सयम पालन करना पडता है।

यदि कोई पदवीधर यह जान ले कि 'मैं ब्रह्मचर्य का पालन करने मे असमर्थ हू' और तब वह अपना असामर्थ्य प्रकट करके या सामान्य रूप से अपनी सयमपालन की अक्षमता प्रकट करके पदत्याग कर देता है और योग्य अन्य भिक्षु को पद पर नियुक्त कर देता है, उसके बाद मैथुनसेवन करता है तो उसे उक्त जीवन पर्यन्त का प्रायश्चित्त नही आता है किन्तु तीन वर्ष तक पदमुक्त रहने का ही प्रायश्चित्त आता है।

सामान्य भिक्षु के मैथुनसेवन की वार्ता से भी लोकापवाद एव जिनशासन की अवहेलना होती है और उस भिक्षु की प्रतिष्ठा भी नही रहती है। तथापि आचार्य आदि पदवीधर द्वारा मैथुन-सेवन की वार्ता से तो जिनशासन की अत्यधिक अवहेलना होती है एव उस पदवीधर को भी अत्यधिक लज्जित होना पडता है।

अत सामान्य भिक्षु या कोई पदवीधर ब्रह्मचर्य पालन करने मे अपने आपको असमर्थ माने तो उन्हे आचा श्रु १ अ. ५ उ ४ मे कही गई क्रमिक साधना करनी चाहिये या आचा श्रु. १ अ. ८ उ. ४ के अनुसार आचरण करना चाहिए। किन्तु सयमी जीवन मे मैथुनसेवन करके स्वय का एव जिन-शासन का अहित नही करना चाहिये।

आचारागसूत्र मे कथित उत्कट आराधना यदि किसी से सभव न हो एव तीव्र मोहोदय उपशात न हो तो भी सयमी जीवन को कलकित करके जिनशासन की अवहेलना करना सर्वथा अनुचित है। उसकी अपेक्षा सयम त्यागकर मर्यादित गृहस्थजीवन मे धर्म-आराधना करना श्रेयस्कर है।

ऐसा भी सभव न हो तो अन्य विधि जो भाष्य मे कही गई है वह गीतार्थों के जानने योग्य है

एव आवश्यक होने पर कभी गीतार्थों की निश्रा से अन्य साधु-साध्वियो के भी जानने योग्य एव परिस्थितिवश आचरण करने योग्य हो सकती है।

प्रस्तुत सूत्र मे आए उद्दिसित्तए और धारित्तए, इन दो पदो का आशय यह है कि अब्रह्मसेवी भिक्षु को पद पर नियुक्त नही करना चाहिए और यदि जानकारी के अभाव मे कोई उसको पद पर नियुक्त कर भी दे तो उसे स्वीकार नही करना चाहिए।

सूत्र मे मैथुन के सकल्पो से निवृत्त भिक्षु के लिए अनेक विशेषणो का प्रयोग किया गया है। टीकाकार ने उनके अर्थ मे कुछ अन्तर बताते हुए व्याख्या की है। यथा—

स्थित—स्थित परिणाम वाले
उपशात—मैथुनप्रवृत्ति से निवृत्त
उपरत—मैथुन के सकल्पो से निवृत्त
प्रतिविरत—मैथुन सेवन से सर्वथा विरक्त
निर्विकारी—पूर्ण रूप से विकाररहित, शुद्ध ब्रह्मचर्य पालने वाला। —व्यव. भाष्य टीका।

सयम त्यागकर जाने वाले को पद के विधि-निषेध

१८ भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहाएज्जा, तिण्णि सवच्छराणि तस्स तप्पत्तिय नो कप्पइ आयरियत्त वा जाव गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तिहिं सवच्छरेहिं वीइक्कतेहिं चउत्थगंसि सवच्छरंसि पट्ठियसि ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स एव से कप्पइ आयरियत्त वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१९ गणावच्छेइए य गणावच्छेइयत्त अनिक्खिवित्ता ओहाएज्जा, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तिय नो कप्पइ आयरियत्त वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

२० गणावच्छेइए य गणावच्छेइयत्त निक्खिवित्ता ओहाएज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तिय नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तिहिं सवच्छरेहिं वीइक्कतेहिं, चउत्थगसि संवच्छरंसि पट्ठियसि ठियस्स, उवसतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स एव से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

२१ आयरिय-उवज्झाए य आयरिय-उवज्झायत्त निक्खिवित्त ओहाएज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्त वा जाव गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

२२. आयरिय-उवज्झाए य आयरिय-उवज्झायत्तं निक्खिवित्ता ओहाएज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्त वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१८. यदि कोई भिक्षु गण और सयम का परित्याग करके और वेष को छोडकर के चला जाए और बाद मे पुनः दीक्षित हो जाए तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष मे प्रवेश करने पर यदि वह उपशात, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

१९. यदि कोई गणावच्छेदक अपना पद छोडे बिना सयम का परित्याग करके और वेष छोडकर चला जाए और बाद मे पुन. दीक्षित हो जाए तो उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

२० यदि कोई गणावच्छेदक अपना पद छोडकर के तथा सयम का परित्याग करके और वेष छोडकर चला जाए और बाद मे पुन दीक्षित हो जाए तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष मे प्रवेश करने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

२१ यदि कोई आचार्य या उपाध्याय अपना पद छोडे बिना सयम का परित्याग करके और वेष छोडकर चला जाए और बाद मे पुन दीक्षित हो जाए तो उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

२२ यदि कोई आचार्य या उपाध्याय अपना पद छोडकर के तथा सयम और वेष का परित्याग करके चला जाए और बाद मे पुन दीक्षित हो जाए तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष मे प्रवेश करने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

विवेचन—पूर्व सूत्रपचक मे ब्रह्मचर्य पालन मे असमर्थ भिक्षु एव आचार्य आदि के लिए पदवी सम्बन्धी प्रायश्चित्त का विधान किया गया है और इस सूत्रपचक मे सामान्य रूप से सयम पालन मे असमर्थ भिक्षु आदि के सयम त्यागकर जाने के बाद पुन. दीक्षा स्वीकार करने पर उसे पदवी देने या न देने का विधान किया गया है।

सयम के त्यागने में परीषह या उपसर्ग आदि कई कारण हो सकते हैं । ब्रह्मचर्य आदि महाव्रत पालन की अक्षमता का भी कारण हो सकता है ।

किसी भी कारण से सयम त्यागने वाला यदि पुन· दीक्षा ग्रहण करे तो उसे भी तीन वर्ष तक या जीवनपर्यन्त पदवी नही देने का वर्णन पूर्व सूत्रपचक के समान यहां भी समझ लेना चाहिए तथा शब्दार्थ भी उसी के समान समझ लेना चाहिए ।

अनेक आगमो मे सयम त्यागने का एव परित्यक्त भोगो को पुन. स्वीकार करने का स्पष्ट निषेध किया गया है । दशवैकालिकसूत्र की प्रथम चूलिका मे सयम त्यागने पर होने वाले अनेक अपायो (दुखो) का कथन करके सयम मे स्थिर रहने की प्रेरणा दी गई है । उस चूलिका का नाम भी "रतिवाक्य" है, जिसका अर्थ है सयम में रुचि पैदा करने वाले शिक्षा-वचन । अत. उस अध्ययन का चिन्तन-मनन करके सदा सयम मे चित्त स्थिर रखना चाहिए ।

पापजीवी बहुश्रुतों को पद देने का निषेध

२३ भिक्खू य बहुस्सुए बब्भागमे बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

२४ गणावच्छेइए य बहुस्सुए बब्भागमे बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

२५ आयरिय-उवज्झाए य बहुस्सुए बब्भागमे बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्त वा जाव गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

२६ बहवे भिक्खुणो बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

२७. बहवे गणावच्छेइया बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तिय नो कप्पइ आयरियत्त वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

२८. बहवे आयरिय-उवज्झाया बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई मुसावाई, असुई, पावजीवी जावज्जीवाए तेसि तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

२९ बहवे भिक्खुणो बहवे गणावच्छेइया बहवे आयरिय-उवज्झाया बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई मुसावाई, असुई, पावजीवी जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

२३ बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ भिक्षु अनेक प्रगाढ कारणो के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या अपवित्र पापाचरणो से जीवन व्यतीत करे तो उसे उक्त कारणो से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

२४. बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ गणावच्छेदक अनेक प्रगाढ कारणो के होने पर अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या अपवित्र पापाचरणो से जीवन व्यतीत करे तो उसे उक्त कारणो से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

२५ बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ आचार्य या उपाध्याय अनेक प्रगाढ कारणो के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या अपवित्र पापाचरणो से जीवन व्यतीत करे तो उसे उक्त कारणो से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

२६ बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ अनेक भिक्षु अनेक प्रगाढ कारणो के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या अपवित्र पापाचरणो से जीवन व्यतीत करे तो उन्हे उक्त कारणो से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

२७ बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ अनेक गणावच्छेदक अनेक प्रगाढ कारणो के होने पर भी यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या अपवित्र पापाचरणो से जीवन व्यतीत करे तो उन्हे उक्त कारणो से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

२८. बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ अनेक आचार्य उपाध्याय अनेक प्रगाढ कारणो के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या अपवित्र पापाचरणो से जीवन व्यतीत करे तो उन्हे उक्त कारणो से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

२९ बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ अनेक भिक्षु, अनेक गणावच्छेदक या अनेक आचार्य उपाध्याय अनेक प्रगाढ कारणो के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या अपवित्र पापाचरणों से जीवन व्यतीत करे तो उन्हे उक्त कारणो से यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

विवेचन—इन सूत्रों मे बहुश्रुत बहुआगमज्ञ भिक्षु को आचार्य आदि पद न देने के प्रायश्चित्त का विधान है। अत अल्पज्ञ अल्पश्रुत भिक्षुओ के लिए इस प्रायश्चित्त का विधान नही है, क्योकि वे जिनाज्ञा एव सयममार्ग के उत्सर्ग-अपवाद रूप आचरणो एव सिद्धान्तो के पूर्ण ज्ञाता नही होते हैं। अत वे अव्यक्त या अपरिपक्व होने से पदवियो के अयोग्य ही होते हैं तथा उनके द्वारा इन सूत्रो मे कहे गये दोषो का सेवन करना सम्भव भी नही है। कदाचित् वे ऐसा कोई आंशिक दोष सेवन कर भी लें तो उनकी शुद्धि निशीथसूत्रोक्त तप प्रायश्चित्तो से ही हो जाती है।

आचार्य उपाध्याय आदि सभी पदवीधर भिक्षु तो नियमत बहुश्रुत बहुआगमज्ञ होते है फिर भी उनके लिए इन शब्दो का प्रयोग केवल स्वरूपदर्शक है अथवा लिपिप्रमाद से हो जाना सम्भव है। जैसे कि पहले उद्देशक मे आलोचनासूत्र मे आचार्य उपाध्याय के यह विशेषण नही हैं अन्य भिक्षुओ के लिए यह विशेषण लगाये गये हैं तथापि वहा कई प्रतियो मे इन विशेषण सम्बन्धी लिपिप्रमाद हुआ है।

विशेषणयुक्त इन सूत्रो का तात्पर्य यह है कि बहुश्रुत भिक्षु जिनशासन के जिम्मेदार व्यक्ति होते हैं। इनके द्वारा बडे दोषो का सेवन जिनशासन की अत्यधिक अवहेलना का कारण होने से उनकी भूल अक्षम्य होती है। जिससे उन्हे प्रायश्चित्त रूप मे जीवन भर के लिए धर्मशासन के पद से मुक्त रखने का विधान किया गया है। अत. इन सूत्रो मे कहे गये आचरणो को करने वाले बहुश्रुत भिक्षु आदि को जीवन भर आचार्य यावत् गणप्रमुख बनकर विचरण करने का कोई अधिकार नही रहता है।

सूत्र मे 'बहुत बार' और 'बहु आगाढ कारण' इन दो शब्दो का प्रयोग किया गया है। अत एक बार उक्त आचरण करने पर यह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त नही आता है, किन्तु उसे केवल तप प्रायश्चित्त ही दिया जाता है। बहु आगाढ अर्थात् अनेक प्रबल कारणो के बिना ही यदि उक्त भिक्षु इन दोषो का सेवन करे तो उसे दीक्षाछेद रूप प्रायश्चित्त आता है।

साराश यह है कि अनेक बार दोष सेवन करने पर और अनेक आगाढ कारण होने पर ही यह प्रायश्चित्त समझना चाहिए।

पूर्व के दस सूत्रो मे भी आचार्य आदि पदवी के सम्बन्ध मे प्रायश्चित्तरूप विधि-निषेध किये गये हैं और इन सात सूत्रो मे भी यही वर्णन है। अन्तर यह है कि वहा ब्रह्मचर्यभग या वेष त्यागने की अपेक्षा से वर्णन है और यहा प्रथम, द्वितीय या पचम महाव्रत सम्बन्धी दोषो की अपेक्षा वर्णन है।

अर्थात् जो भिक्षु झूठ, कपट, प्रपच दूसरो के साथ धोखा, असत्य दोषारोपण आदि आचरणो का अनेक बार सेवन करता है या तन्त्र, मन्त्र आदि से किसी को कष्ट देता है अथवा विद्या, मन्त्र, ज्योतिष, वैद्यककर्म आदि का प्ररूपण करता है, ऐसे भिक्षु को सूत्र मे "पापजीवी" कहा है। वह कलुषित चित्त और कुशील आचार के कारण सभी प्रकार की प्रमुखता या पदवी के सर्वथा अयोग्य हो जाता है।

यहा सात सूत्रो द्वारा प्रायश्चित्तविधान करने का यह आशय है कि एक भिक्षु हो या अनेक अथवा एक पदवीधर हो या अनेक, ये मिलकर भी सूत्रोक्त दोष सेवन करे तो वे सभी प्रायश्चित्त के भागी होते है। आगाढ कारणो की जानकारी के लिए भाष्य का अध्ययन करे।

तीसरे उद्देशक का सारांश

सूत्र १-२ बुद्धिमान्, विचक्षण, तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला और आचारांग निशीथसूत्र को अर्थ सहित कठस्थ धारण करने वाला ऐसा "भाव पलिच्छन्न" भिक्षु प्रमुख बनकर विचरण कर सकता है, किन्तु गच्छप्रमुख आचार्यादि की आज्ञा बिना विचरण करने पर वह यथायोग्य तप या छेद रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

सूत्र ३-४ कम से कम तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाला भिक्षु आचारसम्पन्न, बुद्धिसम्पन्न, विचक्षण, बहुश्रुत, जिन-प्रवचन की प्रभावना मे दक्ष तथा कम से कम आचाराग एव निशीथसूत्र को अर्थ सहित धारण करने वाला हो, उसे उपाध्याय पद पर नियुक्त किया जा सकता है।

जो भिक्षु तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला हो, किन्तु उक्त गुणसम्पन्न न हो तो उसे उपाध्याय पद पर नियुक्त नही किया जा सकता।

५-६ उपाध्याय के योग्य गुणो के सिवाय यदि दीक्षापर्याय पाच वर्ष और अर्थसहित कण्ठस्थ श्रुत मे कम से कम आचाराग, सूत्रकृताग और चार छेदसूत्र हो तो उसे आचार्य पद पर नियुक्त किया जा सकता है तथा वे आठ सपदा आदि से सम्पन्न भी होने चाहिए।

पाच वर्ष की दीक्षापर्याय वाला भिक्षु उक्त गुणो से सम्पन्न न हो तो उसे आचार्य पद पर नियुक्त नही किया जा सकता है।

७-८ उपर्युक्त गुणसम्पन्न एव कम से कम आठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाला तथा पूर्वोक्त आगमो सहित ठाणाग-समवायागसूत्र को कण्ठस्थ धारण करने वाला भिक्षु गणावच्छेदक पद पर नियुक्त किया जा सकता है।

आठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाला उक्त गुणसम्पन्न न हो तो उसे गणावच्छेदक पद पर नियुक्त नही किया जा सकता है।

९-१० किसी विशेष परिस्थिति मे अन्य गुणो से सम्पन्न योग्य भिक्षु हो तो उसे आवश्यक दीक्षापर्याय और श्रुत कठस्थ न हो तो भी आचार्य उपाध्याय पद पर नियुक्त किया जा सकता है। गच्छ मे अन्य किसी भिक्षु के योग्य न होने पर एव अत्यन्त आवश्यक हो जाने पर ही यह विधान समझना चाहिए। इस विधान से 'नवदीक्षित' भिक्षु को उसी दिन आचार्य बनाया जा सकता है।

११-१२ चालीस वर्ष की उम्र से कम उम्र वाले एव तीन वर्ष की दीक्षापर्याय से कम सयम वाले साधु-साध्वियो को आचार्य उपाध्याय की निश्रा बिना स्वतन्त्र विचरण करना या रहना नही कल्पता है तथा इन साधुओ को आचार्य और उपाध्याय से रहित गच्छ मे नही रहना चाहिए और साध्वियो को आचार्य उपाध्याय एव प्रवर्तिनी इन तीन से रहित गच्छ मे नही रहना चाहिए। इनमे से किसी के कालधर्म प्राप्त हो जाने पर भी उस पद पर अन्य को नियुक्त करना आवश्यक है।

१३-१७ आचार्यादि पद पर नियुक्त भिक्षु का चतुर्थ व्रत भग हो जाए तो उसे आजीवन सभी पद के अयोग्य घोषित कर दिया जाता है।

पद त्याग करके चतुर्थ व्रत भग करने पर या सामान्य भिक्षु के द्वारा चतुर्थ व्रत भग करने पर वह तीन वर्ष के बाद योग्य हो तो किसी भी पद पर नियुक्त किया जा सकता है।

सूत्र १८-२२ यदि पदवीधर किसी अन्य को पद पर नियुक्त किये बिना सयम छोड़कर चला जाय तो उसे पुन. दीक्षा अगीकार करने पर कोई पद नही दिया जा सकता। यदि कोई अपना पद अन्य को सौप कर जावे या सामान्य भिक्षु संयम त्याग कर जावे तो पुनः दीक्षा लेने के बाद योग्य हो तो उसे तीन वर्ष के बाद कोई भी पद यथायोग्य समय पर दिया जा सकता है।

२३-२९ बहुश्रुत भिक्षु या आचार्य आदि प्रबल कारण से अनेक बार झूठ-कपट-प्रपच-असत्याक्षेप आदि अपवित्र पापकारी कार्य करे या अनेक भिक्षु, आचार्य आदि मिलाकर ऐसा कृत्य करे तो वे जीवन भर के लिए सभी प्रकार की पदवियो के अयोग्य हो जाते हैं और इसमे अन्य कोई विकल्प नही है।

उपसंहार

इस उद्देशक मे—

१-२ प्रमुख बनकर विचरण करने के कल्प्याकल्प्य का,

३-८ पद देने के योग्यायोग्य का,

९-१० परिस्थितिवश अल्प योग्यता मे पद देने का,

११ आचार्य, उपाध्याय दो के नेतृत्व मे तरुण या नवदीक्षित साधुओ को रहने का,

१२ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तिनी इन तीन के नेतृत्व मे तरुण या नवदीक्षित साध्वियो के रहने का,

१३-१७ चतुर्थव्रत भग करने वालो को पद देने के विधि-निषेध का,

१८-२२ सयम त्याग कर पुन. दीक्षा लेने वालो को पद देने के विधि-निषेध का,

२३-२९ झूठ-कपट-प्रपच आदि करने वालो को पद देने के सर्वथा निषेध का,

इत्यादि विषयो का वर्णन किया गया।

।। तीसरा उद्देशक समाप्त ।।

चौथा उद्देशक

आचार्यादि के साथ रहने वाले निर्ग्रन्थों की संख्या

१. नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स एगाणियस्स हेमन्त-गिम्हासु चारए ।

२. कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स अप्पबिइयस्स हेमन्त-गिम्हासु चारए ।

३ नो कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पबिइयस्स हेमन्त-गिम्हासु चारए ।

४ कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पतइयस्स हेमन्त-गिम्हासु चारए ।

५. नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स अप्पबिइयस्स वासावासं वत्थए ।

६. कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स अप्पतइयस्स वासावास वत्थए ।

७ नो कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए ।

८ कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पचउत्थस्स वासावासं वत्थए ।

९ से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा बहूणं आयरिय-उवज्झायाण अप्पबिइयाणं, बहूण गणावच्छेइयाणं अप्पतइयाणं कप्पइ हेमंत-गिम्हासु चारए, अन्नमन्नं निस्साए ।

१० से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा बहूणं आयरिय-उवज्झायाणं अप्पतइयाणं, बहूणं गणावच्छेइयाणं अप्पचउत्थाणं कप्पइ वासावासं वत्थए अन्नमन्नं निस्साए ।

१ हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे आचार्य या उपाध्याय को अकेला विहार करना नही कल्पता है ।

२ हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे आचार्य या उपाध्याय को एक साधु को साथ लेकर विहार करना कल्पता है ।

३. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे गणावच्छेदक को एक साधु के साथ विहार करना नही कल्पता है ।

४. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदक को दो अन्य साधुओं को साथ लेकर विहार करना कल्पता है ।

५ वर्षाकाल मे आचार्य या उपाध्याय को एक साधु के साथ रहना नही कल्पता है ।

६. वर्षाकाल में आचार्य या उपाध्याय को अन्य दो साधुओ के साथ रहना कल्पता है।

७. वर्षाकाल में गणावच्छेदक को दो साधुओ के साथ रहना नही कल्पता है।

८. वर्षाकाल में गणावच्छेदक को अन्य तीन साधुओ के साथ रहना कल्पता है।

९. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे अनेक आचार्यों या उपाध्यायो को ग्राम यावत् राजधानी मे अपनी-अपनी नेश्राय मे एक-एक साधु को और अनेक गणावच्छेदको को दो-दो साधुओ को रखकर विहार करना कल्पता है।

१०. वर्षाऋतु मे अनेक आचार्यों या उपाध्यायो को ग्राम यावत् राजधानी मे अपनी-अपनी नेश्राय मे दो-दो साधुओ को और अनेक गणावच्छेदको को तीन-तीन साधुओ को रखकर रहना कल्पता है।

विवेचन—इन सूत्रो मे आचार्य, उपाध्याय एव गणावच्छेदक के विचरण एव चातुर्मास-निवास सम्बन्धी विधान किया गया है। प्रवर्तक, स्थविर आदि अन्य पदवीधर या सामान्य भिक्षुओ के लिये यहा विधान नही किया गया है। अन्य आगमो मे इन के लिए ऐसा कोई विधान नही है। केवल अव्यक्त या अपरिपक्व भिक्षु को स्वतन्त्र विचरण करने का निषेध किया गया है एव उसके स्वतन्त्र विचरण का दुष्परिणाम बताकर गुरु के सान्निध्य मे विचरण करने का विधान आचा श्रु १ अ ५ उ ४ तथा सूय. श्रु. १ अ १४ गा ३-४ में किया गया है।

व्यक्त, परिपक्व एव गीतार्थ भिक्षु के लिए कोई एकात नियम आगम नही है, अपितु अनेक प्रकार के अभिग्रह, प्रतिमाए, जिनकल्प, सभोग-प्रत्याख्यान, सहाय-प्रत्याख्यान आदि तथा परिस्थिति-वश सयमसमाधि या चित्तसमाधि के लिए एकलविहार का विधान किया गया है एव भिक्षु के द्वितीय मनोरथ में भी निवृत्त होकर अकेले विचरण करने की इच्छा रखने का विधान है।

यहा तथा अन्यत्र आचार्य-उपाध्याय इन दो पदो का जो एक साथ कथन किया गया है, इसका तात्पर्य यह है कि ये दोनो गच्छ मे बाह्य-आभ्यन्तर ऋद्धिसम्पन्न होते हैं तथा इन दोनो पदवीधरो का प्रत्येक गच्छ मे होना नितान्त आवश्यक भी है, ऐसा आगमविधान है। अर्थात् इन दो के बिना किसी गच्छ का या साधुसमुदाय का विचरण करना आगमानुसार उचित नही है।

विशाल गच्छो में गणावच्छेदक पद भी आवश्यक होता है, किन्तु आचार्य-उपाध्याय के समान प्रत्येक गच्छ मे अनिवार्य नही है। अत यहा उनके लिए विधान करने वाले सूत्र अलग कहे हैं।

इन सूत्रों के विधानानुसार ये तीनो पदवीधर कभी भी अकेले नही विचर सकते और चातुर्मास भी नहीं कर सकते, किन्तु कम से कम एक या अनेक साधुओं को साथ रखना इन्हे आवश्यक होता है। साथ रखे जाने वाले उन साधुओ की मर्यादा इस प्रकार है—

आचार्य-उपाध्याय हेमन्त ग्रीष्म ऋतु मे कम से कम एक साधु को साथ रखते हुए अर्थात् दो ठाणा से विचरण कर सकते हैं और अन्य दो साधु को साथ रखकर कुल तीन ठाणा से चातुर्मास कर सकते हैं। इससे यह नियम फलित हो जाता है कि वे कभी भी अकेले विहार नही कर सकते और एक साधु को साथ लेकर केवल दो ठाणा से चातुर्मास भी नही कर सकते।

नववे-दसवे सूत्र मे यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि जहा हेमन्त ग्रीष्म ऋतु मे या चातुर्मास मे अनेक आचार्य-उपाध्याय साथ मे हो तो भी प्रत्येक आचार्य-उपाध्याय की अपनी-अपनी निश्रा मे सूत्र मे कहे अनुसार सन्त साथ मे होना आवश्यक है, अर्थात् एक आचार्य-उपाध्याय के निश्रागत साधुओ से अन्य आचार्य-उपाध्याय को रहना नही कल्पता है। इससे यह फलित होता है कि अन्य किसी साधु के बिना केवल २-३ आचार्य-उपाध्याय ही साथ मे रहना चाहे तो नही रह सकते हैं या आवश्यक साधुओ से कम साधु साथ रखकर भी अनेक आचार्य-उपाध्याय साथ मे नही रह सकते और रहने पर सूत्रोक्त मर्यादा का उल्लघन होता है।

गणावच्छेदक हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे कम से कम दो साधुओ को साथ रखकर कुल तीन ठाणा से विचरण कर सकते है और अन्य तीन साधुओ को साथ लेकर कुल चार ठाणा से चातुर्मास कर सकते हैं। इससे कम साधुओ से रहना गणावच्छेदक के लिए निषिद्ध है। अत वे दो ठाणा से विचरण नही कर सकते और तीन ठाणा से चातुर्मास नही कर सकते।

नववे एव दसवे सूत्र के अनुसार अनेक गणावच्छेदक साथ हो जाए तो भी उन्हे अपनी-अपनी निश्रा मे ऊपर कही गई सख्या के सन्तो को रखना आवश्यक है। वे अन्य गणावच्छेदक आदि को या उनके साथ रहे सन्तो को अपनी निश्रा मे गिनकर नही रह सकते एव स्वय को भी अन्य की निश्रा मे गिनकर नही रह सकते।

ये तीनो पदवीधर कोई प्रतिमाए या अभिग्रह धारण कर स्वतन्त्र एकाकी विचरण करना चाहे अथवा अन्य विशेष परिस्थितियो से विवश होकर एकाकी विचरण करना चाहे तो उन्हे अपने आचार्य आदि पद का त्याग करना आवश्यक हो जाता है तथा अन्य किसी को उस पद पर नियुक्त करना भी आवश्यक होता है।

आचार्य-उपाध्याय सघ के प्रतिष्ठित पदवीधर होते हैं। इनका एकाकी विचरण एव दो ठाणा से चातुर्मास करना सघ के लिए शोभाजनक नही होता है।

यद्यपि गणावच्छेदक आचार्य के नेतृत्व मे कार्यवाहक पद है, तथापि इनके साथ के साधुओ की सख्या आचार्य से अधिक कही गई है। इसका कारण यह है कि इनका कार्यक्षेत्र अधिक होता है। सेवा, व्यवस्था आदि कार्यों मे अधिक साधु साथ मे हो तो उन्हे सुविधा रहती है।

सूत्र मे निर्दिष्ट सख्या से अधिक साधुओ के रहने का निषेध नही समझना चाहिए। सयम की सुविधानुसार अधिक सन्त भी साथ रहना चाहे तो रह सकते हैं। किन्तु अधिक सन्तो के साथ रहने मे सयम की क्षति अर्थात् एषणासमिति एव परिष्ठापनिकासमिति आदि भग होती हो तो अल्प सन्तो से विचरण करना चाहिए।

अग्रणी साधु के काल करने पर शेष साधुओं का कर्तव्य

११ गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खू जं पुरओ कट्टु विहरइ, से य आहच्च वीसुंभेज्जा, अत्थि य इत्थ अण्णे केइ उवसंपज्जणारिहे से उवसंपज्जियव्वे।

नत्थि य इत्थ अण्णे केइ उवसंपज्जणारिहे तस्स य अप्पणो कप्पाए असमत्ते कप्पइ एगाराइयाए पडिमाए जण्णं-जण्णं दिसं अण्णे साहम्मिया विहरंति तण्णं-तण्णं दिसं उवलित्तए।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।

कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।

तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—"वसाहि अज्जो ! एगरायं वा, दुरायं वा", एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए। जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा।

१२. वासावासं पज्जोसविओ भिक्खू जं पुरओ कट्टु विहरइ से य आहच्च वीसुंभेज्जा, अत्थि य इत्थ अण्णे केइ उवसंपज्जणारिहे से उवसंपज्जियव्वे।

नत्थि य इत्थ अण्णे केइ उवसंपज्जणारिहे तस्स य अप्पणो कप्पाए असमत्ते कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जण्णं-जण्णं दिसं अण्णे साहम्मिया विहरंति तण्णं-तण्णं दिसं उवलित्तए।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।

कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।

तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—"वसाहि अज्जो ! एगरायं वा, दुरायं वा" एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।

जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा।

११. ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ भिक्षु, जिनको अग्रणी मानकर विहार कर रहा हो और वह यदि कालधर्म-प्राप्त हो जाय तो शेष भिक्षुओं मे जो भिक्षु योग्य हो, उसे अग्रणी बनाना चाहिए।

यदि अन्य कोई भिक्षु अग्रणी होने योग्य न हो और स्वयं (रत्नाधिक) ने भी आचारप्रकल्प का अध्ययन पूर्ण न किया हो तो उसे मार्ग मे विश्राम के लिए एक रात्रि ठहरते हुए जिस दिशा मे अन्य स्वधर्मी विचरते हो, उस दिशा में जाना कल्पता है।

मार्ग मे उसे विचरने के लक्ष्य से ठहरना नही कल्पता है।

यदि रोगादि का कारण हो तो अधिक ठहरना कल्पता है।

रोगादि के समाप्त होने पर यदि कोई कहे कि—"हे आर्य ! एक या दो रात और ठहरो" तो उसे एक या दो रात ठहरना कल्पता है, किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नही कल्पता है। जो भिक्षु वहा (कारण समाप्त होने के बाद) एक या दो रात से अधिक ठहरता है, वह मर्यादा उल्लघन के कारण दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

१२. वर्षावास मे रहा हुआ भिक्षु, जिनको अग्रणी मानकर रह रहा हो और वह यदि कालधर्म-प्राप्त हो जाय तो शेष भिक्षुओं में जो भिक्षु योग्य हो उसे अग्रणी बनाना चाहिये।

यदि अन्य कोई भिक्षु अग्रणी होने योग्य न हो और स्वयं (रत्नाधिक) ने भी निशीथ आदि का अध्ययन पूर्ण न किया हो तो उसे मार्ग में विश्राम के लिए एक-एक रात्रि ठहरते हुए जिस दिशा मे अन्य स्वधर्मी हों उस दिशा में जाना कल्पता है।

मार्ग मे उसे विचरने के लक्ष्य से ठहरना नही कल्पता है।

यदि रोगादि का कारण हो तो अधिक ठहरना कल्पता है।

रोगादि के समाप्त होने पर यदि कोई कहे कि—"हे आर्य ! एक या दो रात ठहरो" तो उसे एक या दो रात और ठहरना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नही कल्पता है।

जो भिक्षु एक या दो रात से अधिक ठहरता है, वह मर्यादा-उल्लघन के कारण दीक्षाछेद या तपरूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन—विचरण या चातुर्मास करने वाले भिक्षुओ मे एक कल्पाक अर्थात् सघाडा-प्रमुख होना आवश्यक है। जिसके लिए उद्देशक ३ सू. १ मे गणधारण करने वाला अर्थात् गणधर कहा है तथा उसे श्रुत एव दीक्षापर्याय से सपन्न होना आवश्यक कहा गया है।

अत तीन वर्ष की दीक्षापर्याय और आचारागसूत्र एव निशीथसूत्र को कण्ठस्थ धारण करने वाला ही गण धारण कर सकता है। शेष भिक्षु उसको प्रमुख मानकर उसकी आज्ञा मे रहते है।

उस प्रमुख के सिवाय उस सघाटक मे अन्य भी एक या अनेक सघाडा-प्रमुख होने के योग्य हो सकते है अर्थात् वे अधिक दीक्षापर्याय एव पर्याप्त श्रुत धारण करने वाले हो सकते है।

कभी एक प्रमुख के अतिरिक्त सभी साधु अगीतार्थ या नवदीक्षित ही हो सकते हैं।

विचरण या चातुर्मास करने वाले सघाटक का प्रमुख भिक्षु यदि कालधर्म को प्राप्त हो जाय तो शेष साधुओ मे से रत्नाधिक भिक्षु प्रमुख पद स्वीकार करे। यदि वह स्वय श्रुत से सपन्न न हो तो अन्य योग्य को प्रमुख पद पर स्थापित करे।

यदि शेष रहे साधुओ मे एक भी प्रमुख होने योग्य न हो तो उन्हे चातुर्मास में रहना या विचरण करना नही कल्पता है, किन्तु जिस दिशा मे अन्य योग्य साधर्मिक भिक्षु निकट हो, उनके समीप मे पहुच जाना चाहिये। ऐसी स्थिति मे चातुर्मास मे भी विहार करना आवश्यक हो जाता है तथा हेमत ग्रीष्म ऋतु मे भी अधिक रुकने की स्वीकृति दे दी हो तो भी वहा से विहार करना आवश्यक हो जाता है।

जब तक अन्य सार्धमिक भिक्षुओ के पास न पहुचे तब तक मार्ग मे एक दिन की विश्राति लेने के अतिरिक्त कही पर भी अधिक रुकना उन्हे नही कल्पता है।

किसी को कोई शारीरिक व्याधि हो जाय तो उपचार के लिए ठहरा जा सकता है। व्याधि समाप्त होने के बाद वैद्य आदि के कहने से १-२ दिन और भी ठहर सकता है। स्वस्थ होने के बाद दो दिन से अधिक ठहरने पर यथायोग्य प्रायश्चित्त आता है।

इन सूत्रो के प्रतिपाद्य विषय का सार यह है कि योग्य शिष्य को आवश्यकश्रुत-अध्ययन (आचारप्रकल्प आदि) शीघ्र अर्थसहित कठस्थ धारण कर लेना चाहिए, क्योकि उसके अपूर्ण रहने पर वह भिक्षु गण (सघाटक) का प्रमुख नही हो सकता एव प्रमुख के कालधर्म प्राप्त हो जाने पर चातुर्मास मे भी उसे विहार करना आवश्यक हो जाता है और एक भी दिन वह कही विचरण के भाव से या किसी की विनती से नही रह सकता है। किन्तु यदि उक्त श्रुत पूर्ण कर लिया हो तो वह भिक्षु कभी भी सूत्रोक्त प्रमुख पद धारण कर सकता है। स्वतंत्र विचरण एवं चातुर्मास भी कर सकता है।

इसलिए प्रत्येक साधु-साध्वी को आगमोक्त क्रम से श्रुत-अध्ययन का प्रमुख लक्ष्य रखना चाहिए।

ग्लान आचार्यादि के द्वारा पद देने का निर्देश

१३. आयरिय-उवज्झाए गिलायमाणे अन्नयरं वएज्जा-"अज्जो! ममंसि णं कालगयंसि समाणंसि अयं समुक्कसियव्वे।"

से य समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे,
से य नो समुक्कसणारिहे नो समुक्कसियव्वे,
अत्थि य इत्थ अण्णे केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे।
नत्थि य इत्थ अण्णे केइ समुक्कसणारिहे से चेव समुक्कसियव्वे,
तंसि च णं समुक्किट्ठंसि परो वएज्जा—
"दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जो! निक्खिवाहि!"
तस्स ण निक्खिवमाणस्स नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा।
जे साहम्मिया अहाकप्पेणं नो उट्ठाए विहरंति सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा।

१३ रोगग्रस्त आचार्य या उपाध्याय किसी प्रमुख साधु से कहे कि—"हे आर्य! मेरे कालगत होने पर अमुक साधु को मेरे पद पर स्थापित करना।"

यदि आचार्य द्वारा निर्दिष्ट वह भिक्षु उस पद पर स्थापन करने योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए।

यदि वह उस पद पर स्थापन करने योग्य न हो तो उसे स्थापित नही करना चाहिए।

यदि सघ मे अन्य कोई साधु उस पद के योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए।

यदि सघ मे अन्य कोई भी साधु उस पद के योग्य न हो तो आचार्य-निर्दिष्ट साधु को ही उस पद पर स्थापित करना चाहिए।

उसको उस पद पर स्थापित करने के बाद कोई गीतार्थ साधु कहे कि—"हे आर्य! तुम इस पद के अयोग्य हो अत इस पद को छोड़ दो" (ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को छोड़ दे तो दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र नही होता है।

जो साधर्मिक साधु कल्प के अनुसार उसे आचार्यादि पद छोड़ने के लिए न कहे तो वे सभी साधर्मिक साधु उक्त कारण से दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

विवेचन—तीसरे उद्देशक में आचार्य-उपाध्याय पद के योग्य भिक्षु के गुणो का विस्तृत कथन किया गया है। यहा पर रुग्ण आचार्य-उपाध्याय अपना अन्तिम समय समीप जान कर आचार्य-उपाध्याय पद के लिए किसी साधु का नाम निर्देश करें तो उस समय स्थविरों का क्या कर्तव्य है, इसका स्पष्टीकरण किया गया है।

रुग्ण आचार्य ने आचार्य बनाने के लिए जिस के नाम का निर्देश किया है, वह योग्य भी हो सकता है और अयोग्य भी हो सकता है अर्थात् उनका कथन रुग्ण होने के कारण या भाव के कारण सकुचित दृष्टिकोण वाला भी हो सकता है।

अतः उनके कालधर्म प्राप्त हो जाने पर "आचार्य या उपाध्याय पद किसको देना"—इसके निर्णय की जिम्मेदारी गच्छ के शेष साधुओ की कही गई है। जिसका भाव यह है कि यदि आचार्य-निर्दिष्ट भिक्षु तीसरे उद्देशक मे कही गई सभी योग्यताओ से युक्त है तो उसे ही पद पर नियुक्त करना चाहिए, दूसरा कोई विकल्प आवश्यक नही है।

यदि वह शास्त्रोक्त योग्यता से सपन्न नही है और अन्य भिक्षु योग्य है तो आचार्यनिर्दिष्ट भिक्षु को पद देना अनिवार्य न समझ कर उस योग्य भिक्षु को ही पद पर नियुक्त करना चाहिए।

यदि अन्य कोई भी योग्य नही है तो आचार्यनिर्दिष्ट भिक्षु योग्य हो अथवा योग्य न हो, उसे ही आचार्यपद पर नियुक्त करना चाहिए।

अन्य अनेक भिक्षु भी पद के योग्य हैं और वे आचार्यनिर्दिष्ट भिक्षु से रत्नाधिक भी है किन्तु यदि आचार्यनिर्दिष्ट भिक्षु योग्य है तो उसे ही आचार्य बनाना चाहिये।

आचार्यनिर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट किसी भी योग्य भिक्षु को अथवा कभी परिस्थितिवश अल्प योग्यता वाले भिक्षु को पद पर नियुक्त करने के बाद यदि यह अनुभव हो कि गच्छ की व्यवस्था अच्छी तरह नही चल रही है, साधुओ की संयम समाधि एव बाह्य वातावरण क्षुब्ध हो रहा है, गच्छ मे अन्य योग्य भिक्षु तैयार हो गये हैं तो गच्छ के स्थविर या प्रमुख साधु-साध्विया आदि मिलकर आचार्य को पद त्यागने के लिये निवेदन करके अन्य योग्य को पद पर नियुक्त कर सकते है।

ऐसी स्थिति मे यदि वे पद त्यागना न चाहें या अन्य कोई साधु उनका पक्ष लेकर आग्रह करे तो वे सभी प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

इस सूत्रोक्त आगम-आज्ञा को भलीभाति समझकर सरलतापूर्वक पद देना, लेना या छोड़ने के लिए निवेदन करना आदि प्रवृत्तिया करनी चाहिये तथा अन्य सभी साधु-साध्वियो को भी प्रमुख स्थविर सतो को सहयोग देना चाहिए, किन्तु अपने-अपने विचारो की सिद्धि के लिये निन्दा, द्वेष, कलह या सघभेद आदि अनुचित तरीको से पद छुडाना या कपट-चालाकी से प्राप्त करने की कोशिश करना उचित नही है।

गच्छ-भार सभालने वाले पूर्व के आचार्य का तथा गच्छ के अन्य प्रमुख स्थविर सतो का यह कर्तव्य है कि वे निष्पक्ष भाव से तथा विशाल दृष्टि से गच्छ एव जिनशासन का हित सोचकर आगम-निर्दिष्ट गुणो से सम्पन्न भिक्षु को ही पद पर नियुक्त करे।

कई साधु स्वय ही आचार्य बनने का सकल्प कर लेते हैं, वे ही कभी अशात एव क्लेश की स्थिति पैदा करते है या करवाते हैं, किन्तु मोक्ष की साधना के लिए सयमरत भिक्षु को जल-कमलवत् निर्लेप रहकर एकत्व आदि भावना में तल्लीन रहना चाहिये। किसी भी पद की चाहना करना या पद के लिए लालायित रहना भी सयम का दूषण है। इस चाहना में बाह्य ऋद्धि की इच्छा होने से इसका समावेश लोभ नामक पाप मे होता है तथा उस इच्छा की पूर्ति में अनेक प्रकार के संयमविपरीत संकल्प एव कुटिलनीति आदि का अवलबन भी लिया जाता है, जिससे संयम की हानि एवं विराधना होती है। साथ ही मानकषाय की अत्यधिक पुष्टि होती है।

निशीथ उद्दे. १७ में अपने आचार्यत्व के सूचक लक्षणों को प्रकट करने वाले को प्रायश्चित्त का पात्र कहा गया है।

अतः संयमसाधना में लीन गुणसंपन्न भिक्षु को यदि आचार्य या अन्य गच्छप्रमुख स्थविर ही गच्छभार सम्भालने के लिए कहे या आज्ञा दें तो अपनी क्षमता का एवं अवसर का विचार कर उसे स्वीकार करना चाहिए किन्तु स्वयं ही आचार्यपदप्राप्ति के लिये संकल्पबद्ध होना एवं न मिलने पर गण का त्याग कर देना आदि सर्वथा अनुचित है।

इस प्रकार इस सूत्र में निर्दिष्ट सम्पूर्ण सूचनाओं को समझ कर सूत्रनिर्दिष्ट विधि से पद प्रदान करना चाहिए और इससे विपरीत अन्य अयोग्य एवं अनुचित मार्ग स्वीकार नहीं करना चाहिए।

इस सूत्र से यह भी स्पष्ट होता है कि स्याद्वाद सिद्धांत वाले वीतरागमार्ग में विनयव्यवहार एवं आज्ञापालन में भी अनेकांतिक विधान है, अर्थात् विनय के नाम से केवल "बाबावाक्य प्रमाणम्" का निर्देश नहीं है। इसी कारण आचार्य द्वारा निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट भिक्षु की योग्यता-अयोग्यता की विचारणा एवं नियुक्ति का अधिकार सूचित किया गया है।

ऐसे आगमविधानों के होते हुये भी परम्परा के आग्रह से या "बाबावाक्य प्रमाणम्" की उक्ति चरितार्थ कर के आगमविपरीत प्रवृत्ति करना अथवा भद्रिक एवं अकुशल सर्वरत्नाधिक साधुओं को गच्छप्रमुख रूप में स्वीकार कर लेना गच्छ एवं जिनशासन के सर्वतोमुखी पतन का ही मार्ग है।

अतः स्याद्वादमार्ग को प्राप्त करके आगमविपरीत परंपरा एवं निर्णय को प्रमुखता न देकर सदा जिनाज्ञा एवं शास्त्राज्ञा को ही प्रमुखता देनी चाहिये।

संयम त्याग कर जाने वाले आचार्यादि के द्वारा पद देने का निर्देश

१४. आयरिय-उवज्झाए ओहायमाणे अन्नयरं वएज्जा—"अज्जो ! ममंसि णं ओहावियंसि समाणंसि अयं समुक्कसियव्वे।" से य समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे, से य नो समुक्कसणारिहे नो समुक्कसियव्वे। अत्थि य इत्थ अण्णे केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे।

तं सि च णं समुक्किट्ठंसि परो वएज्जा—"दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जो ! निक्खिवाहि।" तस्स णं निक्खिवमाणस्स नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा। जे साहम्मिया अहाकप्पेणं नो उट्ठाए विहरंति। सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा।

१४ संयम का परित्याग करके जाने वाले आचार्य या उपाध्याय किसी प्रमुख साधु से कहे कि "हे आर्य मेरे चले जाने पर अमुक साधु को मेरे पद पर स्थापित करना।" तो यदि आचार्यनिर्दिष्ट वह साधु उस पद पर स्थापन करने योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिये। यदि वह उस पद पर स्थापित करने योग्य न हो तो उसे स्थापित नहीं करना चाहिये। यदि संघ में अन्य कोई साधु उस पद के योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिये। यदि संघ में अन्य कोई भी साधु उस पद के योग्य न हो तो आचार्यनिर्दिष्ट साधु को ही उस पद पर स्थापित करना चाहिये।

उस को उस पद पर स्थापित करने के बाद यदि गीतार्थ साधु कहें कि—

"हे आर्य ! तुम इस पद के अयोग्य हो, अत. इस पद को छोड़ दो" (ऐसा कहने पर) यदि

वह उस पद को छोड दे तो दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र नही होता है। जो साधर्मिक साधु कल्प के अनुसार उसे आचार्यादि पद छोडने के लिए न कहे तो वे सभी साधर्मिक साधु उक्त कारण से दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

विवेचन—पूर्व सूत्र मे रुग्ण या मरणासन्न आचार्य-उपाध्याय ने किसी भिक्षु को आचार्यादि देने का सूचन किया हो तो उनके कथन का विवेकपूर्वक आचरण करना आगमानुसार उचित माना गया है। इस सूत्र मे भी वही विधान है। अन्तर यह है कि यहा द्रव्य एव भाव से सयय का परित्याग करने के इच्छुक आचार्य-उपाध्याय का वर्णन है।

शरीर अस्वस्थ होने से, वैराग्य की भावना मद हो जाने से, वेदमोहनीय के प्रबल उदय से या अन्य परीषह उपसर्ग से सयम त्यागने का सकल्प उत्पन्न हो सकता है। उसका निवारण न होने से सामान्य भिक्षु या पदवीधरो के लिए भी ऐसी परिस्थति उत्पन्न हो सकती है। इस परिस्थिति का एव उसके विवेक का वर्णन उद्दे. ३ सू. २८ मे देखे। अन्य सम्पूर्ण विवेचन पूर्वसूत्र १३ के अनुसार समझ लेना चाहिये।

उपस्थापन के विधान

१५ आयरिय-उवज्झाए सरमाणे पर चउराय-पचरायाओ कप्पागं भिक्खु नो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थियाइ से केइ माणणिज्जे कप्पाए नत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा।

णत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

१६. आयरिय-उवज्झाए असरमाणे पर चउराय-पंचरायाओ कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थियाइ से केइ माणणिज्जे कप्पाए, नत्थि से केई छेए वा परिहारे वा।

णत्थियाइ से केइ माणणिज्जे कप्पाए, से सतरा छेए वा परिहारे वा।

१७ आयरिय-उवज्झाए सरमाणे वा असरमाणे वा पर दसराय कप्पाओ कप्पाग भिक्खु नो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थियाइ से केइ माणणिज्जे कप्पाए नत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा।

१५ आचार्य या उपाध्याय स्मरण होते हुए भी बडीदीक्षा के योग्य भिक्षु को चार-पाच रात के बाद भी बड़ीदीक्षा मे उपस्थापित न करे और उस समय यदि उस नवदीक्षित के कोई पूज्य पुरुष की बडीदीक्षा होने मे देर हो तो उन्हें दीक्षाछेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नही आता है।

यदि उस नवदीक्षित के बडीदीक्षा लेने योग्य कोई पूज्य पुरुष न हो तो उन्हें चार-पाच रात्रि उल्लघन करने का छेद या तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

१६ आचार्य या उपाध्याय स्मृति मे न रहने से बड़ीदीक्षा के योग्य भिक्षु को चार-पाच रात के बाद भी बडीदीक्षा में उपस्थापित न करे, उस समय यदि वहां उस नवदीक्षित के कोई पूज्य पुरुष की बडी दीक्षा होने मे देर हो तो उन्हे दीक्षाछेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नही आता है।

यदि उस नवदीक्षित के बडीदीक्षा लेने योग्य कोई पूज्य पुरुष न हो तो उन्हे चार-पाच रात्रि उल्लघन करने का दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

१७. आचार्य या उपाध्याय स्मृति मे रहते हुए या स्मृति मे न रहते हुए भी बड़ीदीक्षा के योग्य भिक्षु को दस दिन के बाद बडी दीक्षा मे उपस्थापित न करे, उस समय यदि उस नवदीक्षित के कोई पूज्य पुरुष की बडीदीक्षा होने मे देर हो तो उन्हे दीक्षाछेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नही आता है।

यदि उस नवदीक्षित के बडीदीक्षा के योग्य कोई पूज्य पुरुष न हो तो उन्हे दस रात्रि उल्लघन करने के कारण एक वर्ष तक आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद पर नियुक्त करना नही कल्पता है।

विवेचन—प्रथम एव अन्तिम तीर्थकर के शासन मे भिक्षुओ को सामायिकचारित्र रूप दीक्षा देने के बाद छेदोपस्थापनीयचारित्र रूप बडीदीक्षा दी जाती है। उसकी जघन्य कालमर्यादा सात अहोरात्र की है अर्थात् काल की अपेक्षा नवदीक्षित भिक्षु सात रात्रि के बाद कल्पाक (बडीदीक्षा के योग्य) कहा जाता है और गुण की अपेक्षा आवश्यकसूत्र सम्पूर्ण अर्थ एव विधि सहित कठस्थ कर लेने पर, जीवादि का एव समितियो का सामान्य ज्ञान कर लेने पर, दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययन की अर्थ सहित वाचना लेकर कठस्थ कर लेने पर एव प्रतिलेखन आदि दैनिक क्रियाओ का कुछ अभ्यास कर लेने पर 'कल्पाक' कहा जाता है।

इस प्रकार कल्पाक (बडीदीक्षायोग्य) होने पर एव अन्य परीक्षण हो जाने पर उस नवदीक्षित भिक्षु को बड़ीदीक्षा (उपस्थापना) दी जाती है। योग्यता के पूर्व बडीदीक्षा देने पर नि उ ११ सू ८४ के अनुसार प्रायश्चित्त आता है।

उक्त योग्यतासपन्न कल्पाक भिक्षु को सूत्रोक्त समय पर बडीदीक्षा न देने पर आचार्य-उपाध्याय को प्रायश्चित्त आता है।

इस प्रायश्चित्तविधान से यह स्पष्ट होता है कि किसी को नई दीक्षा या बडीदीक्षा देने का अधिकार आचार्य या उपाध्याय को ही होता है एव उसमे किसी प्रकार की त्रुटि होने पर प्रायश्चित्त भी उन्हे ही आता है।

अन्य साधु, साध्वी या प्रवर्तक, प्रवर्तिनी भी आचार्य-उपाध्याय की आज्ञा से किसी को दीक्षा दे सकते है किन्तु उसकी योग्यता के निर्णय की मुख्य जिम्मेदारी आचार्य-उपाध्याय की ही होती है। सामान्य रूप से तो आगमानुसार प्रवृत्ति करने की जिम्मेदारी सभी साधु-साध्वी की होती ही है, फिर भी गच्छ के व्यवस्था सम्बन्धी निर्देश आचार्य-उपाध्याय के अधिकार मे होते हैं। अत तत्सम्बन्धी विपरीत आचरण होने पर प्रायश्चित्त के पात्र भी वे आचार्यादि ही होते है।

यहा इन तीन सूत्रो मे बड़ीदीक्षा के निमित्त से तीन विकल्प कहे गये है—(१) विस्मरण मे मर्यादा-उल्लघन, (२) स्मृति होते हुए मर्यादा-उल्लघन, (३) विस्मरण या अविस्मरण से विशेष मर्यादा-उल्लंघन।

काल से एव गुण से कल्पाक बन जाने पर उस भिक्षु को चार या पाच रात्रि के भीतर अर्थात् चार रात्रि और पाँचवे दिन तक बडीदीक्षा दी जा सकती है। यह सूत्र मे आये "चउराय पचरायाओ" शब्द का अर्थ है। इस छूट में विहार, शुभ दिन, मासिक धर्म को अस्वाध्याय, रुग्णता आदि अनेक कारण निहित हैं।

अत दीक्षा के सात दिन बाद आठवें, नौवे, दसवे, ग्यारहवे या बारहवे दिन तक कभी भी बड़ीदीक्षा दी जा सकती है और उसका कोई प्रायश्चित्त नही आता है। बारहवी रात्रि का उल्लघन करने पर सूत्र १५-१६ के अनुसार यथायोग्य तप या दीक्षाछेद रूप प्रायश्चित्त आता है। जिसका भाष्य मे जघन्य प्रायश्चित्त पाच रात्रि का कहा गया है। दीक्षा की सत्तरहवी रात्रि का उल्लघन करने पर यथायोग्य तप या छेद प्रायश्चित्त के अतिरिक्त एक वर्ष तक उसे प्रायश्चित्त रूप मे आचार्य-उपाध्याय पद से मुक्त कर दिया जाता है।

यहा बडीदीक्षा के विधान एव प्रायश्चित्त मे एक छूट और भी कही गई है, वह यह कि उस नवदीक्षित भिक्षु के माता-पिता आदि कोई भी माननीय या उपकारी पुरुष हो और उनके कल्पाक होने मे देर हो तो उनके निमित्त से उसको बडीदीक्षा देने मे छह मास तक की भी प्रतीक्षा की जा सकती है और उसका कोई प्रायश्चित्त नही आता है।

ठाणागादि आगमो मे सात रात्रि का जघन्य शैक्षकाल कहा गया है। अत योग्य हो तो भी सात रात्रि पूर्ण होने के पूर्व बडीदीक्षा नही दी जा सकती है, क्योकि उस समय तक वह शैक्ष एव अकल्पाक कहा गया है।

छह मास का "उत्कृष्ट शैक्षकाल" कहा गया है। अत माननीय पुरुषो के लिए बडीदीक्षा रोकने पर भी छह मास का उल्लघन नही करना चाहिए।

इन सूत्रो मे स्मृति रहते हुए एव विस्मरण से ४-५ दिन की मर्यादा उल्लघन का प्रायश्चित्त समान कहा गया है।

चार-पाच दिन की छूट मे शुभ दिन या विहार आदि कारण के अतिरिक्त ऋतुधर्म आदि अस्वाध्याय का भी जो कारण निहित है, उसका निवारण ४-५ दिन की छूट मे सरलता से हो सकता है।

अन्यगण में गये भिक्षु का विवेक

१८. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म अण्ण गणं उवसंपज्जित्ताण विहरेज्जा, तं च केइ साहम्मिए पासित्ता वएज्जा—

प०—कं अज्जो ! उवसंपज्जित्ताणं विहरसि ?

उ०—जे तत्थ सव्वराइणिए तं वएज्जा।

प०—'अह भन्ते ! कस्स कप्पाए ?'

उ०—जे तत्थ सव्व-बहुस्सुए तं वएज्जा, जं वा से भगव वक्खइ तस्स आणा-उववाय-वयण-निद्देसे चिट्ठिस्सामि।

१८ विशिष्ट ज्ञानप्राप्ति के लिए यदि कोई भिक्षु अपना गण छोडकर अन्य गण को स्वीकार कर विचर रहा हो तो उस समय उसे यदि कोई स्वधर्मी भिक्षु मिले और पूछे कि—

प्र०—'हे आर्य ! तुम किसी की निश्रा मे विचर रहे हो ?

उ०—तब वह उस गण मे जो दीक्षा मे सबसे बड़ा हो उसका नाम कहे।

प्र०—यदि पुन. पूछे कि—'हे भदन्त ! किस बहुश्रुत की प्रमुखता मे रह रहे हो ?

उ०—तब उस गण मे जो सबसे अधिक बहुश्रुत हो—उसका नाम कहे तथा वे जिनकी आज्ञा मे रहने के लिए कहे, उनकी ही आज्ञा एव उनके समीप मे रहकर उनके ही वचनो के निर्देशानुसार मैं रहूँगा ऐसा कहे।

विवेचन—प्रत्येक गच्छ मे बहुश्रुत आचार्य-उपाध्याय का होना आवश्यक ही होता है। फिर भी उपाध्यायो के क्षयोपशम मे और अध्यापन की कुशलता में अतर होना स्वाभाविक है। किसी गच्छ मे बहुश्रुत वृद्ध आचार्य का शिष्य प्रखर बुद्धिमान् एव श्रुतसपन्न हो सकता है जो आचार्य की सभी जिम्मेदारियो को निभा रहा हो अथवा किसी बहुश्रुत आचार्य के गुरु या दीक्षित पिता आदि भद्रिक परिणामी अल्पश्रुत हो और वे गच्छ मे रत्नाधिक हो तो ऐसे गच्छ मे अध्ययन करने के लिये जाने वाले भिक्षु के सबध मे सूत्रकथित विषय समझ लेना चाहिए।

कोई अध्ययनशील भिक्षु किसी भी अन्यगच्छीय भिक्षु की अध्यापन-कुशलता की ख्याति सुन कर या जानकर उस गच्छ मे अध्ययन करने के लिए गया हो। वहा विचरण करते हुए कभी कोई पूर्व गच्छ का साधर्मिक भिक्षु गोचरी आदि के लिए भ्रमण करते हुए मिल जाए और वह पूछे कि—

'हे आर्य ! तुम किस की निश्रा (आज्ञा) मे विचरण कर रहे हो ?' तब उत्तर में वहा जो रत्नाधिक आचार्य, गुरु या बहुश्रुत के दीक्षित पिता आदि हो उनका नाम बतावे। किंतु जब प्रश्नकर्ता को सतोष न हो कि इनसे तो अधिक ज्ञानी सत अपने गच्छ मे भी है, फिर अपना गच्छ छोड़ कर इनके गच्छ मे क्यो आया है ? अतः सही जानकारी के लिए पुन प्रश्न करे कि—'हे भगवन् ! आपका कल्पाक कौन है ? अर्थात् किस प्रमुख की आज्ञा मे आप विचरण एव अध्ययन आदि कर रहे हो, इस गच्छ मे कौन अध्यापन मे कुशल है ? इसके उत्तर मे जो वहा सबसे अधिक बहुश्रुत हो अर्थात् सभी बहुश्रुतो मे भी जो प्रधान हो और गच्छ का प्रमुख हो, उनके नाम का कथन करे और कहे कि 'उनकी निश्रा मे गच्छ के सभी साधु रहते है एव अध्ययन करते है और मै भी उनकी आज्ञानुसार विचरण एव अध्ययन कर रहा हूँ।'

अभिनिचारिका में जाने के विधि-निषेध

१९. बहवे साहम्मिया इच्छेज्जा एगयओ अभिनिचारियं चारए नो णं कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता एगयओ अभिनिचारियं चारए, कप्पइ णं थेरे आपुच्छित्ता एगयओ अभिनिचारियं चारए।

थेरा य से वियरेज्जा—एवं णं कप्पइ एगयओ अभिनिचारियं चारए। थेरा य से नो वियरेज्जा—एवं नो कप्पइ एगयओ अभिनिचारियं चारए।

जे तत्थ थेरेहिं अविइण्णे एगयओ अभिनिचारियं चरंति, से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

१९ अनेक साधर्मिक साधु एक साथ 'अभिनिचारिका' करना चाहे तो स्थविर साधुओ को पूछे बिना उन्हे एक साथ 'अभिनिचारिका' करना नहीं कल्पता है, किन्तु स्थविर साधुओ से पूछ लेने पर उन्हे एक साथ 'अभिनिचारिका' करना कल्पता है।

यदि स्थविर साधु आज्ञा दे तो उन्हे 'अभिनिचारिका' करना कल्पता है। यदि स्थविर साधु आज्ञा न दे तो उन्हे 'अभिनिचारिका' करना नही कल्पता है।

यदि स्थविरो से आज्ञा प्राप्त किये बिना 'अभिनिचारिका' करे तो वे दीक्षाछेद या परिहार-प्रायश्चित्त के पात्र होते है।

विवेचन—आचार्य-उपाध्याय जहा मासकल्प ठहरे हो, शिष्यो को सूत्रार्थ की वाचना देते हो, वहा से ग्लान असमर्थ एव तप से कृश शरीर वाले साधु निकट ही किसी गोपालक बस्ती मे दुग्धादि विकृति सेवन के लिए जाए तो उनकी चर्या को यहा 'अभिनिचारिका गमन' कहा गया है।

किसी भी भिक्षु को या अनेक भिक्षुओ को ऐसे दुग्धादि की सुलभता वाले क्षेत्र मे जाना हो तो गच्छ प्रमुख आचार्य या स्थविर आदि की आज्ञा लेना आवश्यक होता है।

वे आवश्यक लगने पर ही उन्हे अभिनिचारिका मे जाने की आज्ञा देते है अन्यथा मना कर सकते है।

नि उ ४ मे आचार्य-उपाध्याय की विशिष्ट आज्ञा बिना विकृति सेवन करने का प्रायश्चित्त कहा गया है और यहा पर आज्ञा बिना 'व्रजिका' मे जाने का प्रायश्चित्त कहा गया है। अत आज्ञा न मिलने पर नही जाना चाहिए।

भाष्य मे बताया गया है कि आचार्य-उपाध्याय के पास साधुओ की सख्या अधिक हो, अन्य गच्छ से अध्ययन हेतु आये अनेक प्रतीच्छक साधु हो, पाहुने साधुओ का आवागमन अधिक हो अथवा वृद्ध आदि कारुणिक साधु अधिक हो, इत्यादि किसी भी कारण से भिक्षुओ को अध्ययन या तप उपधान के बाद या प्रायश्चित्त वहन करने के बाद आवश्यक विकृतिक पदार्थों के न मिलने पर कृशता अधिक बढती हो तो उन भिक्षुओ को नियत दिन के लिये अर्थात—५ दिन आदि सख्या का निर्देश कर 'व्रजिका' मे जाने की आज्ञा दी जाती है। उसी अपेक्षा से सूत्र का सपूर्ण विधान है। सामान्य विचरण करने हेतु आज्ञा लेने का कथन उद्दे ३ सूत्र २ मे है।

चर्याप्रविष्ट एवं चर्यानिवृत्त भिक्षु के कर्त्तव्य

२०. चरियापविट्ठे भिक्खू जाव चउराय-पंचरायाओ थेरे पासेज्जा,

सच्चेव आलोयणा, सच्चेव पडिक्कमणा, सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि ओग्गहे।

२१. चरियापविट्ठे भिक्खू परं चउराय-पंचरायाओ थेरे पासेज्जा,

पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चंपि ओग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया।

कप्पइ से एवं वदित्तए, 'अणुजाणह भंते! मिओग्गहं अहालंदं धुवं निितियं वेउट्टियं।' तओ पच्छा काय-संफासं।

२२. चरियानियट्टे भिक्खू जाव चउराय-पंचरायाओ थेरे पासेज्जा,

सच्चेव आलोयणा, सच्चेव पडिक्कमणा, सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ, अहालदमवि ओग्गहे ।

२३. चरियानियट्टे भिक्खू परं चउराय-पंचरायाओ थेरे पासेज्जा,

पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ।

भिक्खूभावस्स अट्ठाए दोच्च पि ओग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया ।

कप्पइ से एव वइत्तए—'अणुजाणह भंते ! मिओग्गहं अहालंदं धुवं नितियं वेउट्टिय ।' तओ पच्छा काय-संफास ।

२० चर्या मे प्रविष्ट भिक्षु यदि चार-पाच रात की अवधि मे स्थविरो को देखे (मिले) तो उन भिक्षुओ को वही आलोचना, वही प्रतिक्रमण और कल्पपर्यंत रहने के लिये वही अवग्रह की पूर्वानुज्ञा रहती है ।

२१ चर्या मे प्रविष्ट भिक्षु यदि चार-पाच रात के बाद स्थविरो को देखे (मिले) तो वह पुन आलोचना-प्रतिक्रमण करे और आवश्यक दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त मे उपस्थित हो ।

भिक्षुभाव (सयम की सुरक्षा) के लिए उसे दूसरी बार अवग्रह की अनुमति लेनी चाहिए । वह इस प्रकार प्रार्थना करे कि—'हे भदन्त ! मितावग्रह मे विचरने के लिए, कल्प अनुसार करने के लिए, ध्रुव नियमो के लिये अर्थात् दैनिक क्रियाये करने के लिए आज्ञा दे तथा पुन. आने की अनुज्ञा दीजिए ।' इस प्रकार कहकर वह उनके चरण का स्पर्श करे ।

२२ चर्या से निवृत्त कोई भिक्षु यदि चार-पाच रात की अवधि मे स्थविरो को देखे (मिले) तो उसे वही आलोचना वही प्रतिक्रमण और कल्प पर्यन्त रहने के लिये वही अवग्रह की पूर्वानुज्ञा रहती है ।

२३. चर्या से निवृत्त भिक्षु यदि चार-पाच रात के बाद स्थविरो से मिले तो वह पुन आलोचना-प्रतिक्रमण करे और आवश्यक दीक्षाछेद या तपरूप प्रायश्चित्त मे उपस्थित हो ।

भिक्षुभाव (सयम की सुरक्षा) के लिये उसे दूसरी बार अवग्रह की अनुमति लेनी चाहिए ।

वह इस प्रकार से प्रार्थना करे कि—'हे भदन्त ! मुझे मितावग्रह की, यथालन्दकल्प की ध्रुव, नित्य क्रिया करने की और पुन आने की अनुमति दीजिए ।' इस प्रकार कहकर वह उनके चरणो का स्पर्श करे ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रचतुष्क मे 'चरिका' शब्द के दो अर्थ विवक्षित किए गये हैं—

(१) पूर्वसूत्रोक्त व्रजिकागमन (२) विदेश या दूरदेश गमन

यहा इन दोनो प्रकार की चरिका के दो प्रकार कहे गये है—

(१) **प्रविष्ट**—जितने समय की आज्ञा प्राप्त हुई है, उतने समय के भीतर व्रजिका मे रहा हुआ या दूर देश एव विदेश की यात्रा में रहा हुआ भिक्षु ।

(२) **निवृत्त**—अजिका-विहार से निवृत्त या दूर देश के विचरण से निवृत्त होकर पुनः आज्ञा लेकर आस-पास में विचरण करने वाला भिक्षु।

इन सूत्रों में प्रविष्ट एव निवृत्त चरिका वाले आज्ञाप्राप्त भिक्षु को विनय-व्यवहार का विधान किया गया है। जिसमे ४-५ दिन की मर्यादा की गई है। इन मर्यादित दिनो के पूर्व गुरु आचार्य आदि का पुन मिलने का अवसर प्राप्त हो जाय तो पूर्व की आज्ञा से ही विचरण किया जा सकता है किंतु इन मर्यादित दिनो के बाद अर्थात् १०-२० दिन से या कुछ महीनो से मिलने का अवसर प्राप्त हो तो पुन· सूत्रोक्त विधि से आज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिए।

चार-पाच दिन का कथन एक व्यावहारिक सीमा है, यथा—स्थापनाकुल और राजा के कोठार, दुग्धशाला आदि स्थानो की जानकारी किए बिना गोचरी जाने पर निशी उ ४ तथा उ ९ मे प्रायश्चित्त विधान है। वहा पर भी ४-५ रात्रि की छूट दी गई है। इस उद्देशक के सूत्र १५ मे उपस्थापना के लिए भी ४-५ रात्रि की छूट दी गई है।

अत प्रस्तुत प्रकरण से भी ४-५ दिन के बाद गुरु आदि से मिलने पर पुन विधियुक्त आज्ञा लेना आवश्यक समझना चाहिये।

शैक्ष और रत्नाधिक का व्यवहार

२४ **दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, तं जहा—सेहे य, राइणिए य। तत्थ सेहतराए पलिच्छन्ने, राइणिए अपलिच्छन्ने, सेहतराएण राइणिए उवसपज्जियव्वे, भिक्खोववाय च दलयइ कप्पाग।**

२५. **दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, तं जहा—सेहे य, राइणिए य। तत्थ राइणिए पलिच्छन्ने सेहतराए अपलिच्छन्ने। इच्छा राइणिए सेहतरागं उपसंपज्जेज्जा, इच्छा नो उवसपज्जेज्जा, इच्छा भिक्खोववायं दलेज्जा कप्पागं, इच्छा नो दलेज्जा कप्पाग।**

२४ दो साधर्मिक भिक्षु एक साथ विचरते हो, यथा—अल्प दीक्षापर्याय वाला और अधिक दीक्षापर्याय वाला।

उनमे यदि अल्प दीक्षापर्याय वाला श्रुतसम्पन्न तथा शिष्यसम्पन्न हो और अधिक दीक्षापर्याय वाला श्रुतसम्पन्न तथा शिष्यसम्पन्न न हो तो भी अल्प दीक्षापर्याय वाले को अधिक दीक्षापर्याय वाले की विनय वैयावृत्य करना, आहार लाकर देना, समीप मे रहना और अलग विचरने के लिए शिष्य देना इत्यादि कर्तव्यो का पालन करना चाहिये।

२५ दो साधर्मिक भिक्षु एक साथ विचरते हो, यथा—अल्प दीक्षापर्याय वाला और अधिक दीक्षापर्याय वाला।

उनमे यदि अधिक दीक्षापर्याय वाला श्रुतसम्पन्न तथा शिष्यसम्पन्न हो और अल्प दीक्षापर्याय वाला श्रुतसम्पन्न तथा शिष्यसम्पन्न न हो तो अधिक दीक्षापर्याय वाला इच्छा हो तो अल्प दीक्षापर्याय वाले की वैयावृत्य करे, इच्छा न हो तो न करे। इच्छा हो तो आहार लाकर दे, इच्छा न हो तो न दे।

इच्छा हो तो समीप मे रखे, इच्छा न हो तो न रखे। इच्छा हो तो अलग विचरने के लिये शिष्य दे, इच्छा न हो तो न दे।

विवेचन—इन सूत्रो मे रत्नाधिक और शैक्ष साधर्मिक भिक्षुओ के ऐच्छिक एव आवश्यक कर्तव्यो का कथन किया गया है।

यहा रत्नाधिक की अपेक्षा अल्प दीक्षापर्याय वाले भिक्षु को शैक्ष कहा गया है, अतः इस अपेक्षा से अनेक वर्षों की दीक्षापर्याय वाला भी शैक्ष कहा जा सकता है।

(१) रत्नाधिक भिक्षु शिष्य आदि से सम्पन्न हो और शैक्ष भिक्षु शिष्य आदि से सम्पन्न न हो तो उसे विचरण करने के लिये शिष्य देना या उसके लिये आहार आदि मगवा देना और अन्य भी सेवाकार्य करवा देना रत्नाधिक के लिये ऐच्छिक कहा गया है अर्थात् उन्हे उचित लगे या उनकी इच्छा हो वैसा कर सकते हैं।

(२) शैक्ष भिक्षु यदि शिष्य आदि से सम्पन्न हो एवं रत्नाधिक भिक्षु शिष्यादि से सम्पन्न न हो और वह विचरण करना चाहे या कोई सेवा कराना चाहे तो शिष्यादिसम्पन्न शैक्ष का कर्तव्य हो जाता है कि वह रत्नाधिक को बहुमान देकर उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करे।

यह कथन यहा कर्तव्य एव अधिकार की अपेक्षा से किया गया है। किन्तु सेवा की आवश्यकता होने पर तो रत्नाधिक को भी शैक्ष की यथायोग्य सेवा करना या करवाना आवश्यक होता है। न करने पर वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है। अतः सूत्रोक्त विधान सामान्य स्थिति की अपेक्षा से है, ऐसा समझना चाहिये।

रत्नाधिक को अग्रणी मानकर विचरने का विधान

२६. दो भिक्खुणो एगयओ विहरंति, नो णं कप्पइ अण्णमण्ण उवसंपज्जित्ताण विहरित्तए, कप्पइ ण अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

२७. दो गणावच्छेइया एगयओ विहरंति, नो ण कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ णं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

२८. दो आयरिय-उवज्झाया एगयओ विहरंति, नो णं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। कप्पइ णं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

२९. बहवे भिक्खुणो एगयओ विहरंति नो णं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। कप्पइ णं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

३०. बहवे गणावच्छेइया एगयओ विहरंति, नो णं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। कप्पइ णं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

३१ बहवे आयरिय-उवज्झाया एगयओ विहरंति, नो णं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। कप्पइ णं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

३२ बहवे भिक्खुणो बहवे गणावच्छेइया, बहवे आयरिय-उवज्झाया एगयओ विहरंति, नो णं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। कप्पइ णं अहारायणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

२६. दो भिक्षु एक साथ विचरते हो तो उन्हे परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ मे विचरना नही कल्पता है। किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है।

२७ दो गणावच्छेदक एक साथ विचरते हो तो उन्हे परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ मे विचरना नही कल्पता है। किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है।

२८ दो आचार्य या दो उपाध्याय एक साथ विचरते हो तो उन्हे परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नही कल्पता है। किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है।

२९. बहुत से भिक्षु एक साथ विचरते हो तो उन्हे परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नही कल्पता है। किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है।

३० बहुत से गणावच्छेदक एक साथ विचरते हो तो उन्हे परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नही कल्पता है। किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है।

३१ बहुत से आचार्य या उपाध्याय एक साथ विचरते हो तो उन्हे परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नही कल्पता है। किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर विचरना कल्पता है।

३२ बहुत से भिक्षु, बहुत से गणावच्छेदक और बहुत से आचार्य या उपाध्याय एक साथ विचरते हो तो उन्हे परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नही कल्पता है। किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर विचरना कल्पता है।

विवेचन—दो या अनेक भिक्षु यदि एक साथ रहे अथवा एक साथ विचरण करे और वे किसी को बडा न माने अर्थात् आज्ञा लेना, वन्दन करना आदि कोई भी विनय एव समाचारी का व्यवहार न करे तो उनका इस प्रकार साथ रहना उचित नही है। किन्तु उन्हे रत्नाधिक साधु की प्रमुखता स्वीकार करके उनके साथ विनय-व्यवहार रखते हुए रहना चाहिए और प्रत्येक कार्य उनकी आज्ञा लेकर ही करना चाहिए।

रत्नाधिक के साथ रहते हुए भी उनका विनय एव आज्ञापालन न करने से ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उन्नति नही होती है अपितु स्वच्छन्दता की वृद्धि होकर आत्मा का अधःपतन होता है और संयम की विराधना होती है। जनसाधारण को ज्ञात होने पर जिनशासन की हीलना होती है। अतः

अवमरात्निक (शैक्ष) भिक्षु का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वह रत्नाधिक की प्रमुखता स्वीकार करके ही उनके साथ रहे ।

उसी प्रकार दो या अनेक आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक भी एक साथ रहे या विचरण करें तो दीक्षापर्याय से ज्येष्ठ आचार्य आदि का उचित विनय-व्यवहार करते हुए रह सकते है ।

यह विधान एक माडलिक आहार करने वाले साम्भोगिक साधुओ की अपेक्षा से है, ऐसा समझना चाहिये ।

यदि कभी अन्य साम्भोगिक साधु, आचार्य, उपाध्याय या गणावच्छेदक का किसी ग्रामादि मे एक ही उपाश्रय मे मिलना हो जाय और कुछ समय साथ रहने का प्रसग आ जाय तो उचित विनय-व्यवहार और प्रेमसम्बन्ध के साथ रहा जा सकता है, किन्तु सूत्रोक्त उपसम्पदा (नेतृत्व) स्वीकार करने का विधान यहा नही समझना चाहिए । यदि अन्य साम्भोगिक के साथ विचरण या चातुर्मास करना हो अथवा अध्ययन करना हो तो उनकी भी अल्पकालीन उपसम्पदा (नेतृत्व) स्वीकार करके ही रहना चाहिए ।

चौथे उद्देशक का सारांश

सूत्र १-८ आचार्य एव उपाध्याय को अकेले विचरण नही करना चाहिए और दो ठाणा से चौमासा भी नही करना चाहिए, किन्तु वे दो ठाणा से विचरण कर सकते है और तीन ठाणा से चातुर्मास कर सकते है ।

गणावच्छेदक को दो ठाणा से विचरण नही करना चाहिए और तीन ठाणा से चातुर्मास नही करना चाहिए । किन्तु वे तीन ठाणा से विचरण कर सकते है एव चार ठाणा से चातुर्मास कर सकते हैं ।

९-१० अनेक आचार्य आदि को एक साथ विचरण करना हो तो भी उपर्युक्त साधुसख्या अपनी-अपनी निश्रा मे रखते हुए ही विचरण करना चाहिए और इसी विवेक के साथ उन्हे चातुर्मास मे भी रहना चाहिए ।

११-१२ विचरणकाल में या चातुर्मासकाल मे यदि उस सिंघाडे की प्रमुखता करने वाला भिक्षु काल-धर्म को प्राप्त हो जाय तो शेष साधुओ में जो श्रुत एव पर्याय से योग्य हो, उसकी प्रमुखता स्वीकार कर लेनी चाहिए । यदि कोई भी योग्य न हो तो चातुर्मास या विचरण को स्थगित करके शीघ्र ही योग्य प्रमुख साधुओ के या आचार्य के सान्निध्य में पहुंच जाना चाहिए ।

१३-१४ आचार्य-उपाध्याय कालधर्म प्राप्त करते समय या सयम छोडकर जाते समय जिसे आचार्य-उपाध्याय पद पर नियुक्त करने को कहे, उसे ही पद पर स्थापित करना चाहिए । वह योग्य न हो और अन्य योग्य हो तो उस आचार्यनिर्दिष्ट भिक्षु को पद

न देकर या दे दिया हो तो उसे हटाकर अन्य योग्य भिक्षु को पद दिया जा सकता है। जो उसका खोटा पक्ष करे, वे सभी प्रायश्चित्त के पात्र होते है।

सूत्र १५-१७ नवदीक्षित भिक्षु के शीघ्र ही योग्य हो जाने पर १२वी रात्रि के पूर्व बडीदीक्षा दे देनी चाहिये। उसके उल्लघन करने पर आचार्य-उपाध्याय को यथायोग्य तप या छेद प्रायश्चित्त आता है एव सत्तरहवी रात्रि का उल्लघन करने पर तप या छेद प्रायश्चित्त के अतिरिक्त एक वर्ष के लिए पदमुक्त होने का प्रायश्चित्त भी आता है। यदि बडीदीक्षा के समय का उल्लघन करने मे नवदीक्षित के माता-पिता आदि पूज्य पुरुषो की दीक्षा का कारण हो तो उत्कृष्ट छ मास तक दीक्षा रोकने पर भी प्रायश्चित्त नही आता है।

१८ अन्य गण मे अध्ययन आदि के लिये गये भिक्षु को किसी के द्वारा पूछने पर प्रथम सर्वरत्नाधिक का नाम बताना चाहिये। उसके बाद आवश्यक होने पर सर्वबहुश्रुत का नाम निर्देश करना चाहिए।

१९ व्रजिका (गोपालक बस्ती) मे विकृति सेवन हेतु जाने के पूर्व स्थविर की अर्थात् गुरु आदि की आज्ञा लेना आवश्यक है, आज्ञा मिलने पर ही जाना कल्पता है।

२०-२३ चरिकाप्रविष्ट या चरिकानिवृत्त भिक्षु को आज्ञाप्राप्ति के बाद ४-५ दिन मे गुरु आदि के मिलने का प्रसग आ जाय तो उसी पूर्व की आज्ञा से विचरण या निवास करना चाहिए, किन्तु ४-५ दिन के बाद अर्थात् आज्ञाप्राप्ति से अधिक समय बाद गुरु आदि के मिलने का प्रसग आ जाय तो सूत्रोक्त विधि से पुन आज्ञा प्राप्त करके विचरण कर सकता है।

२४-२५ रत्नाधिक भिक्षु को अवमरात्निक भिक्षु की सामान्य सेवा या सहयोग करना ऐच्छिक होता है और अवमरात्निक भिक्षु को रत्नाधिक भिक्षु की सामान्य सेवा या सहयोग करना आवश्यक होता है।

रत्नाधिक भिक्षु यदि सेवा-सहयोग न लेना चाहे तो आवश्यक नही होता है।

अवमरात्निक भिक्षु ग्लान हो तो रत्नाधिक को भी उसकी सेवा या सहयोग करना आवश्यक होता है।

२६-३२ अनेक भिक्षु, अनेक आचार्य-उपाध्याय एव अनेक गणावच्छेदक आदि कोई भी यदि साथ-साथ विचरण करे तो उन्हे परस्पर समान बन कर नही रहना चाहिए, किन्तु जो उनमे रत्नाधिक हो उसकी प्रमुखता स्वीकार करके उचित विनय एव समाचारी-व्यावहार के साथ रहना चाहिए।

उपसंहार

इस उद्देशक में—

सूत्र १-१० आचार्य उपाध्याय गणावच्छेदक के विचरण करने मे साधुओं की संख्या का,

सूत्र ११-१२	सिंघाड़ाप्रमुख भिक्षु के कालधर्म प्राप्त होने पर उचित कर्तव्य का,
१३-१४	आचार्य के दिवगत होने पर या संयम त्यागने पर योग्य को पद पर नियुक्त करने का,
१५-१७	बड़ीदीक्षा देने सम्बन्धी समय के निर्धारण का,
१८	गणान्तर मे गये भिक्षु के विवेक का,
१९-२३	व्रजिकागमन एव चरिका प्रवृत्त या निवृत्त भिक्षु के विवेक का,
२४-२५	रत्नाधिक एव अवमरात्निक के कर्तव्यो का,
२६-३२	साथ मे विचरण करने सम्बन्धी विनय-विवेक का,
	इत्यादि विषयो का कथन किया गया है ।

॥ चौथा उद्देशक समाप्त ॥

पांचवां उद्देशक

प्रवर्तिनी आदि के साथ विचरने वाली निर्ग्रन्थियों की संख्या

१. नो कप्पइ पवत्तिणीए अप्पबिइयाए हेमंत-गिम्हासु चारए।

२. कप्पइ पवत्तिणीए अप्पतइयाए हेमन्त-गिम्हासु चारए।

३ नो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पतइयाए हेमंत-गिम्हासु चारए।

४. कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पचउत्थाए हेमंत-गिम्हासु चारए।

५. नो कप्पइ पवत्तिणीए अप्पतइयाए वासावासं वत्थए।

६ कप्पइ पवत्तिणीए अप्पचउत्थाए वासावासं वत्थए।

७. नो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पचउत्थाए वासावासं वत्थए।

८ कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पपंचमाए वासावासं वत्थए।

९ से गामसि वा जाव रायहाणिसि वा बहूणं पवत्तिणीणं अप्पतइयाणं बहूणं गणावच्छेइणीणं अप्प-चउत्थाणं कप्पइ हेमंत-गिम्हासु चारए अण्णमण्णं नीसाए।

१०. से गामसि वा जाव रायहाणिसि वा बहूणं पवत्तिणीणं अप्पचउत्थाणं बहूणं गणावच्छे-इणीणं अप्प-पचमाणं कप्पइ वासावासं वत्थए अण्णमण्णं नीसाए।

१. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे प्रवर्तिनी साध्वी को, एक अन्य साध्वी को साथ लेकर विहार करना नही कल्पता है।

२ हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे प्रवर्तिनी को, अन्य दो साध्विया साथ लेकर विहार करना कल्पता है।

३ हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे गणावच्छेदिनी को अन्य दो साध्विया साथ लेकर विहार करना नही कल्पता है।

४ हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदिनी को अन्य तीन साध्वियाँ साथ लेकर विहार करना कल्पता है।

५ वर्षावास मे प्रवर्तिनी को अन्य दो साध्वियो के साथ रहना नहीं कल्पता है।

६. वर्षावास में प्रवर्तिनी को अन्य तीन साध्वियों के साथ रहना कल्पता है।

७ वर्षावास में गणावच्छेदिनी को अन्य तीन साध्वियों के साथ रहना नही कल्पता है।

८. वर्षावास में गणावच्छेदिनी को अन्य चार साध्वियो के साथ रहना कल्पता है।

९ हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे अनेक प्रवर्तिनियों को ग्राम यावत् राजधानी मे अपनी-अपनी निश्रा मे दो-दो अन्य साध्वियों को साथ लेकर और अनेक गणावच्छेदिनीयो को, तीन तीन अन्य साध्वियो को साथ लेकर विहार करना कल्पता है।

१०. वर्षावास मे अनेक प्रवर्तिनियो को यावत् राजधानी मे अपनी-अपनी निश्रा मे तीन-तीन अन्य साध्वियो को साथ लेकर और अनेक गणावच्छेदिनीयो को चार-चार अन्य साध्वियो को साथ लेकर रहना कल्पता है।

विवेचन—चौथे उद्देशक मे प्रारम्भ के दस सूत्रों मे आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक के विचरण मे एव चातुर्मास मे साथ रहने वाले साधुओ की सख्या का उल्लेख किया गया है और यहा प्रवर्तिनी और गणावच्छेदिका के साथ रहने वाली साध्वियो की सख्या का विधान है।

बृहत्कल्प उद्दे. ५ मे साध्वी को अकेली रहने का निषेध है और यहा प्रवर्तिनी को दो के साथ विचरने का निषेध है। अत: प्रवर्तिनी एक साध्वी को साथ मे रखकर न विचरे, दो साध्वियो को साथ लेकर विचरे और तीन साध्वियो को साथ मे रखकर चातुर्मास करे।

गणावच्छेदिनी प्रवर्तिनी की प्रमुख सहायिका होती है। इसका कार्यक्षेत्र गणावच्छेदक के समान विशाल होता है और यह प्रवर्तिनी की आज्ञा से साध्वियो की व्यवस्था, सेवा प्रायश्चित्त आदि सभी कार्यों की देख-रेख करती है। अत. गणावच्छेदिनी अन्य तीन साध्वियो को साथ लेकर विचरे और चार अन्य साध्वियो को साथ मे रखकर चातुर्मास करे।

बृहत्कल्प उद्दे ५ के विधान से और इन सूत्रो के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अकेली साध्वी विचरण न करे किन्तु दो साध्विया साथ मे विचरण कर सकती हैं या चातुर्मास कर सकती हैं। क्योंकि आगम के किसी भी विधान मे उनके लिये दो से विचरने का निषेध नही है। किन्तु साम्प्रदायिक समाचारियो के विधानानुसार दो साध्वियो का विचरण एव चातुर्मास करना निषिद्ध माना जाता है, साथ ही सेवा आदि के निमित्त प्रवर्तिनी आदि की आज्ञा से दो साध्वियो को जाना-आना आगम-सम्मत भी माना जाता है। अन्य आवश्यक विवेचन चौथे उद्देशक के दस सूत्रो के समान समझ लेना चाहिये।

अग्रणी साध्वी के काल करने पर साध्वी का कर्तव्य

११. गामाणुगामं दूइज्जमाणी निग्गंथी य जं पुरओ काउं विहरइ, सा य आहच्च वीसुंभेज्जा अत्थि य इत्थ काइ अण्णा उवसंपज्जणारिहा सा उवसंपज्जियव्वा।

नत्थि य इत्थ काइ अण्णा उवसंपज्जणारिहा तीसे य अप्पणो कप्पाए असमत्ते एवं से कप्पइ एगराइयाए पडिमाए जण्णं-जण्णं दिसं अण्णाओ साहम्मिणीओ विहरंति तण्णं-तण्णं दिसं उवलित्तए।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।

कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।

तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—'वसाहि अज्जे! एगरायं वा दुरायं वा', एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए। जा तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ सा सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

१२ वासावासं पज्जोसविया णिग्गंथी य जं पुरओ काउं विहरइ, सा य आहच्च वीसुंभेज्जा, अत्थि य इत्थ काइ अण्णा उवसंपज्जणारिहा सा उवसंपज्जियव्वा।

नत्थि य इत्थ काइ अण्णा उवसंपज्जणारिहा तीसे य अप्पणो कप्पइ असमत्ते एवं से कप्पइ एगराइयाए पडिमाए जण्णं-जण्णं दिसं अण्णाओ साहम्मिणीओ विहरंति तण्णं-तण्णं दिसं उवलित्तए।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।

कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।

तंसि च ण कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—'वसाहि अज्जे! एगरायं वा दुरायं वा', एव से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए। जा तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ सा सतरा छेए वा परिहारे वा।

११ ग्रामानुग्राम विहार करती हुईं साध्विया, जिसको अग्रणी मानकर विहार कर रही हो उनके कालधर्म प्राप्त होने पर शेष साध्वियो मे जो साध्वी योग्य हो उसे अग्रणी बनाना चाहिये।

यदि अन्य कोई साध्वी अग्रणी होने योग्य न हो और स्वय ने भी निशीथ आदि का अध्ययन पूर्ण न किया हो तो उसे मार्ग मे एक-एक रात्रि ठहरते हुए जिस दिशा मे अन्य सार्धर्मिणी साध्विया विचरती हो, उस दिशा मे जाना चाहिए।

मार्ग मे उसे विचरने के लक्ष्य से ठहरना नही कल्पता है।

यदि रोगादि का कारण हो तो ठहरना कल्पता है।

रोगादि के समाप्त होने पर यदि कोई कहे कि—'हे आर्ये! एक या दो रात और ठहरो', तो उन्हे एक या दो रात और ठहरना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नही कल्पता है। जो साध्वी एक या दो रात से अधिक ठहरती है, वह मर्यादा-उल्लघन के कारण दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

१२. वर्षावास मे रही हुई साध्वियां जिसको अग्रणी मानकर रह रही हो उसके कालधर्म प्राप्त होने पर शेष साध्वियो मे जो साध्वी योग्य हो, उसे अग्रणी बनाना चाहिये।

यदि अन्य कोई साध्वी अग्रणी होने योग्य न हो और स्वय ने भी आचार-प्रकल्प का अध्ययन पूर्ण न किया हो तो उसे मार्ग मे एक-एक रात्रि ठहरते हुए जिस दिशा में अन्य सार्धर्मिणी साध्विया विचरती हो उस दिशा मे जाना कल्पता है।

मार्ग मे उसे विचरने के लक्ष्य से ठहरना नही कल्पता है।

यदि रोगादि का कारण हो तो ठहरना कल्पता है।

रोगादि के समाप्त होने पर यदि कोई कहे कि—"हे आर्य ! एक या दो रात और ठहरो'," तो उसे एक या दो रात और ठहरना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नही कल्पता है। जो साध्वी एक या दो रात से अधिक ठहरती है, वह मर्यादा-उल्लघन के कारण दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

विवेचन—चौथे उद्देशक के ग्यारहवे बारहवे सूत्र मे अग्रणी साधु के कालधर्म-प्राप्त हो जाने का वर्णन है और यहा अग्रणी साध्वी के कालधर्म-प्राप्त हो जाने का वर्णन है। अन्य साध्वी को अग्रणी बनने या बनाने का अथवा विहार करने का विवेचन चौथे उद्देशक के समान समझना चाहिए।

सूत्र मे "**तीसे य अप्पणो कप्पाए**" और "**वसाहि अज्जे**" आदि एकवचन के प्रयोग प्रमुख साध्वी को लक्ष्य करके किये गये हैं और प्रमुख बनने या बनाने का वर्णन होने के कारण अनेक साध्वियो का होना भी सूत्र से ही स्पष्ट हो जाता है।

प्रर्वातनी के द्वारा पद देने का निर्देश

१३. पवत्तिणी य गिलायमाणी अन्नयर वएज्जा—"मए ण अज्जे ! कालगयाए समाणीए इयं समुक्कसियव्वा।"

सा य समुक्कसिणारिहा समुक्कसियव्वा,

सा य नो समुक्कसिणारिहा नो समुक्कसियव्वा।

अत्थि य इत्थ अण्णा काइ समुक्कसिणारिहा सा समुक्कसियव्वा।

नत्थि य इत्थ अण्णा काइ समुक्कसिणारिहा सा चेव समुक्कसियव्वा।

ताए च णं समुक्किट्ठाए परा वएज्जा—

"दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जे। निक्खिवाहि" ताए णं निक्खिवमाणाए नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा।

जाओ साहम्मिणीओ अहाकप्पं नो उट्ठाए विहरंति सव्वासिं तासिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा।

१४. पवत्तिणी य ओहायमाणी अन्नयरं वएज्जा—

"मए णं अज्जे ! ओहावियाए समाणीए इयं समुक्कसियव्वा।"

सा य समुक्कसिणारिहा समुक्कसियव्वा,

सा य नो समुक्कसिणारिहा नो समुक्कसियव्वा।

अत्थि य इत्थ अण्णा काइ समुक्कसिणारिहा सा समुक्कसियव्वा।

नत्थि य इत्थ अण्णा काइ समुक्कसिणारिहा सा चेव समुक्कसियव्वा।

ताए च णं समुक्किट्ठाए परा वएज्जा—"दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जे ! निक्खिवाहि।" ताए णं निक्खिवमाणाए नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा।

जाओ साहम्मिणीओ अहाकप्पं नो उवट्ठाए विहरंति सव्वासिं तासिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा।

१३. रुग्ण प्रवर्तिनी किसी प्रमुख साध्वी से कहे कि—"हे आर्ये! मेरे कालगत होने पर अमुक साध्वी को मेरे पद पर स्थापित करना।"

यदि प्रवर्तिनी-निर्दिष्ट वह साध्वी उस पद पर स्थापन करने योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए।

यदि वह उस पद पर स्थापन करने योग्य न हो तो उसे स्थापित नही करना चाहिए।

यदि समुदाय मे अन्य कोई साध्वी उस पद के योग्य हो तो स्थापित करना चाहिए। यदि समुदाय मे अन्य कोई भी साध्वी उस पद के योग्य न हो तो प्रवर्तिनी-निर्दिष्ट साध्वी को ही उस पद स्थापित करना चाहिए।

उसको उस पद पर स्थापित करने के बाद कोई गीतार्थ साध्वी कहे कि—"हे आर्ये! तुम इस पद के अयोग्य हो अत इस पद को छोड दो", (ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को छोड दे तो वह दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त की पात्र नही होती है।

जो स्वधर्मिणी साध्विया कल्प (उत्तरदायित्व) के अनुसार उसे प्रवर्तिनी आदि पद छोड़ने के लिए न कहे तो वे सभी स्वधर्मिणी साध्विया उक्त कारण से दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त की पात्र होती हैं।

१४ सयम-परित्याग कर जाने वाली प्रवर्तिनी किसी प्रमुख साध्वी से कहे कि—"हे आर्ये! मेरे चले जाने पर अमुक साध्वी को मेरे पद पर स्थापित करना।"

यदि वह साध्वी उस पद पर स्थापन करने योग्य हो तो उसे उस पद पर स्थापन करना चाहिए।

यदि वह उस पद पर स्थापन करने योग्य न हो तो उसे स्थापित नही करना चाहिए।

यदि समुदाय मे अन्य कोई साध्वी उस पद के योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए।

यदि समुदाय मे अन्य कोई भी साध्वी उस पद के योग्य न हो तो प्रवर्तिनी-निर्दिष्ट साध्वी को ही उस पद पर स्थापित करना चाहिए।

उसको उस पद पर स्थापित करने के बाद कोई गीतार्थ साध्वी कहे कि—"हे आर्ये! तुम इस पद के अयोग्य हो, अत: इस पद को छोड दो", (ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को छोड दे तो वह दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त की पात्र नही होती है।

जो स्वधर्मिणी साध्विया कल्प (उत्तरदायित्व) के अनुसार उसे प्रवर्तिनी पद छोडने के लिए न कहे तो वे सभी स्वधर्मिणी साध्विया उक्त कारण से दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त की पात्र होती हैं।

विवेचन—आचार्य अपने गच्छ के सम्पूर्ण साधु-साध्वियो के धर्मशासक होते है। अत उनका विशिष्ट निर्णय तो सभी साध्वियो को स्वीकार करना होता ही है, अर्थात् उनके निर्देशानुसार

प्रवर्तिनी पद पर किसी साध्वी को नियुक्त किया जा सकता है, किन्तु सामान्य विधान की अपेक्षा सूत्रानुसार साध्विया या प्रवर्तिनी आदि भी अन्य योग्य साध्वी को प्रवर्तिनी आदि पद पर नियुक्त कर सकती हैं। यह इन सूत्रों से स्पष्ट होता है।

अन्य विवेचन चौथे उद्देशक के सूत्र १३-१४ के समान समझ लेना चाहिए।

आचारप्रकल्प-विस्मृत को पद देने का विधि-निषेध

१५. निग्गंथस्स णं नव-डहर-तरुणस्स आयारकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया, से य पुच्छियव्वे—

"केण ते कारणेण अज्जो! आयारपकप्पे नामं—अज्झयणे परिब्भट्ठे? किं आबाहेणं उदाहु पमाएणं?"

से य वएज्जा—"नो आबाहेणं, पमाएणं," जावज्जीवं तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

से य वएज्जा—"आबाहेणं, नो पमाएणं, से य संठवेस्सामि त्ति" संठवेज्जा एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

से य "संठवेस्सामि" त्ति नो संठवेज्जा, एवं से नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१६ निग्गंथीए णं नव-डहर-तरुणाए आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया, सा य पुच्छियव्वा—

"केण भे कारणेणं अज्जे! आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे? किं आबाहेणं, उदाहु पमाएणं?"

सा य वएज्जा "नो आबाहेणं, पमाएणं", जावज्जीवं तीसे तप्पत्तियं नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा, धारेत्तए वा।

सा य वएज्जा—"आबाहेणं, नो पमाएणं सा य संठवेस्सामि त्तिं" संठवेज्जा एवं से कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

सा य "संठवेस्सामि" त्ति नो संठवेज्जा, एवं से नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१५. नवदीक्षित, बाल एव तरुण निर्ग्रन्थ के यदि आचारप्रकल्प (आचाराग-निशीथसूत्र) का अध्ययन विस्मृत हो जाए तो उसे पूछा जाए कि—

"हे आर्य! तुम किस कारण से आचारप्रकल्प-अध्ययन को भूल गए हो, क्या किसी कारण से भूले हो या प्रमाद से?"

यदि वह कहे कि किसी कारण से नही अपितु प्रमाद से विस्मृत हुआ है", तो उसे उक्त कारण से जीवनपर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

यदि वह कहे कि "अमुक कारण से विस्मृत हुआ है—प्रमाद से नही। अब मै आचारप्रकल्प पुन कण्ठस्थ कर लूगा"—ऐसा कहकर कण्ठस्थ कर ले तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

यदि वह आचारप्रकल्प को पुन कण्ठस्थ कर लेने को कहकर भी कण्ठस्थ न करे तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

१६ नवदीक्षित, बाल एव तरुण निर्ग्रन्थी को यदि आचारप्रकल्प-अध्ययन विस्मृत हो जाए तो उसे पूछना चाहिए कि—

"हे आर्ये! तुम किस कारण से आचारप्रकल्प-अध्ययन भूल गई हो? क्या किसी कारण से भूली हो या प्रमाद से?"

यदि वह कहे कि—"किसी कारण से नही अपितु प्रमाद से विस्मृत हुआ है"—तो उसे उक्त कारण से जीवनपर्यन्त प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

यदि वह कहे कि—"अमुक कारण से विस्मृत हुआ है, प्रमाद से नही, मै पुन आचारप्रकल्प को कण्ठस्थ कर लूगी"—ऐसा कहकर कण्ठस्थ कर ले तो उसे प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना कल्पता है।

यदि वह आचारप्रकल्प को पुन. कण्ठस्थ कर लेने को कहकर भी कण्ठस्थ न करे तो उसे प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

विवेचन—तीसरे उद्देशक के तीसरे सूत्र मे तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण को "आचारप्रकल्प" कण्ठस्थ धारण करने का कहा गया है और इन सूत्रो मे प्रत्येक श्रमण-श्रमणी को आचारप्रकल्प कण्ठस्थ करना एव उसे कण्ठस्थ रखना आवश्यक कहा गया है। साथ ही गच्छ के प्रमुख श्रमणो का यह कर्तव्य बताया गया है कि वे समय-समय पर यह जाच भी करते रहे कि किसी श्रमण को आचारप्रकल्प विस्मृत तो नही हो रहा है। यदि विस्मृत हुआ है तो उसके कारण की जानकारी करनी चाहिए।

सूत्र मे यह भी कहा गया है कि आचारप्रकल्प को भूलने वाला श्रमण या श्रमणी यदि नवदीक्षित है, बालवय या तरुणवय वाला है तो उसे सूत्रोक्त प्रायश्चित्त आता है। वह प्रायश्चित्त दो प्रकार का है, यथा—

(१) सकारण भूलने पर पुन कण्ठस्थ करने तक वह किसी भी पदवी को धारण नही कर सकता तथा (सिंघाडाप्रमुख) बन कर विचरण भी नही कर सकता।

(२) प्रमादवश भूल जाय तो वह जीवनपर्यन्त किसी पदवी को धारण नहीं कर सकता तथा सिघाडाप्रमुख बन कर विचरण भी नही कर सकता।

"आचारप्रकल्प" से यहा आचाराग और निशीथसूत्र का निर्देश किया गया है। इस सम्बन्धी विस्तृत व्याख्या उद्दे. ३ सूत्र ३ के विवेचन से जान लेनी चाहिए।

उद्दे. तीन और पाच के इन सूत्र-विधानों मे आचारप्रकल्प का जो महत्त्व बताया गया है, उसे लक्ष्य मे रखकर एव अनुप्रेक्षा करके यदि उसकी रचना के विषय मे निर्णय किया जाय तो सहज ही यह निर्णय हो जाता है कि इस व्यवहारसूत्र के रचयिता स्थविर भद्रबाहुस्वामी ने या उनके बाद के किसी स्थविर ने 'आचारप्रकल्प' की रचना नही की है किन्तु यह गणधररचित है और प्रारभ से ही जिनशासन के सभी साधु-साध्वियों को आवश्यक रूप से अध्ययन कराया जाने वाला शास्त्र है। वर्तमान मे यह शास्त्र आचारांग+निशीथ उभय सूत्रो का सूचक है।

दशाश्रुतस्कध के निर्युक्तिकार ने निर्युक्ति की प्रथम गाथा में ही स्थविर श्री प्रथम भद्रबाहु-स्वामी को वदन-नमस्कार करते हुए उन्हे 'तीन छेदसूत्रों (दशाश्रुतस्कध, बृहत्कल्प और व्यवहारसूत्र) की रचना करने वाले' ऐसे विशेषण से विभूषित किया है और श्रीभद्रबाहुस्वामी ने अपने द्वारा रचित (निर्यूढ) इस व्यवहारसूत्र मे सोलह बार आचारप्रकल्प का निर्देश करते हुए अनेक प्रकार के विधान किए है।

इतना स्पष्ट होते हुए भी ऐतिहासिक भ्रान्तियो के कारण वर्तमान के इतिहासज्ञ इस सूत्र के रचनाकार और उनके समय के विषय मे अपने सदिग्ध विचार प्रस्तुत करते है, यह अत्यंत खेद का विषय है।

आचारप्रकल्प सबधी व्यवहारसूत्र के विधानो से यह स्पष्ट हो जाता है कि अध्ययन-व्यवस्था मे आचाराग-निशीथसूत्र को अर्थ-परमार्थ सहित कठस्थ करना प्रत्येक साधु-साध्वी के लिये अत्यत आवश्यक है तथा स्वाध्याय आदि के द्वारा उसे कण्ठस्थ रखना भी आवश्यक है। जो कोई भी श्रमण या श्रमणी इसके अध्ययन की योग्यता वाले नही होते हैं या इसका अध्ययन नही करते हैं अथवा अध्ययन करने के बाद उसका स्वाध्याय न करके विस्मृत कर देते हैं, वे ही श्रमण या श्रमणी जिनशासन के किसी भी पद को ग्रहण करने मे या पूर्व ग्रहीत को धारण करने के अयोग्य होते हैं, अर्थात् उन्हे कोई पद नही दिया जा सकता है और पहले से किसी पद पर हों तो उन्हे पद से हटा दिया जाता है। वे सिघाडाप्रमुख बनकर भी विचरण करने का अधिकार नही रखते हैं तथा किसी भी प्रकार की गणव्युत्सर्गसाधना अर्थात् एकलविहार, सभोग-प्रत्याख्यान आदि साधनाएँ भी नही कर सकते हैं।

आचारप्रकल्प का धारक भिक्षु ही जघन्य गीतार्थ या जघन्य बहुश्रुत कहा गया है। वही स्वतत्र विहार या गोचरी के योग्य होता है। अबहुश्रुत या अगीतार्थ की गवेषणा से प्राप्त पदार्थों के उपयोग करने का भी भाष्य मे निषेध किया गया है एव प्रायश्चित्त कहा गया है।

वर्तमान मे पूर्वों का ज्ञान विच्छेद मानना तो आगमसम्मत है, किन्तु अन्य सूत्रो का विच्छेद होना नही कहा जा सकता है। अत: क्षेत्र या काल की ओट लेकर इन व्यवहारसूत्रकथित विधानो के आचरण का विच्छेद मानना सर्वथा अनुचित है। क्योकि वर्तमान मे दीक्षित होने वाले अनेक नवयुवक श्रमण-श्रमणियों को यदि योग्य अध्यापन कराने वाले मिले तो वे तीन वर्ष मे इतना अध्ययन कठस्थ अवश्य कर सकते है। किन्तु अत्यत खेद के साथ यह कहना पडता है कि अध्ययन के क्षेत्र में उदासीनता के कारण विद्यमान लगभग दस हजार (१०,०००) जैन साधु-साध्वियों में केवल दस साधु-साध्विया भी इस आचारप्रकल्प को अर्थसहित कण्ठस्थ धारण करने वाले नहीं हैं। फिर भी समाज में अनेक आचार्य, उपाध्याय हैं और अनेक पद प्राप्ति के लिये लालायित रहने वाले भी हैं। संघाड़ाप्रमुख बनकर विचरण करने वाले भी अनेक साधु-साध्वी हैं और वे स्वय को आगमानुसार विचरण करने वाले भी मानते हैं। किन्तु आगमानुसार अध्ययन, विचरण तथा गच्छ के पदो की व्यवस्था किस

प्रकार करनी चाहिए, यह इन छेदसूत्रो के विवेचन से सरलतापूर्वक जानने एव पालन करने का प्रयत्न नही करते है। यह आगमविधानो की उपेक्षा करना है।

अत. वर्तमान के पदवीधरो और गच्छप्रमुखो को अवश्य ही इस ओर ध्यान देकर आगम की अध्ययनप्रणाली को अविच्छिन्न बनाये रखना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक नवदीक्षित युवक सत-सती को उचित व्यवस्था के साथ कम से कम तीन या पाच दस वर्ष तक आगम-अध्ययन एव आत्मजागृतियुक्त सयमपालन मे पूर्ण योग्य बनाना चाहिए। यह प्रत्येक पदवीधर का, गच्छप्रमुख का और गुरु का परम कर्तव्य है। ऐसा करने से ही वे शिष्यो के उपकारक हो सकते हैं।

दशा. द. ४ मे भी आचार्यादि के लिये शिष्य के प्रति ऐसे ही कर्तव्यो का कथन करके उनके ऋण से उऋण होना कहा गया है, जिसका विवेचन वही पर देखे। वर्तमान मे ऐसा न करने वाले ये अनेक पदवीधर क्या अपने कर्तव्यो के प्रति सजग हैं? एव जिनशासन के प्रति कृतज्ञ है? अथवा पदो के द्वारा केवल प्रतिष्ठा प्राप्त करके सतुष्टि करने वाले हैं?

इस विषय मे गहरा विचार करके जिनशासन के प्रति कर्तव्यनिष्ठा रखने वाले आत्मार्थी साधको को आगमानुसार अध्ययन-अध्यापन एव पदप्रदान करने की व्यवस्था करनी चाहिए एव विकृत परपरा को आगमानुसारी बनाने में प्रयत्नशील होना चाहिए।

वर्तमान मे यह मान्यता भी प्रचलित है कि -'आचाराग एव निशीथसूत्र का यदि गुरुमुख से एक बार वाचन-श्रवण कर लिया तो प्रमुख बनकर विचरण या पदवीधारण किया जा सकता है और ऐसा करने पर सूत्राज्ञा का पालन हो जाता है।' किन्तु इन दो सूत्रो मे किए गए विधानो को गहराई से समझने पर उपर्युक्त धारणा केवल स्वमतिकल्पित कल्पनामात्र सिद्ध होती है। क्योकि इन सूत्रो मे आचारप्रकल्प के विस्मृत होने आदि के विधान से प्रत्येक साधु-साध्वी को कठस्थ धारण करना ही सिद्ध होता है।

कई आचार्यों की यह भी मान्यता है कि—'साध्वी को निशीथसूत्र का अध्ययन-अध्यापन आर्यरक्षित के द्वारा निषिद्ध है', यह भी आगमविपरीत कल्पना है। क्योकि प्रस्तुत सोलहवे सूत्र मे साध्वी को आचारप्रकल्प के कण्ठस्थ रखने का स्पष्ट विधान है। आगमविधानो से विपरीत आज्ञा देकर परपरा चलाने का अधिकार किसी भी आचार्य को नही होता है और साढे नवपूर्वी आर्यरक्षित-स्वामी ऐसी आज्ञा दे भी नही सकते हैं, फिर भी इतिहास के नाम से ऐसी कई असगत कल्पनाएँ प्रचलित हो जाती हैं।

अत कल्पित कल्पनाओ से सावधान रहकर सूत्राज्ञा को प्रमुखता देनी चाहये।

स्थविर के लिए आचारप्रकल्प के पुनरावर्तन करने का विधान

१७. थेराणं थेरभूमिपत्ताण आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया, कप्पइ तेसिं संठवेत्ताण वा, असठवेत्ताण वा आयरियत्त वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१८. थेराणं थेरभूमिपत्ताणं आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया, कप्पइ तेसिं

सन्निसण्णाण वा, संतुयट्टाण वा, उत्ताणयाण वा, पासिल्लयाण वा आयारपकप्पं नामं अज्झयणं दोच्चंपि तच्चंपि पडिपुच्छित्तए वा, पडिसारेत्तए वा।

१७. स्थविरत्व (वृद्धावस्था) प्राप्त स्थविर यदि आचारप्रकल्प-अध्ययन विस्मृत हो जाए (और पुन. कण्ठस्थ करे या न करे) तो भी उन्हें आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

१८. स्थविरत्वप्राप्त स्थविर यदि आचारप्रकल्प-अध्ययन विस्मृत हो जाए तो उन्हे बैठे हुए, लेटे हुए, उत्तानासन से सोये हुए या पार्श्वभाग से शयन किये हुए भी आचारप्रकल्प-अध्ययन दो-तीन बार पूछकर स्मरण करना और पुनरावृत्ति करना कल्पता है।

विवेचन—पूर्व सूत्रद्विक के कहे गये विषय का ही यहा स्थविर साधु-साध्वी की अपेक्षा कथन किया गया है।

भाष्य मे चालीस से उनसत्तर वर्ष की वय वाले को प्रौढ कहा है और सत्तर वर्ष से अधिक वय वाले को स्थविर कहा गया है। किन्तु ठाणागसूत्र एव व्यवहारसूत्र उद्दे १० आदि आगमो मे ६० वर्ष की वय वाले को स्थविर कहा गया है। अत. चालीस से उनसठ वर्ष तक की वय वाले को प्रौढ समझना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्रद्वय मे स्थविर भिक्षुओ के लिये आपवादिक विधान किया है, जो प्रौढ के लिये नही समझा जा सकता। अत प्रौढ का समावेश पूर्व सूत्रद्विक मे उपलक्षण से या परिशेषन्याय से समझ लेना चाहिए। क्योकि उस अवस्था तक श्रुत कठस्थ धारण करने की शक्ति का अधिक ह्रास नही होता है। स्मरणशक्ति का ह्रास साठ वर्ष की वय के बाद होना अधिक सभव है। अत प्रौढ साधु-साध्वियो के आचारप्रकल्प विस्मरण का प्रायश्चित्त भी पूर्व सूत्रद्विक मे अतर्निहित है, ऐसा समझ लेना चाहिए।

सत्तरहवे सूत्र मे यह कहा गया है कि स्थविर भिक्षु यदि आचारप्रकल्प विस्मृत हो जाये और वह उसे पुन उपस्थित कर सके या उपस्थित न भी कर सके तो उन्हे कोई भी पद दिया जा सकता है और पूर्वप्रदत्त पद को वे धारण भी कर सकते है।

प्रस्तुत सूत्रो का आशय यह है कि स्थविर भिक्षु को भी आचारप्रकल्प पुन. उपस्थित करने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए, किन्तु पुन उपस्थित न हो सकने पर उन्हे कोई भी प्रायश्चित्त नही आता है।

अठारहवे सूत्र मे भी यह स्पष्ट किया गया है कि वे सूत्र को पुनः कण्ठस्थ रखने के लिये कभी लेटे हुए या बैठे हुए भी अन्य साधुओ से सूत्र का श्रवण कर सकते हैं या बीच के कोई स्थल विस्मृत हो तो उन्हे पूछ सकते हैं। इस प्रकार इस सूत्र मे भिक्षु को वृद्धावस्था में भी स्वाध्यायप्रिय होना सूचित किया गया है।

सूत्र मे "थेराण थेरभूमिपत्ताण" शब्द प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि वयःस्थविर होते हुए भी जिन्हें बुढापा आ चुका है अर्थात् जिनकी शरीरशक्ति और इन्द्रियशक्ति क्षीण हो चुकी है, उनकी अपेक्षा ही यह आपवादिक विधान समझना चाहिए।

परस्पर आलोचना करने के विधि-निषेध

१९ जे निग्गंथा य निग्गथीओ य संभोइया सिया, नो णं कप्पइ अण्णमण्णस्स अंतिए आलोइत्तए।

अत्थि य इत्थ णं केइ आलोयणारिहे कप्पइ णं तस्स अंतिए आलोइत्तए।

नत्थि य इत्थ णं केइ आलोयणारिहे एव ण कप्पइ अण्णमण्णस्स अतिए आलोइत्तए।

१९ जो साधु और साध्विया साम्भोगिक हैं, उन्हे परस्पर एक दूसरे के समीप आलोचना करना नही कल्पता है।

यदि स्वपक्ष में कोई आलोचना सुनने योग्य हो तो उनके समीप ही आलोचना करना कल्पता है।

यदि स्वपक्ष मे आलोचना सुनने योग्य कोई न हो तो साधु-साध्वी को परस्पर आलोचना करना कल्पता है।

विवेचन—बृहत्कल्पसूत्र के चौथे उद्देशक मे बारह साभोगिक व्यवहारो का वर्णन करते हुए औत्सर्गिक विधि से साध्वियो के साथ छह साभोगिक व्यवहार रखना कहा गया है। तदनुसार साध्वियो के साथ एक माडलिक आहार का व्यवहार नही होता है तथा आगाढ कारण के बिना उनके साथ आहारादि का लेन-देन भी नही होता है, तो भी वे साधु-साध्वी एक आचार्य की आज्ञा मे होने से और एक गच्छ वाले होने से साभोगिक कहे जाते है।

ऐसे साभोगिक साधु-साध्वियो के लिए भी आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि परस्पर करना निषिद्ध है, अर्थात् साधु अपने दोषो की आलोचना, प्रायश्चित्त आचार्य, उपाध्याय, स्थविर आदि के पास ही करे और साध्विया अपनी आलोचना, प्रायश्चित्त प्रवर्तिनी, स्थविरा आदि योग्य श्रमणियो के पास ही करे, यह विधिमार्ग या उत्सर्गमार्ग है।

अपवादमार्ग के अनुसार किसी गण मे साधु या साध्वियो मे कभी कोई आलोचनाश्रवण के योग्य न हो या प्रायश्चित्त देने योग्य न हो तब परिस्थितिवश साधु स्वगच्छीय साध्वी के पास आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त कर सकता है और साध्वी स्वगच्छीय साधु के पास आलोचना आदि कर सकती है।

इस विधान से यह स्पष्ट है कि सामान्यतया एक गच्छ के साधु-साध्वियो को भी परस्पर आलोचना, प्रायश्चित्त नही करना चाहिए।

परस्पर आलोचना का दुष्फल बताते हुए भाष्य मे कहा गया है कि साधु या साध्वी को कभी चतुर्थव्रत भग सबंधी आलोचना करनी हो और आलोचना सुनने वाला साधु या साध्वी भी कामवासना से पराभूत हो तो ऐसे अवसर पर उसे अपने भाव प्रकट करने का अवसर मिल सकता है और वह कह सकता है कि 'तुम्हे प्रायश्चित्त तो लेना ही है तो एक बार मेरी इच्छा भी पूर्ण कर दो, फिर एक साथ प्रायश्चित्त हो जायेगा।' इस प्रकार परस्पर आलोचना के कारण एक दूसरे का अधिकाधिक पतन होने की सभावना रहती है। अन्य दोषो की आलोचना करते समय भी एकांत मे पुनः-पुनः साधु-साध्वी का संपर्क होने से ऐसे दोषों के उत्पन्न होने की सभावना रहती है।

ऐसे ही कारणो से स्वाध्याय या वाचना आदि के सिवाय साधु-साध्वी को परस्पर सभी प्रकार का संपर्क वर्जित है। इसलिये उन्हे एक दूसरे के उपाश्रय मे सामान्य वार्तालाप या केवल दर्शन हेतु अथवा परम्परा-पालन के लिये नही जाना चाहिए।

स्थानागसूत्र-निर्दिष्ट सेवा आदि परिस्थितियो से जाना तो आगमसम्मत है।

साधु-साध्वियो के परस्पर सपर्कनिषेध का विशेष वर्णन बृह. उ. ३ सूत्र १ के विवेचन मे देखें। उस सूत्र मे परस्पर एक दूसरे के उपाश्रय के बैठने, खडे रहने आदि अनेक कार्यो का निषेध है।

परस्पर सेवा करने का विधि-निषेध

२०. जे निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया, नो णं कप्पइ अण्णमण्णेणं वेयावच्चं कारवेत्तए।

अत्थि य इत्थ णं केइ वेयावच्चकरे कप्पइ णं तेणं वेयावच्चं कारवेत्तए,

नत्थि य इत्थ णं केइ वेयावच्चकरे, एवं णं कप्पइ अण्णमण्णेणं वेयावच्चं कारवेत्तए।

२० जो साधु और साध्विया साभोगिक हैं, उन्हे परस्पर एक दूसरे की वैयावृत्य करना नहीं कल्पता है।

यदि स्वपक्ष में कोई वैयावृत्य करने वाला हो तो उसी से वैयावृत्य कराना कल्पता है।

यदि स्वपक्ष मे वैयावृत्य करने वाला कोई न हो तो साधु-साध्वी को परस्पर वैयावृत्य करना कल्पता है।

विवेचन—पूर्वसूत्र मे साधु-साध्वियो के परस्पर आलोचना करने का निषेध किया गया है और प्रस्तुत सूत्र मे परस्पर एक दूसरे के कार्यों को करने का निषेध किया गया है।

साधु-साध्वी के सयम हेतु शरीर सम्बन्धी और उपकरण सम्बन्धी जो भी आवश्यक कार्य हो वह प्रथम तो स्वय ही करना चाहिए और कभी कोई कार्य साधु-साधुओ से और साध्विया साध्वियों से भी करवा सकती हैं, यह विधिमार्ग है।

रोग आदि कारणो से या किसी आवश्यक कार्य के करने मे असमर्थ होने से परिस्थितिवश विवेकपूर्वक साधु साध्वी परस्पर भी अपना कार्य करवा सकते हैं, यह अपवादमार्ग है।

अत: विशेष परिस्थिति के बिना साधु-साध्वी को परस्पर कोई भी कार्य नही करना चाहिए।

इन सूत्रो के पारस्परिक व्यवहारो के निषेध का मुख्य कारण यह है कि इन प्रवृत्तियो से अतिसम्पर्क, मोहवृद्धि होने से कभी ब्रह्मचर्य मे असमाधि उत्पन्न हो सकती है और इस प्रकार का परस्पर अनावश्यक अतिसम्पर्क देखकर जन-साधारण मे कई प्रकार की कुशकाए उत्पन्न हो सकती है।

अत सूत्रोक्त विधान के अनुसार ही साधु-साध्वियो को आचरण करना चाहिए।

परस्पर किये जाने वाले सेवाकार्य—

(१) आहार-पानी लाकर देना या लेना अथवा निमंत्रण करना।

(२) वस्त्र-पात्र आदि उपकरणो की याचना करके लाकर देना या स्वय के याचित उपकरण देना।

(३) उपकरणो का परिकर्म कार्य—सीना, जोडना, रोगानादि लगाना ।
(४) वस्त्र, रजोहरण आदि धोना ।
(५) रजोहरण आदि उपकरण बनाकर देना ।
(६) प्रतिलेखन आदि कर देना ।

इत्यादि अनेक कार्य यथासम्भव समझ लेने चाहिए । इन्हे आगाढ परिस्थितियो के बिना परस्पर करना करवाना साधु-साध्वियो को नही कल्पता है एव करने-करवाने पर गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है ।

आचार्य आदि पदवीधरो के भी प्रतिलेखना आदि सेवा कार्य केवल भक्ति प्रदर्शित करने के लिये साध्वियां नही कर सकती हैं । यदि आचार्य आदि इस तरह अपना कार्य अकारण करवावे तो वे भी गुरुचौमासी प्रायश्चित्त के पात्र होते है ।

तात्पर्य यह है कि साथ मे रहने वाले साधु जो सेवाकार्य कर सकते हो तो साध्वियो से नही कराना चाहिए, उसी प्रकार साध्वियों को भी जब तक अन्य साध्विया करने वाली हो तब तक साधुओ से अपना कोई भी कार्य नही करवाना चाहिए ।

सर्पदंशचिकित्सा के विधि-निषेध

२१ निग्गंथं च णं राओ वा वियाले वा दीहपुट्ठो लूसेज्जा, इत्थी वा पुरिसस्स ओमावेज्जा, पुरिसो वा इत्थीए ओमावेज्जा, एवं से कप्पइ, एवं से चिट्ठइ, परिहारं च से नो पाउणइ, एस कप्पो थेर-कप्पियाणं ।

एवं से नो कप्पइ, एवं से नो चिट्ठइ, परिहारं च से पाउणइ, एस कप्पे जिणकप्पियाण ।

२१ यदि किसी निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी को रात्रि या विकाल (सन्ध्या) मे सर्प डस ले और उस समय स्त्री निर्ग्रन्थ की और पुरुष निर्ग्रन्थी की सर्पदंश चिकित्सा करे तो इस प्रकार उपचार कराना उनको कल्पता है । इस प्रकार उपचार कराने पर भी उनकी निर्ग्रन्थता रहती है तथा वे प्रायश्चित्त के पात्र नही होते है । यह स्थविरकल्पी साधुओ का आचार है ।

जिनकल्प वालो को इस प्रकार उपचार कराना नही कल्पता है, इस प्रकार उपचार कराने पर उनका जिनकल्प नही रहता है और वे प्रायश्चित्त के पात्र होते है । यह जिनकल्पी साधुओं का आचार है ।

विवेचन—बृहत्कल्पसूत्र के छट्ठे उद्देशक मे ६ प्रकार की कल्पस्थिति कही गई है, अर्थात् ६ प्रकार का आचार कहा गया है । वहा पर स्थविरकल्पी और जिनकल्पी का आचार भिन्न-भिन्न सूचित किया है । उस आचार-भिन्नता का एक उदाहरण इस सूत्र मे स्पष्ट किया गया है ।

दोनो के आचार मे मुख्य अन्तर यह है कि स्थविरकल्पी यथावसर शरीरपरिकर्म, औषध-उपचार तथा परिस्थिति वश किसी भी अपवादमार्ग का अनुसरण कर सकते है, किन्तु जिनकल्पी दृढ़तापूर्वक उत्सर्गमार्ग पर ही चलते हैं । वे किसी भी प्रकार का औषध-उपचार, शरीरपरिकर्म,

शरीरसरक्षण आदि नही कर सकते हैं तथा अन्य भी अनेक प्रकार की विशिष्ट समाचारी का वे पालन करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि स्थविरकल्पी भिक्षु को साप काट खाए तो वह मन्त्रवादी से सांप का जहर उतरवा सकता है। रात्रि मे भी वह सर्पदंश का उपचार करा सकता है तथा साध्वी, पुरुष से और साधु, स्त्री से भी रात्रि मे सर्पदश का उपचार करा सकता है। कोई स्थविरकल्पी भी दृढ मनोबली हो और चिकित्सा न करावे तो यह उसकी इच्छा पर निर्भर है अर्थात् सूत्रो में दी गई छूट या सूत्रों से प्रतिध्वनित होने वाली छूट का सेवन स्थविरकल्पी के लिए सदा ऐच्छिक होता है।

जिनकल्पी की साधना मे स्वेच्छा का कोई विकल्प नही है। उसे तो शरीर-निरपेक्ष होकर ग्रहण की गई प्रतिज्ञाओ को जीवनपर्यन्त पालन करना होता है। निर्वद्य अपवाद सेवन से भी इनका जिनकल्प भग हो जाता है, जिससे वे प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

स्थविरकल्पी को परिस्थितिवश निर्वद्य अपवाद सेवन का प्रायश्चित्त नही आता है और कभी किसी परिस्थिति मे सावद्य अपवाद सेवन का भी अत्यल्प प्रायश्चित्त ही आता है। किन्तु अकारण मर्यादा का उल्लघन करने पर उन्हें भी विशेष प्रायश्चित्त आता है।

जिनकल्पी की विशिष्ट समाचारी

१ तीसरे प्रहर मे ही गोचरी करना एव विहार भी तीसरे प्रहर मे ही करना।

२ रूक्ष एव लेप रहित पदार्थों का आहार करना, अभिग्रह युक्त गोचरी करना एव अन्तिम पाच पिंडेषणाओ मे से किसी एक पिंडेषणा से आहारादि ग्रहण करना।

३ वस्त्र-पात्र आदि भी तीसरी चौथी वस्त्रैषणा-पात्रैषणा (पडिमा) से ग्रहण करना।

४ औपग्रहिक उपधि नही रखना, अतः सस्तारकपट्ट या आसन भी नही रखना।

५ तीसरे प्रहर के अतिरिक्त प्रायः सदा कायोत्सर्ग करना या उत्कुटुकासन से समय व्यतीत करना।

६. बिछाए हुए पाट, सस्तारक या पृथ्वीशिला मिल जाय तो ही उपयोग मे लेना।

७. सयम पालन योग्य क्षेत्र मे पूर्ण मासकल्प रहना और चातुर्मास मे किसी भी कारण से विहार नही करना।

८ दस प्रकार की समाचारी में से दो समाचारियों का पालन करना।

९. स्थंडिल के १० दोष-रहित भूमि हो तो ही परठना अन्यथा नही परठना।

१०. मकान का प्रमार्जन, बिलो को ढकना, बन्द करना आदि नही करना, न दरवाजे खोलना, न बन्द करना।

११. गृहस्थ की इच्छा बिना कुछ भी नही लेना या उन्हे अप्रीतिकर हो, ऐसा कुछ भी व्यवहार नही करना।

१२. मकान देते समय कोई पूछे—"तुम कितने साधु हो, कितना ठहरोगे" ऐसे भावों से पूछने पर नहीं ठहरना।

१३ अल्प समय भी अग्नि या दीपक जले या उसका प्रकाश आवे वहा नही ठहरना ।

१४ भिक्षु की १२ पडिमा तथा अन्य भद्र-महाभद्र आदि पडिमा नही करना ।

१५. गाव मे गोचरी के घरो को छह विभाग मे विभाजित करना, फिर एक दिन मे किसी एक विभाग मे ही गोचरी करना, छह दिनो के पूर्व पुन वहा गोचरी नही जाना ।

१६. अन्य कोई भिक्षु गोचरी जाए, उस विभाग मे नही जाना ।

१७. अतिक्रम आदि दोषो के संकल्पमात्र का भी गुरुचौमासी प्रायश्चित्त लेना ।

१८. किसी को दीक्षा न देना, किन्तु प्रतिबोध दे सकते हैं ।

१९. आख आदि का मैल नही निकालना ।

२०. वृद्धावस्था में जघाबल क्षीण होने पर विहार नही कहना, किन्तु अन्य सभी जिनकल्प की मर्यादाओ का पालन करना ।

इत्यादि और भी अनेक मर्यादाए हैं, जिन्हे भाष्यादि से अथवा अभि. राजेन्द्र कोष भाग ४ 'जिनकल्प' शब्द पृ १४७३ (१९) से जान लेना चाहिए ।

अभि. राजेन्द्र कोष मे जिनकल्प का अर्थ इस प्रकार किया है—

(१) जिना· गच्छनिर्गतसाधुविशेषा तेषा कल्प समाचार ।

जिनानामिव कल्पो जिनकल्प उग्रविहारविशेष.—उग्रविहारी गच्छनिर्गत साधु जिनकल्पी कहे जाते हैं और उनकी समाचारीमर्यादाओ को जिनकल्प कहा जाता है ।

इसलिये ही प्रस्तुत सूत्र मे उन्हे साप काट जाय तो भी चिकित्सा कराने का निषेध है ।

प्रस्तुत सूत्रविधान के अनुसार स्थविरकल्पी की सयमसाधना शरीरसापेक्ष या शरीरनिरपेक्ष दोनो प्रकार की होती है, किन्तु जिनकल्प-साधना शरीरनिरपेक्ष ही होती है ।

पांचवें उद्देशक का सारांश

सूत्र १-१० प्रवर्तिनी दो साध्वियो को साथ लेकर विचरण करे और तीन साध्वियो को साथ लेकर चातुर्मास करे ।

गणावच्छेदिका तीन साध्वियो को साथ लेकर विचरण करे एव चार साध्वियो को साथ लेकर चातुर्मास करे । अनेक प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिका सम्मिलित होवे तो भी उपर्युक्त सख्या के अनुसार ही प्रत्येक को रहना चाहिए ।

११-१२ प्रमुखा साध्वी के कालधर्म प्राप्त हो जाने पर शेष साध्विया अन्य योग्य को प्रमुखा बनाकर विचरण करे । योग्य न हो तो विहार करके शीघ्र अन्य संघाडे मे मिल जावे ।

१३-१४ प्रवर्तिनी-निर्दिष्ट योग्य साध्वी को पदवी देना, वह योग्य न हो तो अन्य योग्य साध्वी को पद पर नियुक्त करना ।

१५-१६ आचाराग निशीथसूत्र प्रत्येक साधु-साध्वी को अर्थ सहित कण्ठस्थ धारणा करना और उन्हे उपस्थित रखना चाहिए । आचार्यादि को भी यथासमय पूछताछ करते रहना चाहिए । यदि किसी को ये सूत्र विस्मृत हो जाये तो उसे किसी प्रकार के

पद पर न रखे न ही उसे प्रमुख बन कर विचरण करने की आज्ञा दे। यदि कोई रोगादि के कारण से सूत्र भूल जाय तो स्वस्थ होने पर पुन कण्ठस्थ करने के बाद पद आदि दिये जा सकते हैं।

सूत्र १७-१८ वृद्धावस्था वाले स्थविर के द्वारा ये कण्ठस्थ सूत्र भूल जाना क्षम्य है तथा पुन. याद करते हुए भी याद न होवे तो कोई प्रायश्चित्त नही है। वृद्ध भिक्षु कभी लेटे हुए या बैठे हुए सूत्र की पुनरावृत्ति, श्रवण या पृच्छा आदि कर सकते हैं।

१९ विशेष परिस्थिति के बिना साधु-साध्वी को परस्पर एक दूसरे के पास आलोचना, प्रायश्चित्त नही करना चाहिए।

२० साधु-साध्वी को परस्पर एक दूसरे का कोई भी सेवाकार्य नही करना चाहिए। आगमोक्त विशेष परिस्थितियो मे वे एक दूसरे की सेवापरिचर्या कर सकते हैं।

२१ साप काट जाय तो स्थविरकल्पी भिक्षु को मन्त्रचिकित्सा कराना कल्पता है, किन्तु जिनकल्पी को चिकित्सा करना या कराना नही कल्पता है। स्थविरकल्पी को उस चिकित्सा कराने का प्रायश्चित्त भी नही है। जिनकल्पी को ऐसा करने पर प्रायश्चित्त आता है।

उपसंहार

इस प्रकार इस उद्देशक मे—

सूत्र १-१० प्रवर्तिनी आदि के साथ विचरण करने वाली साध्वियो की सख्या का,
११-१२ प्रमुखा साध्वी के काल करने पर आवश्यक कर्तव्यो का,
१३-१४ प्रवर्तिनी-निर्दिष्ट या अन्य योग्य साध्वी को पद देने का,
१५-१८ आचारप्रकल्प कण्ठस्थ रखने का,
१९-२० साधु-साध्वी को परस्पर सेवा, आलोचना नही करने का,
२१ सर्पदशचिकित्सा का,
इत्यादि विषयो का कथन किया गया है।

॥ पांचवां उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठा उद्देशक

स्वजन-परिजन-गृह में गोचरी जाने का विधि-निषेध

१. भिक्खु य इच्छेज्जा नायविहिं एत्तए, नो से कप्पइ से थेरे अणापुच्छित्ता नायविहिं एत्तए।

कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता नायविहिं एत्तए।

थेरा य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ नायविहिं एत्तए।

थेरा य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ नायविहिं एत्तए।

जे तत्थ थेरेहिं अविइण्णे नायविहिं एइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा।

नो से कप्पइ अप्पसुयस्स अप्पागमस्स एगाणियस्स नायविहिं एत्तए।

कप्पइ से जे तत्थ बहुस्सुए बब्भागमे तेण सद्धिं नायविहिं एत्तए।

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे, पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे, कप्पइ से चाउलोदणे पडिगाहित्तए, नो से कप्पइ भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए।

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे, पच्छाउत्ते चाउलोदणे, कप्पइ से भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए, नो से कप्पइ चाउलोदणे पडिगाहित्तए।

तत्थ से पुव्वागमणेणं दो वि पुव्वाउत्ताइं कप्पइ से दोवि पडिगाहित्तए।

तत्थ से पुव्वागमणेणं दो वि पच्छाउत्ताइं नो से कप्पइ दो वि पडिगाहित्तए।

जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए।

जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते नो से कप्पइ पडिगाहित्तए।

१. भिक्षु यदि स्वजनो के घर गोचरी जाना चाहे तो स्थविरो से पूछे बिना स्वजनो के घर जाना नही कल्पता है।

स्थविरो से पूछकर स्वजनो के घर जाना कल्पता है।
स्थविर यदि आज्ञा दे तो स्वजनो के घर जाना कल्पता है।
स्थविर यदि आज्ञा न दे तो स्वजनो के घर पर जाना नही कल्पता है।

स्थविरो की आज्ञा के बिना यदि स्वजनों के घर जाए तो वे दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

अल्पश्रुत और अल्पआगमज्ञ अकेले भिक्षु और अकेली भिक्षुणी को स्वजनो के घर जाना नही कल्पता है।

किन्तु समुदाय मे जो बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ भिक्षु हो, उनके साथ स्वजनो के घर जाना कल्पता है।

ज्ञातिजन के घर मे निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो के आगमन से पूर्व चावल रंधे हुए हो और दाल पीछे से रंधे तो चावल लेना कल्पता है, किन्तु दाल लेना नहीं कल्पता है।

वहा आगमन से पूर्व दाल रधी हुए हो और चावल पीछे से रधे तो दाल लेना कल्पता है किन्तु चावल लेना नही कल्पता है।

वहा आगमन से पूर्व दाल और चावल दोनो रधे हुए हों तो दोनो लेने कल्पते हैं।

और दोनो बाद मे रधे हो तो दोनो लेने नही कल्पते हैं।

इस प्रकार ज्ञातिजन के घर भिक्षु के आगमन से पूर्व जो आहार अग्नि आदि से दूर रखा हुआ हो, वह लेना कल्पता है।

जो आगमन के बाद मे अग्नि से दूर रखा गया हो, वह लेना नही कल्पता है।

विवेचन—जिस प्रकार आहार लेने के लिए जाने की सामान्य रूप से गुरु-आज्ञा ली जाती है तो भी निशीथ उ ४ के अनुसार विगययुक्त आहार ग्रहण करने के लिए आचार्यादि की विशिष्ट आज्ञा लेना आवश्यक होता है। उसी प्रकार प्रस्तुत सूत्र में भिक्षाचरी हेतु सामान्य आज्ञा प्राप्त करने के अतिरिक्त अपने पारिवारिक लोगो के घरो मे गोचरी जाने के लिए विशिष्ट आज्ञा प्राप्त करने का विधान किया गया है।

जो भिक्षु बहुश्रुत है, वह आज्ञा प्राप्त करने के बाद स्वयं की प्रमुखता से ज्ञातिजनो के घरो में भिक्षार्थ जा सकता है। किन्तु जो भिक्षु अबहुश्रुत है एव अल्प दीक्षापर्याय वाला (तीन वर्ष से कम) है, वह आज्ञा प्राप्त करके भी स्वय की प्रमुखता से नही जा सकता, किन्तु किसी बहुश्रुत भिक्षु के साथ ही अपने ज्ञातिजनो के घर जा सकता है।

सूत्र मे "णायविहि" शब्द का प्रयोग है। उसमे ज्ञातिजनो के घर जाने के सभी प्रयोजन समाविष्ट है। अत गोचरी आदि किसी भी प्रयोजन से जाना हो तो उसके लिए इस सूत्रोक्त विधि का पालन करना आवश्यक है। उक्त विधि को भग करने पर वह यथायोग्य तप या छेद रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

सूत्र के उत्तरार्ध मे भिक्षाचरी सम्बन्धी विवेक निहित है। गवेषणा के ४२ दोषो मे एव आचारागसूत्र और दशवैकालिकसूत्र के पिडेषणा अध्ययन मे सूचित अनेक दोषो मे इस प्रकार का विवेक सूचित नही किया है। किन्तु ज्ञातिजनो के घर गोचरी जाने के विधान के साथ ही इस का विस्तृत विधान प्रस्तुत सूत्र मे एव दशा. द. ६ और दशा द ८ मे किया गया है। अतः यह एषणा का दोष नही है, किन्तु ज्ञातिजनों के घर से सम्बन्धित दोष है।

यहा इस सूत्र का आशय यह है कि ज्ञातिजनो के घर मे भक्ति की अधिकता या अनुराग की अधिकता रहती है। इसी कारण से आचा श्रु. २ अ. १ उ. ९ में भी इन घरो में गोचरी का समय न हुआ हो तो दूसरी बार जाने का निषेध किया है और निशीथ उ. २ में ज्ञातिजनो के घरों में दुबारा जाने पर प्रायश्चित्त कहा है। किन्तु ज्ञातिजनो के अतिरिक्त अन्य घरो मे दुबारा जाए तो यह निषेध एव प्रायश्चित्त नही है, क्योंकि एषणा के सामान्य नियमों मे यह नियम नहीं है।

इसके अतिरिक्त जिन घरो में अधिक भक्ति एव अनुराग हो तो उपलक्षण से वहा भी यह विवेक रखना आवश्यक समझ लेना चाहिए। क्योकि वहा भी ऐसे दोषो के लगने की सम्भावना तो रहती ही है।

इस सूत्रांश मे यह बताया गया है कि पारिवारिक लोगों के घर मे गोचरी के लिए प्रवेश करने के बाद कोई भी खाद्य पदार्थ निष्पादित हो या चुल्हे पर से चावल दाल या रोटी दूध आदि कोई भी पदार्थ हटाया जाए तो उसे नही लेना चाहिए। उस पदार्थ के हटाने मे साधु का निमित्त हो या न हो, ज्ञात कुल में ऐसे पदार्थ अग्राह्य है।

वहा घर मे प्रवेश करने के पहले ही जो पदार्थ निष्पन्न हो या चूल्हे पर से उतरा हुआ हो, वही लेना चाहिए।

अपरिचित या अल्पपरिचित घरो मे उक्त पदार्थ लेने का सूत्र मे निषेध नही है।

इसका कारण यह है कि अनुरागी ज्ञातिजन आदि भक्तिवश कभी साधु के निमित्त भी वह प्रवृत्ति कर सकते हैं जिससे अग्निकाय की विराघना होना सम्भव है, किन्तु अल्पपरिचित या अल्पानुरागी घरो में उक्त दोष की सम्भावना नही रहती है। अत· उन कुलो मे उक्त नियम की उपयोगिता नही है। इसीलिए यह विधान आगमो में केवल ज्ञातिजनो के कुल के साथ ही जोडा गया है।

आचार्य आदि के अतिशय

२. आयरिय-उवज्झायस्स गणंसि पंच अइसेसा पण्णत्ता, तं जहा—

१. आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सयस्स पाए निगिज्झिय-निगिज्झिय पप्फोडेमाणे वा पमज्जेमाणे वा नाइक्कमइ।

२. आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सयस्स उच्चार-पासवणं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ।

३. आयरिय-उवज्झाए पभू वेयावडियं, इच्छा करेज्जा, इच्छा नो करेज्जा।

४. आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा एगओ वसमाणे नाइक्कमइ।

५ आयरिय-उवज्झाए बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा एगओ वसमाणे नाइक्कमइ।

३. गणावच्छेइयस्स णं गणंसि दो अइसेसा पण्णत्ता, तं जहा—

१. गणावच्छेइए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा एगओ वसमाणे नाइक्कमइ।

२ गणावच्छेइए बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा एगओ वसमाणे नाइक्कमइ।

गण मे आचार्य और उपाध्याय के पाच अतिशय कहे गये हैं, यथा—

१. आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर धूल से भरे अपने पैरो से आकर के कपड़े से पोछें या प्रमार्जन करे तो मर्यादा (जिनाज्ञा) का उल्लघन नही होता है।

२. आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर मल-मूत्रादि का त्याग व शुद्धि करे तो मर्यादा का उल्लघन नही होता है।

३ सशक्त आचार्य या उपाध्याय इच्छा हो तो सेवा के कार्य करें और इच्छा न हो तो न करे, फिर भी मर्यादा का उल्लंघन नही होता है।

४. आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर किसी विशेष कारण से यदि एक-दो रात अकेले रहे तो भी मर्यादा का उल्लघन नही होता है।

५ आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के बाहर किसी विशेष कारण से यदि एक-दो रात अकेले रहे तो भी मर्यादा का उल्लघन नही होता है।

३. गण मे गणावच्छेदक के दो अतिशय कहे गये हैं, यथा—

१ गणावच्छेदक उपाश्रय के अन्दर (किसी विशेष कारण से) यदि एक-दो रात अकेले रहें तो मर्यादा का उल्लघन नही होता है।

२ गणावच्छेदक उपाश्रय के बाहर (किसी विशेष कारण से) यदि एक-दो रात अकेले रहे तो मर्यादा का उल्लघन नही होता है।

विवेचन—आचारकल्प की कुछ विशेषताओ का यहा "अतिशय" शब्द से निर्देश किया गया है। ठाणागसूत्र के पाचवे और सातवें अध्ययन मे भी आचार्य-उपाध्याय के पाच और सात अतिशय कहे गये हैं। वहा पाच अतिशय तो प्रस्तुत सूत्र के समान हैं और दो विशेष कहे गये हैं, यथा— (१) उपकरणातिशय और (२) भक्तपानातिशय। भाष्य मे इन्ही दो अतिशयो के स्थान पर पाच अतिशय विशेष कहे हैं, यथा—

भत्ते, पाणे, धुवणे, पसंसणा हत्थपायसोए य।
आयरिए अतिसेसा, अणातिसेसा अणायरिए॥ २२९॥

भाष्य गा २३० से २४६ तक इसका विवेचन किया गया है, उसका सारांश इस प्रकार है—

(१) क्षेत्र-काल के अनुकूल सर्वदोषमुक्त आहार आचार्य को देना,

(२) तिक्त कटुक अम्ल आदि रसो से रहित अचित्त जल आचार्य को देना,

(३) आचार्य के मनोनुकूल तनोनुकूल एव जनोनुकूल वस्त्रादि उन्हे देना एव मलिन हो जाने पर उनके उपकरण यथासमय प्रक्षालन कर शुद्ध करना।

(४) गम्भीर, मृदु, क्षमादि गुणो से सम्पन्न, अनेक सयमगुणो की खान, श्रुतवान्, कृतज्ञ, दाता, उच्चकुलोत्पन्न, उपद्रवो से रहित, शातमूर्ति, बहुश्रुत, तपस्वी इत्यादि गुणो मे से वे जिन गुणो से युक्त हो, उन विद्यमान गुणों से उनकी प्रशसा करना।

(५) हाथ, पांव, मुख, नयन का प्रक्षालन कर शुद्ध रखना।

भाष्यगाथा २३८ से २४६ तक दृष्टान्त देकर यह स्पष्ट किया है कि यदि आचार्य दृढ देह वाला हो, स्वाभाविक ही निर्मल देह वाला हो, तेजस्वी एव यशस्वी हो तो उपर्युक्त अतिशय के आचरणो का सेवन उन्हे नही करना चाहिए।

अन्य साधुओं को सामान्य आहार आदि से जीवन निर्वाह करना चाहिए, किन्तु रोगादि कारणो से सामान्य भिक्षु भी उक्त आचरणो को स्वीकार कर सकता है।

सूत्रोक्त पांच अतिशयों का तात्पर्य यह है—

(१) आचार्य आदि उपाश्रय के भीतर भी पांव का प्रमार्जन कर शुद्धि कर सकते है।

(२) ग्रामादि के बाहर शुद्ध योग्य स्थडिल के होते हुए भी वे उपाश्रय से सलग्न स्थडिल मे मलत्याग कर सकते हैं।

(३) गोचरी आदि अनेक सामूहिक कार्य या वस्त्रप्रक्षालन आदि सेवा के कार्य वे इच्छा हो तो कर सकते है अन्यथा शक्ति होते हुए भी अन्य से करवा सकते हैं।

(४-५) विद्या मन्त्र आदि के पुनरावर्तन हेतु अथवा अन्य किन्ही कारणो से वे उपाश्रय के किसी एकान्त भाग मे अथवा उपाश्रय से बाहर अकेले एक या दो दिन रह सकते हैं। इन विद्या मन्त्रो का उपयोग गृहस्थ हेतु करने का आगम मे निषेध है तथापि साधु साध्वी के लिए वे कभी इनका उपयोग कर सकते हैं।

इन अतिशयो का फलितार्थ यह है कि सामान्य भिक्षु उपर्युक्त विषयो मे इस प्रकार आचरण करे—

(१) उपाश्रय मे प्रवेश करते समय पावो का प्रमार्जन यदि आवश्यक हो तो उपाश्रय के बाहर ही कर ले।

(२) योग्य स्थडिल उपलब्ध हो और शारीरिक अनुकूलता हो तो उपाश्रय मे मलत्याग न करे।

(३) गुरु-आज्ञा होने पर या बिना कहे भी उन्हे सदा सेवा के कार्यों को करने मे प्रयत्नशील रहना चाहिये। शेष समय मे ही स्वाध्याय आदि करना चाहिये।

(४-५) रत्नाधिक गुरु के समीप या उनके दृष्टिगत स्थान मे ही सदा शयन-आसन करना चाहिए। किन्तु गीतार्थ-बहुश्रुत भिक्षु अनुकूलता-अनुसार एव आज्ञानुसार आचरण कर सकता है।

भाष्य मे इन विषयो पर विस्तृत विवेचन करते हुए अनेक गुण-दोषो एवं हानि-लाभ का कथन किया है। जिज्ञासु पाठक वहा देखे।

सूत्र मे आचार्य-उपाध्याय दोनो के पाच-पाच अतिशय कहे है और गणावच्छेदक के अन्तिम दो अतिशय द्वितीय सूत्र मे अलग से कहे गये है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम तीन अतिशय गणावच्छेदक के लिए आवश्यक नही होते हैं, क्योकि गणावच्छेदक-पद ऋद्धिसम्पन्न पद न होकर कार्यवाहक पद है। अत उनके लिये अन्तिम दो अतिशय ही पर्याप्त हैं। विशेष परिस्थिति मे तो कोई भी साधु या गणावच्छेदक उक्त सभी अतिशयो की प्रवृत्तियो का आचरण कर सकते हैं।

सामान्यतया आचार्य-उपाध्याय को अकेले रहने का निषेध उद्दे. ४ मे किया गया है। यहा अतिशय की अपेक्षा विधान है।

अगीतार्थों के रहने का विधि-निषेध और प्रायश्चित्त

४. से गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा (सन्निवेसंसि वा) एगवगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमण-पवेसाए (उवस्सए) नो कप्पइ बहूणं अगडसुयाणं एगयओ वत्थए।

अत्थि याइ केइ आयारपकप्पधरे, नत्थि णं केइ छेए वा परिहारे वा।

नत्थि याइं णं केइ आयारपकप्पधरे से संतरा छेए वा परिहारे वा।

५ से गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा (सन्निवेसंसि वा) अभिनिव्वगडाए अभिनिदुवाराए अभिनिक्खमण-पवेसाए (उवस्सए) नो कप्पइ बहूणं अगडसुयाणं एगयओ वत्थए।

अत्थि याइ णं केइ आयारपकप्पधरे, जे तत्तियं रयणिं संवसइ, नत्थि णं केइ छेए वा परिहारे वा।

नत्थि याइं णं केइआयारपकप्पधरे जे तत्तियं रयणि संवसइ, सव्वेसि तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा।

४ ग्राम यावत् राजधानी मे (सन्निवेश मे) एक प्राकार वाले, एक द्वार वाले और एक निष्क्रमण-प्रवेश वाले उपाश्रय मे अनेक अकृतश्रुत (अल्पज्ञ) भिक्षुओ को एक साथ रहना नही कल्पता है।

यदि उनमे कोई आचारप्रकल्पधर हो तो वे दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त के पात्र नही होते हैं।

यदि उनमे कोई आचारप्रकल्पधर न हो तो वे मर्यादा-उल्लघन के कारण दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त के पात्र होते है।

५ ग्राम यावत् राजधानी (सन्निवेश) मे अनेक प्राकार वाले, अनेक द्वार वाले और अनेक निष्क्रमण-प्रवेश वाले उपाश्रय मे अनेक अकृतश्रुत (अल्पज्ञ) भिक्षुओ को एक साथ रहना नही कल्पता है।

यदि कोई आचारप्रकल्पधर तीसरे दिन उनके साथ रहे तो वे दीक्षाछेद या तप रूप प्रायश्चित्त-के पात्र नही होते है।

यदि कोई आचार प्रकल्पधर तीसरे दिन भी वहा नही रहता हो तो उन सभी को उस मर्यादा-उल्लघन का तप या छेद प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—इन सूत्रो मे आचाराग एव निशीथसूत्र अर्थसहित कण्ठस्थ धारण नही करने वाले अबहुश्रुत भिक्षुओ को "अगडसुय"-अकृतश्रुत—कहा गया है। अर्थात् प्रमुख बनकर विचरण करने की योग्यताप्राप्ति के लिए (आवश्यक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आचाराग और निशीथसूत्र) का अध्ययन एव कण्ठस्थ धारण नही करने वाला भिक्षु आगमिक शब्दो मे "अगडसुय" कहा गया है।

ऐसे एक या अनेक भिक्षुओ के विचरण करने का निषेध उद्देशक तीन के प्रथम सूत्र मे किया

गया है। प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि किसी ग्रामादि मे ऐसे अकृतसूत्री भिक्षुओ को छोडकर बहुश्रुत भिक्षु विहार कर जाय तो वे अगीतार्थ भिक्षु वहा रह भी नही सकते।

इसी विषय को उपाश्रय की अवस्थिति के विकल्पो से सूत्र मे स्पष्ट किया गया है—

यदि उपाश्रय मे निकलने का तथा उसमे प्रवेश करने का मार्ग एक ही हो तो वहा 'अगडसुयो' (अगीतार्थ) को एक दिन भी रहना नही कल्पता है।

यदि उस उपाश्रय मे जाने-आने के अनेक मार्ग हो तो अगीतार्थों को एक या दो दिन रहना कल्पता है। तीसरे दिन रहने पर उन्हे प्रायश्चित्त आता है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक योग्य भिक्षु को यथासमय बहुश्रुत होने योग्य श्रुत का अध्ययन कर एव उन्हे कण्ठस्थ धारण कर पूर्ण योग्यतासम्पन्न हो जाना चाहिए, जिससे यथावसर विचरण एव गणधारण आदि किये जा सके। क्योकि इन सूत्रो मे अनेक अबहुश्रुतो के साथ मे रहने एव विचरण करने का स्पष्टत· निषेध किया गया है और साथ ही इस मर्यादा का भग करने वालो को प्रायश्चित्त का पात्र कहा गया है।

अत प्रत्येक नवदीक्षित योग्य भिक्षु का एव उनके गणप्रमुख आचार्य-उपाध्याय आदि का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वे अन्य रुचियो एव प्रवृत्तियो को प्रमुखता न देकर आगमोक्त अध्ययन-अध्यापन को प्रमुखता दे एव सयमविधियो मे पूर्ण कुशल बनने व बनाने का ध्यान रखे। आचारकुशल एव श्रुतसपन्न बने बिना किसी भी भिक्षु को अलग विचरने मे या अन्य कार्यों मे प्रवृत्त नही होना चाहिए।

अध्ययन सम्बन्धी आगमसम्मत अनेक प्रकार की जानकारी निशीथ उद्दे. १९ तथा व्यव. उद्दे ३ एव उद्दे. ५ के विवेचन में दी गई है। उसका ध्यानपूर्वक अध्ययन मनन कर आगमानुसार श्रुत-अध्ययन करने एव करवाने का प्रमुख लक्ष्य बनाना चाहिए। ऐसा करने पर ही जिनाज्ञा का यथोक्त पालन हो सकता है तथा साधक आत्माओ का एव जिनशासन का सर्वतोमुखी विकास हो सकता है।

अकेले भिक्षु के रहने का विधि-निषेध

६. से गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा (सन्निवेसंसि वा) अभिनिव्वगडाए अभिनिदुवाराए अभिनिक्खमण-पवेसणाए (उवस्सए) नो कप्पइ बहुसुयस्स बब्भागमस्स एगाणियस्स भिक्खुस्स वत्थए, किमंग पुण अप्पसुयस्स अप्पागमस्स ?

७. से गामंसि वा जाव रायहाणिसि वा (सन्निवेसंसि वा) एगवगडाए, एगदुवाराए, एग-निक्खमण-पवेसाए (उवस्सए) कप्पइ बहुसुयस्स बब्भागमस्स एगाणियस्स भिक्खुस्स वत्थए, उभओ काल भिक्खुभावं पडिजागरमाणस्स।

६ ग्राम यावत् राजधानी (सन्निवेश) मे अनेक वगडा वाले, अनेक द्वार वाले और अनेक निष्क्रमण-प्रवेश वाले उपाश्रय मे अकेले बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ भिक्षु को भी रहना नही कल्पता है, अल्पश्रुत और अल्पआगमज्ञ अकेले भिक्षु को वसना कैसे कल्प सकता है ? अर्थात् नही कल्पता है।

७ ग्राम यावत् राजधानी (सन्निवेश) मे एक वगडा वाले, एक द्वार वाले, एक निष्क्रमण-प्रवेश वाले उपाश्रय मे अकेले बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ भिक्षु को दोनो समय संयमभाव की जागृति रखते हुए रहना कल्पता है ।

विवेचन—पूर्व सूत्रद्विक मे अकृतसूत्री-अगीतार्थ भिक्षुओ के निवास से सम्बन्धित कथन किया गया है और प्रस्तुत सूत्रद्विक मे बहुश्रुत-गीतार्थ अकेले भिक्षु को ग्रामादि मे किस प्रकार के उपाश्रय मे किस प्रकार से रहना या नही रहना, यह विधान किया गया है ।

भाष्य मे अगीतार्थ मे सम्बन्धित सूत्रो का और इन एकाकी भिक्षुओं से सम्बन्धित सूत्रो का स्पष्टीकरण करते हुए इन्हे गच्छ की निश्रागत होना कहा है और "एगवगडा" आदि विशेषणो को उपाश्रयो से सम्बन्धित करके विस्तृत विवेचन किया है । किन्तु उपलब्ध प्रतियो मे 'उवस्सय' शब्द लिपिदोष से छूट गया है, ऐसा प्रतीत होता है । इसीलिए यहा 'उवस्सय' शब्द को रखते हुए अर्थ एव विवेचन किया है ।

प्रस्तुत सूत्रद्विक से यह फलित होता है कि—

१ बहुश्रुत एकाकी विचरण करने वाले भिक्षु को अनेक द्वार एव अनेक मार्ग वाले उपाश्रय मे निवास नही करना चाहिए ।

२ किन्तु एक द्वार, एक मार्ग वाले उपाश्रय मे बहुश्रुत भिक्षु रह सकता है ।

३ एकलविहारी भिक्षु को उभयकाल (सोते और उठते समय अथवा दिन मे और रात्रि मे) वैराग्य एव सयमगुणो को पुष्ट करने वाली धर्म-जागरणा से धर्म-भावना की वृद्धि करते हुए रहना चाहिए ।

४ अल्पश्रुत अल्प-आगमज्ञ—अगीतार्थ भिक्षु को किसी भी प्रकार के उपाश्रय मे अकेला नही रहना चाहिए ।

गीतार्थ बहुश्रुत भिक्षु को अकेला रहना तो इस सूत्र से या अन्य आगम-विधानो से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है, तथापि किस उपाश्रय मे निवास करना या न करना अथवा किस तरह जागरूक रहना, यह विधान करना इन सूत्रो का आशय है ।

विभिन्न प्रकार के उपाश्रयो मे गीतार्थ भिक्षु के अकेले रहने पर अथवा अनेक अगीतार्थों के रहने पर किन-किन दोषो की सम्भावना रहती है, यह समझने के लिए जिज्ञासुओ को भाष्य का अवलोकन करना चाहिये ।

उसी आशय का कुछ स्पष्टीकरण आगे के सूत्रो मे स्वय आगमकार ने किया है ।

व्यव. भाष्य मे इस उद्देशक का सार गुजराती भाषा मे दिया है, उसमें भी इन चारो सूत्रो का अर्थ उपाश्रय से सबधित किया है ।

ग्रामादि से सबधित अर्थ करना संगत भी नही होता है, क्योंकि प्रतिमाधारी जिनकल्पी आदि एकलविहार साधना करने वालो के तथा परिस्थितिक एकलविहार करने वालो के विचरण मे ऐसे विधान का पालन होना भी अशक्य होता है । अत: भाष्यकारकृत अर्थ विवेचन को प्रामाणिक मानकर उपाश्रय से सबधित अर्थ करना ही उचित है एवं आगमसम्मत है ।

शुक्र-पुद्गल निकालने का प्रायश्चित्तसूत्र

८. जत्थ एए बहवे इत्थीओ य पुरिसा य पण्हावेंति, तत्थ से समणे निग्गंथे अन्नयरंसि अचित्तंसि सोयंसि सुक्कपोग्गले निग्घाएमाणे हत्थकम्मपडिसेवणपत्ते आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

९. जत्थ एए बहवे इत्थीओ य पुरिसा य पण्हावेंति तत्थ से समणे णिग्गंथे अन्नयरंसि अचित्तंसि सोयंसि सुक्कपोग्गले निग्घाएमाणे मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

८ जहां पर ये अनेक स्त्री-पुरुष मैथुनसेवन करते है, वहा जो श्रमण निर्ग्रन्थ हस्तकर्म के सकल्प से किसी अचित्त स्रोत मे शुक्रपुद्गल निकाले तो उसे अनुद्घातिक मासिक प्रायश्चित्त आता है।

९ जहा पर ये अनेक स्त्री-पुरुष मैथुनसेवन करते है, वहा जो श्रमण निर्ग्रन्थ मैथुनसेवन के सकल्प से किसी अचित्त स्रोत मे शुक्र-पुद्गल निकाले तो उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन—एकाकी भिक्षु के रहने के स्थानसबधी एव कल्पसबधी विधि-निषेध के अनतर इन सूत्रो मे ब्रह्मचर्य महाव्रत के भग करने की स्थिति का दो प्रकारो से कथन किया गया है। इस प्रकार की दूषित प्रवृत्ति की सभावना एकात स्थान मे ही अधिक सभव रहती है। यदि अनेक अगीतार्थ भिक्षु गीतार्थ की निश्रा बिना रहते हो तो गीतार्थ का सरक्षण न होने से उनमे भी ऐसी दूषित प्रवृत्ति का होना सभव है तथा गीतार्थ भिक्षु भी यदि अकेला रहे तो एकात स्थान मे सूत्रोक्त दूषित प्रवृत्ति की अधिक सभावना रहती है। इसलिए अगीतार्थ विहार और एकाकी विहार सबधी सूत्र के अनतर ही यह प्रायश्चित्त विधायक सूत्र कहा गया है।

दशवैकालिकसूत्र चूलिका २ गा १० मे भी परिस्थितिवश एकलविहार का विधान प्रथम-द्वितीय चरण मे करने के साथ ही शास्त्रकार ने तृतीय-चतुर्थ चरण मे पापो के परित्याग करने की और कामभोगो मे आसक्त न होते हुए विचरण करने की शिक्षा दी है। अत सामान्य तरुण साधको को और विशेषकर एकाकी भिक्षुओ को इस विषय में विशेष सावधान रहना चाहिए। अर्थात् आगम-स्वाध्याय आदि के द्वारा सयम भावो की अत्यधिक पुष्टि करते हुए रहना चाहिए।

गच्छस्थित साधुओ के उक्त प्रवृत्ति करने मे गच्छ की या गच्छस्थित साधुओ की लज्जा आदि के कारण भी कुछ सुरक्षा हो जाती है, किन्तु एकाकी भिक्षु के लिये उक्त सूत्रगत दूषित प्रवृत्ति के करने मे पूर्ण स्वतत्रता रहती है।

दोनो सूत्रो मे कही गई प्रवृत्ति को करने मे भिक्षु को किसी व्यक्ति या स्त्री की आवश्यकता नही होती है, क्योकि दोनो सूत्रो मे अचित्त स्रोत (स्थान) का कथन है।

वह अचित्त स्थान कोई भी हो सकता है, किन्तु विचारो की परिणति एव प्रवृत्ति मे हस्तकर्म और मैथुनकर्म के दोष की भिन्नता होने से उसका प्रायश्चित्त अलग-अलग कहा गया है।

उक्त दूषित प्रवृत्ति के सकल्पो से बचने के लिए भिक्षु को निम्न सावधानिया भी रखनी चाहिए—

(१) दूध-दही, घृत, मिष्टान्न, मावा आदि पौष्टिक पदार्थों का सेवन नही करना एव बादाम पिस्ता आदि मेवे के पदार्थों का भी त्याग करना।

कभी अत्यावश्यक हो तो इन पदार्थों को अल्पमात्रा मे लेना और उनका अनेक दिनो तक निरतर सेवन नही करना।

(२) एक महीने मे कम मे कम चार दिन आयंबिल या उपवासादि तपस्या अवश्य करना।

(३) सदा ऊनोदरी करना अर्थात् किसी भी समय परिपूर्ण भोजन नही करना।

(४) शाम के समय आहार नही करना या अत्यल्प करना।

(५) स्वास्थ्य अनुकूल हो तो एक बार से अधिक आहार नही करना अथवा दो बार से अधिक नही करना।

(६) एक बार के आहार मे भी द्रव्यो की अल्पतम मर्यादा करना।

(७) आहार मे मिर्च-मसालो की मात्रा अत्यल्प लेना, अचार, अथाणा आदि का सेवन नही करना।

(८) तले हुए खाद्य पदार्थों का सेवन नही करना।

(९) चूर्ण या खट्टे पदार्थों का सेवन नही करना।

(१०) रासायनिक औषधियो या ऊष्मावर्धक औषधियों का सेवन नही करना। सभवत अन्य औषध का सेवन भी नही करना।

(११) महिने मे कम से कम १०-१५ दिन पोरिसी करना एव कम से कम १५ दिन रूक्ष आहार या सामान्य आहार करना अर्थात् विगय का त्याग करना।

(१२) खाद्य और पेय पदार्थ अत्यत उष्ण हो तो शीतल करके खाना या पीना, चाय काफी का सेवन नही करना।

(१३) स्त्रियो का निकट सपर्क नही करना एव उनके अगोपाग और रूप को देखने की रुचि नही रखना।

(१४) दिन को नही सोना।

(१५) भोजन के बाद कमर झुकाकर नही बैठना और न ही सोना।

(१६) विहार या भिक्षाचरी आदि श्रम अवश्य करना अथवा तपश्चर्या या खड़े रहने की प्रवृत्ति रखना।

(१७) उत्तराध्ययनसूत्र, आचारागसूत्र, सूयगडागसूत्र एव दशवैकालिकसूत्र का स्वाध्याय, वाचना, अनुप्रेक्षा आदि करते रहना।

(१८) नियमित भक्तामरस्तोत या प्रभुभक्ति एव प्राणायाम अवश्य करना।

(१९) सोते समय और उठते समय कुछ देर आत्मचिन्तन अवश्य करना।

(२०) क्रोध के प्रसग उपस्थित होने पर मौन रखना, आवेशयुक्त न बोलने का अभ्यास करना।

(२१) यथासमय स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग अवश्य करना।

प्रश्नव्याकरणसूत्र मे भी इस विषय मे निम्न सूचना की गई है—

ब्रह्मचर्य का अनुपालन करने वाले पुरुष को इन कार्यों का त्याग करना चाहिए—

विषयराग, स्नेहराग, द्वेष और मोह की वृद्धि करने वाला प्रमाद तथा पार्श्वस्थ-शिथिलाचारी साधुओ का शील-आचार, घृतादि की मालिश करना, तेल लगाकर स्नान करना, बार-बार बगल, शिर, हाथ-पैर और मु ह धोना, मर्दन करना, पैर आदि दबाना, पगचम्पी करना, परिमर्दन करना, सारे शरीर को मलना, विलेपन करना, सुगन्धित चूर्ण-पाउडर से शरीर को सुवासित करना, अगर आदि का धूप देना, शरीर को सजाना, सुशोभित बनाना, बाकुशिक कर्म करना, नखो, केशों एव वस्त्रो को सवारना, हसी-मजाक करना, विकारयुक्त भाषण करना, गीत, वादित्र सुनना, नटो, नृत्यकारो, रस्से पर खेल दिखलाने वालो और कुश्तीबाजो का तमाशा देखना तथा इसी प्रकार की अन्य बाते जिनसे तपश्चर्या, सयम एव ब्रह्मचर्य का आशिक विनाश या पूर्णत: विनाश होता है, वैसी समस्त प्रवृत्तियो का ब्रह्मचारी पुरुष को सदैव के लिए त्याग कर देना चाहिए।

इन त्याज्य व्यवहारो के साथ आगे कहे जाने वाले व्यापारो से अन्तरात्मा को भावित करना चाहिये, यथा—

स्नान नही करना, दन्तधावन नही करना, जमे हुए या इससे भिन्न मैल को धारण करना, मौनव्रत धारण करना, केशो का लु चन, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, अचेल (वस्त्ररहित) होना अथवा अल्प-वस्त्र धारण करना, भूख-प्यास सहना, अल्प उपधि रखना, सर्दी-गर्मी सहना, काष्ठ की शय्या या जमीन पर आसन करना, भिक्षादि के लिए गृहस्थ के घर मे जाना और प्राप्ति या अप्राप्ति को समभाव से सहना, मान-अपमान-निन्दा को एव दशमशक के क्लेश को सहन करना, द्रव्यादि सम्बन्धी अभिग्रह करना, तप तथा मूलगुण आदि एव विनय प्रवृत्तियो से अन्त.करण को भावित करना, जिससे ब्रह्मचर्यव्रत अत्यन्त दृढ हो।

गच्छगत और एकाकी विहारी सभी तरुण भिक्षुओ को ये सावधानिया रखना अत्यत हितकर हैं। इन सावधानियो से युक्त जीवन व्यतीत करने पर प्रस्तुत सूत्रोक्त दूषित स्थिति के उत्पन्न होने की प्राय सभावना नही रहती है।

सूत्रगत दूषित प्रवृत्ति से भिक्षु का स्वास्थ्य एव सयम दूषित होता है एव पुण्य क्षीण होकर सर्वथा दु खमय जीवन बन जाता है। अत. सूचित सभी सावधानियो के साथ शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

अन्य-गण से आये हुए को गण में सम्मिलित करने का निषेध

१०. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा निग्गंथि अण्णगणाओ आगयं खुयायार, सबलायारं, भिन्नायारं, संकिलिट्ठायारं तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता अपडिक्कमावेत्ता, अनिंदावेत्ता, अगरहावेत्ता, अविउट्टावेत्ता, अविसोहावेत्ता, अकरणाए अणब्भुट्ठावेत्ता, अहारिहं पायच्छित्तं

अपडिक्कमावेत्ता उवट्ठावेत्तए वा, सभुंजित्तए वा, संवसित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

११. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा निग्गंथं अन्नगणाओ आगयं खुयायारं जाव संकिलिट्ठायारं, तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता जाव अहारिहं पायच्छित्तं अपडिवज्जावेत्ता उवट्ठावेत्तए वा सभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तस्स इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१०. खण्डित, शबल, भिन्न और सक्लिष्ट आचार वाली अन्य गण से आई हुई निर्ग्रन्थी को सेवित दोष की आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, व्युत्सर्ग एव आत्म-शुद्धि न करा लें और भविष्य मे पुन पापस्थान सेवन न करने की प्रतिज्ञा कराके दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार न करा ले तब तक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को उसे पुन चारित्र मे उपस्थापित करना, उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार करना और साथ मे रखना नही कल्पता है तथा उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना भी नही कल्पता है।

११ खण्डित यावत् सक्लिष्ट आचार वाले अन्य गण से आये हुए निर्ग्रन्थ को सेवित दोष की आलोचना यावत् दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार न करा लें तब तक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को उसे पुन: चारित्र मे उपस्थापित करना, उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार करना और साथ मे रखना नहीं कल्पता है तथा उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना भी नही कल्पता है।

विवेचन—ब्रह्मचर्यभग आदि के कारण कोई साधु-साध्वी स्वत गच्छ छोडकर किसी के पास आवे अथवा गच्छ वालो के द्वारा गच्छ से निकाल दिये जाने पर आवे तो उसे रखने का विधि-निषेध प्रस्तुत सूत्रो मे किया गया है।

क्षत-आचार आदि शब्दो का स्पष्टार्थ तीसरे उद्देशक मे देखें।

सूत्र मे दूषित आचार वाले साधु-साध्वी को उपस्थापित करने का कहा गया है, साथ ही आलोचना, प्रायश्चित्त के द्वारा उसकी शुद्धि करना भी आवश्यक कहा है।

इस प्रकार शुद्धि करके उपस्थापना करने के बाद ही उसके साथ आहार सहनिवास आदि किये जा सकते हैं और तभी उसके लिए आचार्य, उपाध्याय या गुरु का निर्देश किया जा सकता है।

सूत्र में आचार्य, उपाध्याय का निर्देश करने के लिए या उनकी निश्रा स्वीकार करने के लिये "दिस वा अणुदिस वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा" शब्दो का प्रयोग किया गया है। उन शब्दो मे क्षताचार वाले भिक्षु को आचार्य आदि पद देने-लेने का अर्थ करना उचित नही है। क्योकि अक्षत-आचार वाले भिक्षु को ही आगम में आचार्य आदि पदो के योग्य कहा गया है।

अत. दिशा, अनुदिशा का उद्देश करने का तात्पर्य यह समझना चाहिए कि उस उपस्थापित साधु या साध्वी के आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्तिनी कौन हैं, यह निर्देश करना। भाष्यकार ने भी यही अर्थ इन शब्दों का किया है।

प्रस्तुत सूत्रद्वय के स्थान पर लिपिदोष आदि कारणो से विभिन्न प्रतियो के मूल पाठो में भिन्नता हो गई है।

कही पर साध्वी के दो सूत्र है, कही पर साधु-साध्वी के चार सूत्र हैं। किन्तु भाष्यव्याख्या के आधार से प्रथम साध्वी का और द्वितीय साधु का सूत्र रखा गया है।

छट्ठे उद्देशक का सारांश

सूत्र १ — ज्ञातिजनो के घरो मे जाने के लिये आचार्यादि की विशिष्ट आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए। अगीतार्थ या अबहुश्रुत भिक्षु को अकेले नही जाना चाहिए, गीतार्थ भिक्षु के साथ मे ही जाना चाहिए। वहा घर मे पहुचने के पूर्व बनी हुई वस्तु ही लेनी चाहिए, किन्तु बाद मे निष्पन्न हुई वस्तु नही लेनी चाहिए।

२-३ — आचार्य-उपाध्याय के आचार सम्बन्धी पाच अतिशय (विशेषताए) होते हैं और गणावच्छेदक के दो अतिशय होते है।

४-५ — अकृतसूत्र (अगीतार्थ) अनेक साधुओ को कही निवास करना भी नही कल्पता है, किन्तु परिस्थितिवश उपाश्रय मे एक-दो रात रह सकते है, अधिक रहने पर वे सभी प्रायश्चित्त के पात्र होते है।

६-७ — अनेक वगड, द्वार या मार्ग वाले उपाश्रय मे एकाकी भिक्षु को नही रहना चाहिए और एक वगड, द्वार या मार्ग वाले उपाश्रय मे भी उभयकाल धर्मजागरणा करते हुए रहना चाहिए।

८-९ — स्त्री के साथ मैथुनसेवन न करते हुए भी हस्तकर्म के परिणामो से और कुशील-सेवन के परिणामो से शुक्रपुद्गलो के निकालने पर भिक्षु को क्रमश गुरुमासिक या गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

१०-११ — अन्य गच्छ से आये हुए क्षत-आचार वाले साधु-साध्वी को पूर्ण आलोचना, प्रायश्चित्त कराने के साथ उपस्थापित किया जा सकता है, उसके साथ आहार या निवास किया जा सकता है और उसके आचार्य, उपाध्याय, गुरु आदि की निश्रा निश्चित्त की जा सकती है।

उपसंहार

इस उद्देशक मे—

सूत्र १ — ज्ञातकुल मे प्रवेश करने का,
२-३ — आचार्यादि के अतिशयो का,
४-५ — गीतार्थ अगीतार्थ भिक्षुओ के निवास का,
६-७ — एकलविहारी भिक्षु के निवास का,
८-९ — शुक्रपुद्गल निष्कासन के प्रायश्चित्त का,
१०-११ — क्षताचार वाले आए हुए साधु-साध्वियो को रखने का,
इत्यादि विषयो का कथन किया गया है।

॥ छट्ठा उद्देशक समाप्त ॥

सातवां उद्देशक

अन्य-गण से आई साध्वी के रखने में परस्पर पृच्छा

१. जे निग्गथा य निग्गथीओ य संभोइया सिया, नो कप्पइ निग्गंथीणं निग्गथे अणापुच्छित्ता निग्गंथि अन्नगणाओ आगयं खुयायारं जाव संकिलिट्ठायारं तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता जाव अहारिहं पायच्छित्तं अपडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा, वाएत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, संभुंजित्तए वा, संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा, अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

२. कप्पइ निग्गथाणं निग्गंथीओ आपुच्छित्ता वा, अणापुच्छित्ता वा, निग्गंथीं अन्नगणाओ आगयं खुयायारं जाव संकिलिट्ठायारं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता जाव पायच्छित्तं पडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा, वाएत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, संभुंजित्तए वा, संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा, अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा तं च निग्गंथीओ नो इच्छेज्जा, सयमेव नियं ठाणं।

१ जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिया साम्भोगिक हैं और यदि किसी निर्ग्रन्थ के समीप कोई अन्य गण से खण्डित यावत् संक्लिष्ट आचार वाली निर्ग्रन्थी आए तो निर्ग्रन्थ को पूछे बिना और उसके पूर्वसेवित दोष की आलोचना यावत् दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार कराये बिना उससे प्रश्न पूछना, उसे वाचना देना, चारित्र मे पुन उपस्थापित करना, उसके साथ बैठकर भोजन करना और साथ मे रखना नही कल्पता है तथा उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना भी नही कल्पता है।

२ निर्ग्रन्थ के समीप यदि कोई अन्य गण से खण्डित यावत् संक्लिष्ट आचार वाली निर्ग्रन्थी आए तो निर्ग्रन्थियो को पूछकर या बिना पूछे भी सेवित दोष की आलोचना यावत् दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार कराके उससे प्रश्न पूछना, उसे वाचना देना, चारित्र मे पुन उपस्थापित करना, उसके साथ बैठकर भोजन करने की और साथ रखने की आज्ञा देना कल्पता है तथा उसे अल्पकाल की दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना कल्पता है, किन्तु यदि निर्ग्रन्थिया उसे न रखना चाहे तो उसे चाहिए कि वह पुन. अपने गण मे चली जाए।

विवेचन—पूर्व उद्देशक मे खण्डित आचार वाले निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के अन्य गण से आने पर उसके आलोचना प्रायश्चित्त करने का विधान किया गया है और प्रस्तुत सूत्रद्वय मे केवल साध्वी के आने पर साम्भोगिक श्रमण या श्रमणी को पूछने सम्बन्धी विधान किया गया है।

यदि निर्ग्रन्थी के पास ऐसी साध्वी आवे तो वह अपने साम्भोगिक साधुओं को अर्थात् आचार्य-उपाध्याय आदि को पूछकर, उनकी आज्ञा होने पर ही उस साध्वी को रख सकती है, उसे वाचना देना-लेना कर सकती है, उपस्थापित कर सकती है अथवा उसके साथ आहार या साथ मे बैठना आदि व्यवहार कर सकती है। किन्तु पूछे बिना, सलाह लिए बिना ऐसी साध्वी के साथ उक्त कार्य करना

या निर्णायक उत्तर देना नही कल्पता है। आचार्य आदि यदि अन्यत्र हो तो उनकी आज्ञा प्राप्त होने तक प्रतीक्षा करनी चाहिए।

यदि निर्ग्रन्थ के पास अर्थात् आचार्यादि के पास ऐसी साध्वी आए तो वे उसके लिये साध्वियो को अर्थात् प्रवर्तिनी को पूछकर निर्णय ले सकते है अथवा कभी बिना पूछे भी निर्णय कर उस साध्वी को प्रवर्तिनी के सुपुर्द कर सकते हैं और उस साध्वी के इत्वरिक आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्तिनी का निर्देश भी कर सकते हैं।

उसके बाद विषम प्रकृति आदि किसी भी कारण से प्रवर्तिनी उसे न रख सके तो उसे मुक्त कर देना चाहिए, जिससे वह स्वत अपने पूर्वस्थान मे चली जावे।

निर्ग्रन्थी के लिए आचार्य आदि को पूछना आवश्यक इसलिए है कि वे उसके छल-प्रपचो को या आने वाले विघ्नो को जान सकते हैं और उस साध्वी के लक्षणो से उसके भविष्य को भी जान सकते हैं।

आचार्यादि के द्वारा रखी गई साध्वी को यदि प्रवर्तिनी नही रखती हो तो उसका कारण यह हो सकता है कि पूर्व प्रवर्तिनी के साथ उनकी मित्रता हो या शत्रुता हो अथवा उस साध्वी से किसी अनिष्ट का भय हो, इत्यादि अनेक कारण भाष्य मे विस्तार से बताये गये है।

सामान्यतया तो प्रवर्तिनी आदि की सलाह लेकर ही साध्वी को रखना चाहिए।

सम्बन्धविच्छेद करने सम्बन्धी विधि-निषेध

३. जे निग्गंथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया, नो ण कप्पइ निग्गथाण पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए। कप्पइ णं पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।

जत्थेव अण्णमण्णं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—"अहं णं अज्जो ! तुमए सद्धि इममि कारणम्मि पच्चक्खं पाडिएक्क संभोइयं विसभोगं करेमि।"

से य पडितप्पेज्जा, एवं से नो कप्पइ पच्चक्ख पाडिएक्कं सभोइयं विसभोग करेत्तए। से य नो पडितप्पेज्जा, एवं से कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं सभोइयं विसंभोग करेत्तए।

४. जे निग्गथा य निग्गथीओ य संभोइया सिया, नो णं कप्पइ निग्गथीण पच्चक्ख पाडिएक्क सभोइयं विसंभोगं करेत्तए। कप्पइ णं पारोक्ख पाडिएक्क संभोइय विसभोग करेत्तए।

जत्थेव ताओ अप्पणो आयरिय-उवज्झाए पासेज्जा तत्थेव एव वएज्जा—"अह णं भंते ! अमुगीए अज्जाए सद्धि इमम्मि कारणम्मि पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइय विसंभोगं करेमि।"

सा य पडितप्पेज्जा, एव से नो कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए। सा य नो पडितप्पेज्जा एवं से कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए।

३ जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिया साभोगिक हैं, उनमे निर्ग्रन्थ को परोक्ष मे साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके विसम्भोगी करना नही कल्पता है, किन्तु प्रत्यक्ष में साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करना कल्पता है।

जब एक दूसरे से मिले तब इस प्रकार कहे कि—"हे आर्य ! मैं अमुक कारण से तुम्हारे साथ साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके तुम्हे विसम्भोगी करता हूँ।"

इस प्रकार कहने पर वह यदि पश्चात्ताप करे तो प्रत्यक्ष मे भी उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करना नही कल्पता है। यदि वह पश्चात्ताप न करे तो प्रत्यक्ष मे उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करना कल्पता है।

४ जो निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थिया साम्भोगिक है, उनमे निर्ग्रन्थी को प्रत्यक्ष मे साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके विसम्भोगी करना नही कल्पता है।

किन्तु परोक्ष मे साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसभोगी करना कल्पता है।

जब वे अपने आचार्य या उपाध्याय की सेवा मे पहुचे तब उन्हे इस प्रकार कहे कि—'हे भते! मैं अमुक आर्या के साथ अमुक कारण से परोक्ष रूप मे साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करना चाहती हू।"

तब वह निर्ग्रन्थी यदि (आचार्य-उपाध्याय के समीप अपने सेवितदोष का) पश्चात्ताप करे तो उसके साथ परोक्ष मे भी साम्भोगिक व्यवहार बन्द करना व उसे विसम्भोगी करना नही कल्पता है। यदि वह पश्चात्ताप न करे तो परोक्ष मे उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार बन्द करके उसे विसम्भोगी करना कल्पता है।

विवेचन—इन दो सूत्रो मे साम्भोगिक व्यवहार के विच्छेद करने की विधि बताई गई है। भिक्षु को यदि भिक्षु के साथ व्यवहार बन्द करना हो तो उसके समक्ष दोषो का स्पष्ट कथन करते हुए वे व्यवहार बन्द करने को कह सकते है। सूत्र मे प्रयुक्त "भिक्षु" शब्द से यहा "आचार्य" समझना चाहिए। क्योकि आचार्य ही गच्छ के अनुशास्ता होते है। उन्हे जानकारी दिए बिना किसी भी साधु को अन्य साधु के साथ व्यवहार बन्द करना उचित नही है।

साध्वियो को साधु के समक्ष अर्थात् आचार्यादि के समक्ष निवेदन करना आवश्यक होता है, किन्तु आचार्यादि साधु-साध्वियो की सलाह लिये बिना ही किसी भी साधु-साध्वी को असाम्भोगिक कर सकते है।

भिक्षु विसभोग किए जाने वाले साधुओ के समक्ष आचार्यादि को कहे और साध्विया विसभोग की जाने वाली साध्वियो की अनुपस्थिति मे आचार्यादि से कहे। तब वे उनसे पूछ-ताछ करें, यह दोनो सूत्रो मे आये प्रत्यक्ष और परोक्ष-विसभोग का तात्पर्य है।

इस प्रकार निवेदन के पश्चात् सदोष साधु या साध्वी अपने दोषो का पश्चात्ताप करके सरलता एव लघुता धारण कर ले तो उसे प्रायश्चित्त देकर उसके साथ सबध कायम रखा जा सकता है। पश्चात्ताप न करने पर सबंधविच्छेद कर दिया जाता है।

ठाणागसूत्र अ. ३ तथा अ ९ मे सभोगविच्छेद करने के कारण कहे गये हैं और भाष्य मे भी ऐसे अनेक कारण कहे हैं।

उनका सारांश यह है कि १. महाव्रत, समिति, गुप्ति एव समाचारी में उपेक्षापूर्वक चौथी

बार दोष लगाने पर, २. पार्श्वस्थादि के साथ बारम्बार ससर्ग करने पर तथा ३ गुरु आदि के प्रति विरोधभाव रखने पर उस साधु-साध्वी के साथ सबधविच्छेद कर दिया जाता है ।

प्रव्रजित करने आदि के विधि-निषेध

५. नो कप्पइ निग्गथाणं निग्गथीं अप्पणो अट्ठाए पव्वावेत्तए वा, मुंडावेत्तए वा, सेहावेत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, संवसित्तए वा, संभु जित्तए वा, तीसे इत्तरिय दिस वा, अणुदिस वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

६. कप्पइ निग्गंथाणं निग्गंथिं अन्नेसिं अट्ठाए पव्वावेत्तए वा जाव संभुंजित्तए वा, तीसे इत्तरिय दिसं वा, अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

७. नो कप्पइ निग्गंथीणं निग्गथ अप्पणो अट्ठाए पव्वावेत्तए वा जाव सभुंजित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिस वा अणुदिस वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

८. कप्पइ निग्गंथीण निग्गथ अण्णेसिं अट्ठाए पव्वावेत्तए वा जाव सभंजित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

५ निर्ग्रन्थी को अपनी शिष्या बनाने के लिए प्रव्रजित करना, मुडित करना, शिक्षित करना, चारित्र मे पुन· उपस्थापित करना, उसके साथ रहना और साथ बैठकर भोजन करने के लिए निर्देश करना निर्ग्रन्थ को नही कल्पता है तथा अल्पकाल के लिए उसके दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना एव उसे धारण करना नही कल्पता है ।

६ अन्य की शिष्या बनाने के लिए किसी निर्ग्रन्थी को प्रव्रजित करना यावत् साथ बैठकर भोजन करने के लिए निर्देश करना निर्ग्रन्थ को कल्पता है तथा अल्पकाल के लिए उसकी दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना एव उसे धारण करना कल्पता है ।

७ निर्ग्रन्थ को अपना शिष्य बनाने के लिए प्रव्रजित करना यावत् साथ बैठकर भोजन करने के लिए निर्देश करना निर्ग्रन्थी को नही कल्पता है तथा अल्पकाल के लिए उसकी दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना एव उसे धारण करना नही कल्पता है ।

८ निर्ग्रन्थ को अन्य का शिष्य बनाने के लिए प्रव्रजित करना, साथ बैठकर भोजन करने के लिए निर्देश करना निर्ग्रन्थी को कल्पता है तथा अल्पकाल के लिए उसकी दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना एव उसे धारण करने के लिए अनुज्ञा देना कल्पता है ।

विवेचन—सामान्यतया साधु की दीक्षा आचार्य, उपाध्याय के द्वारा एव साध्वी की दीक्षा आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्तिनी के द्वारा दी जाती है ।

तथापि कभी कोई गीतार्थ साधु किसी भी साधु या साध्वी को दीक्षित कर सकता है । उसी

प्रकार कोई भी गीतार्थ साध्वी किसी भी साधु या साध्वी को दीक्षित कर सकती है। किन्तु उन्हे आचार्य की आज्ञा लेना आवश्यक होता है।

किसी भी साधु को दीक्षित करना हो तो आचार्य, उपाध्याय के लिए दीक्षित किया जा सकता है और साध्वी को दीक्षित करना हो तो आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्तिनी के लिए दीक्षित किया जा सकता है। किंतु साधु अपने लिए साध्वी को और साध्वी अपने लिये साधु को दीक्षित नही कर सकती।

भाष्य मे बताया गया है कि इस प्रकार से परस्पर एक-दूसरे के लिए दीक्षित करने पर जनसाधारण मे अनेक प्रकार की आशकाए उत्पन्न हो सकती हैं, जिससे उस साधु-साध्वी की अथवा जिनशासन की हीलना होती है।

कठिन-शब्दार्थ

"**पव्वावेत्तए**" = दीक्षित करना।
"**मुंडावेत्तए**" = लुंचन करना।
"**सिक्खावेत्तए**" = ग्रहण शिक्षा मे दशवैकालिकसूत्र पढाना, आसेवन शिक्षा मे आचारविधि वस्त्र-परिधान आदि कार्यों की विधि बताना।
उवट्ठावेत्तए = बडी दीक्षा देना।
संभुंजित्तए = आहारादि देना।
संवासित्तए = साथ रखना।
"**इत्तरिय** = अल्पकालीन।
"**दिसं**" = आचार्य
"**अणुदिसं**" = उपाध्याय और प्रवर्तिनी।
"**उद्दिसित्तए** = निश्रा का निर्देश करना।
धारित्तए = नवदीक्षित भिक्षु के द्वारा अपनी दिशा अनुदिशा का धारण करना।

दूरस्थ क्षेत्र में रहे हुए गुरु आदि के निर्देश का विधि-निषेध

९. नो कप्पइ निग्गंथीण विइकिट्ठिय दिस वा अणुदिस वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

१० कप्पइ निग्गथाणं विइकिट्ठिय दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

९. निर्ग्रन्थियो को दूरस्थ प्रवर्तिनी या गुरुणी का उद्देश करना या धारण करना नही कल्पता है।

१० निर्ग्रन्थ को दूरस्थ आचार्य या गुरु आदि का उद्देश करना या धारण करना कल्पता है।

विवेचन—पूर्वसूत्र में अन्य के लिए दीक्षित करने का विधान किया गया है और प्रस्तुत सूत्र में भी उसी विषय का कुछ विशेष विधान है।

किसी भी साध्वी को कही पर भी दीक्षित होना हो तो उस क्षेत्र से अत्यन्त दूर रही हुई प्रवर्तिनी का निर्देश करके किसी के पास दीक्षित होना नही कल्पता है, क्योकि वह स्वय अकेली जा नही सकती, अधिक दूर होने से कोई पहुँचा नही सकते। लम्बे समय के अन्तर्गत उसका भाव परिणमन हो जाय, वह बीमार हो जाय, उसकी गुरुणी बीमार हो जाय या काल कर जाय इत्यादि स्थितियो में अनेक सकल्प-विकल्प या क्लेश, अशाति उत्पन्न होने की सभावना रहती है, इत्यादि कारणो से अतिदूरस्थ गुरुणी आदि का निर्देश कर किसी के पास दीक्षित होना साध्वी के लिए निषेध किया गया है।

सामान्य भिक्षु को भी दूरस्थ आचार्य आदि की निश्रा का निर्देश कर किसी के पास दीक्षित होना नही कल्पता है, ऐसा समझना चाहिए। क्योकि साध्वी के लिए कहे गये दोषो की सभावना साधु के लिए भी हो सकती है। फिर भी द्वितीय सूत्र मे जो छूट दी गई है, उसका आशय भाष्य मे यह बताया गया है कि यदि दीक्षित होने वाला भिक्षु पूर्ण स्वस्थ एव ज्ञानी, सविग्न और स्वय धर्मोपदेशक है तथा उसका आचार्य भी ऐसा ही सविग्न है तो दूरस्थ क्षेत्र मे किसी के पास दीक्षित हो सकता है। ऐसे भिक्षु के लिए भाष्य मे कहा है कि—

मिच्छत्तादि दोसा, जे वुत्ता ते उ गच्छतो तस्स।
एगागिस्सवि न भवे, इति दूरगते वि उद्दिसणा।।

—भा गा. १४२

उस योग्य गुणसपन्न भिक्षु के अकेले जाने पर भी पूर्वोक्त मिथ्यात्वादि दोषो की सभावना नही रहती है, अत उसे दूरस्थ आचार्य, उपाध्याय का निर्देश करके दीक्षा दी जा सकती है।

यहा 'दिस-अणुदिस' के अर्थ-भ्रम के कारण इन सूत्रो का विचरण से सबधित अर्थ किया जाता है। उसे भ्रातिपूर्ण अर्थ समझना चाहिए।

कलह-उपशमन के विधि-निषेध

११. नो कप्पइ निग्गंथाणं विइकिट्ठाइं पाहुडाइं विओसवेत्तए।

१२. कप्पइ निग्गथीणं विइकिट्ठाइं पाहुडाइं विओसवेत्तए।

११ निर्ग्रन्थो मे यदि परस्पर कलह हो जाए तो उन्हे दूर क्षेत्र मे रहे हुए ही उपशान्त होना या क्षमायाचना करना नही कल्पता है।

१२ निर्ग्रन्थियो मे यदि परस्पर कलह हो जाए तो उन्हे दूरवर्ती क्षेत्र मे रहते हुए भी उपशात होना या क्षमायाचना करना कल्पता है।

विवेचन —साधु-साध्वी को कलह होने के बाद क्षमायाचना किये बिना विहार आदि करने का निषेध बृहत्कल्प उ. ४ मे किया गया है। तथापि कभी दोनो मे से एक की अनुपशाति के कारण कोई विहार करके दूर देश मे चला जाय और बाद मे उस अनुपशात साधु-साध्वी के मन मे स्वत या किसी की प्रेरणा से क्षमायाचना का भाव उत्पन्न हो तो साध्वी को क्षमापणा के लिए अतिदूर क्षेत्र

मे नही जाना चाहिए किंतु अन्य किसी जाने वाले भिक्षु के साथ क्षमायाचना का सन्देश भेज देना चाहिए, किन्तु भिक्षु को यथास्थान जाकर ही क्षमायाचना करना चाहिए। इस अलग-अलग विधान का कारण पूर्वसूत्र मे कहे अनुसार ही समझ लेना चाहिए कि साध्वी का जाना पराधीन है और साधु का अकेला जाना भी सभव है। यदि निकट का क्षेत्र हो तो साध्वी को भी अन्य साध्वियों के साथ वही जाकर क्षमापणा करना चाहिए। सूत्रोक्त विधान अतिदूरस्थ क्षेत्र की अपेक्षा से है।

भाष्य मे बताया गया है कि बीच के क्षेत्रो मे यदि राजाओ का युद्ध, दुर्भिक्ष आदि कारण उत्पन्न हो गए हो तो भिक्षु को भी अतिदूर क्षेत्र मे रहे हुए ही क्षमापणा कर लेना चाहिए।

क्षमापणा का धार्मिक जीवन मे इतना अधिक महत्त्व है कि यदि किसी के साथ क्षमापणा भाव न आए और ऐसे भावो मे कालधर्म प्राप्त हो जाय तो वह विराधक हो जाता है।

वह क्षमापण द्रव्य एव भाव के भेद से दो प्रकार का है—(१) द्रव्य से यदि किसी के प्रति नाराजगी का भाव या रोषभाव हो तो उसे प्रत्यक्ष मे कहना कि—"मै आपको क्षमा करता हूं और आपके प्रति प्रसन्नभाव धारण करना हू।" यदि कोई व्यक्ति किसी की भूल के कारण रुष्ट हो तो उससे कहना कि—"मेरी गलती हुई आप क्षमा करे, पुन ऐसा व्यवहार नही करू गा"।

(२) भाव से—शाति सरलता एव नम्रता से हृदय को पूर्ण पवित्र बना लेना।

इस प्रकार के व्यवहार से तथा भावो को शुद्धि-एव हृदय की पवित्रता के साथ क्षमा करना और क्षमा मागना यह पूर्ण क्षमापणाविधि है। परिस्थितिवश ऐसा सम्भव न हो तो बृह. उ. १ सू ३४ के अनुसार स्वय को पूर्ण उपशात कर लेने से भी आराधना हो सकती है, किन्तु यदि हृदय मे शाति, शुद्धि न हो तो बाह्य विधि से सलेखना, १५ दिन का सथारा और क्षमापणा कर लेने पर भी आराधना नही हो सकती है, ऐसा भगवतीसूत्र मे आये अभीचिकुमार के वर्णन से स्पष्ट होता है।

व्यतिकृष्टकाल में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के लिए स्वाध्याय का विधि-निषेध

१३. नो कप्पइ निग्गथाणं विइगिट्ठे काले सज्झायं करेत्तए।

१४. कप्पइ निग्गंथीणं विइगिट्ठे काले सज्झायं करेत्तए निग्गंथनिस्साए।

१३ निर्ग्रन्थो को व्यतिकृष्ट काल में (उत्कालिक आगम के स्वाध्यायकाल मे कालिक आगम का) स्वाध्याय करना नही कल्पता है।

१४ निर्ग्रन्थ की निश्रा मे निर्ग्रन्थियो को व्यतिकृष्टकाल में भी स्वाध्याय करना कल्पता है।

विवेचन—जिन आगमों का स्वाध्याय जिस काल मे निषिद्ध है, वह काल उन आगमो के लिए व्यतिकृष्ट काल कहा जाता है।

साधु-साध्वी को ऐसे समय मे स्वाध्याय अर्थात् आगम के मूल पाठ का उच्चारण नही करना चाहिए। वे काल निशीथ उद्देशक १९ मे अनेक प्रकार के कहे गए हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में व्यतिकृष्टकाल से केवल दिन और रात्रि की दूसरी तीसरी पौरिषी समझनी चाहिए अर्थात् इन चारों पौरिषी कालो मे कालिकसूत्र का स्वाध्याय करने का निषेध है।

नदीसूत्र मे कालिकसूत्रो की सख्या १२+३०=४२ कही है और उत्कालिक सूत्रो की सख्या २९ कही है।

अनुयोगद्वारसूत्र मे आवश्यकसूत्र को उत्कालिक कहा गया है। इस प्रकार कुल ४२+३० =७२ आगम श्रुतज्ञान में कहे गए हैं।

इनमें से उपलब्ध कालिकसूत्रो का उत्काल में स्वाध्याय करना प्रथम सूत्र मे निषिद्ध है, किन्तु दूसरे सूत्र मे साध्वी के लिए निर्ग्रन्थो के पास स्वाध्याय करने का आपवादिक विधान किया गया है। उसका कारण यह है कि कभी-कभी प्रवर्तिनी या साध्वियो को मूलपाठ उपाध्याय आदि को सुनना आवश्यक हो जाता है, जिससे कि अन्य साधु-साध्वियो मे मूलपाठ की परम्परा समान रहे।

साधु-साध्वियो के परस्पर आगमो के स्वाध्याय का एव वाचना का समय दूसरा-तीसरा प्रहर ही योग्य होता है, इसलिए यह छूट दी गई है, ऐसा समझना चाहिए।

उत्कालिक सूत्रो का चार सध्याकाल में स्वाध्याय करना भी निषिद्ध है, अत दशवैकालिक या नदीसूत्र का स्वाध्याय सध्याकाल मे या दोपहर के समय नही किया जा सकता।

किसी परम्परा मे नदीसूत्र की पचास गाथा तथा दशवै की दो चूलिका का स्वाध्याय, अस्वाध्यायकाल के समय भी किया जाता है।

इस विषय मे ऐसा माना जाता है कि ये रचनाए मौलिक नही है। रचनाकार के अतिरिक्त किसी के द्वारा जोडी गई हैं।

किन्तु यह धारणा भ्रात एव अनुचित है, क्योकि नदीसूत्र के रचनाकार देववाचक श्री देवद्धिगणि क्षमाश्रमण हैं, यह निर्विवाद है। देववाचक उनका विशेषण है। नदीसूत्र के चूर्णिकार एव टीकाकार ने देववाचक या देवर्द्धिगणी को ही नदीसूत्र का कर्ता स्वीकार किया है। नदी की ५० गाथाओ मे भी अन्त मे दूष्यगणी को वदन करके उनका गुणगान किया हैं। अत दूष्यगणी के शिष्य देववाचक श्री देवर्द्धिगणी ही सूत्र के रचनाकार है। अन्तिम गाथा के अन्तिम चरण मे यह कहा गया है कि "णाणस्स परूवण वोच्छ" = अब मैं ज्ञान की प्ररूपणा करू गा। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि नदी के कर्ता ही ५० गाथाओ के कर्ता हैं। अत ५० गाथाओ को सूत्रकार के अतिरिक्त किसी के द्वारा सम्बद्ध मानना प्रमाणसगत नही है तथा नदीसूत्र का सध्या समय मे या अस्वाध्याय समय मे उच्चारण नही करके उसकी ५० गाथाओ का अकाल मे स्वाध्याय करना या उच्चारण करना सर्वथा अनुचित्त है।

दशवैकालिकसूत्र की चूलिका के विषय मे कल्पित कथानक या किंवदन्ती प्रचलित है कि— "महाविदेह क्षेत्र से स्थूलिभद्र की बहिन द्वारा ये चूलिकायें लाई गई है।" किन्तु इस कथानक की प्रामाणिकता भी सदिग्ध है। क्योकि किसी ग्रन्थ मे दो चूलिकाए लाने का वर्णन है तो किसी मे चार चूलिका लाने का भी वर्णन है। —परिशिष्टपर्व, पर्व ९, आव. चू पृ १८८

इन ग्रन्थों से भी दशवैकालिक सूत्र की चूर्णि प्राचीन है। उसके रचनाकार श्री अगस्त्यसिंहसूरि ने चूलिका की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है कि "अब आगे सूत्रकार श्री शय्यभवाचार्य इस प्रकार कहते हैं।"

चूर्णिकार श्री अगस्त्यसिंहसूरि ने दोनो चूलिकाओ की पूर्ण व्याख्या की है और उसमे शय्यभवाचार्य द्वारा रचित होना ही सूचित किया है। लेकिन महाविदेह से लाई जाने की बात का कोई कथन उन्होने नही किया। प्रमाण के लिए देखें चूलिका २ गा. १४-१५ की चूर्णि पृ २६५। अतः यह किंवदन्ती चूर्णिकार के बाद किसी ने किसी कारण से प्रचारित की है। जो बाद के ग्रन्थो मे लिख दी गई है। अत इन दोनो चूलिकाओ को किसी के द्वारा सम्बद्ध मानकर सध्यासमय मे या अस्वाध्यायकाल मे इनकी स्वाध्याय करना सर्वथा अनुचित्त है। ऐसा करने से निशीथ उ. १९ के अनुसार प्रायश्चित्त भी आता है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी को स्वाध्याय करने का विधि-निषेध

१५. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असज्झाइए सज्झायं करेत्तए।

१६. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सज्झाइए सज्झायं करेत्तए।

१५ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को अस्वाध्याय काल मे स्वाध्याय करना नही कल्पता है।

१६ निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को स्वाध्यायकाल मे स्वाध्याय करना कल्पता है।

विवेचन—काल सम्बन्धी अस्वाध्याय १२, औदारिक सम्बन्धी अस्वाध्याय १० और आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय १०, इस प्रकार कुल ३२ अस्वाध्याय मे स्वाध्याय करने का प्रस्तुत सूत्र मे निषेध किया गया है और पूर्व सूत्र मे कालिक सूत्रो की उत्काल (दूसरे तीसरे प्रहर) के समय स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है। अस्वाध्याय सम्बन्धी विस्तृत विवेचन के लिए निशीथ उद्दे, १९ का अध्ययन करना चाहिए।

दूसरे सूत्र मे यह विधान किया गया है कि यदि किसी प्रकार का अस्वाध्याय न हो तो साधु-साध्वियों को स्वाध्याय करना चाहिए।

ज्ञान के अतिचारो के वर्णन से एव निशीथ उद्दे. १९ सूत्र १३ के प्रायश्चित्त विधान से तथा श्रमणसूत्र के तीसरे पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वाध्याय के समय निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए।

इस स्वाध्यायविधान की पूर्ति के लिए किसी परम्परा मे प्रतिक्रमण के साथ दशवैकालिक की सत्तरह गाथाओं का स्वाध्याय कर लिया जाता है, यह परम्परा अनुचित्त है। क्योंकि प्रतिक्रमण का समय तो अस्वाध्याय का होता है, अत उसके साथ स्वाध्याय करना आगमविरुद्ध भी है तथा आचारांग निशीथसूत्र आदि अनेक कण्ठस्थ किए हुए कालिकआगमो का स्वाध्याय करना भी आवश्यक होता है।

अत. सायकालीन प्रतिक्रमण के पूर्ण हो जाने पर काल का (आकाश का) प्रतिलेखन करने के बाद पूरे प्रहर तक स्वाध्याय करना चाहिए। उसी प्रकार सुबह के प्रतिक्रमण की आज्ञा लेने के पूर्व रात्रि के चौथे प्रहर मे स्वाध्याय करने का आगमविधान है, ऐसा समझना चाहिए। किन्तु केवल दशवै. की उन्ही १७ गाथाओ का अस्वाध्यायकाल मे स्वाध्याय करके सन्तोष मानना अनुचित परपरा है।

चारो प्रहर मे स्वाध्याय न करना यह ज्ञान का अतिचार है एव लघुचौमासी प्रायश्चित्त का स्थान है। ऐसा जानकर यदि कभी स्वाध्याय न हो तो उसका प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। किन्तु सेवा या गुरुआज्ञा मे कही समय व्यतीत हुआ हो तो चारो प्रहर मे स्वाध्याय न करने पर भी प्रायश्चित्त नही आता है। उसी प्रकार रुग्णता आदि अन्य भी आपवादिक कारण समझ लेने चाहिए। अकारण स्वाध्याय की अपेक्षा कर विकथाओ मे समय व्यतीत करने पर सयममर्यादा के विपरीत आचरण होता है एव ज्ञान के अतिचार का सेवन होता है।

शारीरिक अस्वाध्याय होने पर स्वाध्याय का विधि-निषेध

१७ नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अप्पणो असज्झाइए सज्झायं करेत्तए।
कप्पइ ण अण्णमण्णस्स वायणं दलइत्तए।

१७ निर्ग्रन्थो एव निर्ग्रन्थियो को स्वशरीर सम्बन्धी अस्वाध्याय होने पर स्वाध्याय करना नही कल्पता है,

किन्तु परस्पर एक दूसरे को वाचना देना कल्पता है।

विवेचन—दस औदारिक अस्वाध्याय मे स्वाध्याय करने का सामान्य निषेध सूत्र १६ मे किया गया है, तथापि यहा पुन. निषेध करने का कारण यह है कि मासिकधर्म सबधी या अन्य व्रण सबधी अपना अस्वाध्याय निरतर चालू रहता है, उतने समय तक कोई भी सूत्र की वाचना चल रही हो उसे बद करना या बीच मे छोड़ना उपयुक्त नही है। अनेक साधु-साध्वियो की सामूहिक वाचना चल रही हो तो कभी किसी के और कभी किसी के अस्वाध्याय का कारण हो तो इस प्रकार अनेक दिन व्यतीत हो सकते हैं और उससे सूत्रो की वाचना मे अव्यवस्था हो जाती है। अत यह सूत्र उक्त मासिकधर्म और अन्य व्रण सबधी अस्वाध्याय मे आपवादिक विधान करता है कि रक्त-पीप आदि का उचित विवेक करके साधु या साध्वी परस्पर वाचना का लेन-देन कर सकते हैं।

इस प्रकार यहा मासिकधर्म के अस्वाध्याय मे सूत्रो की वाचना देने-लेने की स्पष्ट छूट दी गई है। किन्तु वाचना के अतिरिक्त स्वत. स्वाध्याय करना या सुनना तो सूत्र के पूर्वार्द्ध से निषिद्ध ही है।

भाष्यकार और टीकाकार ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए ऋतु-धर्मकाल मे एव व्रण आदि के समय मे सूत्रो की वाचना लेने-देने की विधि का विस्तार से स्पष्टीकरण किया है। साथ ही स्वाध्याय करने का तथा अविधि से वाचना लेने-देने का प्रायश्चित्त कहा है।

अधिक जानकारी के लिए निशीथ उद्दे. १९ सूत्र १५ का विवेचन देखे।

सूत्र मे अपने अस्वाध्याय में वाचना देने का विधान है तो भी वाचना देना और लेना दोनो ही समझ लेना चाहिए। क्योकि वाचना न देने में जो अव्यवस्था संभव रहती है, उससे भी अधिक

अव्यवस्था वाचना न लेने मे हो जाती है और अपने अस्वाध्याय मे श्रवण करने की अपेक्षा उच्चारण करना अधिक बाधक होता है। अत वाचना देने की छूट मे वाचना लेना तो स्वत सिद्ध है। फिर भी भाष्योक्त रक्त आदि की शुद्धि करने एव वस्त्रपट लगाने की विधि के पालन करने का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

निर्ग्रन्थी के लिए आचार्य-उपाध्याय की नियुक्ति की आवश्यकता

१८. तिवासपरियाए समणे निग्गंथे तीस वासपरियाए समणीए निग्गंथीए कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

१९ पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे सट्ठिवासपरियाए समणीए निग्गंथीए कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

१८ तीस वर्ष की श्रमणपर्याय वाली निर्ग्रन्थी को उपाध्याय के रूप मे तीन वर्ष के श्रमणपर्याय वाले निर्ग्रन्थ को स्वीकार करना कल्पता है।

१९ साठ वर्ष की श्रमणपर्याय वाली निर्ग्रन्थी को आचार्य या उपाध्याय के रूप मे पाच वर्ष के श्रमणपर्याय वाले निर्ग्रन्थ को स्वीकार करना कल्पता है।

विवेचन—उद्देशक ३ सूत्र ११-१२ मे साध्वियो को आचार्य, उपाध्याय एव प्रवर्तिनी इन तीन की निश्रा से रहना आवश्यक कहा है तथा साधुओ को आचार्य, उपाध्याय इन दो की निश्रा से रहना आवश्यक कहा है। वह विधान तीन वर्ष की दीक्षापर्याय एव चालीस वर्ष की उम्र तक के साधु-साध्वियो के लिए किया गया है।

प्रस्तुत सूत्रद्विक मे तीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाली साध्वी के लिए उपाध्याय की नियुक्ति और साठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाली साध्वी के लिए आचार्य की नियुक्ति करना कहा है।

इसका तात्पर्य यह है कि तीस वर्ष तक की दीक्षापर्याय वाली साध्वियो को उपाध्याय एव प्रवर्तिनी के बिना रहना नही कल्पता है और साठ वर्ष तक की दीक्षापर्याय वाली साध्वियो को आचार्य के बिना रहना नही कल्पता है।

भाष्य एव टीका मे उक्त वर्षसख्या मे दीक्षा के पूर्व के दस वर्ष और मिलाकर यह बताया है कि ४० वर्ष तक की उम्र वाली साध्वियो को उपाध्याय एव प्रवर्तिनी की निश्रा बिना नही रहना चाहिए और ७० वर्ष तक की उम्र वाली साध्वियो को आचार्य की निश्रा बिना नही रहना चाहिए।

उक्त वर्षसंख्या के बाद यदि पदवीधर कालधर्म को प्राप्त हो जाएँ, या गच्छ छोडकर शिथिलाचारी बन जाएँ तो ऐसी परिस्थितियो मे उन साध्वियों को आचार्य आदि की नियुक्ति करना आवश्यक नही रहता है।

भाष्य में साध्वियो को 'लता' की उपमा दी है अर्थात् लता जिस तरह वृक्षादि के अवलबन से ही रहती है उसी प्रकार साध्वियो को भी आचार्य के अधीन रहना सयमसमाधि-सुरक्षा के लिए आवश्यक है।

बृहत्कल्प उद्दे १ मे किसी ग्रामादि में ठहरने के लिए भी उन्हें गृहस्वामी आदि की निश्रा से रहने का अर्थात् सुरक्षा सहायता का आश्वासन लेकर ही रहने का विधान किया गया है।

आगमकार की दृष्टि से ६० वर्ष की दीक्षापर्याय के बाद आचार्य का और तीस वर्ष की दीक्षा के बाद उपाध्याय का होना उन साध्वियो के लिए आवश्यक नहीं है।

तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाले भिक्षु की उपाध्याय पद पर नियुक्ति एव पाच वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले भिक्षु की आचार्य पद पर नियुक्ति सबधी विस्तृत वर्णन तीसरे उद्देशक से जानना चाहिए।

श्रमण के मृतशरीर को परठने की और उपकरणों को ग्रहण करने की विधि

२० गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खू य आहच्च वीसुंभेज्जा, तं च सरीरगं केइ साहम्मिए पासेज्जा, कप्पइ से तं सरीरगं 'मा सागारियं' त्ति कट्टु एगंते अचित्ते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेत्तए।

अत्थि य इत्थ केइ साहम्मियसंतिए उवगरणजाए परिहरणारिहे, कप्पइ से सागारकडं गहाय दोच्चंपि ओग्गहं अणुन्नवेत्ता परिहार परिहारित्तए।

२० ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ भिक्षु यदि अकस्मात् मार्ग मे ही मृत्यु को प्राप्त हो जाए और उसके शरीर को कोई श्रमण देखे और यह जान ले कि यहा 'कोई गृहस्थ नही है' तो उस मृत श्रवण के शरीर को एकान्त निर्जीव भूमि मे प्रतिलेखन व प्रमार्जन करके परठना कल्पता है।

यदि उस मृत श्रमण के कोई उपकरण उपयोग मे लेने योग्य हो तो उन्हे सागारकृत ग्रहण कर पुन· आचार्यादि की आज्ञा लेकर उपयोग मे लेना कल्पता है।

विवेचन—बृहत्कल्प उद्देशक ४ मे उपाश्रय मे कालधर्म को प्राप्त होने वाले साधु को परठने सबधी विधि कही गई है और प्रस्तुत सूत्र में विहार करते हुए कोई भिक्षु मार्ग मे ही कालधर्म को प्राप्त हो जाय तो उसके मृत शरीर को परठने की विधि बताई है।

विहार मे कभी अकेला चलता हुआ भिक्षु कालधर्म को प्राप्त हो जाय और उसके मृतशरीर को कोई एक या अनेक साधर्मिक साधु देखें तो उन्हें विधिपूर्वक एकात मे ले जा कर परठ देना चाहिए।

'मा सागारियं'—भिक्षु यह जान ले कि वहा आस-पास मे कोई गृहस्थ नही है जो उस शरीर का मृत-सस्कार करे, तब उस स्थिति में साधुओ को उसे उठाकर एकात अचित्त स्थान में परठ देना चाहिए।

यदि उस मृत भिक्षु के कोई उपकरण उपयोग मे आने योग्य हो तो आचार्य की आज्ञा का आगार रखते हुए उन्हे ग्रहण कर सकते हैं। फिर जिन उपकरणो को रखने की आचार्य आज्ञा दें उन्हे रख सकते हैं और उपयोग में ले सकते हैं।

यदि कोई एक या अनेक भिक्षु किसी भी कारण से उस कालधर्मप्राप्त भिक्षु के मृतशरीर को मार्ग मे यो ही छोडकर चले जाएँ तो वे सभी गुरुचौमासी प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

परिष्ठापन सबधी अन्य जानकारी बृहत्कल्प उद्दे. ४ मे देखे एव विस्तृत जानकारी के लिए भाष्य का अवलोकन करे।

परिहरणीय शय्यातर का निर्णय

२१. सागारिए उवस्सयं वक्कएण पउंजेज्जा से य वक्कइयं वएज्जा--'इमम्मिय इमम्मि य ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंति।

से सागारिए पारिहारिए।

से य नो वएज्जा वक्कइए वएज्जा, से सागारिए पारिहारिए।

दो वि ते वएज्जा, दो वि सागारिया पारिहारिया।

२२. सागारिए उवस्सयं विक्किणेज्जा, से य कइयं वएज्जा—

'इमम्मि य इमम्मि य ओवासे समणा निग्गंथा परिवसंति', से सागारिए पारिहारिए।

से य नो वएज्जा, कइए वएज्जा, से सागारिए पारिहारिए।

दो वि ते वएज्जा, दो वि सागारिया पारिहारिया।

२१ शय्यादाता यदि उपाश्रय किराये पर दे और किराये पर लेने वाले को यह कहे कि— 'इतने-इतने स्थान मे श्रमण निर्ग्रन्थ रह रहे हैं।'

इस प्रकार कहने वाला गृहस्वामी सागारिक (शय्यातर) है, अत. उसके घर आहारादि लेना नही कल्पता है।

यदि शय्यातर कुछ न कहे, किन्तु किराये पर लेने वाला कहे तो—वह शय्यातर है, अतः परिहार्य है।

यदि किराये पर देने वाला और लेने वाला दोनो कहे तो दोनो शय्यातर है, अत· दोनो परिहार्य हैं।

२२. शय्यातर यदि उपाश्रय बेचे और खरीदने वाले को यह कहे कि—'इतने-इतने स्थान मे श्रमण निर्ग्रन्थ रहते है', तो वह शय्यातर है। अत वह परिहार्य है।

यदि उपाश्रय का विक्रेता कुछ न कहे, किन्तु खरीदने वाला कहे तो वह सागारिक है, अत वह परिहार्य है।

यदि विक्रेता और क्रेता दोनो कहे तो दोनो सागारिक है, अत दोनो परिहार्य हैं।

विवेचन— भिक्षु जिस मकान मे ठहरा हुआ है, उसका मालिक उसे किराये पर देवे या उसे बेच दे तो ऐसी स्थिति मे भिक्षु का शय्यातर कौन रहता है, यह प्रस्तुत सूत्र मे स्पष्ट किया गया है।

यदि खरीदने वाला या किराये पर लेने वाला व्यक्ति भिक्षु को अपने मकान में प्रसन्नतापूर्वक ठहरने की आज्ञा देता हो तो वह शय्यातर कहा जाता है। यदि वह भिक्षु को ठहराने में उपेक्षाभाव रखता है एव आज्ञा भी नहीं देता है। किन्तु मकान का पूर्व मालिक ही उसे भिक्षु के रहने का

स्पष्टीकरण कर देता है कि "अमुक समय तक भिक्षु रहेंगे, उसके बाद वह स्थान भी तुम्हारा हो जायेगा।" ऐसी स्थिति मे पूर्व शय्यादाता ही शय्यातर रहता है। शय्यातर के निर्णय का आशय यह है कि जो शय्यातर होगा उसी के घर का आहार आदि 'शय्यातरपिंड' कहलाएगा।

कभी पूर्व शय्यादाता भी कहे कि "मेरी आज्ञा है" और नूतन स्वामी भी कहे कि "मेरी भी आज्ञा है" तब दोनो को शय्यातर मानना चाहिए। यदि समझाने पर उनके समझ मे आ जाय तो किसी एक की ही आज्ञा रखना उचित है। क्योकि बृहत्कल्प उ २ सू १३ मे अनेक स्वामियो वाले मकान मे किसी एक स्वामी की आज्ञा लेने का विधान किया गया है। शय्यातर सम्बन्धी एवं शय्यातर-पिंड सम्बन्धी विशेष जानकारी निशीथ उ. २ सू ४६ के विवेचन मे देखें।

सूत्र मे गृहस्थ के घर के लिये उपाश्रय शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह है कि जहा भिक्षु ठहरा हुआ हो या जहा उसे ठहरना हो, उन दोनो ही मकानो को आगमकार उपाश्रय शब्द से कहते हैं। इसीलिए बृहत्कल्प उद्दे. २ सू १-१० मे पानी के घडे, सुरा या सौवीर के घड़े और धान्य एव खाद्यसामग्री रखे गृहस्थ के घर को भी उपाश्रय कहा गया है। सपूर्ण रात-दिन जहा अग्नि अर्थात् भट्टिया जलती हो या दीपक जलते हो, ऐसे गृहस्थ के आरम्भजन्य कारखाने आदि स्थान को भी उपाश्रय कहा गया है।

उसी पद्धति के कारण यहा भी गृहस्थ के घर में भिक्षु पहले से ठहरा हुआ होने से उसे उपाश्रय कहा है। वर्तमान मे प्रचलित सामाजिक उपाश्रय मे साधु ठहरा हुआ हो, उसे किसी के द्वारा बेचना या किराये पर देना सम्भव नहीं होता है।

अत यहा उपाश्रय शब्द से गृहस्थ का मकान अर्थ समझना चाहिए।

आज्ञाग्रहण करने की विधि

२३. विहवधूया नायकुलवासिणी सा वि यावि ओग्गहं अणुन्नवेयव्वा, किमंग पुण पिया वा, भाया वा, पुत्ते वा, से वि या वि ओग्गहे ओगेण्हियव्वे।

२४. पहेवि ओग्गहं अणुन्नवेयव्वे।

२३. पिता के घर पर जीवन यापन करने वाली विधवा लड़की की भी आज्ञा ली जा सकती है, तब पिता, भाई, पुत्र का तो कहना ही क्या अर्थात् उनकी भी आज्ञा ग्रहण की जा सकती है।

२४ यदि मार्ग मे ठहरना हो तो उस स्थान की भी आज्ञा ग्रहण करनी चाहिए।

विवेचन—घर के किन-किन सदस्यों की आज्ञा ली जा सकती है, यह प्रथम सूत्र का प्रतिपाद्य विषय है और किसी भी स्थान पर आज्ञा लेकर ही बैठना चाहिए यह दूसरे सूत्र का प्रतिपाद्य विषय है।

प्रथम सूत्र में बताया गया है कि पिता, पुत्र, भाई की भी आज्ञा ली जा सकती है अर्थात् सयुक्त परिवार का कोई भी समझदार सदस्य हो, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, उनकी आज्ञा ली जा सकती है। विवाहित लडकी की आज्ञा नही ली जा सकती। किन्तु जो लड़की किसी भी कारण से सदा पिता

के घर में ही रहती हो तो उसकी भी आज्ञा ली जा सकती है। इसी प्रकार जो समझदार एव जिम्मेदार नौकर हो, उसकी भी आज्ञा ली जा सकती है।

मकान के बाहर का खुला स्थान (बरामदा) आदि मे बैठना हो और मकान-मालिक घर बन्द करके कहीं गया हुआ हो तो किसी राहगीर या पडौसी की भी आज्ञा ली जा सकती है।

द्वितीय सूत्रानुसार भिक्षु को विहार करते हुए कभी मार्ग मे या वृक्ष के नीचे ठहरना हो तो उस स्थान की भी आज्ञा लेनी चाहिए। बिना आज्ञा लिए भिक्षु वहा भी नही बैठ सकता है। उस समय यदि कोई भी पथिक उधर से जा रहा हो या कोई व्यक्ति वहा बैठा हो तो उसकी आज्ञा ली जा सकती है।

यदि कोई भी आज्ञा देने वाला न हो तो उस स्थान मे ठहरने के लिए "शक्रेंद्र की आज्ञा है" ऐसा उच्चारण करके भिक्षु ठहर सकता है। किन्तु किसी भी प्रकार से आज्ञा लिए बिना कही पर भी नही ठहरना चाहिए, यह दूसरे सूत्र का आशय है। यदि आज्ञा लेना भूल जाए तो उसकी आलोचना प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए।

प्रतियो मे "पहे वि" और "पहिए वि" ऐसे दो तरह के शब्द मिलते हैं। किन्तु भाष्य के अनुसार यहा "पहे वि" ऐसा पाठ शुद्ध है, जिसका अर्थ है कि पथ मे अर्थात् मार्ग मे बैठना हो तो उसकी भी आज्ञा लेनी चाहिए। "पहिए वि" प्रयोग को लिपिदोष ही समझना चाहिए।

राज्यपरिवर्तन में आज्ञा ग्रहण करने का विधान

२५. से रज्जपरियट्टेसु, संथडेसु, अव्वोगडेसु, अव्वोच्छिन्नेसु, अपरपरिग्गहिएसु, सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ अहालंदमवि ओग्गहे।

२६. से रज्जपरियट्टेसु, असंथडेसु, वोगडेसु, वोच्छिन्नेसु, परपरिग्गहिएसु भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चंपि ओग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया।

२५. राजा की मृत्यु के बाद नये राजा का अभिषेक हो किन्तु अविभक्त एव शत्रुओ द्वारा अनाक्रान्त रहे, राजवंश अविछिन्न रहे और राज्यव्यवस्था पूर्ववत् रहे तो साधु-साध्वियो के लिए पूर्वगृहीत आज्ञा ही अवस्थित रहती है।

२६ राजा की मृत्यु के बाद नये राजा का अभिषेक हो और उस समय राज्य विभक्त हो जाय या शत्रुओ द्वारा आक्रान्त हो जाय, राजवश विच्छिन्न हो जाय या राज्यव्यवस्था परिवर्तित हो जाय तो साधु-साध्वियो को भिक्षु-भाव अर्थात् (सयम की मर्यादा) की रक्षा के लिए दूसरी बार आज्ञा ले लेनी चाहिए।

विवेचन—जिस राज्य मे भिक्षुओ को विचरण करना हो उसके स्वामी अर्थात् राजा आदि की आज्ञा ले लेनी चाहिए। आज्ञा लेने के बाद यदि राजा का परिवर्तन हो जाय तब दो प्रकार की स्थिति होती है—

(१) पूर्व राजा का राजकुमार या उसके वंशज राजा बने हो अथवा केवल व्यक्ति का परिवर्तन हुआ हो, अन्य राजसत्ता, व्यवस्था और कानूनो का कोई परिवर्तन न हुआ हो तो पूर्व ग्रहण की हुई आज्ञा से विचरण किया जा सकता है, पुनः आज्ञा लेने की आवश्यकता नही रहती है।

(२) यदि कोई सर्वथा नया ही राजा बना हो, राज्यव्यवस्था का परिवर्तन हो गया हो तो वहा विचरण करने के लिए पुनः आज्ञा लेना आवश्यक हो जाता है।

सभी जैन सघो के साधु-साध्वियो के विचरण करने की राजाज्ञा एक प्रमुख व्यक्ति के द्वारा प्राप्त कर ली जाय तो फिर पृथक्-पृथक् किसी भी सत-सती को आज्ञा लेने की आवश्यकता नही रहती है।

सातवें उद्देशक का सारांश

सूत्र १-२ — अन्य गच्छ से आई हुई दूषित आचार वाली निर्ग्रन्थी को प्रवर्तिनी आदि साध्विया आचार्य आदि से पूछे बिना एव उसके दोषो की शुद्धि कराये बिना नही रख सकती, किन्तु आचार्य आदि उसके दोषो की शुद्धि करवाकर प्रवर्तिनी आदि साध्वियो को पूछे बिना भी गच्छ मे रख सकते है।

३-४ — उपेक्षापूर्वक तीन बार से अधिक एषणादोष सेवन या व्यवस्थाभग आदि करने पर उस साधु-साध्वी के साथ आहार-सम्बन्ध का परित्याग किया जा सकता है। ऐसा करने के लिए साध्विया प्रत्यक्ष वार्ता नही कर सकती, किन्तु साधु प्रत्यक्ष वार्ता कर सकते है।

५-८ — साधु कभी साध्वी को दीक्षा दे सकता है और साध्वी कभी साधु को दीक्षा दे सकती है, किन्तु वे उसे आचार्य आदि की निश्रा मे कर सकते हैं, अपनी निश्रा मे नही।

९-१० — साध्वी अतिदूरस्थ आचार्य या प्रवर्तिनी की निश्रा स्वीकार करके दीक्षा न लेवे, किन्तु सन्निकट आचार्य या प्रवर्तिनी की ही निश्रा स्वीकार करे।

साधु दूरस्थ आचार्य की निश्रा स्वीकार करके भी दीक्षा ले सकता है।

११-१२ — अतिदूर गई हुई साध्वी से अन्य साध्वी क्षमायाचना कर सकती है, किन्तु साधु को क्षमापना करने के लिए प्रत्यक्ष मिलना आवश्यक होता है। भाष्य मे परिस्थितिवश साधु को भी दूरस्थ क्षमापना करना कहा है।

१३-१४ — उत्काल मे (दूसरे-तीसरे प्रहर मे) कालिक सूत्र का स्वाध्याय नही करना चाहिए, किन्तु कभी साध्वी उपाध्याय आदि को स्वाध्याय सुना सकती है।

१५-१६ — बत्तीस प्रकार के अस्वाध्याय काल हो तब स्वाध्याय नही करना और जब अस्वाध्याय न हो तब अवश्य स्वाध्याय करना।

१७ — अपनी शारीरिक अस्वाध्याय मे स्वाध्याय नही करना, किन्तु साधु-साध्वी परस्पर सूत्रार्थ वाचना दे सकते हैं।

१८-१९	तीस वर्ष की दीक्षापर्याय तक की साध्वियों को उपाध्याय प्रवर्तिनी के बिना नही रहना चाहिए और ६० वर्ष तक की दीक्षापर्याय वाली साध्वियों को बिना आचार्य के नही रहना चाहिए।
२०	विहार करते हुए मार्ग मे साधु का मृतदेह पडा हुआ दिख जाय तो उसे योग्य विधि से एव योग्य स्थान मे परठ देना चाहिए। यदि उनके उपयोगी उपकरण हो तो उन्हे ग्रहण कर आचार्य की आज्ञा लेकर उपयोग में लिया जा सकता है।
२१-२२	शय्यातर मकान को बेचे या किराये पर देवे तो नूतन स्वामी की या पूर्व स्वामी की या दोनो की आज्ञा ली जा सकती है।
२३	घर के कोई सदस्य की या जिम्मेदार नौकर की आज्ञा लेकर भी ठहरा जा सकता है। सदा पिता के घर रहने वाली विवाहित बेटी की भी आज्ञा ली जा सकती है।
२४	मार्ग मे बैठना हो तो भी आज्ञा लेकर ही बैठना चाहिए।
२५-२६	राजा या राज्यव्यवस्था परिवर्तित होने पर उस राज्य मे विचरण करने के लिए पुन आज्ञा लेना आवश्यक है। यदि उसी राजा के राजकुमार आदि वशज राजा बने तो पूर्वाज्ञा से विचरण किया जा सकता है।

उपसंहार

इस उद्देशक मे—

सूत्र १-२	अन्य गच्छ से आई साध्वी को गच्छ मे लेने का,
३-४	परस्पर सभोगविच्छेद करने का,
५-८	परस्पर दीक्षा देने का,
९-१०	दूरस्थ आचार्यादि की निश्रा लेने का,
११-१२	दूरस्थ से क्षमापना करने या न करने का,
१३-१७	स्वाध्याय करने या न करने का,
१८-१९	साध्वी को आचार्य उपाध्याय स्वीकार करने का,
२०	साधु के मृतशरीर को परठने का,
२१-२४	ठहरने के स्थानो की आज्ञा लेने का,
२५-२६	राज्य में विचरण की नूतन आज्ञा लेने का,

इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है।

॥ सातवां उद्देशक समाप्त ॥

आठवां उद्देशक

शयनस्थान के ग्रहण की विधि

१. गाहा उऊ पज्जोसविए, ताए, गाहाए, ताए पएसाए, ताए उवासंतराए "जमिणं जमिणं सेज्जासंथारगं लभेज्जा तमिणं तमिणं ममेव सिया।"

थेरा य से अणुजाणेज्जा, तस्सेव सिया। थेरा य से नो अणुजाणेज्जा नो तस्सेव सिया। एवं से कप्पइ अहाराइणियाए सेज्जासंथारगं पडिग्गाहित्तए।

१ हेमन्त या ग्रीष्म काल मे किसी के घर मे ठहरने के लिए रहा हो, उस घर के किसी विभाग के स्थानो मे "जो-जो अनुकूल स्थान या सस्तारक मिले वे-वे मै ग्रहण करू ।"

इस प्रकार के संकल्प होने पर भी स्थविर यदि उस स्थान के लिये आज्ञा दे तो वहा शय्या-सस्तारक करना कल्पता है।

यदि स्थविर आज्ञा न दे तो वहा शय्या-सस्तारक ग्रहण करना नही कल्पता है। स्थविर के आज्ञा न देने पर यथारत्नाधिक-(दीक्षापर्याय से ज्येष्ठ-कनिष्ठ) क्रम से शय्या स्थान या सस्तारक ग्रहण करना कल्पता है।

विवेचन—किसी भी घर या उपाश्रय आदि में ठहरने के समय या बाद मे अपने बैठने या सोने के स्थान का गुरु या प्रमुख की आज्ञा से निर्णय करना चाहिए। जिससे व्यवस्था एव अनुशासन का सम्यक् पालन होता रहे।

आचाराग श्रु २ अ २ उ ३ मे शयनासन (शय्याभूमि) ग्रहण करने की विधि का कथन करते हुए बताया है कि "आचार्य उपाध्याय आदि पदवीधर एव बाल, वृद्ध, रोगी, नवदीक्षित और आगन्तुक (पाहुणे) साधुओ को ऋतु के अनुकूल एव इच्छित स्थान यथाक्रम से दिये जाने के बाद ही शेष भिक्षु सयमपर्याय के क्रम से शयनस्थान ग्रहण करें।

आचार्य आदि का यथोचित क्रम तथा सम-विषम, सवात-निर्वात आदि शय्या की अवस्थाओ का भाष्य मे विस्तृत विवेचन किया गया है।

आचा श्रु २ अ २ उ ३ मे अनेक प्रकार की अनुकूल प्रतिकूल शय्याओ मे समभावपूर्वक रहने का निर्देश किया गया है और उत्तरा अ २ में शय्यापरीषह के वर्णन मे कहा है कि भिक्षु इस प्रकार विचार करे कि एक रात्रि मे क्या हो जाएगा, ऐसा सोचकर उस स्थिति को समभाव से सहन करे।

बृ उ ३ मे भी रत्नाधिक के क्रम से शय्या-सस्तारक ग्रहण करने का विधान किया गया है जो उत्सर्गविधान है, क्योकि रुग्णता आदि में उसका पालन करना आवश्यक नही होता है।

सूत्र में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ—

(१) गाहा—गृह, मकान, उपाश्रय।
(२) उऊ—हेमन्त-ग्रीष्म ऋतु।
(३) पज्जोसविए—गृह या उपाश्रय मे पहुचा हुआ या ठहरा हुआ भिक्षु।
(४) ताए गाहाए—उस घर मे।
(५) ताए पएसाए—उस घर के एक विभाग-कमरे आदि मे।
(६) ताए उवासतराए—उस कमरे आदि की अमुक सीमित जगह मे।

शय्यासंस्तारक के लाने की विधि

२. से य अहालहुसग सेज्जासंथारग गवेसेज्जा, जं चक्किया एगेण हत्थेण ओगिज्झ जाव एगाह वा दुयाहं वा, तियाहं वा परिवहित्तए, "एस मे हेमन्त-गिम्हासु भविस्सइ।"

३. से य अहालहुसगं सेज्जासंथारग गवेसेज्जा, जं चक्किया एगेणं हत्थेणं ओगिज्झ जाव एगाह वा, दुयाहं वा, तियाहं वा अद्धाणं परिवहित्तए, "एस मे वासावासासु भविस्सइ।"

४. से य अहालहुसग सेज्जासंथारगं गवेसेज्जा, जं चक्किया एगेणं हत्थेणं ओगिज्झ जाव एगाहं वा, दुयाह वा, तियाहं वा, चउयाह वा, पंचाह वा, दूरमवि अद्धाणं परिवहित्तए, "एस मे वुड्ढावासासु भविस्सइ।"

२ श्रमण यथासम्भव हल्के शय्या-सस्तारक का अन्वेषण करे, वह इतना हल्का हो कि उसे एक हाथ से ग्रहण करके लाया जा सके। ऐसे शय्या-सस्तारक एक, दो या तीन दिन तक उसी बस्ती से गवेषणा करके लाया जा सकता है, इस प्रयोजन से कि यह शय्यासस्तारक मेरे हेमन्त या ग्रीष्म ऋतु मे काम आएगा।

३. श्रमण यथासम्भव हल्के शय्या-सस्तारक का अन्वेषण करे, वह इतना हल्का हो कि उसे एक हाथ से ग्रहण करके लाया जा सके। ऐसा शय्या-सस्तारक एक दो या तीन दिन तक उसी बस्ती से या निकट की अन्य बस्ती से गवेषणा करके लाया जा सकता है, इस प्रयोजन से कि—यह शय्या सस्तारक मेरे वर्षावास मे काम आएगा।

४ श्रमण यथासम्भव हल्के शय्या-सस्तारक की याचना करे, वह इतना हल्का हो कि उसे एक हाथ से उठाकर लाया जा सके। ऐसा शय्या-सस्तारक एक, दो, तीन, चार या पाच दिन तक उसी बस्ती से या अन्य दूर की बस्ती से भी गवेषणा करके लाया जा सकता है, इस प्रयोजन से कि यह शय्या-संस्तारक मेरे वृद्धावास मे काम आएगा।

विवेचन—पूर्व सूत्र में शय्या-सस्तारक शब्द से स्थान ग्रहण करने की विधि कही है और इन सूत्रो में पाट आदि ग्रहण करने का विधान किया है।

पाट आदि को प्रातिहारिक ही ग्रहण किया जाता है और आवश्यकता होने पर ही ग्रहण किया जाता है। क्योकि यह साधु की सामान्य उपधि नही है।

भाष्य मे अनावश्यक परिस्थिति से हेमन्त ऋतु के पाट आदि के ग्रहण करने का प्रायश्चित्त कहा है और वर्षाकाल मे ग्रहण नही करने वाले को प्रायश्चित्त का पात्र कहा है। इन भाष्य-विधानों में जीवरक्षा एव शारीरिक समाधि की मुख्य अपेक्षा दिखाई गई है। अत उन अपेक्षाओं को ध्यान मे रखकर ही भिक्षु को विवेकपूर्वक पाट आदि के ग्रहण करने या न करने का निर्णय करना चाहिए।

इन सूत्रो में यह बताया गया है कि जो भी पाट आदि लावे, वह इतना हल्का होना चाहिए कि एक हाथ से उठाकर लाया जा सके।

हेमन्त-ग्रीष्म काल के लिए आवश्यक पाट आदि की गवेषणा तीन दिन तक उसी ग्रामादि मे की जा सकती है, वर्षावास के लिए उसी ग्रामादि मे या अन्य निकट के ग्रामादि मे तीन दिन तक गवेषणा की जा सकती है और स्थविरवास के लिए पाट आदि की गवेषणा उत्कृष्ट पाच दिन तक उसी ग्रामादि मे या दूर के ग्रामादि मे भी की जा सकती है। ऐसा इन पृथक्-पृथक् तीन सूत्रो मे स्पष्ट किया गया है।

प्रथम सूत्र मे "अद्धाण" शब्द नही है, दूसरे सूत्र मे "अद्धाण" है और तीसरे सूत्र मे 'दूरमवि अद्धाण' शब्द है, इसी से तीनो सूत्रो के अर्थ मे कुछ-कुछ अन्तर है। शय्या-सस्तारक का अन्य विवेचन नि उ २ तथा उद्देशक पांच मे देखें।

एकाकी स्थविर के भण्डोपकरण और गोचरी जाने की विधि

५. थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दण्डए वा, भण्डए वा, छत्तए वा, मत्तए वा, लट्ठिया वा, भिसे वा, चेले वा, चेलचिलिमिलिं वा, चम्मे वा, चम्मकोसे वा, चम्मपलिच्छेयणए वा अविरहिए ओवासे ठवेत्ता गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए पविसित्तए वा, निक्खमित्तए वा।

कप्पइ णं सन्नियट्ठचारीणं दोच्चंपि उग्गहं अणुन्नवेत्ता परिहरित्तए।

५ स्थविरत्वप्राप्त (एकाकी) स्थविरो को दण्ड, भाण्ड, छत्र, मात्रक, लाठी, काष्ठ का आसन, वस्त्र, वस्त्र की चिलमिलिका, चर्म, चर्मकोष और चर्मपरिच्छेदनक अविरहित स्थान मे रखकर अर्थात् किसी को सम्भलाकर गृहस्थ के घर मे आहार के लिए जाना-आना कल्पता है।

भिक्षाचर्या, करके पुन: लौटने पर जिसकी देख-रेख मे दण्डादि रखे गये हैं, उससे दूसरी बार आज्ञा लेकर ग्रहण करना कल्पता है।

विवेचन—इस सूत्र में ऐसे एकाकी विचरण करने वाले भिक्षु का वर्णन है जो आचा श्रु. १ अ. ६ उ. २, सूय श्रु. १ अ १०, उत्तरा अ. ३२ गा. ५ तथा दशवै. चू. २ गा १० में निर्दिष्ट सपरिस्थितिक एकलविहारी है। साथ ही शरीर की अपेक्षा वृद्ध या अतिवृद्ध है, स्थविरकल्पी सामान्य भिक्षु है और कर्मसयोग से वृद्धावस्था तक भी वह अकेला रहकर यथाशक्ति सयम पालन कर रहा है।

शारीरिक कारणों से उसे अनेक औपग्रहिक उपकरण रखने पड़ रहे हैं। उन सभी उपकरणो को साथ लेकर गोचरी आदि के लिए वह नही जा सकता है। उसे असुरक्षित स्थान रहने को मिला हो तो वहा उन उपकरणो को छोडकर जाने पर बच्चे या कुत्ते उन्हे तोड-फोड दें या लेकर चले जाए अथवा चोर चुरा ले इत्यादि कारणो से सूत्र मे यह विधान किया गया है कि वह वृद्ध भिक्षु अपने उपकरणो की सुरक्षा के लिए किसी को नियुक्त करके जाए या पास मे ही कोई बैठा हो तो उसे सूचित करके जाए और पुनः आने पर उसे सूचित कर दे कि 'मैं आ गया हू' उसके बाद ही उन उपकरणों को ग्रहण करे।

शारीरिक स्थितियो से विवश अकेले वृद्ध भिक्षु के लिए भी इस सूत्र मे जो अपवादो का विधान किया गया है, इससे यह स्पष्ट होता है कि सूत्रकार की या जिनशासन की अत्यन्त उदार एव अनेकात दृष्टि है।

सूत्रोक्त वृद्ध भिक्षु चलते समय सहारे के लिए दण्ड या लाठी रखता है, गर्मी आदि से रक्षा के लिए छत्र रखता है, मल-मूत्र-कफ आदि विकारो के कारण अनेक मात्रक रखता है, मिट्टी के घडे आदि भाड भी रखता, अतिरिक्त वस्त्र-पात्र रखता है, मच्छर आदि के कारण मच्छरदानी भी रखता है, बैठने मे सहारे के लिए भृसिका—काष्ठ आसन करता है, चर्मखण्ड, चर्मकोष (उपानह जूता आदि) या चर्मछेदनक भी रखता है अर्थात् अपने आवश्यक उपयोगी कोई भी उपकरण रखता है। उनमे से जिन उपकरणो की गोचरी जाने के समय आवश्यकता न हो उनके लिए सूत्र में यह विधान किया गया है।

विशिष्ट साधना वाले पडिमाधारी या जिनकल्पी भिक्षु औपग्रहिक उपकरण रखने आदि के अपवादो का सेवन नही करते है और गच्छगत भिक्षु की ऐसी सूत्रोक्त परिस्थिति होना सम्भव भी नही है। क्योकि गच्छ मे अनेक वैयावृत्य करने वाले होते है।

अत परिस्थितिवश सामान्य बहुश्रुत भिक्षु भी जीवनपर्यन्त एकाकी रहकर यथाशक्ति सयम-मर्यादा का पालन करते हुए विचरण कर सकता, यह इस सूत्र से स्पष्ट होता है।

शय्या-संस्तारक के लिए पुनः आज्ञा लेने का विधान

६. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं वा, सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं दोच्चंपि ओग्गहं अणणुन्नवेत्ता बहिया नीहरित्तए।

७ कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं वा, सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं दोच्चंपि ओग्गहं अणुन्नवेत्ता बहिया नीहरित्तए।

८. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं वा, सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं सव्वप्पणा अप्पिणित्ता दोच्चं पि ओग्गहं अणणुन्नवेत्ता अहिट्ठित्तए।

९. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं वा, सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं सव्वप्पणा अप्पिणित्ता दोच्चं पि ओग्गहं अणुन्नवेत्ता अहिट्ठित्तए।

६ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को बाहर से लाया हुआ प्रातिहारिक शय्या-सस्तारक या शय्यातर का शय्या-सस्तारक दूसरी बार आज्ञा लिए बिना अन्यत्र ले जाना नही कल्पता है।

७ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को बाहर से लाया हुआ प्रातिहारिक शय्या-सस्तारक या शय्यातर का शय्या-सस्तारक दूसरी बार आज्ञा लेकर ही अन्यत्र ले जाना कल्पता है।

८. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को बाहर से लाया हुआ प्रातिहारिक शय्या-सस्तारक या शय्यातर का शय्या-सस्तारक सर्वथा सौप देने के बाद दूसरी बार आज्ञा लिए बिना काम मे लेना नही कल्पता है।

९ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को बाहर से लाया हुआ शय्या-संस्तारक या शय्यातर का शय्या-सस्तारक सर्वथा सौप देने के बाद दूसरी बार आज्ञा लेकर ही काम मे लेना कल्पता है।

विवेचन—शय्यातर का या अन्य गृहस्थ का शय्या-सस्तारक आदि कोई भी प्रातिहारिक उपकरण जिस मकान मे रहते हुए ग्रहण किया गया है, उसको दूसरे मकान मे ले जाना आवश्यक हो तो उसके स्वामी से आज्ञा प्राप्त करना या उसे सूचना करना आवश्यक है। अधिक जानकारी के लिए नि उ २ सू ५३ का विवेचन देखे।

किसी का पाट आदि कोई भी उपकरण लाया गया हो, उसे अल्पकाल के लिए आवश्यक न होने से उपाश्रय मे ही अपनी निश्रा से छोडा जा सकता है किंतु उसे जब कभी पुन लेना आवश्यक हो जाय तो दुबारा आज्ञा लेना जरूरी होता है, यह दूसरे सूत्रद्विक का आशय है। विशेष जानकारी के लिए नि उ. ५ सू २३ का विवेचन देखे।

शय्या-संस्तारक ग्रहण करने की विधि

१०. नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गंथीण वा पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हित्ता तओ पच्छा अणुन्नवेत्तए।

११ कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुव्वामेव ओग्गहं अणुन्नवेत्ता तओ पच्छा ओगिण्हित्तए।

१२. अह पुण एव जाणेज्जा—इह खलु निग्गंथाण वा निग्गथीण वा नो सुलभे पाडिहारिए सेज्जा संथारए त्ति कट्टु एवं णं कप्पइ पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हित्ता तओ पच्छा अणुन्नवेत्तए।

"मा वहउ अज्जो ! बिइयं" त्ति वइ अणुलोमेणं अणुलोमेयव्वे सिया।

१०. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को पहले शय्या-सस्तारक ग्रहण करना और बाद मे उनकी आज्ञा लेना नही कल्पता है।

११. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को पहले आज्ञा लेना और बाद में शय्या-संस्तारक ग्रहण करना कल्पता है।

१२. यदि यह जाने कि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को यहा प्रातिहारिक शय्या-सस्तारक सुलभ नही है तो पहले स्थान या शय्या-सस्तारक ग्रहण करना और बाद मे आज्ञा लेना कल्पता है। (किन्तु ऐसा करने पर यदि संयतों के और शय्या-सस्तारक के स्वामी के मध्य किसी प्रकार का कलह हो जाय तो आचार्य उन्हे इस प्रकार कहे--'हे आर्यो ! एक ओर तो तुमने इनकी वसति ग्रहण की है, दूसरी ओर इनसे कठोर वचन बोल रहे हो") "हे आर्यो ! इस प्रकार तुम्हे इनके साथ ऐसा दुहरा अपराधमय व्यवहार नही करना चाहिए।" इस प्रकार अनुकूल वचनो से आचार्य उस वसति के स्वामी को अनुकूल करे।

विवेचन—किसी भी स्थान पर बैठना या ठहरना हो तो भिक्षु को पहले आज्ञा लेनी चाहिए, बाद मे ही वहा ठहरना चाहिए। इसी प्रकार पाट आदि अथवा तृण आदि अन्य कोई भी पदार्थ लेने हो तो उनको पहले आज्ञा लेना चाहिए, बाद मे ही उसे ग्रहण करना या उपयोग मे लेना चाहिए।

किसी भी वस्तु की आज्ञा लेने के पहले ग्रहण करना और फिर आज्ञा लेना अविधि है। इससे तृतीय महाव्रत दूषित होता है। तथापि सूत्र मे मकान की दुर्लभता को लक्ष्य मे रखते हुए परिस्थितिवश कभी इस प्रकार अविधि से ग्रहण करने की आपवादिक छूट दी गई है। विशेष परिस्थिति के अतिरिक्त इस छूट का अति उपयोग या दुरुपयोग नही करना चाहिए तथा यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आपवादिक स्थिति का निर्णय गीतार्थ (बहुश्रुत) भिक्षु ही कर सकते है। अल्पज्ञ अबहुश्रुत-अगीतार्थ भिक्षु यदि ऐसा करे तो उसकी यह अनाधिकार चेष्टा है। फिर भी गीतार्थ-बहुश्रुत की निश्रा से वे इस अपवाद का आचरण कर सकते हैं।

इस सूत्र के अन्तिम वाक्य की व्याख्या मे बताया गया है कि--"जहा दुर्लभ शय्या हो उस गाव मे कुछ साधु आगे जाएँ और किसी उपयुक्त मकान मे आज्ञा लिए बिना ही ठहर जाएँ, जिससे मकान का मालिक रुष्ट होकर वाद-विवाद करने लगे। तब पीछे से अन्य भिक्षु या आचार्य पहुच कर उस साधु को आक्रोशपूर्वक कहे कि "अरे आर्य ! तू यह दुगुता अपराध क्यो कर रहा है। एक तो इनके मकान में ठहरा है, दूसरे इन्ही से वाद-विवाद कर रहा है। चुप रह, शाति रख।" इस प्रकार डाट कर फिर मकान-मालिक को प्रसन्न करते हुए नम्रता से वार्तालाप करके आज्ञा प्राप्त करे। अधिक विवेचन के लिए दशा द २ देखे।

पतित या विस्मृत उपकरण की एषणा

१३. निग्गंथस्स णं गाहावइकुलं पिण्डवाय पडियाए अणुपविट्ठस्स अण्णयरे अहालहुसए उवगरणजाए परिब्भट्ठे सिया। तं च केई साहम्मिए पासेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय जत्थेव अण्ण-मण्णं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—

प०—"इमे भे अज्जो ! किं परिण्णाए ?"

उ०—से य वएज्जा—"परिण्णाए" तस्सेव पडिणिज्जाएयव्वे सिया।

से य वएज्जा—"नो परिण्णाए" तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा नो अण्णमण्णस्स दावए, एगंते बहुफासुए थण्डिले परिट्ठवेयव्वे सिया।

१४. निग्गंथस्स णं बहिया वियारभूमिं वा, विहारभूमिं वा निक्खन्तस्स अण्णयरे अहालहुसए उवगरणजाए परिब्भट्ठे सिया।

तं च केइ साहम्मिए पासेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय जत्थेव अण्णमण्णं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—

प०—"इमे भे अज्जो ! किं परिण्णाए ?"

उ०—से य वएज्जा—"परिण्णाए" तस्सेव पडिणिज्जाएयव्वे सिया।

से य वएज्जा—"नो परिण्णाए" तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा, नो अण्णमण्णस्स दावए, एगंते बहुफासुए थण्डिले परिट्ठवेयव्वे सिया।

१५. निग्गंथस्स णं गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स अण्णयरे उवगरणजाए परिब्भट्ठे सिया।

तं च केई साहम्मिए पासेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय दूरमवि अद्धाण परिवहित्तए, जत्थेव अण्णमण्णं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—

प०—"इमे भे अज्जो ! किं परिण्णाए ?"

उ०—से य वएज्जा "परिण्णाए" तस्सेव पडिणिज्जाएयव्वे सिया।

से य वएज्जा—"नो परिण्णाए" तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा, नो अण्णमण्णस्स दावए, एगंते बहुफासुए थण्डिले परिट्ठवेयव्वे सिया।

१३ निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रवेश करे और कही पर उसका कोई लघु उपकरण गिर जाए, उस उपकरण को यदि कोई साधर्मिक श्रमण देखे तो 'जिसका यह उपकरण है उसे दे दूंगा' इस भावना से लेकर जाए और जहा किसी श्रमण को देखे, वहा इस प्रकार कहे—

प्र०—'हे आर्य ! इस उपकरण को पहचानते हो ?' (अर्थात् यह आपका है ?)

उ०—वह कहे—'हा पहचानता हूँ' (अर्थात् हा यह मेरा है) तो उस उपकरण को उसे दे दे।

यदि वह कहे—'मैं नही पहचानता हूँ।' तो उस उपकरण का न स्वय उपयोग करे और न अन्य किसी को दे किन्तु एकात प्रासुक (निर्जीव) भूमि पर उसे परठ दे।

१४. स्वाध्यायभूमि मे या उच्चार-प्रस्रवण-भूमि मे जाते-आते हुए निर्ग्रन्थ का कोई लघु उपकरण गिर जाए,

उस उपकरण को यदि कोई साधर्मिक श्रमण देखे तो—'जिसका यह उपकरण है, उसे दे दूंगा' इस भावना से लेकर जाए और जहा किसी श्रमण को देखे, वहां इस प्रकार कहे—

प्र०—'हे आर्य ! इस उपकरण को पहचानते हो ?'

उ०—वह कहे—'हा पहचानता हूँ'—तो उस उपकरण को उसे दे दे।

यदि वह कहे—'मैं नही पहचानता हूं'—तो उस उपकरण का न स्वय उपयोग करे और न अन्य किसी को दे किन्तु एकान्त प्रासुक भूमि पर उसे परठ दे।

१५ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए निर्ग्रन्थ का कोई उपकरण गिर जाए, उस उपकरण को यदि कोई साधर्मिक श्रमण देखे और 'जिसका यह उपकरण है, उसे दे दूंगा' इस भावना से वह उस उपकरण को दूर तक भी लेकर जाए और जहा किसी श्रमण को देखे, वहा इस प्रकार कहे—

प्र०—'हे आर्य ! इस उपकरण को पहचानते हो ?'

उ०—वह कहे—'हा पहचानता हूँ' तो उस उपकरण को उसे दे दे।

यदि वह कहे 'मैं नही पहचानता हूँ' तो उस उपकरण का न स्वय उपयोग करे और न अन्य किसी को दे, किन्तु एकान्त प्रासुक भूमि पर उसे परठ दे।

विवेचन—गोचरी, विहार आदि के लिए जाते-आते समय भिक्षु का कोई छोटा-सा उपकरण वस्त्रादि गिर जाय और उसी मार्ग से जाते हुए किसी अन्य भिक्षु को दिख जाय तो उसे उठा लेना चाहिए और यह अनुमान करना चाहिए कि 'यह उपकरण किस का है ?' फिर उन-उन भिक्षुओ को वह उपकरण दिखाकर पूछना चाहिए और जिसका हो उसे दे देना चाहिए। यदि वहां आस-पास उपस्थिति साधुओ मे से कोई भी उसे स्वीकार न करे तो यदि उपकरण छोटा है या अधिक उपयोगी नही है तो उसे परठ देना चाहिए। बडा उपकरण रजोहरणादि है तो कुछ दूर तक विहारादि मे साथ लेकर जावे और अन्य साधु जहा मिले, वहा उनसे पूछ लेना चाहिए।

यदि उस उपकरण का स्वामी ज्ञात न हो सके और वह उपयोगी उपकरण है एव उसकी आवश्यकता भी है तो गुरु एव अन्य गृहस्थ की आज्ञा लेकर अपने उपयोग में लिया जा सकता है। किन्तु अनुमान से पूछताछ या गवेषणा करने के पूर्व एव आज्ञा लेने के पूर्व उपयोग मे नही लेना चाहिए।

कोई वस्त्रादि साधु का मालूम पडे, परन्तु वह गृहस्थ का भी हो सकता है, अत: पुन: गृहस्थ की भी आज्ञा लेना आवश्यक हो जाता है।

सामान्यतया तो ऐसे अज्ञात स्वामी के उपकरण को उपयोग मे लेना ही नही चाहिए। क्योकि बाद मे उसके स्वामी द्वारा क्लेश आदि उत्पन्न होने की सभावना रहती है।

अथवा कभी किसी ने जानबूझ कर मन्त्रित करके उस उपकरण को मार्ग मे छोड़ा हो तो भी उपयोग में लेने पर अहित हो सकता है।

यदि वह प्राप्त उपकरण अच्छी स्थिति मे है तो उसे छिन्न-भिन्न करके नही परठना चाहिए। किन्तु अखड ही कही योग्य स्थान या योग्य व्यक्ति के पास स्पष्टीकरण करते हुए छोड देना चाहिए।

अतिरिक्त पात्र लाने का विधान

१६. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अइरेगपडिग्गहं अण्णमण्णस्स अट्ठाए दूरमवि अद्धाणं परिवहित्तए,

'सो वा णं धारेस्सइ, अहं वा णं धारेस्सामि, अण्णो वा णं धारेस्सइ', नो से कप्पइ ते अणापुच्छिय, अणामंतिय अण्णमण्णेसिं दाउं वा अणुप्पदाउं वा। कप्पइ से ते आपुच्छिय आमंतिय अण्णमण्णेसिं दाउं वा अणुप्पदाउं वा।

१६. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को एक-दूसरे के लिए अधिक पात्र बहुत दूर ले जाना कल्पता है।

'वह धारण कर लेगा, मैं रख लूंगा अथवा अन्य को आवश्यकता होगी तो उसे दे दूंगा।' इस प्रकार जिनके निमित्त पात्र लिया है, उन्हे लेने के लिए पूछे बिना, निमन्त्रण किये बिना, दूसरे को देना या निमन्त्रण करना नही कल्पता है।

उन्हे पूछने व निमन्त्रण करने के बाद अन्य किसी को देना या निमन्त्रण करना कल्पता है।

विवेचन—भिक्षु की प्रत्येक उपधि की कोई न कोई सख्या एव माप निश्चित होता है। यदि किसी उपधि का परिमाण आगम मे उपलब्ध नही होता है तो उसके विषय मे गण-समाचारी के अनुसार परिमाण का निर्धारण किया जाता है।

पात्र के विषय मे सख्या का निर्धारण आगम में स्पष्ट नही है। निर्युक्ति भाष्यादि मे एक पात्र अथवा मात्रक सहित दो पात्र का निर्धारण मिलता है, किन्तु आगम से अनेक पात्र रखना सिद्ध होने से वर्तमान गण-समाचारी अनुसार ४-६ या और अधिक रखने की भिन्न-भिन्न परपराए प्रचलित हैं। जिस गण की जो भी मर्यादा है, उससे अतिरिक्त पात्र ग्रहण करने का यहा विधान किया गया है अथवा जहा उपलब्ध हो वहा से अतिरिक्त पात्र मगाये जाते हैं। ऐसे पात्र ग्रहण करते समय जिस आचार्य-उपाध्याय का या व्यक्ति विशेष का निर्देश गृहस्थ के समक्ष किया हो, उन्हे ही पहले देना एव निमत्रण करना चाहिए। बाद में अन्य किसी को दिया जा सकता है।

निशीथ उ १४ सू. ५ मे गणी के उद्देश एव समुद्देश से पात्र ग्रहण करने का वर्णन है और वही पर सूत्र ६-७ मे असमर्थ को ही अतिरिक्त पात्र देने का विधान है। अत अतिरिक्त पात्र ग्रहण करके की अनुमति देना आचार्यादि गीतार्थों के अधिकार का विषय है। विशेष वर्णन के लिए निशीथ उ १४ का विवेचन देखे।

आहार की ऊनोदरी का परिमाण

१७. १. अट्ठ कुक्कुडिअडगप्पमाणमेत्ते कवले आहार आहारेमाणे अप्पाहारे।

२. दुवालस्स कुक्कुडिअडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे अवड्ढोमोयरिया।

३. सोलस कुक्कुडिअडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे दुभागपत्ते, अड्ढोमोयरिया।

४. चउव्वीस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे तिभागपत्ते, अंसिया।

५ एगतीस कुक्कुडिअडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे किंचूणोमोयरिया।

६ बत्तीसं कुक्कुडिअंडगप्पयाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे पमाणपत्ते।

७. एत्तो एक्केण वि कवलेण ऊणगं आहारं आहारेमाणे समणे निग्गंथे नो पकामभोइ त्ति वत्तव्वं सिया।

१७ १. अपने मुखप्रमाण आठ कवल आहार करने से अल्पाहार कहा जाता है।

२ अपने मुखप्रमाण बारह कवल आहार करने से कुछ अधिक अर्ध ऊनोदरिका कही जाती है।

३. अपने मुखप्रमाण सोलह कवल आहार करने से द्विभागप्राप्त आहार और अर्द्ध ऊनोदरी कही जाती है।

४. अपने मुखप्रमाण चौबीस कवल आहार करने से त्रिभागप्राप्त आहार और एक भाग ऊनोदरिका कही जाती है।

५ अपने मुखप्रमाण एकतीस कवल आहार करने से किंचित् ऊनोदरिका कही जाती है।

६ अपने मुखप्रमाण बत्तीस कवल आहार करने से प्रमाण प्राप्त आहार कहा जाता है।

इससे एक भी कवल कम आहार करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ प्रकामभोजी नहीं कहा जाता है।

विवेचन—भगवतीसूत्र शतक ७ तथा श २५ एव उववाईसूत्र मे भी ऊनोदरी तप के विषय मे ऐसा ही कथन है। 'आहारद्रव्य-ऊनोदरी' के स्वरूप के साथ ही वहा उपकरण-ऊनोदरी आदि भेदो का भी स्पष्टीकरण किया गया है।

उत्तरा अ. ३० के तप-वर्णन मे आहार-ऊनोदरी का ही कथन किया है। उपकरण-ऊनोदरी आदि भेदो की विवक्षा वहा नही की है। वहा पर आहार-ऊनोदरी के ५ भेद कहे हैं—(१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल, (४) भाव और (५) पर्याय से।

(१) द्रव्य से—अपनी पूर्ण खुराक से कम खाना। (२) क्षेत्र से—ग्रामादि क्षेत्र सबधी अभिग्रह करना अथवा भिक्षाचरी मे भ्रमण करने के मार्ग का पेटी आदि छ आकार में अभिग्रह करना। (३) काल से—गोचरी लाने व खाने का प्रहर, घटा आदि रूप मे अभिग्रह करना। (४) भाव से—घर मे रहे पदार्थों से या स्त्री पुरुषो के वर्ण, वस्त्र-भाव आदि से अभिग्रह करना। (५) पर्याय से—उपरोक्त द्रव्यादि चार प्रकारो मे से एक-एक का अभिग्रह करना उन-उन भेदो मे समाविष्ट है और इन चार मे से अनेक अभिग्रह एक साथ करना 'पर्याय ऊनोदरी' है।

प्रस्तुत सूत्र मे इन पांचो मे से प्रथम द्रव्य ऊनोदरी का निम्न पाच भेदो द्वारा वर्णन किया है—

(१) **अल्पाहार**—एक कवल, दो कवल यावत् आठ कवल प्रमाण आहार करने पर अल्पाहार ऊनोदरी होती है।

(२) **अपार्ध-ऊनोदरी**—नव से लेकर बारह कवल अथवा पन्द्रह कवल प्रमाण आहार करने पर आधी खुराक से कम आहार किया जाता है। उसे "अपार्द्ध ऊनोदरी" कहते हैं, अर्थात् पहली अल्पाहार रूप ऊनोदरी है और दूसरी आधी खुराक से कम आहार करने रूप ऊणोदरी है।

(३) **द्विभागप्राप्त ऊनोदरी (अर्द्ध ऊनोदरी)**—१६ कवल प्रमाण आहार करने पर अर्द्ध खुराक का आहार किया जाता है जो पूर्ण खुराक के चार भाग विवक्षित करने पर दो भाग रूप होती है, अतः इसे सूत्र मे "द्विभागप्राप्त ऊनोदरी" कहा है और दो भाग की ऊनोदरी होने से इसे "अर्द्ध ऊनोदरी" भी कह सकते हैं।

(४) **त्रिभागप्राप्त-अंसिका ऊनोदरी**—२४ कवल (२७ से ३० कवल) प्रमाण आहार करने पर त्रिभाग आहार होता है और एक भाग आहार की ऊनोदरी होती है। इसके लिए सूत्र मे "अंशिका-ऊनोदरी" शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें आहार के चार भाग मे से तीन भाग का आहार किया जाता है, अत. यह त्रिभागप्राप्त आहाररूप ऊनोदरी है। अथवा इसे 'पाव ऊनोदरी' भी

कह सकते हैं। इस स्थल पर लिपि दोष से प्रतियो के पाठभेद हो गये है, अतः यहा अन्य आगमो से पाठ सुधारा गया है। प्रतियो में **'ओमोयरिए' 'पत्तोमोयरिए'** ऐसे पाठ उपलब्ध होते हैं।

(५) **किंचित्-ऊनोदरी**—३१ कवल प्रमाण आहार करने पर एक कवल की ही ऊनोदरी होती है जो ३२ कवल आहार की अपेक्षा अल्प होने से 'किंचित् ऊनोदरी' कहा गया है।

सूत्र के अतिम अश से यह स्पष्ट किया गया है कि इन पाच मे से किसी भी प्रकार की ऊनोदरी करने वाला भिक्षु प्रकामभोजी (भरपेट खाने वाला) नही होता।

३२ कवल रूप पूर्ण आहार करने वाला प्रमाणप्राप्तभोजी कहा गया है। उसके किंचित् भी ऊनोदरी नही होती है।

भिक्षु को इन्द्रियसयम एव ब्रह्मचर्यसमाधि के लिए सदा ऊनोदरी तप करना आवश्यक है, अर्थात् उसे कभी भरपेट आहार नही करना चाहिए।

आचा श्रु. १ अ. ९ उ. ४ मे भगवान् महावीर स्वामी के आहार-विहार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि भगवान् स्वस्थ अवस्था में भी सदा ऊनोदरीतप युक्त आहार करते थे। यथा—

ओमोयरियं चाएइ अपुट्ठे वि भगवं रोगेहिं। गा १

नीति मे भी कहा गया है कि—

संत सती ने सूरमा, चौथी विधवा नार।
ऐता तो भूखा भला धाया करे उत्पात॥

सूत्र मे कवलप्रमाण को स्पष्ट करने के लिए 'कुक्कुटिअडकप्रमाण' ऐसा विशेषण लगाया गया है। इस विषय मे व्याख्याग्रन्थो मे इस प्रकार स्पष्टीकरण किये गए हैं—

(१) **निजकस्याहारस्य सदा यो द्वात्रिंशत्तमो भागो तत् कुक्कुटीप्रमाणे**—अपनी आहार की मात्रा का जो सदा बत्तीसवा भाग होता है, वह कुक्कुटीअडकप्रमाण अर्थात् उस दिन का कवल कहा जाता है

(२) **कुत्सिता कुटी-कुक्कुटी शरीरमित्यर्थः। तस्याः शरीररूपायाः कुक्कुट्या अंडकमिव अंडकं-मुख**—अशुचि मय यह शरीर ही कुकुटी है, उसका जो मुख है वह कुकुटी का अडक कहा गया है।

(३) **यावत्प्रमाणमात्रेण कवलेन मुखे प्रक्षिप्यमाणेन मुखं न विकृतं भवति तत्स्थल कुक्कुट-अंडक-प्रमाणम्**—जितना बड़ा कवल मुख मे रखने पर मुख विकृत न दिखे उतने प्रमाण का एक कवल समझना चाहिए। उस कवल के समावेश के लिये जो मुख का भीतरी आकार बनता है, उसे कुक्कुटी-अडकप्रमाण समझना चाहिए।

(४) **अयमन्यः विकल्पः कुक्कुटं अंडकोपमे कवले**--अथवा कुकडी के अंडे के प्रमाण जितना कवल, यह भी अर्थ का एक विकल्प है।

—**'ऊणोयरिया'** —अभि. रा. कोष भा २, पृ. ११८२

उपर्युक्त व्याख्यास्थलो पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि **'कुक्कुडिअडंग'** इतना शब्द न होने पर भी सूत्राशय स्पष्ट हो जाता है और यह शब्द भ्रमोत्पादक भी है, अतः यह शब्द कभी

किसी के द्वारा प्रक्षिप्त किया गया हो और व्याख्याकारो ने इसे मौलिक पाठ समझ कर ज्यों-त्यो करके संगति करने की कोशिश की हो।

व्याख्या मे यह भी कहा गया है कि एक दिन पूर्ण आहार करने वाला 'प्रकामभोजी' है, अनेक दिन पूर्ण आहार करने वाला 'निकामभोजी' है और ३२ कवल से भी अधिक खाने वाला 'अतिभोजी है।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि बत्तीस कवल के आहार से जो सपूर्ण माप कहा गया है वह प्रत्येक बार के भोजन की अपेक्षा से है या अनेक बार के भोजन की अपेक्षा से ? तथा दूध, छाछ आदि पेय पदार्थों का समावेश इन ३२ कवल मे किस प्रकार होता है ?

समाधान—आचारशास्त्रो के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दिन मे एक बार भोजन करना ही भिक्षु का शुद्ध उत्सर्ग आचार है। आगमों मे अनेक जगह अन्य समय मे आहार करने का जो विधान है, उसे आपवादिक विधान समझना चाहिए। आपवादिक आचरण को सदा के लिए प्रवृत्ति रूप मे स्वीकार कर लेना शिथिलाचार है। अत कारणवश अनेक बार या सुबह शाम आहार करना ही अपवादमार्ग है। उत्सर्गमार्ग तो एक बार खाने का ही है। अत आगमोक्त एक बार के औत्सर्गिक आहार करने की अपेक्षा यह विधान है।

जितने आहार से पेट पूर्ण भर जाय, पूर्ण तृप्ति हो जाय अथवा जिससे भूख रहने का या और कुछ खाने का मन न हो, ऐसी संपूर्ण मात्रा को ३२ कवल में विभाजित कर लेना चाहिए। इसमे दूध रोटी फल आदि सभी को समाविष्ट समझना चाहिए। अनुमान से जितने-जितने कवल प्रमाण भूख रखी जाय, उतनी-उतनी ऊनोदरी समझनी चाहिए।

समान्यतया उत्सर्गमार्ग से भिक्षु का आहार विगयरहित होता है, अत' रोटी आदि की अपेक्षा ३२ कवल समझना और भी सरल हो जाता है।

इसी के आधार से यह फलित होता है कि कारण से अनेक बार किये जाने वाले आहार का कुल योग ३२ कवल होना चाहिए। अत अनेक बार आहार करना हो तो ३२ कवलो को विभाजित करके समझ लेना चाहिए।

अनेक दिनो तक एक वक्त विगयरहित सामान्य आहार करके कुल खुराक का माप रोटी की सख्या मे कायम किया जा सकता है।

आठवें उद्देशक का सारांश

सूत्र १ स्थविर गुरु आदि की आज्ञा से शयनासनभूमि ग्रहण करना।

२-४ पाट आदि एक हाथ से उठाकर सरलता से लाया जा सके, वैसा ही लाना। उसकी गवेषणा तीन दिन तक की जा सकती है और स्थविरवास के अनुकूल पाट की गवेषणा पाच दिन तक की जा सकती है एव अधिक दूर से भी लाया जा सकता है।

५ एकलविहारी वृद्ध भिक्षु के यदि अनेक प्रकार के औपग्रहिक उपकरण हों तो उन्हे भिक्षाचारी आदि जाते समय किसी की देखरेख मे छोडकर जाना एव पुन. आकर उसे सूचित करके ग्रहण करना।

सूत्र ६-९ किसी गृहस्थ का शय्या-सस्तारक आदि अन्य उपाश्रय (मकान) मे ले जाना हो तो उसकी पुनः आज्ञा लेना। कभी अल्पकाल के लिए कोई पाट आदि उपाश्रय में ही छोड दिया हो तो उसे ग्रहण करने के लिये पुन आज्ञा लेना, किन्तु बिना आज्ञा ग्रहण नही करना। क्योकि उसे अपनी निश्रा से कुछ समय के लिए छोड़ दिया गया है।

१०-१२ मकान पाट आदि की पहले आज्ञा लेना बाद में ग्रहण करना। कभी दुर्लभ शय्या की परिस्थिति मे विवेकपूर्वक पहले ग्रहण करके फिर आज्ञा ली जा सकती है।

१३-१५ चलते समय मार्ग मे किसी भिक्षु का उपकरण गिर जाय और अन्य भिक्षु को मिल जाय तो पूछताछ कर जिसका हो उसे दे देना। कोई भी उसे स्वीकार न करे तो परठ देना। रजोहरणादि बड़े उपकरण हो, तो अधिक दूर भी ले जाना और पूछ-ताछ करना।

१६ अतिरिक्त पात्र आचार्यादि के निर्देश से ग्रहण किए हो तो उन्हे ही देना या सुपुर्द करना। जिसे देने की इच्छा हो, उन्हे स्वतः ही नही देना। जिसका नाम निर्देश करके लिया हो तो आचार्य की आज्ञा लेकर पहले उसे ही देना।

१७ सदा कुछ न कुछ ऊनोदरी तप करना चाहिए। ऊनोदरी करने वाला प्रकामभोजी नही कहा जाता है।

उपसंहार इस उद्देशक मे—

सूत्र १-४, ६-१२ शयनासन पाट आदि के ग्रहण करने आदि का,

५ एकाकी वृद्ध स्थविर का,

१३-१५ खोए गए उपकरणो का,

१६ अतिरिक्त पात्र लाने देने का,

१७ आहार की ऊनोदरी का,

इत्यादि विषयो का कथन किया गया है।

॥ आठवां उद्देशक समाप्त ॥

नवम उद्देशक

शय्यातर के पाहुणे, नौकर एवं ज्ञातिजन के निमित्त से बने आहार के लेने का विधि-निषेध

१. सागारियस्स आएसे अन्तो वगडाए भुंजए, निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२. सागारियस्स आएसे अंतो वगडाए भुंजए, निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

३. सागारियस्स आएसे बाहिं वगडाए भुंजइ, निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

४ सागारियस्स आएसे बाहिं वगडाए भुंजइ, निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए, तम्हा दावए एव से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

५. सागारियस्स दासे वा, पेसे वा, भयए वा, भइण्णए वा अतो वगडाए भुंजइ निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

६. सागारियस्स दासे वा, पेसे वा, भयए वा, भइण्णए वा अन्तो वगडाए भुंजइ, निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

७. सागारियस्स दासे वा, पेसे वा, भयए वा, भइण्णए वा बाहिं वगडाए भुंजइ, निट्ठिए निसट्ठे पाडिहारिए, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

८. सागारियस्स दासे वा, पेसे वा, भयए वा, भइण्णए वा बाहिं वगडाए भुंजइ, निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

९. सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स एगवगडाए अंतो सागारियस्स एगपयाए, सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१०. सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स एगवगडाए अंतो सागारियस्स अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

११. सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स एगवगडाए बाहिं सागारियस्स एगपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१२. सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स एगवगडाए बाहिं सागारियस्स अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१३. सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमण-पवेसाए अंतो सागारियस्स एगपयाए सागारिय चोवजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१४. सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमण-पवेसाए अंतो सागारियस्स अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१५. सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमण-पवेसाए बाहिं सागारियस्स एगपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१६. सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमण-पवेसाए बाहिं सागारियस्स अभिनिपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१ शय्यातर के यहा किसी आगन्तुक के लिये आहार बनाया गया हो, उसे प्रातिहारिक दिया गया हो, वह उसके घर के भीतरी भाग में जीमता हो, उस आहार मे से वह आगन्तुक दे तो साधु को लेना नही कल्पता है।

२. शय्यातर के यहा किसी आगन्तुक के लिये आहार बनाया गया हो, उसे अप्रातिहरिक दिया गया हो, वह उसके घर के भीतरी भाग मे जीमता हो, उस आहार मे से वह आगन्तुक दे तो साधु को लेना कल्पता है।

३ शय्यातर के यहा किसी आगन्तुक के लिये आहार बनाया गया हो, उसे खाने के लिए प्रातिहारिक दिया गया हो, वह उसके घर के बाह्यभाग मे जीमता हो, उस आहार मे से वह आगन्तुक दे तो साधु को लेना नही कल्पता है।

४ शय्यातर के यहा किसी आगन्तुक के लिये घर के बाह्यभाग मे आहार बनाया गया हो, उसे खाने के लिये अप्रातिहारिक दिया गया हो, वह उसके घर के बाह्यभाग मे जीमता हो, उस आहार मे से वह आगन्तुक दे तो साधु को लेना कल्पता है।

५ शय्यातर के दास, प्रेष्य, भृतक और नौकर के लिए आहार बना हो, उसे प्रातिहारिक दिया गया हो, वह उसके घर के भीतरी भाग मे जीमता हो, उस आहार में से वह साधु को दे तो लेना नही कल्पता है।

६ शय्यातर के दास, प्रेष्य, भृतक और नौकर के लिए आहार बना हो, उसे अप्रातिहारिक दिया गया हो, वह उसके घर के भीतरी भाग मे जीमता हो, उस आहार में से वह साधु को दे तो लेना कल्पता है।

७ शय्यातर के दास, प्रेष्य, भृतक और नौकर के लिए आहार बना हो, उसे प्रातिहारिक

दिया गया हो, वह घर के बाह्यभाग मे जीमता हो, उस आहार में से वह साधु को दे तो लेना नही कल्पता है।

८. शय्यातर के दास, प्रेष्य, भृतक और नौकर के लिए आहार बना हो, उसे अप्रातिहारिक दिया गया हो, वह घर के बाह्यभाग मे जीमता हो, उस आहार मे से वह साधु को दे तो लेना कल्पता है।

९ सागारिक (शय्यातर) का स्वजन सागारिक के घर मे सागारिक के एक ही चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से आहार निष्पन्न कर जीवननिर्वाह करता है। यदि वह उस आहार मे से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को देता है तो उन्हें लेना नही कल्पता है।

१० सागारिक का स्वजन यदि सागारिक के घर मे ही सागारिक के चूल्हे से भिन्न चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से आहारादि निष्पन्न कर जीवननिर्वाह करता है। यदि वह उस आहार मे से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को देता है तो उन्हे लेना नही कल्पता है।

११. सागारिक का स्वजन सागारिक के घर के बाह्यविभाग मे सागारिक के ही चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से आहार निष्पन्न कर उससे जीवननिर्वाह करता है। यदि वह उस आहार मे से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को देता है तो उन्हें लेना नही कल्पता है।

१२ सागारिक का स्वजन सागारिक के घर के बाह्यविभाग मे सागारिक के चूल्हे से भिन्न चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से आहार निष्पन्न कर उससे जीवननिर्वाह करता है। यदि वह उस आहार मे से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को देता है तो उन्हे लेना नही कल्पता है।

१३ सागारिक का स्वजन सागारिक के घर के भिन्न गृहविभाग मे तथा एक निष्क्रमण-प्रवेश द्वार वाले गृह मे सागारिक के ही चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से आहार निष्पन्न कर उससे जीवननिर्वाह करता है। यदि वह उस आहार मे से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को देता है तो उन्हे लेना नही कल्पता है।

१४ सागारिक का स्वजन सागारिक के घर के भिन्न गृहविभाग मे तथा एक निष्क्रमण-प्रवेश-द्वार वाले गृह मे सागारिक के चूल्हे से भिन्न चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से आहार निष्पन्न कर उससे जीवननिर्वाह करता है। यदि वह उस आहार मे से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को दे तो उन्हे लेना नही कल्पता है।

१५. सागारिक का स्वजन सागारिक के गृह के विभिन्नगृहविभाग मे तथा एक निष्क्रमण-प्रवेश-द्वार वाले गृह के बाह्य भाग मे सागारिक के चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से आहार निष्पन्न कर उससे जीवननिर्वाह करता है। यदि वह उस आहार मे से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को देता है तो उन्हे लेना नही कल्पता है।

१६. सागारिक का स्वजन सागारिक के गृह के भिन्न गृहविभाग मे तथा एक निष्क्रमण-प्रवेश-द्वार वाले गृह के बाह्यभाग मे सागारिक के चूल्हे से भिन्न चूल्हे पर सागारिक की ही सामग्री से आहार

निष्पन्न कर उससे जीवननिर्वाह करता है। यदि वह उस आहार में से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को देता है तो उन्हे लेना नही कल्पता है।

विवेचन—शय्यातर का आहार पाहुणो (मेहमानो) के एवं नौकरो को नियत किये अनुसार परिपूर्ण दे दिया गया हो तो उसमे से भिक्षु ग्रहण कर सकता है।

यदि पाहुणो को या नौकरो को थोडा थोडा दिया जा रहा है एव आवश्यकता होने पर वे पुनः ले सकते है और अवशेष रहने पर लौटा भी सकते है, ऐसा आहार साधु नही ले सकता है।

शय्यातर के सहयोग से ही जो ज्ञातिजन जीवन व्यतीत करते हो अर्थात् उनका सम्पूर्ण खर्च शय्यातर ही देता हो तो भिक्षु उसके आहार को ग्रहण नही कर सकता। यही अर्थ (९ से १६) आठ सूत्रों मे कहा गया है। आशय यह है कि वे ज्ञातिजन शय्यातर के घर के अन्दर या बाहर किसी चूल्हे पर भोजन बनावे एव उसका चौका अलग हो या शामिल हो, किसी भी विकल्प में उसका आहारादि नही कल्पता है।

इससे यह तात्पर्य समझना चाहिए कि शय्यातर के ज्ञातिजन या अन्य को मर्यादित खर्च दिया जाता हो और घट-बध का जिम्मेवार वह शय्यातर नही हो तो उनका आहारादि ग्रहण किया जा सकता है।

शय्यातरपिंड सबधी अन्य जानकारी निशीथ उ २, बृहत्कल्प उ २, दशा द २ एव व्यव उ. ६ मे देखे।

शय्यातर के भागीदारी वाली विक्रयशालाओं से आहार लेने का विधि-निषेध

१७ सागारियस्स चक्कियासाला साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१८. सागारियस्स चक्कियासाला निस्साहारण-वक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए एव से नो कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१९ सागारियस्स गोलियसाला साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२०. सागारियस्स गोलियसाला निस्साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२१. सागारियस्स बोधियसाला साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२२. सागारियस्स बोधियसाला निस्साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२३. सागारियस्स दोसियसाला साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२४. सागारियस्स दोसियसाला निस्साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२५. सागारियस्स सोत्तियसाला साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२६. सागारियस्स सोत्तियसाला निस्साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए एव से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२७. सागारियस्स बोंडियसाला साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२८. सागारियस्स बोंडियसाला निस्साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, एव से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

२९. सागारियस्स गंधियसाला साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

३०. सागारियस्स गधियसाला निस्साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए एव से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

३१. सागारियस्स सोंडियसाला साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

३२. सागारियस्स सोंडियसाला निस्साहारणवक्कय-पउत्ता, तम्हा दावए, एव से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

३३. सागारियस्स ओसहीओ संथडाओ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

३४. सागारियस्स ओसहीओ असंथडाओ, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

३५. सागारियस्स अम्बफला संथडाओ, तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

३६. सागारियस्स अम्बफला असंथडा, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

१७. सागारिक (शय्यातर) की हिस्सेदारी वाली चक्रिकाशाला (तेल की दुकान) मे से सागारिक का साझेदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को तेल देता है तो उन्हे लेना नही कल्पता है।

१८ सागारिक की सीर (हिस्सेदारी) वाली तेल की दुकान में से सागारिक का साझीदार सागरिक के बिना सीर का तेल देता है तो साधु को लेना कल्पता है।

१९ सागारिक के सीर वाली गुड़ की दुकान मे से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को गुड देता है तो उन्हे लेना नही कल्पता है।

२० सागारिक के सीर वाली गुड़ की दुकान मे से सागारिक का साझीदार सागारिक के बिना सीर का गुड़ देता है तो साधु को लेना कल्पता है।

२१ सागारिक के सीर वाली बोधियशाला (किराणे की दुकान) मे से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को किराणे की वस्तु देता है तो उन्हें लेना नही कल्पता है।

२२ सागारिक के सीर वाली किराणे की दुकान में से सागारिक का साझीदार सागारिक के बिना सीर की किराणे की वस्तु देता है तो उन्हे लेना कल्पता है।

२३ सागारिक के सीर वाली दोसियशाला (कपडे की दुकान) मे से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को वस्त्र देता है तो उन्हे लेना नही कल्पता है।

२४. सागारिक के सीर वाली कपड़े की दुकान मे से सागारिक का साझीदार सागारिक के बिना सीर का कपड़ा देता है तो साधु को लेना कल्पता है।

२५ सागारिक के सीर वाली सूत (धागे) की दुकान मे से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को सूत देता है तो उन्हे लेना नही कल्पता है।

२६ सागारिक के सीर वाली सूत की दुकान मे से सागारिक का साझीदार मागारिक के बिना सीर का सूत देता है तो साधु को लेना कल्पता है।

२७ सागारिक के सीर वाली बोडियशाला (रूई की दुकान) मे से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को रूई देता है तो उन्हे लेना नही कल्पता है।

२८ सागारिक के सीर वाली रूई की दुकान मे से सागारिक का साझीदार सागारिक के बिना सीर की रूई देता है तो लेना कल्पता है।

२९ सागारिक के सीर वाली गन्धियशाला मे से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को सुगन्धित पदार्थ देता है तो उन्हे लेना नही कल्पता है।

३० सागारिक के सीर वाली गन्धियशाला मे से सागारिक का साझीदार सागारिक के बिना सीर का सुगन्धित पदार्थ देता है तो साधु को लेना कल्पता है।

३१ सागारिक के सीर वाली मिष्ठान्नशाला में से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को मिठाई देता है तो लेना नही कल्पता है।

३२. सागारिक के सीर वाली मिष्ठान्नशाला मे से सागारिक का साझीदार सागारिक के बिना सीर की मिठाई देता है तो उन्हें लेना कल्पता है।

३३. सागारिक के सीर वाली भोजनशाला मे से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को आहार देता है तो लेना नही कल्पता है।

३४. सागारिक के सीर वाली भोजनशाला से सागारिक का साझीदार बटवारे मे प्राप्त खाद्य सामग्री मे से देता है तो साधु को लेना कल्पता है।

३५. सागारिक के सीर वाले आम्र आदि फलो मे से सागारिक का साझीदार निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को आम्रादि देता है तो उन्हे लेना नही कल्पता है।

३६. सागारिक के सीर वाले आम्रादि फलो मे से सागारिक का साझीदार बटवारे मे प्राप्त आम्र आदि फल यदि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को देता है तो उन्हे लेना कल्पता है।

विवेचन—पूर्व सूत्रो मे शय्यातरपिंड घरो मे से लेने, न लेने का विधान किया गया है और इन सूत्रो मे विक्रयशाला अर्थात् दुकानो मे से खाद्यपदार्थ या अन्य वस्त्रादि लेने, न लेने का विधान किया गया है।

इन सूत्रो का आशय यह है कि शय्यातर एव अशय्यातर (अन्य गृहस्थ) की सामूहिक विक्रय-शाला हो, उसमे कभी-कोई विभाजित वस्तु मे शय्यातर का स्वामित्व न हो या कोई पदार्थ अन्य गृहस्थ के स्वतन्त्र स्वामित्व का हो तो उसे ग्रहण करने पर शय्यातरपिंड का दोष नही लगता है। अत सूत्रोक्त दुकानो से वे पदार्थ गृहस्थ के निमन्त्रण करने पर या आवश्यक होने पर विवेकपूर्वक ग्रहण किये जा सकते हैं।

सूत्रगत विक्रयशाला के पदार्थ इस प्रकार है—

(१) तेल आदि, (२) गुड आदि, (३) अनाज किराणा के कोई अचित्त पदार्थ, (४) वस्त्र, (५) सूत, (धागे), (६) कपास (रूई), (७) सुगधित तेल इत्रादि (ग्लान हेतु औषध रूप मे), (८) मिष्ठान्न (९) भोजनसामग्री (१०) आम्रादि अचित्त फल (उबले हुए या गुठली रहित खण्ड)।

इन सूत्रो से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधु-साध्वी घरों के अतिरिक्त कभी कही दुकान से भी कल्प्यवस्तु ग्रहण कर सकते हैं। दशवै अ ५ उ. १ गा ७२ मे भी रज से युक्त खाद्यपदार्थ हो तो विक्रयशाला से लेने का निषेध किया गया है, अर्थात् रजरहित हो तो वे ग्रहण किए जा सकते है।

यहां टीकाकार ने स्पष्ट किया है कि क्षेत्र, काल, व्यक्ति एव जनसाधारण के वातावरण का अवश्य ही विवेक रखना चाहिए। अन्यथा दुकानो से पदार्थ ग्रहण करने मे साधु की या जिनशासन की हीलना हो सकती है।

"सोंडियसाला—"सुखडी" तिप्रसिद्धमिष्ठान्नविक्रयशाला कांदविकापण इत्यर्थः—कंदोई की दुकान। —नि. भाष्य (घासी)

भाष्यादि मे "मद्यशाला" अर्थ किया है, किन्तु साधु-साध्वियो का मद्य-मास से कोई सम्पर्क ही नही होता है, क्योकि वे पदार्थ आगम मे नरक के कारणभूत कहे गये हैं । अत. उपर्युक्त अर्थ ही सगत है। इस विषय की अधिक जानकारी निशीथ उ. १९ सू. १ के विवेचन मे देखे ।

सप्तसप्ततिका आदि भिक्षुप्रतिमाएं

३७ सत्त-सत्तमिया णं भिक्खुपडिमा एगूणपन्नाए राइंदिएहिं एगेणं छन्नउएण भिक्खासएणं अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

३८ अट्ठ-अट्ठमिया णं भिक्खुपडिमा चउसट्ठीए राइंदिएहिं दोहिं य अट्ठासिएहिं भिक्खासएहिं अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

३९ नव-नवमिया णं भिक्खुपडिमा एगासीए राइंदिएहिं चउहिं य पंचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

४०. दस-दसमिया णं भिक्खुपडिमा एगेण राइंदियसएण अद्धछट्ठेहिं य भिक्खासएहिं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

३७. सप्तसप्तमिका—सप्त-सप्तदिवसीय भिक्षुप्रतिमा उनचास अहोरात्र मे एक सौ छियानवे भिक्षादत्तियो से सूत्रानुसार यावत् जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

३८ अट्ठअट्ठमिया—अष्ट-अष्टदिवसीय भिक्षुप्रतिमा चौसठ अहोरात्र मे दो सौ अठासी भिक्षादत्तियो से सूत्रानुसार यावत् जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

३९ नवनवमिया—नौ-नौदिवसीय भिक्षुप्रतिमा इक्यासी अहोरात्र मे चार सौ पाच भिक्षादत्तियो से सूत्रानुसार यावत् जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

४० दसदसमिया—दश-दशदिवसीय भिक्षुप्रतिमा सौ अहोरात्र मे पाच सौ पचास भिक्षादत्तियो से सूत्रानुसार यावत् जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

विवेचन—इन सूत्रो मे चार प्रतिमाओ का वर्णन किया गया है, जिनकी आराधना साधु-साध्वी दोनो ही कर सकते हैं ।

अतगडसूत्र के आठवे वर्ग मे सुकृष्णा आर्या द्वारा इन भिक्षुप्रतिमाओ की आराधना करने का वर्णन है ।

इन प्रतिमाओ मे साध्वी भी स्वयं अपनी गोचरी लाती है, जिसमे निर्धारित दिनो तक भिक्षादत्ति की मर्यादा का पालन किया जाता है । इन प्रतिमाओ में निर्धारित दत्तियों से कम दत्तिया ग्रहण की जा सकती हैं या अनशन तपस्या भी की जा सकती है । किन्तु किसी भी कारण से मर्यादा से अधिक दत्ति ग्रहण नही की जा सकती है ।

इन प्रतिमाओं मे उपवास आदि तप करना आवश्यक नही होता है, स्वाभाविक ही प्राय: सदा ऊनोदरी तप हो जाता है ।

सप्तसप्तमिका भिक्षुप्रतिमा—प्रथम सात दिन तक एक-एक दत्ति, दूसरे सात दिन तक दो-दो दत्ति, यो क्रमशः सातवे सप्तक मे सात-सात दत्ति ग्रहण की जाती है । इस प्रकार सात सप्तक के ४९ दिन होते हैं और भिक्षादत्ति की कुल अधिकतम सख्या १९६ होती है । ये दत्तिया आहार की अपेक्षा से हैं । पानी की अपेक्षा भी इतनी ही दत्तिया समझ लेनी चाहिए ।

इसी प्रकार अष्टअष्टमिका भिक्षुप्रतिमा—आठ अष्टक से ६४ दिनो मे पूर्ण की जाती है । जिसमें प्रथम आठ दिन मे एक दत्ति आहार की एव एक ही दत्ति पानी की ली जाती है । इस प्रकार बढ़ाते हुए आठवे अष्टक मे प्रतिदिन आठ दत्ति आहार की एव आठ दत्ति पानी की ली जा सकती है । इस प्रकार कुल ६४ दिन और २८८ भिक्षादत्ति हो जाती हैं ।

इसी प्रकार "नवनवमिका" और दसदसमिकाप्रतिमा—के भी सूत्रोक्त दिन और दत्तियों का प्रमाण समझ लेना चाहिए ।

बृहत्कल्प उ ५ मे साध्वी को अकेले गोचरी जाने का भी निषेध किया है । अत: इन प्रतिमाओ मे स्वतन्त्र गोचरी लाने वाली साध्वी के साथ अन्य साध्वियों को रखना आवश्यक है, किन्तु गोचरी तो वह स्वय ही करती है ।

इन प्रतिमाओ को भी सूत्र मे "भिक्षुप्रतिमा" शब्द से ही सूचित किया गया है । फिर भी इनको धारण करने मे बारह भिक्षुप्रतिमाओ के समान पूर्वो का ज्ञान या विशिष्ट सहनन की आवश्यकता नही होती है ।

मोक-प्रतिमा-विधान

४१ दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—१ खुड्डिया वा मोयपडिमा, २ महल्लिया वा मोयपडिमा । खुड्डियं णं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ पढम-सरय-कालसमयंसि वा चरिम-निदाह-कालसमयंसि वा, बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा वणंसि वा वणदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयदुग्गंसि वा । भोच्चा आरुभइ, चोद्दसमेणं पारेइ, अभोच्चा आरुभइ, सोलसमेण पारेइ । जाए-जाए मोए आगच्छइ, ताए-ताए आईयव्वे । दिया आगच्छइ आईयव्वे, रत्तिं आगच्छइ नो आईयव्वे । सपाणे मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे, अपाणे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे । सबीए मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे, अबीए मत्ते आगच्छइ आईयव्वे । ससणिद्धे मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे अससणिद्धे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे । ससरक्खे मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे, अससरक्खे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे । जावइए-जावइए मोए आगच्छइ, तावइए-तावइए सव्वे आईयव्वे, तं जहा—अप्पे वा, बहुए वा । एवं खलु एसा खुड्डिया मोयपडिमा अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

४२. महल्लियं णं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ पढम-सरय-कालसमयंसि वा, चरम-निदाह-कालसमयंसि वा, बहिया गामस्स वा जाव रायहाणिए वा वणंसि वा वणदुग्गंसि वा

पव्वयंसि वा पव्वयदुग्गंसि वा, भोच्चा आरुभइ, सोलसमेणं पारेइ, अभोच्चा आरुभइ, अट्ठारसमेणं पारेइ। जाए-जाए मोए आगच्छइ, ताए-ताए आईयव्वे। दिया आगच्छइ आईयव्वे, रत्तिं आगच्छइ नो आईयव्वे जाव एवं खलु एसा महल्लिया मोयपडिमा अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ।

४१ दो प्रतिमाए कही गई है, यथा—१ छोटी प्रस्रवणप्रतिमा, २ बडी प्रस्रवणप्रतिमा। छोटी प्रस्रवणप्रतिमा शरत्काल के प्रारम्भ मे अथवा ग्रीष्मकाल के अन्त मे ग्राम के बाहर यावत् राजधानी के बाहर वन में या वनदुर्ग मे, पर्वत पर या पर्वतदुर्ग मे अनगार को धारण करना कल्पता है। यदि वह भोजन करके उस दिन इस प्रतिमा को धारण करता है तो छह उपवास से इसे पूर्ण करता है। यदि भोजन किये बिना अर्थात् उपवास के दिन इस प्रतिमा को धारण करता है तो सात उपवास से इसे पूर्ण करता है। इस प्रतिमा मे भिक्षु को जितनी बार मूत्र आवे उतनी बार पी लेना चाहिए। दिन मे आवे तो पीना चाहिए, किन्तु रात मे आवे तो नही पीना डाहिए। कृमियुक्त आवे तो नही पीना चाहिए, किन्तु कृमिरहित आवे तो पीना चाहिए। वीर्यसहित आवे तो नही पीना चाहिए, किन्तु वीर्यरहित आवे तो पीना चाहिए। चिकनाईसहित आवे तो नही पीना चाहिए, किन्तु चिकनाईरहित आवे तो पीना चाहिए। रज (रक्तकण) सहित आवे तो नही पीना चाहिए, किन्तु रज-रहित आवे तो पीना चाहिए। जितना-जितना मूत्र आवे उतना-उतना सब पी लेना चाहिए, वह अल्प हो या अधिक।

इस प्रकार यह छोटी प्रस्रवणप्रतिमा सूत्रानुसार यावत् जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

४२ बडी प्रस्रवणप्रतिमा शरत्काल के प्रारम्भ मे या ग्रीष्मकाल के अन्त मे ग्राम के बाहर यावत् राजधानी के बाहर वन मे या वनदुर्ग मे, पर्वत पर या पर्वतदुर्ग मे अनगार को धारण करना कल्पता है। यदि वह भोजन करके उसी दिन इस प्रतिमा को धारण करता है तो सात उपवास से इसे पूर्ण करता है। यदि भोजन किये बिना अर्थात् उपवास के दिन इस प्रतिमा को धारण करता है तो आठ उपवास मे इसे पूर्ण करता है। इस प्रतिमा मे भिक्षु को जब-जब मूत्र आवे, तब-तब पी लेना चाहिए। यदि दिन मे आवे तो पीना चाहिए, किन्तु रात मे आवे तो नही पीना चाहिए यावत् इस प्रकार यह बडी प्रस्रवणप्रतिमा सूत्रानुसार यावत् जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विवेचन—इस सूत्रद्विक मे दो भिक्षुप्रतिमाओ का वर्णन किया गया है। इन्हें केवल निर्ग्रन्थ ही स्वीकार कर सकता है। निर्ग्रन्थिया इन प्रतिमाओ को धारण नही कर सकतीं। क्योकि ये प्रतिमाए ग्रामादि के बाहर अथवा जगल या पहाडो मे जाकर सात-आठ दिन तक एकाकी रहकर रात-दिन कायोत्सर्ग करके पालन की जाती हैं। अत. भाष्य मे इसका अधिकारी तीन सहनन वाले पूर्वधारी को ही बताया है।

ये प्रतिमाए आषाढ मास या मृगशीर्ष (मिगसर) मास मे ही धारण की जाती हैं। दोनो प्रस्रवणप्रतिमाओ मे से एक प्रतिमा सात रात्रि कायोत्सर्ग की होती है, उसे छोटी प्रस्रवणप्रतिमा कहा गया है। दूसरी आठ रात्रि कायोत्सर्ग की होती है, उसे बडी प्रस्रवणप्रतिमा कहा है।

इन दोनो प्रतिमाओ को प्रथम दिन उपवास तप करके प्रारम्भ किया जा सकता है अथवा एक बार भोजन करके भी प्रारम्भ किया जा सकता है। भोजन करने वाले के एक दिन की तपस्या कम होती है, किन्तु कायोत्सर्ग करने का काल तो सभी के समान ही होता है।

इन प्रतिमाओ को धारण करने के बाद चारो प्रकार के आहार का त्याग कर दिया जाता है, केवल स्वमूत्रपान करना खुला रहता है अर्थात् उन दिनो मे जब-जब जितना भी मूत्र आवे, उसे सूत्रोक्त नियमो का पालन करते हुए पी लिया जाता है ।

नियम इस प्रकार हैं —(१) दिन मे पीना, रात्रि मे नही । (२) कृमि, वीर्य, रज या चिकनाई युक्त हो तो नही पीना चाहिए । शुद्ध हो तो पीना चाहिए ।

प्रतिमाधारी भिक्षु के उक्त रक्त, स्निग्धता आदि विकृतिया किसी रोग के कारण या तपस्या एव धूप की गर्मी के कारण हो सकती हैं, ऐसा भाष्य मे बताया गया है । कभी मूत्रपान से ही शरीर के विकारो की शुद्धि होने के लिए भी ऐसा होता है ।

यद्यपि इस प्रतिमा वाला चोविहार तपस्या करता है और रात-दिन व्युत्सर्गतप मे रहता है, फिर भी वह मूत्र की बाधा होने पर कायोत्सर्ग का त्याग कर मात्रक मे प्रस्रवण त्याग करके उसका प्रतिलेखन करके पी लेता है । फिर पुन कायोत्सर्ग मे स्थिर हो जाता है । यह इस प्रतिमा की विधि है ।

इस प्रतिमा का पालन करने वाला मोक्षमार्ग की आराधना करता है । साथ ही उसके शारीरिक रोग दूर हो जाते हैं और कचनवर्णी बलवान् शरीर हो जाता है ।

प्रतिमा-आराधन के बाद पुन उपाश्रय मे आ जाता है । भाष्य मे उसके पारणे मे आहार-पानी की ४९ दिन की क्रमिक विधि बताई गई है ।

लोक-व्यवहार मे मूत्र को एकात अशुचिमय एव अपवित्र माना जाता है, किन्तु वैद्यक ग्रन्थो मे इसे सर्वौषधि, शिवाबु आदि नामो से कहा गया है और जैनागमो मे भिक्षु को "मोयसमायारे" कह कर गृहस्थो को शुचिसमाचारी वाला कहा गया है ।

अभि रा कोश मे "निशाकल्प" शब्द मे साधु के लिए रात्रि मे पानी के स्थान पर इसे आचमन करने मे उपयोगी होना बताया है । स्वमूत्र का विधिपूर्वक पान करने पर एव इसका शरीर की त्वचा पर अभ्यगन करने पर अनेक असाध्य रोग दूर हो जाते है । चर्मरोग के लिए या किसी प्रकार को चोट भरोच आदि के लिए यह एक सफल औषध है । अन आगमो मे मूत्र को एकात अपवित्र या अशुचिमय नही मानकर अपेक्षा से पेय एव अपेक्षा से अशुचिमय भी माना है ।

भाष्यकार ने यह भी बताया है कि जनसाधरण शौचवादी होते है और मूत्र को एकात अपवित्र मानते हैं, अत प्रतिमाधारी भिक्षु चारो ओर प्रतिलेखन करके कोई भी व्यक्ति न देखे, ऐसे विवेक के साथ मूत्र का पान करे । तदनुसार अन्य भिक्षुओ को भी प्रस्रवण सबधी कोई भी प्रवृत्ति करनी हो तो जनसाधारण से अदृष्ट एव अज्ञात रखते हुए करने का विवेक रखना चाहिए ।

वर्तमान मे भी मूत्रचिकित्सा का महत्त्व बहुत बढा है, इस विषय के स्वतत्र ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं, जिनमे कैंसर, टी. बी आदि असाध्य रोगो के उपशात होने के उल्लेख भी है ।

दत्ति-प्रमाणनिरूपण

४३. संखादत्तियस्स भिक्खुस्स पडिग्गहधारिस्स (गाहावइकुलं पिंडवाय-पडियाए, अणुपविट्ठस्स) जावइयं-जावइयं केइ अन्तो पडिग्गहंसि उवइत्ता दलएज्जा तावइयाओ ताओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया ।

तत्थ से केइ छव्वएण वा, दूसएण वा, वालएणं वा अन्तो पडिग्गहंसि उवइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि ण सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया।

तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिण्डं साहणिय अन्तो पडिग्गहंसि उवइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि ण सा एगा दत्ती वत्तव्व सिया।

४४ संखादत्तियस्स ण भिक्खुस्स पाणि पडिग्गहियस्स (गाहावइकुलं पिण्डवाय-पडियाए अणुपविट्ठस्स)

जावइयं-जावइयं केइ अन्तो पाणिंसि उवइत्ता दलएज्जा तावइयाओ ताओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया।

तत्थ से केइ छव्वएण वा, दूसएण वा, वालएण वा अन्तो पाणिंसि उवइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्व सिया।

तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिण्डं साहणिय अन्तो पाणिसि उवइत्ता दलएज्जा सव्वा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव सिया।

४३. दत्तियो की सख्या का अभिग्रह करने वाला पात्रधारी निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर मे आहार के लिए प्रवेश करे, इस समय—

१ आहार देने वाला गृहस्थ पात्र में जितनी बार झुकाकर आहार दे, उतनी ही "दत्तिया" कहनी चाहिए।

२ आहार देने वाला गृहस्थ यदि छबडी से, वस्त्र से या चालनी से बिना रुके पात्र मे झुकाकर दे, वह सब "एक दत्ति" कहनी चाहिए।

३ आहार देने वाले गृहस्थ जहा अनेक हो और वे सब अपना-अपना आहार सम्मिलित कर बिना रुके पात्र मे झुकाकर दे तो वह सब "एक दत्ति" कहनी चाहिए।

४४ दत्तियो की सख्या का अभिग्रह करने वाला करपात्रभोजी निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर मे आहार के लिए प्रवेश करे, इस समय—

१ आहार देने वाला गृहस्थ जितनी बार झुकाकर भिक्षु के हाथ मे आहार दे, उतनी हो "दत्तिया" कहनी चाहिए।

२ आहार देने वाला गृहस्थ यदि छबडी से, वस्त्र से या चालनी से बिना रुके भिक्षु के हाथ में जितना आहार दे वह सब "एक दत्ति" कहनी चाहिए।

३. आहार देने वाले गृहस्थ जहा अनेक हो और वे सब अपना-अपना आहार सम्मिलित कर बिना रुके भिक्षु के हाथ मे झुकाकर दे, वह सब "एक दत्ति" कहनी चाहिए।

विवेचन—सप्तसप्ततिका आदि भिक्षुप्रतिमाओ मे दत्तियो की संख्या से आहार ग्रहण करने का वर्णन किया गया है और इस सूत्रद्विक मे दत्ति का स्वरूप बताया गया है।

दाता एक ही बार मे धार खडित किये बिना जितना आहार या पानी साधु के पात्र मे दे उसे एक 'दत्ति' प्रमाण आहार या पानी कहा जाता है। वह एक दत्ति आहार-पानी हाथ से दे या किसी बर्तन से दे अथवा किसी सूप, छाबडी आदि से दे, अल्पमात्रा मे देकर रुक जाय या बिना रुके अधिक मात्रा में दे, वह सब एक बार मे दिया गया आहार या पानी एक दत्ति ही कहा जाता है।

कभी कोई खाद्य पदार्थ अनेक बर्तनों मे या अनेक व्यक्तियो के हाथ मे अलग-अलग रखा हो, उसे एक बर्तन में या एक हाथ में इकट्ठा करके एक साथ पात्र मे दे दिया जाए तो वह भी एक दत्ति ही समझना चाहिए।

पात्र नही रखने वाले अर्थात् कर-पात्री भिक्षु के हाथ मे उपर्युक्त विधियों से जितना आहार आदि एक साथ दिया जाय, वह उनके लिए एक दत्ति समझना चाहिए।

तीन प्रकार का आहार

४५. तिविहे उवहडे पण्णत्ते, त जहा—१. फलिओवहडे, २. सुद्धोवहडे, ३. संसट्ठोवहडे।

४५ खाद्यपदार्थ तीन प्रकार का माना गया है, यथा—१ **फलितोपहृत**—अनेक प्रकार के व्यजनों से मिश्रित खाद्यपदार्थ। २. **शुद्धोपहृत**—व्यजनरहित शुद्ध अलेप्य खाद्यपदार्थ। ३ **संसृष्टोपहृत**—व्यजनरहित सलेप्य खाद्यपदार्थ।

विवेचन—भिक्षा मे तीन प्रकार के खाद्यपदार्थ ग्रहण किये जाते है, जिसमे सभी प्रकार के ग्राह्य पदार्थों का समावेश हो जाता है।

(१) अनेक पदार्थों के सयोग से सस्कारित मिष्ठान्न, नमकीन शाक-भाजी आदि को फलितोपहृत कहा है।

(२) शुद्ध अलेप्य चने, ममरे, फूली आदि को शुद्धोपहृत कहा है।

(३) शुद्ध सलेप्य भात, रोटी, घाट, खिचडी आदि असस्कारित गीले सामान्य पदार्थ को ससृष्टोपहृत कहा है। अभिग्रह धारण करने वाले भिक्षु इनमे से किसी भी प्रकार का अभिग्रह कर सकते हैं।

अवगृहीत आहार के प्रकार

४६. तिविहे ओग्गहिए पण्णत्ते, तं जहा—१ जं च ओगिण्हइ, २. जं च साहरइ, ३. जं च आसगंसि (थासगंसि) पक्खिवइ, एगे एवमाहंसु।

एगे पुण एवमाहंसु, दुविहे ओग्गहिए पण्णत्ते, तं जहा—१ जं च ओगिण्हइ, २. जं च आसगंसि (थासगंसि) पक्खिवइ।

४६. अवगृहीत आहार तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—१ परोसने के लिए ग्रहण किया हुआ। २. परोसने के लिए ले जाता हुआ। ३. बर्तन में परोसा जाता हुआ, ऐसा कुछ आचार्य कहते

हैं। परन्तु कुछ आचार्य ऐसा भी कहते हैं कि—अवगृहीत आहार दो प्रकार का कहा गया है, यथा—१ परोसने के लिए ग्रहण किया जाता हुआ। २ बर्तन मे परोसा जाता हुआ।

विवेचन—पूर्वसूत्र मे खाद्यपदार्थ के तीन प्रकार कहे गये है और प्रस्तुत सूत्र मे दाता के द्वारा आहार को ग्रहण करने की तीन अवस्थाओ का कथन किया गया है—

(१) जिसमे खाद्यपदार्थ पडा है या बनाया गया है, उसमे से निकाल कर अन्य बर्तन मे ग्रहण किया जा रहा हो।

(२) ग्रहण करके परोसने के लिए ले जाया जा रहा हो।

(३) थाली आदि मे परोस दिया गया हो, किन्तु खाना प्रारम्भ नही किया हो।

भाष्यकार ने यहा तीनो अवस्थाओ का छट्ठी पिंडेषणा रूप होने का कहा है। अनेक प्रतियो मे तीसरे प्रकार के लिए "आसगसि" शब्द उपलब्ध होता है, जिसके दो अर्थ किए जाते हैं—

(१) खाने के लिए मुख मे डाला जाता हुआ।

(२) बर्तन के मुख मे डाला जाता हुआ।

ये दोनो ही अर्थ यहा प्रसगसगत नही है क्योकि छट्ठी पिंडेषणा मे भोजन करने के लिए ग्रहण की जाने वाली तीन अवस्थाओ (तीन प्रकारो) का क्रमश· तीसरा प्रकार थाली आदि मे परोसा जाता हुआ आहार ऐसा अर्थ करना ही उपयुक्त है। जो खाना प्रारम्भ करने के पूर्व की अवस्था होने से कल्पनीय भी है। किन्तु मुख मे खाने के लिए डाला जाता हुआ आहार ग्रहण करना तो अनुपयुक्त एव अव्यवहारिक है और बर्तन के मुख मे डाला जाता हुआ आहार छट्ठी पिंडेषणा रूप नही होने से क्रम-प्राप्त प्रासगिक नही है। अत. सम्भावना यह है कि लिपिदोष से 'थासगसि या थालगसि' शब्द के स्थान पर कदाचित् 'आसगसि' शब्द बन गया है।

भगवतीसूत्र श ११ उ ११ पृ १९५१ (सैलाना से प्रकाशित) मे थाल और थासग शब्दो का प्रयोग किया है, जिनका क्रमश. थाली और तस्तरी (प्लेट) अर्थ किया गया है।

अत यहा थासगसि या थालगसि शब्द को शुद्ध मान कर अर्थ स्पष्ट किया है।

सूत्र के द्वितीय विभाग मे वैकल्पिक अपेक्षा से भोजन करने हेतु ग्रहण किए हुए आहार के दो प्रकार कहे गये हैं, यथा—मूल बर्तन मे से निकालते हुए और थाली आदि मे परोसते हुए। इस विकल्प मे जहा आहार रखा हो वही पर बैठे हुए एक बर्तन मे से निकालकर थाली आदि मे परोसने की अपेक्षा की गई है किन्तु मार्ग मे चलने की या दूर ले जाकर परोसने की विवक्षा इसमे नही की गई है।

सूत्र मे "**एगे पुण एवमाहंसु**" शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे मान्यताभेद की कल्पना उत्पन्न होती है, किंतु यहा दो अपेक्षाओ को लेकर सूत्र की रचना-पद्धति है, ऐसा समझना चाहिए। क्योकि ऐसी सामान्य बात के लिए पूर्वधरो मे मान्यताभेद हो जाना एव सूत्र मे सकलित किया जाना क्लिष्ट कल्पना है।

जबकि ऐसे वाक्यप्रयोग जीवाभिगमसूत्र के प्रारम्भ मे अनेक आदेशात्मक प्ररूपणा के हैं, वहां अपेक्षा से जीवो के दो, तीन, चार आदि भेद कहे हैं। वह कथन भी मान्यताभेद न समझकर विभिन्न अपेक्षा रूप ही समझा जाता है। वहा टीकाकार ने भी वैसा ही स्पष्टीकरण किया है। अत यहा भी **"एगे पुण एवमाहंसु"** शब्दो का प्रयोग होते हुए भी मान्यताभेद होना नही समझना चाहिए। भाष्यकार ने भी इसे आदेश कहकर उसकी यह परिभाषा बताई है कि अनेक बहुश्रुतो से चली आई भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ को आदेश कहते है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र के दोनो विभागो को आदेश ही समझना चाहिए।

नवम उद्देशक का सारांश

सूत्र १-८ — शय्यातर के नौकर या पाहुणो को पूर्ण रूप से दिये गये आहार मे से भिक्षु ले सकता है, यदि प्रातिहारिक दिया हो (शेष आहार लौटाने का हो) तो नही लेना चाहिए।

९-१६ — शय्यातर के सहयोग से जीवननिर्वाह करने वाले उसके ज्ञातिजन यदि खाना बनावे या खावे तो उनसे लेना नही कल्पता है।

१७-३६ — शय्यातर के भागीदारी (साझेदारी) वाली दुकानो मे यदि कोई पदार्थ बिना भागीदारी वाली का हो तो उसके भागीदार से लिए जा सकते हैं। अथवा विभक्त हो जाने पर कोई भी पदार्थ लिए जा सकते हैं।

३७-४० — सात-सप्तक, आठ-अष्टक, नव-नवक और दश-दशक मे दत्तियो की मर्यादा से भिक्षा ग्रहण करके चार प्रकार की भिक्षु प्रतिमाओ का आराधन साधु-साध्वी कर सकते है।

४१-४२ — स्वमूत्रपान की छोटी व बडी प्रतिमा सात एव आठ दिन में आराधन की जाती है। इसमे पूर्ण शुद्ध एव सूत्रोक्त प्रस्रवण दिन मे ही पिया जाता है, रात्रि में नही।

४३-४४ — एक बार मे अखड धार से साधु के हाथ मे या पात्र में दिये जाने वाले आहारादि को एक दत्ति कहा जाता है।

४५ — तीन प्रकार के खाद्य पदार्थ होते है (१) सस्कारित पदार्थ, (२) शुद्ध अलेप्य पदार्थ, (३) शुद्ध सलेप्य पदार्थ। इनमे से कोई भी अभिग्रह धारण किया जा सकता है।

४६ — "प्रगृहीत" नामक छट्ठी पिंडेषणा के योग्य आहार की तीन अवस्थाए होती है। (१) बर्तन मे से निकालते हुए, (२) परोसने लिये ले जाते हुए, (३) थाली आदि मे परोसते हुए। अथवा अपेक्षा से उस आहार की दो अवस्था कही जा सकती है— (१) बर्तन में से निकालते हुए, (२) थाली आदि मे परोसते हुए।

उपसंहार—

इस उद्देशक मे—

१-३६	शय्यातर के खाद्यपदार्थ के कल्प्याकल्प्य का,
३७-४२	दत्ति-परिमाण प्रतिमाओं का एव प्रश्रवण-पान प्रतिमाओ का,
४३-४४	दत्तिस्वरूप का,
४५-४६	अभिग्रह योग्य आहार के प्रकारो का,

इत्यादि विषयो का कथन किया गया है ।

।। नवम उद्देशक समाप्त ।।

दसवां उद्देशक

दो प्रकार की चन्द्रप्रतिमाएं

१. दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१. जवमज्झा य चंदपडिमा, २ वइरमज्झा य चंदपडिमा।

जवमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं मासं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे। जे केइ परीसहोवसग्गा समुप्पज्जेज्जा दिव्वा वा, माणुस्सगा वा, तिरिक्खजोणिया वा, अणुलोमा वा, पडिलोमा वा, तत्थ अणुलोमा ताव वंदेज्जा वा, नमंसिज्जा वा, सक्कारेज्जा वा, सम्माणेज्जा वा, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेज्जा, पडिलोमा ताव अन्नयरेणं दंडेण वा, अट्ठिणा वा, जोत्तेण वा, वेत्तेण वा, कसेण वा काए आउट्टेज्जा, ते सव्वे उप्पन्ने सम्मं सहेज्जा, खमेज्जा, तितिक्खेज्जा, अहियासेज्जा।

जवमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स,

सुक्कपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगा पाणस्स,

सव्वेहिं दुप्पयं चउप्पयाइएहिं आहार-कंखीहिं सत्तेहिं पडिणियत्तेहिं,

अन्नायउंछं सुद्धोवहडं

निज्जूहित्ता बहवे समण जाव वणीमगा।

कप्पइ से एगस्स भुंजमाणस्स पडिग्गाहेत्तए नो दोण्ह, नो तिण्हं, नो चउण्हं, नो पंचण्हं। नो गुव्विणीए, नो बालवच्छाए, नो दारगं पेज्जमाणीए। नो अंतो एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए नो बाहिं एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए।

अह पुण एवं जाणेज्जा—एगं पायं अंतो किच्चा, एगं पायं बाहिं किच्चा एलुयं विक्खम्भइत्ता दलयइ, एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए।

बिइयाए से कप्पइ दोण्णि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दोण्णि पाणस्स।

तइयाए से कप्पइ तिण्णि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तिण्णि पाणस्स।

चउत्थीए से कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउ पाणस्स।

पंचमीए से कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणस्स।

छट्ठीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, छ पाणस्स।

सत्तमीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स।

अट्ठमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, अट्ठ पाणस्स।

नवमीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, नव पाणस्स।

दसमीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स।

एगारसमीए से कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगारस पाणस्स ।
बारसमीए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स ।
तेरसमीए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स ।
चोद्दसमीए से कप्पइ चोद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चोद्दस पाणस्स ।
पन्नरसमीए से कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पन्नरस पाणस्स ।
बहुलपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ चोद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चोद्दस पाणस्स ।
बिइयाए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स ।
तइयाए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स ।
चउत्थीए से कप्पइ एक्कारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एक्कारस पाणस्स ।
पंचमीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स ।
छट्ठीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, नव पाणस्स ।
सत्तमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, अट्ठ पाणस्स ।
अट्ठमीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स ।
नवमीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, छ पाणस्स ।
दसमीए से कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणस्स ।
एक्कारसमीए से कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउ पाणस्स ।
बारसमीए से कप्पइ तिण्णि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तिण्णि पाणस्स ।
तेरसमीए से कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दो पाणस्स ।
चउदसमीए से कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगा पाणस्स ।
अमावासाए से य अभत्तट्ठे भवइ ।
एवं खलु जवमज्झचंदपडिमा अहासुत्तं जाव अण्णाए अणुपालिया भवइ ।

२ वइरमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं मासं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ परीसहोवसग्गा समुप्पज्जेज्जा जाव अहियासेज्जा ।

वइरमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स,

बहुलपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पन्नरस पाणस्स जाव एलुयं विक्खंभइत्ता दलयइ एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ।

बिइयाए से कप्पइ चउद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउद्दस पाणस्स ।
तइयाए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स ।
चउत्थीए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स ।
पंचमीए से कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगारस पाणस्स ।
छट्ठीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स ।

सत्तमीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, नव पाणस्स ।

अट्ठमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, अट्ठ पाणस्स ।

नवमीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स ।

दसमीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, छ पाणस्स ।

एगारसमीए से कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणस्स ।

बारसमीए से कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउ पाणस्स ।

तेरसमीए से कप्पइ तिन्नि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तिन्नि पाणस्स ।

चउदसमीए से कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दो पाणस्स ।

अमावासाए से कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगा पाणस्स ।

सुक्कपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दो पाणस्स ।

बिइयाए से कप्पइ तिन्नि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तिन्नि पाणस्स ।

तइयाए से कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउ पाणस्स ।

चउत्थीए से कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणस्स ।

पंचमीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, छ पाणस्स ।

छट्ठीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स ।

सत्तमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, अट्ठ पाणस्स ।

अट्ठमीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, नव पाणस्स ।

नवमीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स ।

दसमीए से कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगारस पाणस्स ।

एगारसमीए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स ।

बारसमीए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स ।

तेरसमीए से कप्पइ चउद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउद्दस पाणस्स ।

चउद्दसमीए से कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पन्नरस पाणस्स । पुण्णिमाए से य अब्भत्तट्ठे भवइ ।

एवं खलु एसा वइरमज्झा चंदपडिमा अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालिया भवइ ।

१. दो प्रतिमायें कही गई हैं, यथा—१. यवमध्यचन्द्रप्रतिमा, २. वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा ।

यवमध्यचन्द्रप्रतिमा स्वीकार करने वाला अनगार एक मास तक शरीर के परिकर्म से तथा शरीर के ममत्व से रहित होकर रहे । उस समय जो कोई भी देव, मनुष्य एवं तिर्यंचकृत अनुकूल या प्रतिकूल परीषह एवं उपसर्ग उत्पन्न हों, यथा—

अनुकूल परीषह एवं उपसर्ग ये है—कोई वन्दना नमस्कार करे, सत्कार-सम्मान करे, कल्याण-रूप, मंगलरूप, देवरूप और ज्ञानरूप मानकर पर्युपासना करे ।

प्रतिकूल परीषह एव उपसर्ग ये हैं—किसी दण्ड, हड्डी, जोत, बेत अथवा चाबुक से शरीर पर प्रहार करे। वह इन सब अनुकूल-प्रतिकूल उत्पन्न हुए परीषहो एव उपसर्गों को प्रसन्न या खिन्न न होकर समभाव से सहन करे, उस व्यक्ति के प्रति क्षमाभाव धारण करे, वीरतापूर्वक सहन करे और शाति से आनन्दानुभाव करते हुए सहन करे।

यवमध्यचन्द्रप्रतिमा के आराधक अणगार को,

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन आहार और पानी की एक-एक दत्ति ग्रहण करना कल्पता है।

आहार की आकाक्षा करने वाले सभी द्विपद, चतुष्पद आदि प्राणी आहार लेकर लौट गये हो तब उसे अज्ञात स्थान से शुद्ध अल्पलेप वाला आहार लेना कल्पता है।

अनेक श्रमण यावत् भिखारी आहार लेकर लौट गये हो अर्थात् वहा खड़े न हो तो आहार लेना कल्पता है।

एक व्यक्ति के भोजन मे से आहार लेना कल्पता है, किंतु दो, तीन, चार या पाच व्यक्ति के भोजन मे से लेना नही कल्पता है।

गर्भवती, छोटे बच्चे वाली और बच्चे को दूध पिलाने वाली के हाथ से आहार लेना नही कल्पता है।

दाता के दोनो पैर देहली के अन्दर हो या बाहर हों तो उससे आहार लेना नही कल्पता है।

यदि ऐसा जाने कि दाता एक पैर देहली के अन्दर और एक पैर देहली के बाहर रखकर देहली को पैरो के बीच मे करके दे रहा है तो उसके हाथ से आहार लेना कल्पता है।

शुक्लपक्ष के द्वितीया के दिन प्रतिमाधारी अणगार को भोजन और पानी की दो-दो दत्तिया लेना कल्पता है।

तीज के दिन भोजन और पानी की तीन-तीन दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
चौथ के दिन भोजन और पानी की चार-चार दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
पाचम के दिन भोजन और पानी की पाच-पाच दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
छठ के दिन भोजन और पानी की छह-छह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
सातम के दिन भोजन और पानी की सात-सात दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
आठम के दिन भोजन और पानी की आठ-आठ दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
नवमी के दिन भोजन और पानी की नव-नव दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
दसमी के दिन भोजन और पानी की दस-दस दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
ग्यारस के दिन भोजन और पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
बारस के दिन भोजन और पानी की बारह-बारह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
तेरस के दिन भोजन और पानी की तेरह-तेरह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
चौदस के दिन भोजन और पानी की चौदह-चौदह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
पूर्णिमा के दिन भोजन और पानी की पन्द्रह-पन्द्रह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन भोजन और पानी की चौदह-चौदह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।

द्वितीया के दिन भोजन और पानी की तेरह-तेरह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
तीज के दिन भोजन और पानी की बारह-बारह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
चौथ के दिन भोजन और पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
पांचम के दिन भोजन और पानी की दश-दश दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
छठ के दिन भोजन और पानी की नव-नव दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
सातम के दिन भोजन और पानी की आठ-आठ दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
आठम के दिन भोजन और पानी की सात-सात दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
नवमी के दिन भोजन और पानी की छह-छह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
दसमी के दिन भोजन और पानी की पाच-पाच दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
ग्यारस के दिन भोजन और पानी की चार-चार दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
बारस के दिन भोजन और पानी की तीन-तीन दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
तेरस के दिन भोजन और पानी की दो-दो दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
चौदस के दिन भोजन और पानी की एक-एक दत्ति ग्रहण करना कल्पना है।
अमावस के दिन वह उपवास करता है।

इस प्रकार यह यवमध्यचन्द्रप्रतिमा सूत्रानुसार यावत् जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

२. वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा स्वीकार करने वाला अनगार एक मास तक शरीर के परिकर्म से तथा शरीर के ममत्व से रहित होकर रहे और जो कोई परीषह एव उपसर्ग हो यावत् उन्हे शाति से सहन करे। वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा स्वीकार करने वाले अणगार को,

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन पन्द्रह-पन्द्रह दत्तिया भोजन और पानी की लेना कल्पता है यावत् देहली को पैरो के बीच मे करके दे तो उससे आहार लेना कल्पता है।

द्वितीया के दिन भोजन और पानी की चौदह-चौदह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
तीज के दिन भोजन और पानी की तेरह-तेरह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
चौथ के दिन भोजन और पानी की बारह-बारह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
पाचम के दिन भोजन और पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
छठ के दिन भोजन और पानी की दश-दश दत्तियां ग्रहण करना कलएता है।
सातम के दिन भोजन और पानी की नव-नव दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
आठम के दिन भोजन और पानी की आठ-आठ दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
नवमी के दिन भोजन और पानी की सात-सात दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
दसमी के दिन भोजन और पानी की छह-छह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
ग्यारस के दिन भोजन और पानी की पाच-पाच दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
बारस के दिन भोजन और पानी की चार-चार दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।

तेरस के दिन भोजन और पानी को तीन-तीन दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
चौदस के दिन भोजन और पानी की दो-दो दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
अमावस्या के दिन भोजन और पानी की एक-एक दत्ति ग्रहण करना कल्पता है।
शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन भोजन और पानी की दो-दो दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
द्वितीया के दिन भोजन और पानी की तीन-तीन दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
तीज के दिन भोजन और पानी की चार-चार दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
चौथ के दिन भोजन और पानी को पाच-पाँच दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
पाचम के दिन भोजन और पानी की छह-छह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
छठ के दिन भोजन और पानी की सात-सात दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है।
सातम के दिन भोजन और पानी की आठ-आठ दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
आठम के दिन भोजन और पानी की नव-नव दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
नवमी के दिन भोजन और पानी की दश-दश दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
दसमी के दिन भोजन और पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
ग्यारस के दिन भोजन और पानी की बारह-बारह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
बारस के दिन भोजन और पानी की तेरह-तेरह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
तेरस के दिन भोजन और पानी की चौदह-चौदह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
चौदस के दिन भोजन और पानी की पन्द्रह-पन्द्रह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।
पूर्णिमा के दिन वह उपवास करता है।
इस प्रकार यह वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा सूत्रानुसार यावत् जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विवेचन—जिस प्रकार शुक्लपक्ष में चन्द्र की कलाए बढ़ती हैं और कृष्णपक्ष मे घटती हैं, उसी प्रकार इन दोनो प्रतिमाओ मे आहार की दत्तिओं की सख्या तिथियो के क्रम से घटाई और बढाई जाती हैं। इसलिए इन दोनो प्रतिमाओं को "चन्द्रप्रतिमा" कहा गया है।

जिस प्रकार जौ (धान्य) का एक किनारा पतला होता है, फिर मध्य में स्थूल होता है एवं अन्त में पतला होता है, उसी प्रकार जिस प्रतिमा के प्रारम्भ मे एक दत्ति, मध्य में पन्द्रह दत्ति, अन्त में एक दत्ती और बाद मे उपवास किया जाता है, उसे "यवमध्यचन्द्रप्रतिमा" कहा जाता है।

जिस प्रकार वज्ररत्न या डमरू का एक किनारा विस्तृत, मध्यभाग सकुचित और दूसरा किनारा विस्तृत होता है, उसी प्रकार जिस प्रतिमा के प्रारम्भ मे पन्द्रह दत्ति, मध्य मे एक दत्ति, अन्त मे पन्द्रह दत्ति और बाद मे उपवास किया जाता है, उसे "वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा" कहा जाता है।

ये दोनो प्रतिमाएं विशिष्ट सहनन वाला एव पूर्वधर भिक्षु ही धारण कर सकता है। इन प्रतिमाओ में आहार-पानी की दत्तिया सूत्रनुसार क्रमश: घटाते-बढ़ाते हुए ग्रहण की जाती हैं। आहार पानी की दत्तियो की सख्या के साथ-साथ इन प्रतिमाओं को धारण करने वाले भिक्षु को निम्नलिखित नियमों का पालन करना आवश्यक होता है—

(१) शारीरिक ममत्व का त्याग करना अर्थात् नियमित परिमित आहार के अतिरिक्त औषध-भेषज के सेवन का और सभी प्रकार के शरीरपरिकर्म का त्याग करना।

(२) देव, मनुष्य या तिर्यंच द्वारा किए गए उपसर्गों का प्रतिकार न करना और न उनसे बचने का प्रयत्न करना।

(३) किसी के वन्दना या आदर-सत्कार किये जाने पर प्रसन्न न होना, अपितु समभाव में लीन रहना।

(४) जिस मार्ग मे या जिस घर के बाहर पशु या पक्षी हो तो पशुओ के चारा चर लेने के बाद और पक्षियो के चुग्गा चुग लेने के बाद पडिमाधारी को आहार लेने के लिए घर मे प्रवेश करना।

(५) पडिमाधारी के आने की सूचना या जानकारी न हो या उनकी कोई प्रतीक्षा करता न हो, ऐसे अज्ञात घरो से आहार ग्रहण करना।

(६) उञ्छ—विगयरहित रूक्ष आहार ग्रहण करना।
(७) शुद्धोपहृत—लेप रहित आहारादि ग्रहण करना।
(८) अन्य भिक्षु श्रमणादि जहा पर खडे हों, वहां भिक्षा के लिये न जाना।
(९) एक व्यक्ति का आहार हो उसमे से लेना, अधिक व्यक्तियो के आहार मे से नही लेना।
(१०) किसी भी गर्भवती स्त्री से भिक्षा न लेना।
(११) जो छोटे बच्चे को लिए हुए हो, उससे भिक्षा न लेना।
(१२) जो स्त्री बच्चे को दूध पिला रही हो, उससे भिक्षा न लेना।
(१३) घर की देहली के अतिरिक्त अन्य कही पर भी खडे हुए से भिक्षा नही लेना।

(१४) देहली के भी एक पाव अन्दर और एक पाव बाहर रख कर बैठे हुए या खडे हुए दाता से भिक्षा ग्रहण करना।

एषणा के ४२ दोष एव अन्य आगमोक्त विधियो का पालन करना तो इन प्रतिमाधारी के लिए भी आवश्यक ही समझना चाहिए।

इन दोनो चन्द्रप्रतिमाओ की आराधना एक-एक मास मे की जाती है।

इन उक्त नियमो के अनुसार यदि आहार मिले तो ग्रहण करे और न मिले तो ग्रहण न करे अर्थात् उस दिन उपवास करे। प्रतिमाधारी भिक्षु भिक्षा का समय या घर की संख्या निर्धारित कर लेता है और उतने समय तक या उतने ही घरो मे भिक्षार्थ भ्रमण करता है। आहारादि के न मिलने पर उत्कृष्ट एक मास की तपश्चर्या भी हो जाती है। किन्तु किसी भी प्रकार का अपवाद सेवन वह नही करता है।

भाष्य मे बताया है कि ये दोनो प्रतिमाए बीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाला, तीन सहनन वाला और नव पूर्व के ज्ञान वाला भिक्षु ही धारण कर सकता है।

भाष्य के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि **"सव्वेहिं दुप्पय-चउप्पय-माइएहिं आहार कंखीहिं सत्तेहिं पडिणियत्तेहिं"** इतना पाठ भाष्यकार के सामने नही था। उन्होने क्रमश. शब्दो की एव वाक्यों की व्याख्या की है। किन्तु इस वाक्य की व्याख्या नही की है और इस वाक्य के भावार्थ को

आगे आए "णिज्जूहित्ता बहवे " इस सूत्रांश की व्याख्या मे स्पष्ट किया है। कतिपय शब्दों का अर्थ इस प्रकार है—**व्युत्सृष्टकाय**—शरीर की शुश्रूषा एव औषध का त्याग।

चियत्तदेहे—शरीरपरिकर्म (अभ्यंगन, मर्दन) का त्याग करना एवं वध-बन्धन किये जाने पर प्रतीकार या सुरक्षा नहीं करना।

पांच प्रकार के व्यवहार

३. पंचविहे ववहारे पण्णत्ते, तं जहा—१. आगमे, २. सुए, ३. आणा, ४ धारणा, ५. जीए।

१. जहा से तत्थ आगमे सिया, आगमेणं ववहार पट्ठवेज्जा।

२. णो से तत्थ आगमे सिया, जहा से तत्थ सुए सिया, सुएणं ववहारं पट्ठवेज्जा।

३. णो से तत्थ सुए सिया, जहा से तत्थ आणा सिया, आणाए ववहारं पट्ठवेज्जा।

४. णो से तत्थ आणा सिया, जहा से तत्थ धारणा सिया, धारणाए ववहारं पट्ठवेज्जा।

५. णो से तत्थ धारणा सिया, जहा से तत्थ जीए सिया, जीएणं ववहारं पट्ठवेज्जा।

इच्चेएहिं पंचहिं ववहारेहिं ववहारं पट्ठवेज्जा, तं जहा—१ आगमेणं, २. सुएणं, ३. आणाए, ४ धारणाए, ५. जीएणं। जहा-जहा से आगमे, सुए, आणा, धारणा, जीए तहा-तहा ववहारं पट्ठवेज्जा।

प०—से किमाहु भंते ?

उ०—आगमबलिया समणा निग्गंथा। इच्चेयं पंचविहं ववहार जया-जया, जहिं-जहिं, तया-तया, तहिं-तहिं अणिस्सिओवस्सियं ववहारं ववहरमाणे समणे निग्गंथे आणाए आराहए भवइ।

३. व्यवहार पाच प्रकार का कहा गया है, यथा—१. आगम, २ श्रुत, ३. आज्ञा, ४. धारणा, ५. जीत।

१. जहा आगम (केवलज्ञानधारक यावत् नौपूर्वधारक) ज्ञानी हो, वहा उनके निर्देशानुसार व्यवहार करें।

२. जहा आगमज्ञानी न हों तो वहा श्रुतज्ञानी (जघन्य आचारप्रकल्प, उत्कृष्ट नवपूर्व से कुछ कम ज्ञानी) निर्देशानुसार व्यवहार करें।

३. जहा श्रुतज्ञानी न हो, तो वहा गीतार्थ की आज्ञानुसार व्यवहार करें।

४. जहा गीतार्थ की आज्ञा न हो वहा स्थविरो की धारणानुसार व्यवहार करें।

५. जहा स्थविरो की धारणा ज्ञात न हो तो वहा सर्वानुमत परम्परानुसार व्यवहार करें।

इन पाच व्यवहारो के अनुसार व्यवहार करे। यथा—१ आगम, २. श्रुत, ३. आज्ञा, ४. धारणा, ५. जीत।

आगमज्ञानी, श्रुतज्ञानी, गीतार्थ-आज्ञा, स्थविरो की धारणा और परम्परा, इन मे से जिस समय जो उपलब्ध हो, उस समय उसी से क्रमशः व्यवहार करें।

प्र०—भंते ! ऐसा क्यो कहा ?

उ०—श्रमण-निर्ग्रन्थ आगमव्यवहार की प्रमुखता वाले होते हैं। इन पाच प्रकार के व्यवहारों में से जब-जब, जिस-जिस विषय मे जो प्रमुख व्यवहार उपलब्ध हो तब-तब, उस-उस विषय मे मध्यस्थ भाव से उस व्यवहार से व्यवहार करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ जिनाज्ञा का आराधक होता है।

विवेचन—सूत्र मे "व्यवहार" शब्द प्रायश्चित्त अर्थ मे प्रयुक्त है। अन्य आगमो मे भी इस अर्थ में प्रयोग हुआ है। यथा—"**अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया**"—यथा लघुष्क (अत्यल्प) प्रायश्चित्त की प्रस्थापना करनी चाहिए। —बृहत्कल्प उद्देशक ४

प्रायश्चित्त का निर्णय "आगम" आदि सूत्रोक्तक्रम से ही करना चाहिए।

विशेष दोषो की आलोचना आगमव्यवहारी के पास ही करनी चाहिए। यदि वे न हो तो जो उपलब्ध सूत्रो मे से अधिकतम सूत्रों को धारण करने वाले हो एव आलोचना-श्रवण के योग्य हो उनके पास आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। ऐसा न करने पर अर्थात् व्युत्क्रम से करने पर भाष्य मे प्रायश्चित्त का कथन किया गया है।

सूत्र मे प्रायश्चित्त के निर्णायक आधार पाच व्यवहार कहे गये हैं। उन्हे धारण करने वाला व्यवहारी कहा जाता है।

(१) आगमव्यवहारी—९ पूर्व से लेकर १४ पूर्व के ज्ञानी, अवधिज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी. ये "आगमव्यवहारी" कहे जाते है।

(२) श्रुतव्यवहारी—जघन्य आचाराग एव निशीथसूत्र मूल, अर्थ, परमार्थ सहित कण्ठस्थ धारण करने वाले और उत्कृष्ट ९ पूर्व से कम श्रुत को धारण करने वाले "श्रुतव्यवहारी" कहे जाते हैं।

(३) आज्ञाव्यवहारी—किसी आगमव्यवहारी या श्रुतव्यवहारी की आज्ञा प्राप्त होने पर उस आज्ञा के आधार से प्रायश्चित्त देने वाला "आज्ञाव्यवहारी" कहा जाता है।

(४) धारणाव्यवहारी—बहुश्रुतो ने श्रुतानुसारी प्रायश्चित्त की कुछ मर्यादा किसी योग्य भिक्षु को धारण करा दी हो, उनको अच्छी तरह धारण करने वाला "धारणाव्यवहारी" कहा जाता है।

(५) जीतव्यवहारी—जिन विषयो मे कोई स्पष्ट सूत्र का आधार न हो उस विषय मे बहुश्रुत भिक्षु सूत्र से अविरुद्ध और सयमपोषक प्रायश्चित्त की मर्यादाए किसी योग्य भिक्षु को धारण करा दे। उन्हे अच्छी तरह धारण करने वाला "जीतव्यवहारी" कहा जाता है।

जं जीयमसोहिकरं, पासत्थ पमत्त संजयाइण्णं।
जइ वि महाजणाइण्णं, न तेण जीएण ववहारो ॥७२०॥
जं जीयं सोहिकर, संवेगपरायणेन दतेण।
एगेण वि आइन्नं, तेण उ जीएण ववहारो ॥७२१॥

—व्यव. भाष्य उद्दे. १०

वैराग्यवान् एक भी दमितेन्द्रिय बहुश्रुत द्वारा जो सेवित हो, वह जीतव्यवहार संयम-शुद्धि करने वाला हो सकता है। किन्तु जो पार्श्वस्थ प्रमत्त एव अपवादप्राप्त भिक्षु से आचीर्ण हो, वह जीत-

व्यवहार अनेकों के द्वारा सेवित होने पर भी शुद्धि नही कर सकता है, अतः उस से व्यवहार नहीं करना चाहिए ।

सो जहकालादोणं अपडिकंतस्स निव्विगईयंतु ।
मुहणंतगफिडिय, पाणग असंवरेण, एवमादीसु ।।७०९।।

—व्यव. भाष्य उद्दे. १०

जो पच्चक्खाणकाल या स्वाध्यायकाल आदि का प्रतिक्रमण नही करता है । मुख पर मुख-वस्त्रिका के बिना रहता है अथवा बोलता है और पानी को नही ढकता है, उसे नीवी का प्रायश्चित्त आता है, यह सब जीतव्यवहार है । गाथा मे आए 'मुहणतगफिडिय' की टीका— **"मुखपोतिकाया स्फिटितायां, मुखपोतिकामंतरेणेत्यर्थ"** ।

इन पाच व्यवहारियो द्वारा दिया गया प्रायश्चित्त आगमव्यवहार यावत् जीतव्यवहार कहा जाता है ।

इस सूत्रविधान का आशय यह है कि पहले कहा गया व्यवहार और व्यवहारी प्रमुख होता है । उसकी अनुपस्थिति मे ही बाद मे कहे गए व्यवहार और व्यवहारी को प्रमुखता दी जा सकती है । अर्थात् जिस विषय मे श्रुतव्यवहार उपलब्ध हो उस विषय के निर्णय करने मे धारणा या जीत-व्यवहार को प्रमुख नही करना चाहिए ।

व्युत्क्रम से प्रमुखता देने मे स्वार्थभाव या राग-द्वेष आदि होते हैं, निष्पक्षभाव नही रहता है । इसी आशय को सूचित करने के लिए सूत्र के अतिम अश मे राग-द्वेष एव पक्षपातभाव से रहित होकर यथाक्रम व्यवहार करने की प्रेरणा दी गई है, साथ ही सूत्रनिर्दिष्ट क्रम से एव निष्पक्षभाव से व्यवहार करने वालो को आराधक कहा गया है । अन पक्षभाव से एव व्युत्क्रम से व्यवहार करने वाला विराधक होता है, यह स्पष्ट है ।

व्यवहार शब्द का उपलक्षण से विस्तृत अर्थ करने पर भी फलित होता है कि सयमीजीवन से सम्बन्धित किसी भी व्यवहारिक विषय का निर्णय करना हो या कोई भी आगम से प्ररूपित तत्त्व के सम्बन्ध मे उत्पन्न विवाद की स्थिनि का निर्णय करना हो तो इसी क्रम से करना चाहिए अर्थात् यदि आगमव्यवहारी हो तो उसके निर्णय को स्वीकार करके विवाद को समाप्त करना चाहिए ।

यदि आगमव्यवहारी न हो तो उपलब्ध श्रुत-आगम के आधार से जो निर्णय हो, उसे स्वीकार करना चाहिए । सूत्र का प्रमाण उपलब्ध होने पर आज्ञा, धारणा या परम्परा को प्रमुख नही मानना चाहिए, क्यो आज्ञा, धारणा या परम्परा की अपेक्षा श्रुतव्यवहार प्रमुख है ।

वर्तमान में सर्वोपरि प्रमुख स्थान आगमो का है, उसके बाद व्याख्याओ एव ग्रन्थो का स्थान है तत्पश्चात् स्थविरो द्वारा धारित कंठस्थ धारणा या परम्परा का है । व्याख्याओ या ग्रन्थो मे भी पूर्व-पूर्व के आचार्यों की रचना का प्रमुख स्थान है ।

अत. वर्तमान मे सर्वप्रथम निर्णायक शास्त्र हैं, उससे विपरीत अर्थ को कहने वाले व्याख्या और ग्रन्थ का महत्त्व नही है । उसी प्रकार शास्त्रप्रमाण के उपलब्ध होने पर धारणा या परम्परा का भी कोई महत्त्व नही है । इसलिए शास्त्र, ग्रन्थ, धारणा और परम्परा को भी यथाक्रम विवेकपूर्वक प्रमुखता देकर किसी भी तत्त्व का निर्णय करना आराधना का हेतु है और किसी भी पक्षभाव के कारण व्युत्क्रम

से निर्णय करना विराधना का हेतु है। अत: इस सूत्र के आशय को समझ कर निष्पक्षभाव से आगम तत्त्वों का निर्णय करना चाहिए। भगवतीसूत्र श. ८ उ. ८ मे तथा ठाणाग अ. ५ उ. २ मे भी यह सूत्र है। वहा भी इस विषयक कुछ विवेचन किया गया है।

साराश यह है कि प्रायश्चित्तो का या अन्य तत्त्वो का निर्णय इन पाच व्यवहारो द्वारा क्रम-पूर्वक करना चाहिए, व्युत्क्रम से नही। इसलिए किसी विषय मे आगमपाठ के होते हुए धारणा या परपरा को प्रमुखता देकर आग्रह करना सर्वथा अनुचित समझना चाहिए।

विविधप्रकार से गण की वैयावृत्य करने वाले

४ चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—१ अट्ठकरे नामं एगे, नो माणकरे, २ माणकरे नामं एगे, नो अट्ठकरे, ३ एगे अट्ठकरे वि, माणकरे वि, ४. एगे नो अट्ठकरे, नो माणकरे।

५ चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, त जहा—१. गणट्ठकरे नामं एगे, नो माणकरे, २ माणकरे नामं एगे, नो गणट्ठकरे, ३ एगे गणट्ठकरे वि, माणकरे वि, ४ एगे नो गणट्ठकरे, नो माणकरे।

६ चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, त जहा—१ गणसंगहकरे नाम एगे, नो माणकरे, २. माणकरे नामं एगे, नो गणसंगहकरे, ३. एगे गणसगहकरे वि, माणकरे वि, ४. एगे नो गणसंगहकरे, नो माणकरे।

७ चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—१. गणसोहकरे नाम एगे, नो माणकरे, २. माणकरे नामं एगे, नो गणसोहकरे, ३ एगे गणसोहकरे वि, माणकरे वि, ४ एगे नो गणसोहकरे, नो माणकरे।

८. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—१ गणसोहिकरे नामं एगे, नो माणकरे, २. माणकरे नाम एगे, नो गणसोहिकरे, ३. एगे गणसोहिकरे वि, माणकरे वि, ४. एगे नो गणसोहिकरे, नो माणकरे।

४ चार प्रकार के साधु पुरुष कहे गए है। जैसे—१ कोई साधु कार्य करता है, किन्तु मान नही करता है। २. कोई मान करता है, किन्तु कार्य नही करता है। ३ कोई कार्य भी करता है और मान भी करता है। ४ कोई कार्य भी नही करता है और मान भी नही करता है।

५ (पुन:) चार प्रकार के साधु पुरुष कहे गये है। जैसे—१ कोई गण का काम करता है, परन्तु मान नही करता है। २. कोई मान करता है, परन्तु गण का काम नही करता है। ३. कोई गण का काम भी करता है और मान भी करता है। ४ कोई न गण का काम करता है और न मान करता है।

६. (पुन:) चार प्रकार के साधु पुरुष कहे गये है। जैसे—१ कोई गण के लिए सग्रह करता है, परन्तु मान नही करता है। २. कोई मान करता है, परन्तु गण के लिए सग्रह नही करता है। ३. कोई गण के लिए सग्रह भी करता है और मान भी करता है। ४. कोई न गण के लिए सग्रह करता है और न मान ही करता है।

७ (पुन) चार प्रकार के साधु पुरुष कहे गये है। जैसे—१ कोई गण की शोभा बढाता है, किन्तु मान नही करता है। २ कोई मान करता है, किन्तु गण की शोभा नही बढाता है। ३. कोई गण की शोभा भी बढ़ाता है और मान भी करता है। ४. कोई न गण की शोभा बढाता है और न मान ही करता है।

८ (पुन) चार प्रकार के साधु पुरुष कहे गये है। जैसे—१ कोई गण की शुद्धि करता है, परन्तु मान नही करता है। २ कोई मान करता है, परन्तु गण की शुद्धि नही करता है। ३ कोई गण की शुद्धि भी करता है और मान भी करता है। ४ कोई न गण की शुद्धि करता है और न मान ही करता है।

विवेचन—प्रत्येक व्यक्ति मे भिन्न-भिन्न गुण होते हैं। अत यहा भिन्न-भिन्न को लेकर सयमी पुरुषो के लिए पाच चौभगिया कही है, उनमे निम्न विषय है—(१) अट्ठ--कुछ भी सेवा कार्य, (२) गणट्ठ—गच्छ के व्यवस्था सबधी कार्य, (३) गणसग्रह—गण के लिए साधु-साध्वी श्रावक श्राविकाओ की वृद्धि हो, आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, शय्या-सस्तारक आदि सुलभ हो, ऐसे क्षेत्रो की वृद्धि करना, लोगो मे धार्मिक रुचि एव दान भावना की वृद्धि करना। (४) गणसोह—तप-सयम, ज्ञान-ध्यान, उपदेश एव व्यवहारकुशलता से गण की शोभा की वृद्धि करना। (५) गणसोहि—साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका के आचार-व्यवहार की अशुद्धियो को विवेक से दूर करना। सघव्यवस्था की अव्यवस्था को उचित उपायो द्वारा सुधार कर उत्तम व्यवस्था करना।

इन गुणो को और अभिमान को सबधित करके चौभगियो का कथन किया गया है। कुछ साधु गण के लिए उक्त कार्य करके भी अभिमान नही करते है। ऐसे साधु ही सर्वश्रेष्ठ होते हैं। प्रत्येक साधक को इस प्रथम भग के अनुसार रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

दूसरा भग आत्मा के लिए पूरी तरह निकृष्ट एव हेय है। क्योकि कार्य तो कुछ करना नही और व्यर्थ मे घमड करना सर्वथा अनुचित है।

तीसरा भग मध्यम है अर्थात् दूसरे भग की अपेक्षा तीसरा भग आत्मा का अधिक अहित करने वाला नही है तथा छद्मस्थ जीवों मे ऐसा होना स्वाभाविक है। अध्यात्मसाधना मे काम करके उसका घमड करना भी एक अवगुण है। इस से आत्मगुणों का विकास नही होता है।

चौथा भग सामान्य साधुओ की अपेक्षा से है। इसमे गुण नही है तो अवगुण भी नही है, ऐसे भिक्षु सयम मे सावधान हो तो अपनी आराधना कर सकते हैं, किंतु वे गणहित के कार्यों मे सक्रिय नही होते। इस कारण इस भग वाले अधिक निर्जरा भी नही करते तथा उनके विशेष कर्मबध और पुण्यक्षय भी नही होता है।

इन भगो का चिंतन करके आत्मपरीक्षा करते हुए शुद्ध से शुद्धतर अवस्था मे आत्मशक्ति का विकास करना चाहिए। अर्थात् अपने क्षयोपशम के अनुसार गच्छहित एव जिनशासन की प्रभावना मे योगदान देना चाहिए। साथ ही आत्मा मे लघुता का भाव उपस्थित रखते हुए स्वयं का उत्कर्ष और दूसरो का तिरस्कार-निंदा आदि नही करना चाहिए। क्योकि कषायो की उपशांति और आत्मशाति की प्राप्ति करना ही साधना का प्रमुख लक्ष्य है, उसके विपरीत मानकषाय की वृद्धि होना

किसी भी पुरुषार्थ का अच्छा परिणाम नही है, अपितु दुष्परिणाम है। इसलिए इसका विवेक रखना आवश्यक है।

धर्मदृढता की चौभंगियां

९ चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, त जहा—१. रूवं नाममेगे जहइ, नो धम्मं, २. धम्मं नाममेगे जहइ, नो रूवं, ३ एगे रूवं वि जहइ, धम्मं वि जहइ, ४. एगे नो रूवं जहइ, नो धम्म जहइ।

१० चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—१. धम्मं नाममेगे जहइ, नो गणसंठिइ, २. गणसंठिइं नाममेगे जहइ, नो धम्म, ३. एगे गणसठिइ वि जहइ, धम्म वि जहइ, ४. एगे नो गणसंठिइ जहइ, नो धम्मं जहइ।

११ चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—१ पियधम्मे नाममेगे, नो दढधम्मे, २ दढधम्मे नाममेगे, नो पियधम्मे, ३. एगे पियधम्मे वि, दढधम्मे वि, ४. एगे नो पियधम्मे, नो दढधम्मे।

९ चार जाति के पुरुष कहे गये हैं, जैसे—१ कोई रूप (साधुवेष) को छोड़ देता है, पर धर्म को नही छोडता है। २ कोई धर्म को छोड देता है पर रूप को नही छोडता है। ३ कोई रूप भी छोड देता है और धर्म भी छोड देता है। ४ कोई न रूप को छोडता है और न धर्म को छोडता है।

१० पुन चार जाति के पुरुष कहे गये हैं। जैसे—१ कोई धर्म को छोडता है, पर गण की सस्थिति अर्थात् गणमर्यादा नही छोडता है। २ कोई गण की मर्यादा भी छोड देता है, पर धर्म को नही छोड़ता है। ३ कोई गण की मर्यादा भी छोड देता है और धर्म भी छोड देता है। ४. कोई न गण की मर्यादा ही छोडता है और न धर्म ही छोडता है।

११ पुन चार जाति के पुरुष कहे गये है, जैसे—

१ कोई प्रियधर्मा है पर दृढधर्मा नही है। २ कोई दृढधर्मा है, पर प्रियधर्मा नही है। ३ कोई प्रियधर्मा भी है और दृढधर्मा भी है। ४ कोई न प्रियधर्मा ही है और न दृढधर्मा ही है।

विवेचन—इन चौभगियो मे साधक की धर्मदृढता आदि का कथन किया गया है। जिसमे निम्न विषयो की चर्चा है—

१. साधुवेश और धर्मभाव,
२. धर्मभाव और गणसमाचारी की परम्परा,
३. धर्मप्रेम और धर्मदृढता।

प्रथम चौभगी मे यह बताया गया है कि कई व्यक्ति किसी भी परिस्थिति मे अपने धर्मभाव और साधुवेश दोनो को नही छोडते और गम्भीरता के साथ विकट परिस्थिति को पार कर लेते है। यह साधक आत्माओ की श्रेष्ठ अवस्था है। शेष भगवर्ती कोई साधक घबराकर बाह्यवेषभूषा का और संयम-आचार का परित्याग कर देता है, किन्तु धर्मभावना या सम्यक्श्रद्धा को कायम रखता है। ऐसा साधक आत्मोन्नति से वचित रहता है, किन्तु दुर्गति का भागी नही होता है।

कोई धर्मभाव का परित्याग कर देते है अर्थात् सयमाचरण और कषायो की उपशांति को छोड़ देते है, किन्तु साधुवेष नही छोडते है। कई साधक परिस्थिति आने पर दोनो ही छोड़ बैठते है। ये तीनो भग वाले मार्गच्युत होते हैं। फिर भी दूसरे भग वाला धर्म का आराधक हो सकता है। इस चौभगी मे चौथे भग वाला साधक सर्वश्रेष्ठ है।

द्वितीय चौभगी के चौथे भग मे बताया है कि कई साधक किसी भी परिस्थिति मे आगम-समाचारी और गच्छसमाचारी किसी का भी भग नही करते किन्तु दृढता एव विवेक के साथ सम्पूर्ण समाचारी का पालन करते हैं, वे श्रेष्ठ साधक हैं। शेष तीन भग मे कहे गये साधक अल्प सफलता वाले हैं। वे परिस्थितिवश किसी न किसी समाचारी से च्युत हो जाते हैं। उन भगो की सयोजना पूर्व चौभंगी के समान समझ लेना चाहिए।

तीसरी चौभगी मे धर्माचरणो की दृढता और धर्म के प्रति अन्तरग प्रेम, इन दो गुणो का कथन है।

धर्मदृढता स्थिरचित्तता एव गम्भीरता की सूचक है और धर्मप्रेम प्रगाढ श्रद्धा या भक्ति से सम्बन्धित है। किसी साधक मे ये दोनो गुण होते है, किसी मे कोई एक गुण होता है और किसी मे दोनो ही गुणो की मदता या अभाव होता है।

सारांश—प्रथम चौभगी मे चौथा भग उत्तम है, द्वितीय चौभगी मे भी चौथा भग उत्तम है और तीसरी चौभगी मे तीसरा भग उत्तम है।

आचार्य एवं शिष्यों के प्रकार

१२. चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा—

१. पव्वावणायरिए नामेगे, नो उवट्ठावणायरिए, २. उवट्ठावणायरिए नामेगे, नो पव्वावणा-यरिए, ३ एगे पव्वावणायरिए वि, उवट्ठावणायरिए वि, ४. एगे नो पव्वावणायरिए, नो उवट्ठावणा-यरिए—धम्मायरिए।

१३. चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तं जहा—

१. उद्देसणायरिए नामेगे, नो वायणायरिए, २. वायणायरिए नामेगे, नो उद्देसणायरिए। ३. एगे उद्देसणायरिए वि, वायणायरिए वि, ४. एगे नो उद्देसणायरिए, नो वायणायरिए—धम्मायरिए।

१४. चत्तारि अंतेवासी पण्णत्ता, तं जहा—

१ पव्वावणंतेवासी नामेगे नो उवट्ठावणंतेवासी, २. उवट्ठावणंतेवासी नामेगे, नो पव्वावणंते-वासी, ३. एगे पव्वावणंतेवासी वि उवट्ठावणंतेवासी वि, ४. एगे नो पव्वावणंतेवासी, नो उवट्ठावणंते-वासी—धम्मंतेवासी।

१५. चत्तारि अंतेवासी पण्णत्ता, तं जहा—

१. उद्देसणंतेवासी नामेगे, नो वायणंतेवासी, २. वायणंतेवासी नामेगे, नो उद्देसणंतेवासी, ३. एगे उद्देसणंतेवासी वि वायणंतेवासी वि, ४. एगे नो उद्देसणंतेवासी, नो वायणंतेवासी—धम्मंतेवासी।

१२ चार प्रकार के आचार्य कहे गये है, यथा—

१. कोई आचार्य (किसी एक शिष्य की अपेक्षा) प्रव्रज्या देने वाले होते है, किन्तु महाव्रतो का आरोपण करने वाले नही होते हैं। २. कोई आचार्य महाव्रतो का आरोपण करने वाले होते हैं, किन्तु प्रव्रज्या देने वाले नही होते हैं। ३ कोई आचार्य प्रव्रज्या देने वाले भी होते हैं और महाव्रतो का आरोपण करने वाले भी होते हैं। ४ कोई आचार्य न प्रव्रज्या देने वाले होते हैं और न महाव्रतो का आरोपण करने वाले होते हैं, वे केवल धर्मोपदेश देने वाले होते हैं।

१३ चार प्रकार के आचार्य कहे गये हैं, यथा—१ कोई आचार्य (किसी एक शिष्य की अपेक्षा) मूलपाठ की वाचना देने वाले होते हैं, किन्तु अर्थ की वाचना देने वाले नही होते हैं। २ कोई आचार्य अर्थ की वाचना देने वाले होते है, किन्तु मूलपाठ की वाचना देने वाले नहीं होते हैं। ३ कोई आचार्य मूलपाठ की वाचना देने वाले भी होते हैं और अर्थ की वाचना देने वाले भी होते है। ४ कोई आचार्य मूलपाठ की वाचना देने वाले भी नही होते है और अर्थ की वाचना देने वाले भी होते हैं, वे केवल धर्माचार्य होते है।

१४ अन्तेवासी (शिष्य) चार प्रकार के कहे गये हैं, जैसे—१ कोई प्रव्रज्याशिष्य है, परन्तु उपस्थापनाशिष्य नही है। २ कोई उपस्थापनाशिष्य है, परन्तु प्रव्रज्याशिष्य नही। ३ कोई प्रव्रज्याशिष्य भी है और उपस्थापनाशिष्य भी है। ४ कोई न प्रव्रज्याशिष्य है और न उपस्थापना शिष्य है। किन्तु धर्मोपदेश से प्रतिबोधित शिष्य है।

१५ पुन अन्तेवासी चार प्रकार के कहे गये है, जैसे—१. कोई उद्देशन-अन्तेवासी है, परन्तु वाचना-अन्तेवासी नही है। २ कोई वाचना-अन्तेवासी है, परन्तु उद्देशन-अन्तेवासी नही है। ३ कोई उद्देशन-अन्तेवासी भी है और वाचना-अन्तेवासी भी है। ४. कोई न उद्देशन-अन्तेवासी है और न वाचना-अन्तेवासी है। किन्तु धर्मोपदेश से प्रतिबोधित शिष्य है।

विवेचन—इन चौभगियो मे गुरु और शिष्य से सम्बन्धित निम्नलिखित विषयो का कथन किया गया है—

१. दीक्षादाता गुरु और शिष्य।
२. बड़ीदीक्षादाता गुरु और शिष्य।
३. आगम के मूलपाठ की वाचनादाता गुरु और शिष्य।
४ सूत्रार्थ की वाचनादाता गुरु और शिष्य।
५. प्रतिबोध-देने वाला गुरु और शिष्य।

किसी भी शिष्य को दीक्षा, बडीदीक्षा या प्रतिबोध देने वाले पृथक्-पृथक् आचार्य निर्धारित नहीं होते हैं अर्थात् आचार्य, उपाध्याय या अन्य कोई भी श्रमण-श्रमणी गुरु की आज्ञा से किसी को भी

दीक्षा, बडी दीक्षा या प्रतिबोध दे सकते हैं। उनको इस सूत्र के "आयरिय" शब्द से सूचित किया गया है। इसी तरह शिष्य को भी भिन्न-भिन्न शब्दो से सूचित किया है।

एक ही भिक्षु दीक्षादाता आदि पूर्वोक्त पाचो का कार्य सम्पन्न कर सकता है अथवा कोई हीनाधिक कार्यों का कर्ता हो सकता है और कोई भिक्षु पाचो ही अवस्थाओ से रहित भिन्न अवस्था वाला अर्थात् सामान्य भिक्षु भी होता है।

उक्त पाचो कार्य सम्पन्न करने वाले साधुओ को प्रथम दो चौभगियो मे "आयरिय" शब्द से सूचित किया है और उनके शिष्यो को बाद की दो चौभगियो से सूचित किया है।

इस प्रकार इन चौभगियो के ये भग केवल ज्ञेय है, अर्थात् इन चौभगियो के किसी भग को प्रशस्त या अप्रशस्त नही कहा जा सकता है।

स्थविर के प्रकार

१६ तओ थेरभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—१. जाइ-थेरे, २ सुय-थेरे, ३ परियाय-थेरे।

१. सट्ठिवासजाए समणे निग्गंथे जाइ-थेरे। २ ठाण-समवायांगधरे समणे निग्गंथे सुय-थेरे। ३. वीसवासपरियाए समणे निग्गंथे परियाय-थेरे।

१६ स्थविर तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—१. वय-स्थविर, २ श्रुत-स्थविर, ३ पर्याय-स्थविर।

१ साठ वर्ष की आयु वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ वयस्थविर है।
२ स्थानाग-समवायाग के धारक श्रमण-निर्ग्रन्थ श्रुतस्थविर है।
३ बीस वर्ष की दीक्षा-पर्याय के धारक श्रमण-निर्ग्रन्थ पर्यायस्थविर है।

विवेचन—"भूमि" शब्द यहा "अवस्था" अर्थ मे प्रयुक्त है। जो स्थिर स्वभाव वाले हो जाते हैं वे अपूर्ण या चचल नही होते हैं। अत वे स्थविर कहे जाते हैं।

(१) **वयस्थविर** -सूत्र मे गर्भकाल सहित ६० वर्ष की उम्र वालो को वयस्थविर सूचित किया है और व्यव भाष्य उद्दे ३ सूत्र ११ मे ७० वर्ष की वय वाले को स्थविर कहा है। वहा उसके पूर्व की अवस्था को प्रौढ अवस्था कहा है। ये दोनो कथन सापेक्ष हैं, इनमे विरोध नही समझना चाहिए।

(२) **श्रुतस्थविर**—स्थानाग, समवायागसूत्र को कठस्थ धारण करनेवाला अर्थात् आचारागादि चार अंग, चार छेद एव उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और आवश्यकसूत्र को अर्थसहित कण्ठस्थ धारण करने वाला श्रुतज्ञान की अपेक्षा श्रुतस्थविर कहा जाता है।

(३) **पर्यायस्थविर**—संयमपर्याय के बीस वर्ष पूर्ण हो जाने पर भिक्षु "पर्यायस्थविर" कहा जाता है।

ये तीनों प्रकार के स्थविरत्व परस्पर निरपेक्ष हैं अर्थात् स्वतंत्र हैं।
इस सूत्र में ये तीनो प्रकार के स्थविर साधु-साध्वियों की अपेक्षा से ही कहे गये हैं।

इन स्थविरो के प्रति क्या-क्या व्यवहार करना चाहिए, इसका भाष्य में इसप्रकार स्पष्टीकरण किया गया है।

(१) जन्मस्थविर को काल-स्वभावानुसार आहार देना, उसके योग्य उपधि, शय्यासस्तारक देना अर्थात् ऋतु के अनुकूल सवात-निर्वात स्थान और मृदु सस्तारक देना तथा विहार मे उसके उपकरण और पानी उठाना इत्यादि अनुकम्पा करनी चाहिए।

(२) श्रुतस्थविर का आदर-सत्कार, अभ्युत्थान, कृतिकर्म, आसनप्रदान, पाद-प्रमार्जन करना करवाना। उसके प्रत्यक्ष या परोक्ष मे गुणकीर्तन—प्रशसा करना, उनके समक्ष उच्च शय्या आसन से नही बैठना, उनके निर्देशानुसार कार्य करना।

(३) पर्यायस्थविर का आदर-सत्कार, अभ्युत्थान, वदन करना, खमासमणा देना, उनका दण्डादि उपकरण ग्रहण करना एव उचित विनय करना।

ये स्थविर गण की ऋद्धिरूप होते हैं। इनका तिरस्कार, अभक्ति आदि करना विराधना का कारण है, ऐसा करने से गुरुचौमासी प्रायश्चित्त आता है।

बड़ी दीक्षा देने का कालप्रमाण

१७. तओ सेहभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—१ सत्तराइंदिया, २. चाउम्मासिया, ३. छम्मासिया। छम्मासिया उक्कोसिया। चाउम्मासिया मज्झमिया। सत्तराइंदिया जहन्निया

१७ नवदीक्षित शिष्य की तीन शैक्ष-भूमिया कही गई है, जैसे—१ सप्तरात्रि, २. चातुर्मासिक, ३ षाण्मासिकी। उत्कृष्ट छह मास से महाव्रत आरोपण करना। मध्यम चार मास से महाव्रत आरोपण करना। जघन्य सात दिन-रात के बाद महाव्रत आरोपण करना।

विवेचन—दीक्षा देने के बाद एव उपस्थापना के पूर्व की मध्यगत अवस्था को यहा शैक्ष-भूमि कहा गया है।

जघन्य शैक्षकाल सात अहोरात्र का है, इसलिए कम से कम सात रात्रि व्यतीत होने पर अर्थात आठवें दिन बडी दीक्षा दी जा सकती है। उपस्थापना सबधी अन्य विवेचन व्यव उद्दे ४ सूत्र १५ मे देखे।

प्रतिक्रमण एवं समाचारी अध्ययन के पूर्ण न होने के कारण मध्यम और उत्कृष्ट शैक्ष-काल हो सकता है, अथवा साथ मे दीक्षित होने वाले कोई माननीय पूज्य पुरुष का कारण भी हो सकता है।

जघन्य शैक्ष-काल तो सभी के लिए आवश्यक ही होता है। इतने समय मे कई अतरग जानकारिया हो जाती हैं, परीक्षण भी हो जाता है और प्रतिक्रमण एव समाचारी का ज्ञान भी पूर्ण कराया जा सकता है।

किसी अपेक्षा को लेकर सातवे दिन बडी दीक्षा देने की परम्परा भी प्रचलित है, किंतु सूत्रानुसार सात रात्रि व्यतीत होने के पूर्व बडी दीक्षा देना उचित नहीं है। इस विषयक विशेष विवेचन उ. ४ सू. १५ में देखें।

बालक-बालिका को बड़ी दीक्षा देने का विधि-निषेध

१८. नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डगं वा खुड्डियं वा ऊणट्ठवासजायं उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा।

१९. कप्पइ णिग्गथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डगं वा खुड्डियं वा साइरेग अट्ठवासजायं उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा।

१८. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को आठ वर्ष से कम उम्र वाले बालक-बालिका को बडी दीक्षा देना और उनके साथ आहार करना नही कल्पता है।

१९. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को आठ वर्ष से अधिक उम्र वाले बालक-बालिका को बडी दीक्षा देना और उनके साथ आहार करना कल्पता है।

विवेचन—पूर्व सूत्र मे शैक्ष-भूमि के कथन से उपस्थापना काल कहा गया है और यहां पर क्षुल्लक-क्षुल्लिका अर्थात् छोटी उम्र के बालक-बालिका की उपस्थापना का कथन किया गया है।

यदि माता-पिता आदि के साथ किसी कारण से छोटी उम्र के बालक को दीक्षा दे दी जाय तो कुछ भी अधिक आठ वर्ष अर्थात् गर्भकाल सहित नौ वर्ष के पूर्व बडी दीक्षा नही देनी चाहिए। इतना समय पूर्ण हो जाने पर बडी दीक्षा दी जा सकती है।

सामान्यतया तो इस वय के पूर्व दीक्षा भी नही देनी चाहिए। अत यह सूत्रोक्त उपस्थापना का विधान आपवादिक परिस्थिति की अपेक्षा से है, ऐसा समझना चाहिए। अथवा उपस्थापना से दीक्षा या बड़ी दीक्षा दोनो ही सूचित है, ऐसा भी समझा जा सकता है।

अत्यधिक छोटी उम्र के बालक का अस्थिरचित्त एव चचल होना स्वाभाविक है एव उसका जिद् करना, रोना, खेलना, अविवेक से टट्टी पेशाब कर देना आदि स्थितियो से सयम की हानि होना सभव रहता है। इसी कारण से नौ वर्ष की उम्र के पूर्व दीक्षा या बडी दीक्षा देने का निषेध एव प्रायश्चित्त विधान है।

सूत्र में **"संभुंजित्तए"** क्रिया पद भी है, उसका तात्पर्य यह है कि उपस्थापना के पूर्व नवदीक्षित साधु को एक माडलिक आहार नही कराया जा सकता है। क्योकि तब तक वह सामायिकचारित्र वाला होता है। बडी दीक्षा के बाद वह छेदोपस्थापनीय चारित्र वाला हो जाता है। उसी के साथ एक मांडलिक आहार करने का विधान है, ऐसा समझना चाहिए।

बालक को आचारप्रकल्प के अध्ययन कराने का निषेध

२०. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा अवंजणजायस्स आयारपकप्पे णामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

२१. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा वंजणजायस्स आयारपकप्पे णामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

२०. अव्यजनजात अर्थात् अप्राप्त यौवन वाले बालक भिक्षु या भिक्षुणी को आचारप्रकल्प नामक अध्ययन पढाना निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को नही कल्पता है।

२१. व्यजनजात अर्थात् यौवन प्राप्त भिक्षु या भिक्षुणी को आचारप्रकल्प नामक अध्ययन पढाना निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को कल्पता है।

विवेचन—यहा पर आचारागसूत्र और निशीथसूत्र को आचारप्रकल्प कहा गया है। इसका अध्ययन सोलह वर्ष से कम उम्र वाले साधु-साध्वी को कराने का निषेध किया गया है। इस विषयक सपूर्ण विवेचन निशीथ उद्दे. १९ सूत्र २० में देखें।

दीक्षापर्याय के साथ आगमों का अध्ययनक्रम

२२ तिवास-परियायस्स समणस्स निग्गथस्स कप्पइ आयारपकप्पे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

२३ चउवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ सुयगडे नाम अगे उद्दिसित्तए।

२४. पंचवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ दसा-कप्प-ववहारे उद्दिसित्तए।

२५. अट्ठवास-परियायस्स समणस्स णिग्गथस्स कप्पइ ठाण-समवाए उद्दिसित्तए।

२६. दसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ वियाहे नामं अगे उद्दिसित्तए।

२७. एक्कारसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ खुड्डिया विमाणपविभत्ती, महल्लियाविमाणपविभत्ती, अंगचूलिया, वग्गचूलिया, वियाहचूलिया नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

२८. बारसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ अरुणोववाए, वरुणोववाए, गरुलोववाए, धरणोववाए, वेसमणोववाए, वेलंधरोववाए, नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

२९. तेरसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गथस्स कप्पइ उट्ठाणसुए, समुट्ठाणसुए, देविंदपरिया-वणिए, नागपरियावणिए नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

३०. चोद्दसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ सुमिणभावणानाम अज्झयणे उद्दिसित्तए।

३१. पन्नरसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ चारणभावणानामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

३२. सोलसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ तेयणिसग्गे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

३३ सत्तरसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ आसीविसभावणाणामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

३४. अट्ठारसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ दिट्ठिविसभावणाणामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

३५. एगूणवीसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ दिट्ठिवाय नामं अंगे उद्दिसित्तए।

३६. वीसवास-परियाए समणे णिग्गंथे सव्वसुयाणुवाई भवइ।

२२ तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाले (योग्य) श्रमण-निर्ग्रन्थ को आचारप्रकल्प नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

२३ चार वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को सूत्रकृतांग नामक दूसरा अंग पढाना कल्पता है।

२४ पांच वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को दशा, कल्प, व्यवहार सूत्र पढाना कल्पता है।

२५ आठ वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को स्थानांग और समवायांगसूत्र पढाना कल्पता है।

२६ दश वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक अंग पढ़ाना कल्पता है।

२७ ग्यारह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को क्षुल्लिका विमानप्रविभक्ति, महल्लिका विमानप्रविभक्ति, अंगचूलिका, वर्गचूलिका और व्याख्याचूलिका नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

२८. बारह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरुडोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात, वेलन्धरोपपात नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

२९. तेरह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को उत्थानश्रुत, समुत्थानश्रुत, देवेन्द्रपरियापनिका और नागपरियापनिका नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

३०. चौदह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को स्वप्नभावना नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

३१. पन्द्रह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को चारणभावना नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

३२. सोलह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को तेजोनिसर्ग नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

३३ सत्तरह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को आसीविषभावना नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

३४ अठारह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को दृष्टिविषभावना नामक अध्ययन पढ़ाना कल्पता है।

३५. उन्नीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को दृष्टिवाद नामक बारहवा अग पढाना कल्पता है।

३६ बीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ सर्वश्रुत को धारण करने वाला हो जाता है।

विवेचन—इन पन्द्रह सूत्रो मे क्रमश आगमो के अध्ययन का कथन दीक्षापर्याय की अपेक्षा से किया गया है। जिसमे तीन वर्ष से लेकर बीस वर्ष तक का कथन है।

यह अध्ययनक्रम इस सूत्र के रचयिता श्री भद्रबाहुस्वामी के समय उपलब्ध श्रुतो के अनुसार है। उसके बाद में रचित एव निर्यूढ सूत्रो का इस अध्ययनक्रम मे उल्लेख नही है। अत. उववाई आदि १२ उपागसूत्र एव मूलसूत्रो के अध्ययनक्रम की यहा विवक्षा नही की गई है। फिर भी आचारशास्त्र के अध्ययन कर लेने पर अर्थात् छेदसूत्रो के अध्ययन के बाद और ठाणाग, समवायाग तथा भगवती-सूत्र के अध्ययन के पहले या पीछे कभी भी उन शेष सूत्रों का अध्ययन करना समझ लेना चाहिए।

आवश्यकसूत्र का अध्ययन तो उपस्थापना के पूर्व ही किया जाता है तथा भाष्य मे आचाराग व निशीथ के पूर्व दशवैकालिक और उत्तराध्ययनसूत्र के अध्ययन करने का निर्देश किया गया है। उससे सम्बन्धित उद्धरण तीसरे उद्देशक मे दे दिये गये है तथा निशी उ १९ मे इस विषय मे विवेचन किया है।

१. दशवैकालिकसूत्र के विषय मे ऐसी धारणा प्रचलित है कि भद्रबाहुस्वामी से पूर्व शय्यभव-स्वामी ने अपने पुत्र "मनक" के लिए इस सूत्र की रचना की थी। फिर सघ के आग्रह से इसे पुन पूर्वों में विलीन नही किया और स्वतत्र रूप में रहने दिया।

२. उत्तराध्ययनसूत्र के लिए भी ऐसी परम्परा प्रचलित है कि ये ३६ अध्ययन भ महावीर स्वामी ने अतिम देशना मे फरमाये थे। उस समय देशना सुनकर किसी स्थविर ने उनका सूत्र रूप मे गुंथन किया।

किन्तु प्रस्तुत आगमअध्ययनक्रम मे भद्रबाहुस्वामी द्वारा इन दोनो सूत्रो को स्थान नही दिए जाने के कारण एव उन ऐतिहासिक कथनों का सूक्ष्मबुद्धि से परिशीलन करने पर सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि ये दोनो सूत्रों से सबंधित धारणाए काल्पनिक है। वास्तव मे ये सूत्र भद्रबाहु-स्वामी के बाद में और देवर्द्धिगणी के समय तक किसी भी काल में सकलित किए गए है।

इतिहास के नाम से समय-समय पर ऐसी कई कल्पनाएं प्रचलित हुई हैं या की गई हैं। जैसे कि—निर्युक्ति, भाष्य, चूणिया आदि वास्तव मे तो नदीसूत्र की रचना के बाद आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थ हैं। फिर भी इनके विषय मे १४ पूर्वी या तीन पूर्वी आदि के द्वारा रचित होने के कल्पित इतिहास प्रसिद्ध किए गए हैं।

महाविदेहक्षेत्र से स्थूलिभद्र की बहन के द्वारा दो अथवा चार चूलिका लाने का कथन परिशिष्टपर्व आदि भिन्न-भिन्न ग्रन्थो मे है। वे ग्रन्थ स्थूलिभद्र के समय से ८००-९०० वर्ष बाद रचे गए हैं। उन ग्रन्थकारो के पूर्व हुए टीकाकार, चूणिकार आदि उन चूलिकाओ के लिए महाविदेह से लाने सबधी कोई कल्पना न करके उन्हे मौलिक रचना होना ही स्वीकार करते है।

पर्युषणाकल्पसूत्र का १२वी-तेरहवी शताब्दी तक नाम भी नही था। उसे भी १४ पूर्वी भद्रबाहुस्वामी द्वारा रचित होना प्रचारित कर दिया, देखे दशा. द. ८ का विवेचन।

अत उत्तराध्ययन, दशवैकालिक इन दोनो सूत्रो की रचना व्यवहारसूत्र की रचना के बाद मानने मे कोई आपत्ति नही है। किन्तु उसके पहले के आचार्यों द्वारा रचित मानने पर इस व्यवहारसूत्र के अध्ययनक्रम मे इनका निर्देश न होना विचारणीय रहता है एव इस विषयक प्रचलित इतिहास-परपराए भी विचार करने पर तर्कसगत नही होती हैं।

इन सूत्रो मे जो तीन वर्ष पर्याय आदि का कथन किया गया है, उसका दो तरह से अर्थ किया जा सकता है—

(१) दीक्षापर्याय के तीन वर्ष पूर्ण होने पर उन आगमो का अध्ययन करना।

(२) तीन वर्षों के दीक्षापर्याय मे योग्य भिक्षु को कम से कम आगमो का अध्ययन कर लेना या करा देना चाहिए।

इन दोनो अर्थों मे दूसरा अर्थ आगमानुसारी है, इसका स्पष्टीकरण उ ३ सू ३ के विवेचन मे किया गया है। पाठक वहा से समझ ले।

दस वर्ष की दीक्षापर्याय के बाद मे अध्ययन करने के लिए कहे गए सूत्रो मे से प्राय सभी सूत्र नदीसूत्र की रचना के समय मे कालिक श्रुतरूप मे उपलब्ध थे। किन्तु वर्तमान मे उनमे से कोई भी सूत्र उपलब्ध नही है। केवल 'तेयनिसर्ग' नामक अध्ययन भगवतीसूत्र के पद्रहवे शतक मे उपलब्ध है।

ज्ञातासूत्र आदि अगसूत्रो का प्रस्तुत अध्ययन में निर्देश नही किया गया है, इसका कारण यह है कि इन सूत्रो मे प्रायः धर्मकथा का वर्णन है, जिनके क्रम की कोई आवश्यकता नही रहती है। यथावसर कभी भी इनका अध्ययन किया या कराया जा सकता है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र मे उपलब्ध आश्रव-सवर का वर्णन गणधररचित नही है, किन्तु सूत्र की रचना के बाद में संकलित किया गया है।

इन सूत्रो में सूचित किये गये आगमो के नाम इस प्रकार हैं—

(१-२) आचारागसूत्र एव निशीथसूत्र, (३) सूयगडांगसूत्र, (४, ५, ६) दशाश्रुतस्कधसूत्र, बृहत्कल्पसूत्र और व्यवहारसूत्र, (७, ८) ठाणांगसूत्र, समवायांगसूत्र, (९) भगवतीसूत्र। (१०-१४) क्षुल्लिका विमानप्रविभक्ति, महल्लिका विमानप्रविभक्ति, अंगचूलिका, वर्गचूलिका, व्याख्याचूलिका।

(१५-२०) अरुणोपपात, वरुणोपपात, गरुडोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात, वेलन्धरोपपात, (२१-२४) उत्थानश्रुत, समुत्थानश्रुत, देवेन्द्रपरियापनिका, नागपरियापनिका, (२५) स्वप्नभावना अध्ययन, (२६) चारणभावना अध्ययन, (२७) तेजनिसर्ग अध्ययन, (२८) आशीविषभावना अध्ययन, (२९) दृष्टिविषभावना अध्ययन, (३०) दृष्टिवाद अग।

सूत्राक १० से २९ तक के आगम दृष्टिवाद नामक अंग के ही अध्ययन थे अथवा उससे अलग निर्यूढ किये गये सूत्र थे। इन सभी का नाम नदीसूत्र मे कालिकश्रुत की सूची मे दिया गया है।

इन सूत्रो के अत मे यह बताया गया है कि बीस वर्ष की दीक्षापर्याय तक संपूर्णश्रुत का अध्ययन कर लेना चाहिए। तदनुसार वर्तमान मे भी प्रत्येक योग्य भिक्षु को उपलब्ध सभी आगमश्रुत का अध्ययन बीस वर्ष मे परिपूर्ण कर लेना चाहिए। उसके बाद प्रवचनप्रभावना करनी चाहिए अथवा निवृत्तिमय साधना मे रहकर स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि मे लीन रहते हुए आत्मसाधना करनी चाहिए।

उपर्युक्त आगमो की वाचना योग्य शिष्य को यथाक्रम से ही देनी चाहिए, इत्यादि विस्तृत वर्णन निशी उ १९ मे देखें।

वैयावृत्य के प्रकार एवं महानिर्जरा

३७ दसविहे वेयावच्चे पण्णत्ते, तं जहा—१ आयरिय-वेयावच्चे, २. उवज्झाय-वेयावच्चे, ३ थेर-वेयावच्चे, ४. तवस्सि-वेयावच्चे, ५. सेह-वेयावच्चे, ६ गिलाण-वेयावच्चे, ७ साहम्मिय-वेयावच्चे, ८. कुल-वेयावच्चे, ९. गण-वेयावच्चे, १० संघ-वेयावच्चे।

१. आयरिय-वेयावच्च करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

२ उवज्झाय-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

३. थेर-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

४ तवस्सि-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

५ सेह-वेयावच्च करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

६. गिलाण-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

७. साहम्मिय-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

८ कुल-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

९. गण-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

१०. संघ-वेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे, महापज्जवसाणे भवइ।

३७. वैयावृत्य दस प्रकार का कहा गया है, जैसे—१. आचार्य-वैयावृत्य, २. उपाध्याय-वैयावृत्य, ३. स्थविर-वैयावृत्य, ४. तपस्वी-वैयावृत्य, ५ शैक्ष-वैयावृत्य, ६ ग्लान-वैयावृत्य, ७ साधर्मिक-वैयावृत्य, ८. कुल-वैयावृत्य, ९. गण-वैयावृत्य, १० संघ-वैयावृत्य।

१ आचार्य की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

२ उपाध्याय की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

३ स्थविर की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

४. तपस्वी की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

५ शैक्ष की वयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

६ ग्लान की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

७. साधर्मिक की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

८ कुल की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

९ गण की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

१० सघ की वैयावृत्य करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

विवेचन—पूर्वसूत्र मे निर्जरा के प्रमुख साधन रूप स्वाध्याय का कथन किया गया है और प्रस्तुत सूत्र मे वैयावृत्य से महानिर्जरा एव महापर्यवमान अर्थात् मोक्षप्राप्ति का कथन किया गया है।

यहा आचार्य आदि दसो के कथन मे वैयावृत्य के पात्र सभी साधुओ का समावेश कर दिया गया है।

यह वैयावृत्य भाष्य में तेरह प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) **आहार**—उक्त आचार्य आदि के लिये यथायोग्य आहार लाना व देना आदि।

(२) **पानी**—पानी की गवेषणा करना एव लाना-देना आदि।

(३) **शयनासन**—शयनासन की नियुक्ति करना, संस्तारक बिछाना या गवेषणा करके लाना तथा शय्या भूमि का प्रमार्जन करना।

(४) **प्रतिलेखन**—उपकरणों का प्रतिलेखन करना व शुद्धि करना।

(५-७) **पाए**—औषध, भेषज लाना-देना या पादप्रमार्जन करना।

(८) **मार्ग**—विहार आदि मे उपधि वहन आदि उपग्रह करना तथा उनके साथ-साथ चलना आदि ।

(९) **राजद्विष्ट**—राजादि के द्वेष का निवारण करना ।

(१०) **स्तेन**—चोर आदि से रक्षा करना ।

(११) **दंडग्गह**—उपाश्रय से बाहर गमनागमन करते समय उनके हाथ मे से दड पात्र आदि ग्रहण करना । अथवा उपाश्रय मे आने पर उनके दड आदि ग्रहण करना ।

(१२) **ग्लान**—बीमार की अनेक प्रकार से सम्भाल करना, पूछताछ करना ।

(१३) **मात्रक**—उच्चार, प्रस्रवण, खेल मात्रक की शुद्धि करना अर्थात् उन पदार्थों को एकात मे विसर्जन करना ।

भाष्यकार ने बताया है कि सूत्र मे कहे गये आचार्य पद से तीर्थकर का भी ग्रहण समझ लेना चाहिए । क्योकि गणधर गौतमस्वामी भगवान् के लिए "धर्माचार्य" शब्द का निर्देश करते थे ।

—भग श २, उ १ स्कन्धक वर्णन ।

कुल—एक गुरु की परम्परा कुल है ।
गण—एक प्रमुख आचार्य की परम्परा "गण" है ।
संघ—सभी गच्छो का समूह "सघ" है ।
वैयावृत्य सम्बन्धी अन्य वर्णन उद्दे ५ मे किया गया है ।

दसवें उद्देशक का सारांश

सूत्र १-२ यवमध्यचन्द्रप्रतिमा और वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा का सूत्रोक्त विधि से विशिष्ट सहनन वाले श्रुतसम्पन्न भिक्षु आराधन कर सकते है । ये प्रतिमाएँ एक-एक मास की होती हैं । इनमे आहार-पानी की दत्ति की हानि-वृद्धि की जाती है । साथ ही अन्य अनेक नियम, अभिग्रह किए जाते है एव परीषह उपसर्गों को धैर्य के साथ शरीर के प्रति निरपेक्ष होकर सहन किया जाता है ।

३ आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा, जीत इन पाच व्यवहारो मे से जिस समय जो उपलब्ध हो, उनका क्रमश. निष्पक्ष भाव से प्रायश्चित्त एव तत्त्व निर्णय मे उपयोग करना चाहिए । स्वार्थ, आग्रह या उपेक्षा भाव के कारण व्युत्क्रम से उपयोग नही करना चाहिए अर्थात् केवल धारणा को ही अधिक महत्त्व न देकर आगमो के विधि-निषेध को प्रमुखता देनी चाहिए ।

४-८ सेवाकार्य एव गणकार्य करने के साथ मान करने या न करने की पांच चौभगियो का कथन है ।

९-१० धर्म में, आचार में और गणसमाचारी में स्थिर रहने वालो या उसका त्याग देने वालो सम्बन्धी दो चौभगिया है ।

११	दृढधर्मी और प्रियधर्मी सम्बन्धी एक चौभगी है।
१२-१५	दीक्षादाता, बड़ी दीक्षादाता, मूल-आगम के वाचनादाता, अर्थ-आगम के वाचनादाता की एव इनसे सम्बन्धित शिष्यों की कुल चार चौभगिया कही गई हैं एवं उनके अन्तिम भग के साथ धर्माचार्य (प्रतिबोधदाता) आदि का कथन किया गया है।
१६	तीन प्रकार के स्थविर होते है।
१७	शैक्ष को उपस्थापना के पूर्व की तीन अवस्थाए होती है।
१८-१९	गर्भकाल सहित ९ वर्ष के पूर्व किसी को दीक्षा नही देना। कारणवश दीक्षा दी गई हो तो बडी दीक्षा नही देना चाहिए।
२०-२१	अव्यक्त (१६ वर्ष से कम वय वाले) को आचाराग-निशीथ की वाचना न देना, अन्य अध्ययन कराना।
२२-३६	बीस वर्ष की दीक्षापर्याय तक योग्य शिष्यो को सूत्रोक्त आगमो की वाचना पूर्ण कराना।
३७	आचार्यादि दश की भावयुक्त वैयावृत्य करना। इनकी वैयावृत्य से महान् कर्मों की निर्जरा एव मुक्ति की प्राप्ति होती है।

उपसंहार

इस उद्देशक मे—

१-२	दो चन्द्रप्रतिमाओ का,
३	पाच व्यवहार का,
४-१५	अनेक चौभगियो का,
१६	स्थविर के प्रकारो का,
१७	शैक्ष को अवस्थाओ का,
१८-१९	बालदीक्षा के विधि-निषेध का,
२०-३६	आगम-अध्ययनक्रम का,
३७	वैयावृत्य का,

इत्यादि विषयो का कथन किया गया है।

॥ दसवां उद्देशक समाप्त ॥

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमो मे जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रो का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल मे स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियो मे भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायो का उल्लेख करते है। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थो का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या सयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमो मे अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, त जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, त जहा—अट्ठी, मस, सोणित्ते, असुतिसामते, सुसाणसामते, चदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गथाण वा, निग्गथीण वा चउहि महापाडिवएहि सज्झाय करित्तए, त जहा—आसाढपाडिवए, इदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चउहि सझाहि सज्झाय करेत्तए, त जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चाउक्काल सज्झाय करेत्तए, त जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गये हैं। जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नही करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पडे कि दिशा मे आग-सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नही करना चाहिए।

३-४ —**गर्जित-विद्युत्**—गर्जन और विद्युत प्राय ऋतु स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नही माना जाता।

५. **निर्घात**—बिना बादल के आकाश मे व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर या बादलो सहित आकाश मे कडकने पर दो प्रहर तक अस्वाध्यायकाल है।

६. **यूपक**—शुक्ल पक्ष मे प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनो प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

७. **यक्षादीप्त**—कभी किसी दिशा मे बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अत आकाश मे जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

८. **धूमिका कृष्ण**—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघो का गर्भमास होता है। इसमे धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धु ध पडती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धु ध पडती रहे, तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

९. **मिहिकाश्वेत**—शीतकाल मे श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. **रज उद्घात**—वायु के कारण आकाश मे चारो ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नही करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के है।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. **हड्डी मांस और रुधिर**—पचेद्रिय तिर्यंच की हड्डी, मास और रुधिर यदि सामने दिखाई दे, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुए उठाई न जाएँ जब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओ के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि मास और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एव बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमश सात एव आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. **अशुचि**—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. **श्मशान**—श्मशानभूमि के चारो ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. **चन्द्रग्रहण**—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

१७. **सूर्यग्रहण**—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमश· आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बडे मान्य राजा अथवा राष्ट्र पुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो तब तक शनैः शनै स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओ मे परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नही करे।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पडा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पडा हो तो स्वाध्याय नही करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये है।

२१-२८ चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढपूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओ के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इसमे स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रात साय मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घडी पहिले तथा एक घडी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घडी पहिले तथा एक घडी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर मे एक घडी आगे और एक घडी पीछे एव अर्धरात्रि मे भी एक घडी आगे तथा एक घडी पीछे स्वाध्याय नही करना चाहिए।

श्री आगमप्रकाशन-समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरडिया, मद्रास
२ श्री गुलाबचन्दजी मागीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३ श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४ श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरडिया, बेंगलोर
५ श्री प्रेमराजजी भवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६ श्री एस किशनचन्दजी चोरडिया, मद्रास
७ श्री कवरलालजी बैताला, गोहाटी
८ श्री सेठ खीवराजजी चोरडिया मद्रास
९ श्री गुमानमलजी चोरडिया, मद्रास
१० श्री एस बादलचन्दजी चोरडिया, मद्रास
११ श्री जे दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२ श्री एस रतनचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१३ श्री जे अन्नराजजी चोरडिया, मद्रास
१४ श्री एस सायरचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१५ श्री आर शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१६ श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१७ श्री जे हुक्मीचन्दजी चोरडिया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२ श्री जमराजजी गणेशमलजी सचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचदजी, सागरमलजी सचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
६ श्री दीपचन्दजी चोरडिया, मद्रास
७ श्री मूलचन्दजी चोरडिया, कटगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी सचेती, दुर्ग

संरक्षक

१ श्री बिरदीचदजी प्रकाशचदजी तलेसरा, पाली
२ श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेडता सिटी
४. श्री श० जडावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५ श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपडा, ब्यावर
६ श्री मोहनलालजी नेमीचन्दजी ललवाणी, चागाटोला
७ श्री दीपचदजी चन्दनमलजी चोरडिया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चागाटोला
९ श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व श्री सुगनचन्दजी झामड, मदुरान्तकम्
१० श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K G F) जाडन
११ श्री थानचन्दजी मेहता, जोधपुर
१२ श्री भैरुदानजी लाभचन्दजी सुराणा, नागौर
१३ श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४ श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया ब्यावर
१५ श्री इन्द्रचन्दजी बैद, राजनादगाव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी काकरिया, टगला
१८ श्री सुगनचन्दजी बोकडिया, इन्दौर
१९ श्री हरकचन्दजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचन्दजी लोढा, चांगाटोला
२१ श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चागाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पीचा, मद्रास
२३ श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४ श्री केशरीमलजी जवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५ श्री रतनचन्दजी उत्तमचन्दजी मोदी, ब्यावर
२६ श्री धर्मीचन्दजी भागचन्दजी बोहरा, झूठा
२७ श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढा डोडीलोहारा
२८ श्री गुणचदजी दलीचदजी कटारिया, बेल्लारी
२९ श्री मूलचन्दजी सुजानमलजी सचेती, जोधपुर
३० श्री सी० अमरचन्दजी बोथरा, मद्रास
३१ श्री भवरलालजी मूलचदजी सुराणा, मद्रास
३२ श्री बादलचदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपडा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बेंगलोर
३६ श्री भवरीमलजी चोरडिया, मद्रास
३७. श्री भवरलालजी गोठी, मद्रास
३८ श्री जालमचदजी रिखबचदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४० श्री जबरचन्दजी गेलडा, मद्रास
४१. श्री जडावमलजी सुगनचन्दजी, मद्रास
४२ श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३ श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचदजी लोढा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१ श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसा, मेडतासिटी
२ श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचन्दजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भवरलालजी विजयराजजी काकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भवरलालजी चौपड़ा, ब्यावर
६ श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी गजराजजी बोकडिया, सेलम
८ श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९ श्री के पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१० श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११ श्री मोहनलालजी मगलचदजी पगारिया, रायपुर
१२ श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३ श्री भवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४ श्री उत्तमचंदजी मागीलालजी, जोधपुर
१५ श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६ श्री सुमेरमलजी मेडतिया, जोधपुर
१७ श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८ श्री उदयराजजी पुखराजजी सचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बट, कानपुर
२० श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचदजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचन्दजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२ श्री घेवरचन्दजी रूपराजजी, जोधपुर
२३ श्री भवरलालजी माणकचदजी सुराणा, मद्रास
२४ श्री जवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५ श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेडतासिटी
२६ श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७ श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९ श्री नेमीचदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३० श्री ताराचदजी केवलचदजी कर्णावट, जोधपुर
३१ श्री आसूमल एण्ड क०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढा, जोधपुर
३३ श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी साड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टाटिया, जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराजजी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
४९. श्री भवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराजजी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५ श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७ श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कलां
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भीवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगांव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२ श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भरट, कलकत्ता
७५ श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री भंवरीलालजी शान्तिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गोहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठ
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया, भैरूंदा
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री धुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी, बैंगलौर
९५. श्रीमती कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगांव

९८ श्री प्रकाशचदजी जैन, नागौर
९९ श्री कुशालचंदजी रिखबचन्दजी सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१ श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२ श्री तेजराजजी कोठारी, मांगलियावास
१०३ सम्पतराजजी चोरडिया, मद्रास
१०४ श्री अमरचंदजी छाजेड, पादु बडी
१०५ श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भवरलालजी चोरडिया, भैरूंदा
१११. श्री मांगीलालजी शातिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२ श्री चादमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुलीचदजो बोकड़िया, मेडता सिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकुंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढा, बम्बई
११७ श्री मांगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बेंगलोर
११८ श्री सांचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९. श्री भीखमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी सघवी, कुचेरा
१२१ श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२ श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीखमचन्दजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड, सिकन्दराबाद
१२५ श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया सिकन्दराबाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, बगडीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाडा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरडिया, मद्रास
१२९ श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बेंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड □□

ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क २८

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्रीजोरावरमलजी महाराज की पुण्य-स्मृति में आयोजित]

श्री आर्यरक्षितस्थविरविरचित

अनुयोगद्वारसूत्र

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, परिशिष्ट युक्त]

प्रेरणा □
उपप्रवर्त्तक शासनसेवी स्व० स्वामी श्रीब्रजलालजी महाराज

आद्यसंयोजक—प्रधानसम्पादक □
(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

अनुवादक—विवेचक □
उपाध्याय श्री केवलमुनिजी

सम्पादक □
देवकुमार जैन

मुख्यसम्पादक □
पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल

प्रकाशक □
श्री आगमप्रकाशन-समिति, ब्यावर (राजस्थान)